श्री

महामहिम श्रीराष्ट्रपतिमहाभाग के प्रधानसंरक्षकत्व से समन्वित

'राजस्थान-वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'

के

तत्त्वावधान में प्रकाशित

एव राष्ट्रभाषा-हिन्दी में उपनिबद्ध

ग्रन्थों की सूची

*–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ पुनः प्रकाशित होने पर ही उपलब्ध हो सकेंगे।

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग—के मान्य सचिव द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षणानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है —



भारत के राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेटरी ऑफिस	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
राष्ट्रपति भवन	
नई दिल्ली	(कर्नल रि०) मेजर जनरल
दिनांक 3 अप्रैल 1958	मिलिट्री सेक्रेटरी टू दि प्रेसिडेन्ट

१६–शतपथब्राह्मण–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–प्रथमखण्ड २५)

१७–शतपथब्राह्मण–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–द्वितीयखण्ड ३०)

१८–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा २५)

१९–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा नामक–उद्बोधनात्मक–सामयिक–निबन्ध २५)

२०–"भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थानुगत विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड १५)

२१–भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय १॥)

२२–वेद का स्वरूप-विचार २)

२३–क्या हम मानव हैं ! (सांस्कृतिक-आमन्त्रणात्मक निबन्ध) २॥)

२४–'वेदस्य सर्वविद्या निधानत्वम्' (संस्कृतनिबन्ध) १॥)

२५–•राष्ट्रपतिभवन से अनुप्राणित–"व्याख्यानपञ्चक" ६)

(१)–सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या (प्रथम–व्याख्यान)
(२)–पञ्चपर्वात्मिका–विश्वविद्या (द्वितीय–")
(३)–मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय–)
(४)–'भारतत्वविद्या का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ–)
(५)–वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम–")

प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान–जयपुर'
मानवाश्रम–दुर्गापुरा (जयपुर–राजस्थान)

•–राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रस्तावित से समन्वित ।

श्री

अथ-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता
'क'-कारविभागात्मिका

"पूर्वखण्डात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा"

(भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)

की

संक्षिप्ता-विषयसूची (परिच्छेदात्मिका)



श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरोक्षानुगता
'क'-कार विभागात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका
भक्तियोगपरीक्षा की संक्षिप्त विषयसूची
'परिच्छेदात्मिका'



अथ-भक्तियोगपरीक्षाया पूर्वखण्डे 'किञ्चिदिव प्रस्ताविकम्'-नामक
प्रथम प्रकरण मुपक्रान्तम्
१



१-माङ्गलिकसंस्मरणम्

२-मनो-बुद्धि-विमोहक कर्म्ममार्ग एवं व्यवसायधर्म्म का अभिनय

३-"किंकर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" मूलक संशयवाद तथा कर्म्ममार्ग की आत्यन्तिक जटिलता

४-अक्षरप्रधान ज्ञानमार्ग की सुगमता अक्षरप्रधान-कर्म्ममार्ग की वक्रता तथा ज्ञाननिबन्धन एकत्व से संशय की निवृत्ति

५-स्थूलदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की जटिलता तथा-'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' का संस्मरण

६-परिग्रह-मात्रा-स्पर्श-मार्गों की अनिवार्य्यता एवं स्वाभाविक कर्मों की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन

इति–भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वखण्डे "किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्" नामकं प्रथम-प्रकरणमुपरतम्

१

श्री

अथ–भक्तियोग परीक्षायाम्-पूर्वखण्डे 'योगत्रयी का मौलिक विचार' नामक

द्वितीय–प्रकरणमुपक्रान्तम्

२

—•—

अथ-भक्तियोग-परीक्षाया-पूर्वखण्ड 'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि' नामक तृतीय प्रकरण-मुपक्रान्तम्

३

इति-भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वखण्डे 'योगत्रयी का मौलिक-विचार नामक' द्वितीय-प्रकरण-मुपरतम्

२

अथ-भक्तियोग-परीक्षाया-पूर्वखण्डे 'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि' नामक तृतीय प्रकरण-मुपक्रान्तम्

३

इति–भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्ड–'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि'

नामक

तृतीयं--प्रकरणं--समाप्तम्

३

—•—

अथ-भक्तियोगपरीक्षाया पूर्वखण्डे-'युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ' नामक-चतुर्थ-प्रकरणमुपक्रान्तम्

तत्र च-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

नामक

प्रथम-अवान्तर प्रकरण

१

इति–युगधर्म्मानुगता "विविधोपासना" नामके चतुर्थ प्रकरणे

"पुराणयुगानुगता विकारोपासना"

नाम

तृतीय अवान्तर प्रकरण मुपरतम्

अथ–दर्शनयुगानुगत–वैकारिकोपासनामार्गे

चतुर्थ *प्रकरणान्तर्गतं*

चतुर्थ अवान्तरम् प्रकरणमुपक्रान्तम्

इति–"युगाधर्म्मानुगता विराडुपासना" नामके चतुर्थे प्रकरणे "*दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना*"–नामक चतुर्थमवान्तर प्रकरणमुपरतम्

——४——

श्री

अथ–"युगधर्म्मानुगता विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे "वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग" नामक

पञ्चम अवान्तर प्रकरणमुपक्रान्तम्



इति-"युगधर्म्मानुगता विवधोपासना" रूपे चतुर्थे प्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग"-नामक

पञ्चममवान्तरप्रकरणमुपरतम्

५

उपरतञ्चेद-पञ्चावन्तरप्रकरणसमष्टिरूपं

'युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना'-नामकं

चतुर्थ-प्रकरणम

४

श्रीः

अथ-"भक्तियोगपरीक्षा" त्मके पूर्वखण्डे

"प्रतिमापूजन और उपासना"-नामकं

परिशिष्ट प्रकरणमुपक्रान्तम्



इति—भक्तियोग परीक्षायाम् पूर्वखण्डे "प्रतिमापूजन और उपासना" नामक परिशिष्ट प्रकरणमुपरतम्

इति—गीताविज्ञानभाष्यभूमिकाया सर्वान्तरतमपरीक्षाया "क" कारविभागात्मकस्य

भक्तियोगपरीक्षात्मकस्य-पूर्वखण्डस्य

संक्षिप्ता—विषयसूची-उपरता (परिच्छेदात्मिका)

———*———।

श्री

इति–भक्तियोगपरीक्षा–पूर्वखण्डस्य

संक्षिप्ता-विषयसूची

उपरता

परिच्छेदात्मिका

श्री

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

१-किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्



श्रीतत्सद्ब्रह्मणे नमः

अथ

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत—'सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक'

'भक्तियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड

(सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत—'क'-चार विभागात्मक प्रथमखण्ड)

—•—

१—किञ्चिदिव—प्रास्ताविकम्

"नाभक्ताय कदाचन"

१—माङ्गलिकसंस्मरणम्—

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥

३—वाचं देवा* उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥

---

*देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में प्राय अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। इनके निराकरण के लिए 'शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य' का प्रथमवर्षाण्डीय-प्रथमखण्ड ही देखना चाहिए।

७—यो यज्ञो दिवि परमष्ठि-गोमवात्मा विज्ञान सदुपदिदश गीतया यः ।
  आनन्दं जनयतु विश्वतो ममाय गोविन्दः स हि मयि सन्निधानमतु ॥

८—य इम परम गुह्य मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
  भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (गीता १८ । ६८ ।)

९—इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
  नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ (गीता १८ । ६७) ।

प्राक्कर्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदय —
  श्रीविश्वेश्वरादयोदयाय ममभूत्कारयां सुविद्योदय ।
राज्ञा श्रीन्पुरपादभूजनपपुरे सम्पत्ति-भाग्योदय —
  सिद्धः श्रीमधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोऽस्य ॥

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में एवं रुद्रगणों में) विराजिए । क्योंकि (विज्ञान धन) आप ही सब कवियों के मध्य में सबसे मेधावी सम्मत हैं । अतएव आपके बिना दूर या समीप कहीं का कुछ भी कार्य नहीं किया जा सकता । (इसलिए सभी कार्यों के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त आवश्यक है) । हे महनीय गणपते ! त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५) सप्तदश (१७) एकविंश (२१), त्रिणव (२७) त्रयस्त्रिंश (३३) आदि विविध स्तोमों से युक्त सदामरुद्गणों, अतएव विश्वों की दशा में आरम्भ [illegible] ([illegible]) [illegible] हमें आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ।

—ऋग्वेद १ ।११७ ।

२—[illegible] (गायत्री त्रिष्टुप्-जगती आदि छन्दों के [illegible]) [illegible]

२— मनो-बुद्धि-विमोहक कर्म्ममार्ग, एवं व्यवसायधर्म्म का अभिभव—

कर्म्म का स्वरूप 'कर्मयोऽप्यत्र मोहिता' के अनुसार बड़ा जटिल है इस वाक्य से कुछ समय के लिए हमें ऐसा विश्वास होजाता है कि, ज्ञानयोग अवश्य ही 'कर्म्मयोग' की अपेक्षा एक सरल मार्ग है। और न्यायतः ऐसा विश्वास अनुचित भी नहीं माना जासकता। कर्म्म की प्रतिष्ठा अस्वृक्त है। स्वस्वरूप से सर्वथा क्षणिक होते हुए ये अस्वृक्त संख्या में अनन्त हैं। इसी फलानन्त्य से तद्रूप कर्म्मों का भी आनन्त्य होजाता है। यदि हमारे सामने एक ही वस्तु रहती है तो कभी सन्देह को अवसर नहीं मिलता। परन्तु भिन्न भिन्न फलाफलों से सम्बन्ध रखते वाले अनेक भावों का सम्मुख्य अवश्य ही हमारे मन को "यह करें कि वह, यह लें कि वह, उसे छोड़ें कि इसे" इस अनिश्चयात्मक भाव का अनुगामी बना देता है। मनःप्रतिष्ठा बुद्धि "इदं वा ग्राह्य-इदं वा इदं वा त्याज्य-इदं वा" इसप्रकार से अनेक शाखाशाखा अव्यवसाय की अनुगामिनी बनती हुई अपने स्वाभाविक एकत्वलक्षण समाधिरूप व्यवसायधर्म्म से-अभिभूत होकर मोह में पड़ जाती है।

सभी देवता एकमात्र वाक्तत्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २० गन्धर्व सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएँ वाक् को प्रतिष्ठा बनाकर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। भः भुवः स्वः, महः जनः, तपः–सत्यं ये सातों भुवन वाग्भयतत्व में ही समर्पित हैं। (इसप्रकार जो वाक्तत्व चराचर में व्याप्त होरहा है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस शब्दराशिरूप वाङ्मय यज्ञ में उसे सफल बनाने के लिए हमारी पुकार सुनें।

— तै० ब्रा० २।८।८।५.

४— अक्षरमिति (अ'-क्ष-रम'-इति) अक्षरं वाग्भिरोऽक्षरम् "अक्षरा वै वाक्" (ताण्ड्यब्रा० ४।४।१।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरमय किंवा अक्षरस्वरूप वागब्रह्म ही (विश्व में) सबसे पहले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी ऋतत्व की प्रथमजा कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है अमृत की नाभि है। ऐसी वह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाग्यज्ञ में पधारें। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने के लिए) हमारी प्रार्थना सुनें।

— तै० ब्रा० २।८।८।५।

५—जो औपनिषद पुरुष (सृष्टिनिर्म्माण के लिए) प्रतिष्ठालक्षण चतुर्मुख ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है जो वेदान्तपुरुष उस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिसाधनरूप) वेदों को अर्पित करता है प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियमलक्षण मन एवं विज्ञान नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश-स्वरूप उसी (त्रिभुवन मय) देव की शरण में मैं मुमुक्षु जाता हूँ।

—"श्वेता० उ० ६।१८।

३—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" मूलक संशयवाद, तथा कर्ममार्ग की आत्यन्तिक जटिलता —

'एकधर्मिक विरुद्धनानाकोट्यवगाहि-ज्ञानं संशयः' इस लक्षण के अनुसार कहने को "संशय" नाम से एक ही 'धर्मी' (पदार्थ) में कालान्तर-युक्त, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध दो अनेक भावों का-समावेश हो जाता है तो इन अनेक भिन्न धर्मों के समावेश से वह धर्मी प्रज्ञा को विचलित बना देता है। अस्थिरता मन के साथ मिलकर स्थिरबुद्धि भी सदसद्व्यवसायात्मिका बन कर सन्देहग्रस्त बन जाती है। व्यवसायात्मिका बुद्धि (विज्ञानात्मा) अपने स्वाभाविक निश्चयात्मक निर्णय करने में असमर्थ होती हुई मोहमूलक 'इदं वा इदं वा' इत्याकारक संशय में पड़ जाती है। बुद्धि का स्वाभाविक सदसद्विवेक उच्छिन्न हो जाता है। साधारण मनुष्यों की बात कहें वे कविगण भी (जो शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान माने जाते हैं) वा अवसर समय पर कर्म के निर्णायक बनते हैं) मोह में पड़ जाते हैं। कौन्तेय-अर्जुनसदृश-कर्ता में कविता की चरम सीमा पर पहुँच हुए कर्मकर्म-निर्णय के सम्बन्ध में उपराजयक्रम में शरशय्या पर सोते हुए भीष्मपितामह से समाधिष्ठ युद्ध-जनित क्षोभ से क्लान्त बने हुए धर्मराज युधिष्ठिर को उपदेश देने वाले भीष्मपितामह के मुख से भी जब हम "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां" ये शब्द सुनने के लिए बाध्य किए जाते हैं तो फिर अस्मदादि साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में तो यीताशिष्यों की गणना व्यर्थ ही है। फलतः कर्ममार्ग के सम्बन्ध में हम विवश होकर 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' इसी वाक्य पर विश्राम कर लेना पड़ता है।

४—सुदुष्करप्रधान ज्ञानमार्ग की सुगमता, असदुष्करप्रधान-कर्ममार्ग की वक्रता, तथा ज्ञाननिष्ठा से एकत्व से संशय की निवृत्ति—

परन्तु दूसरी दृष्टि से विचार करने पर ज्ञानमार्ग इससे सरल प्रतीत होता है। सत्-रज ही ज्ञान की प्रतिष्ठा है। यह रज तत्त्व स्वभावतः से सर्वथा व्यापक होता हुआ सम्पूर्ण में- एक है शान्त है अविकृत है। फलतः तद्रूप ज्ञान का भी एकत्व सिद्ध हो जाता है। ज्ञान स्वभावतः से सर्वथा संशय शून्य है। संशयात्मक कर्म के समावेश से ही ज्ञान अनेक कोटियों में परिणत होता रहता। अपनी स्वाभाविक सत्सम्पत्ति (रसानुभूति) से च्युत होता रहता आगन्तुक असत्सम्पत्ति (कर्मसम्पत्ति) की कृपा से अनेक बन जाता है। इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए भगवान् (कृष्ण) ने योगीश्वर ने कर्म के परित्याग का आदेश दिया। उनके आदेश का तात्पर्य यही था कि अर्जुन तुम तात्त्विक ज्ञानात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहोगे तबतक कर्मजाल की भाँति तुम्हारा ज्ञानमार्ग भी अनेकविध बना रहेगा। कर्म ज्ञान का विरोधी धर्म है। उसके संसर्ग से कभी ज्ञान अपने स्वाभाविक समाधि-भाव में प्रतिष्ठित नहीं दीखता। तदनुकूल उस स्वाभाविक ज्ञान के विकास के लिए तुम निष्कामकर्म के द्वारा ज्ञान के साथ लगी हुई कर्मग्रन्थि का विच्छेद कर ज्ञान को स्व-स्वरूप में ही परिणत करना पड़ेगा। इस नैष्कर्म्य-लक्षण ज्ञानयोग (गीता के द्वारा संकेतित सम्यक् 'आत्मबुद्धियोग' से गृहीत ज्ञानयोग) से-कर्मबन्धन दूर भागेगा। कर्मप्रयुक्त नानात्व विलीन हो जायगा। यह ज्ञान स्वस्वरूप में अवस्थित रहेगा। और यह ज्ञान एकत्व के कारण विरुद्धता का परोक्ष बनता हुआ संशयादि का आत्यन्तिक निराकरण कर देगा।

५—स्थूलदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता, किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की जटिलता, तथा—'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' का संस्मरण—

इसप्रकार कुछ समय के लिए कर्म्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग हमें अधिक उपयोगी प्रतीत होने लगता है। परन्तु इसी सम्बन्ध में जब हम थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने लगते हैं तो यह मार्ग भी कम जटिल प्रतीत नहीं होता। प्रवृत्ति का मूल कामना है। जबतक कामना (इच्छा) है तभीतक कर्म्म में प्रवृत्ति है। कम कभी निष्काम बन जाय यह सर्वथा असम्भव है। यद्यपि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा पूर्ण संयम के साथ अपने आत्मा का पूर्ण दमन करते हुए इस मार्ग का यथाकथंचित् अनुगमन किया जासकता है और इस संयमलक्षणा तपश्चर्य्या से प्रवृत्ति का निरोध भी सम्भव है। और यह भी ठीक है कि इस इच्छा-निरोध-लक्षण संयम से—'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' इस गीतासिद्धान्त के ही अनुसार समय पाकर आत्मा कामना के पाशबन्धन से निकल भी जाता है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि, उपयोगिता की दृष्टि से (केवल वैय्यक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से) यह मार्ग ठीक होता हुआ भी बन्धनमुक्ति का कारण बनता हुआ भी कर्म्ममार्ग की तुलना में कभी कोई महत्व नहीं रखता। माना कि—गीता के संशोधित कर्म्ममार्ग में भी आत्मा का बन्धन नहीं है। फिर भी वहाँ कर्म्म का पलड़ा भारी है। और फिर कर्म्म कर्म्म है नानाभावों से नित्य आक्रान्त है। अतएव यह परशान्ति (अव्ययशान्ति किंवा अत्ययगामशान्ति) का कारण नहीं बन सकता। इधर ज्ञानयोग परशान्ति का अनुगामी अवश्य है। परन्तु संसार में रहते हुए, सांसारिक कर्म्मों में लिप्त रहते हुए, प्रतिकूल राजशासनों के कुचक्र से आनोपयिक देश-कालादि साधनों के विरह में कभी ज्ञानानुयायी अपनी ज्ञानचर्य्या में सफल नहीं होसकता। "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं-पथस्तत् कवयो वदन्ति" यह सूक्ति कर्म्ममार्ग की भाँति ज्ञानमार्ग को ही क्षुर की तीक्ष्ण धार मानती हुई इसे भी दुर्गमपथ ही प्रमाणित कर रही है।

६—ऐन्द्रियक-मात्रा-स्पर्श-भावों की अनिवार्य्यता, एवं स्वाभाविक कर्म्मों की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन—

मानलीजिए राज्य आप का है आप पूर्ण-स्वतन्त्र हैं ज्ञानयोग साधन के लिए सुविधानुसार सम्पूर्ण साधन परिग्रह भी प्रस्तुत हैं। फिर तो कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग की उत्कर्षता सिद्ध होगई। भगवान् कहते हैं—नहीं। जिसप्रकार आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म ज्ञान एवं निष्कामकर्म्म है एवमेव इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म्म विषय ग्रहण और परित्याग है। जिसप्रकार आत्मा के स्वाभाविक धर्म्मों का हम नियन्त्रण नहीं करसकते बलात् नियन्त्रण से लाभ के स्थान में हानि ही उठानी पड़ती है एवमेव पराङ्मुख अतएव विषयपरायण इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म्मों का भी हम नियन्त्रण नहीं करसकते एवं बलात् नियन्त्रण करने से हानि ही उठानी पड़ती है। आपकी इच्छा-अनिच्छा का इन स्वाभाविक धर्म्मों के नियन्त्रण में कोई मूल्य नहीं है। चक्षु के सामने जो वस्तु आजायगी, अवश्य चक्षु उसके रूप का ग्रहण कर लेगा। शब्द आवेगा श्रोत्रेन्द्रिय अवश्य पकड़ लेगी। गन्ध आवेगा घ्राणेन्द्रिय कभी वञ्चित न रहेगी। स्पर्श होगा त्वगिन्द्रिय अपने अनुभव से शून्य न रहेगी। आप न न करते ही रहें परन्तु मात्रास्पर्श कभी अपने इन्द्रियायतनों के स्वाभाविक सहयोग से वञ्चित न होंगे। एक होता।

–

३—'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' मूलक संशयवाद, तथा कर्ममार्ग की आत्यन्तिक जटिलता —

"एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि-ज्ञानं संशयः" इस लक्षण के अनुसार पहले तो 'कर्म' नाम से एक ही 'धर्मी' (पदार्थ) में अनन्त-धर्म-युक्त, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध अनन्त भावों का-समावेश होजाता है तो इन अनन्त भिन्न धर्मों के समावेश से वह कर्म प्रश्न की विकट समस्या बना देता है। अभिप्राय यह है कि साथ मिलजुलकर स्थिरबुद्धि भी [illegible] अनवस्थापन्ना बन जाती है। अनवस्थापन्ना बुद्धि (विज्ञानात्मा) अपने स्वाभाविक निश्चयात्मक निर्णय करने में असमर्थ होती हुई भ्रान्तिमूलक "इदं वा इदं वा" इत्याकारक संशय में पड़ जाती है। बुद्धि का समस्त [illegible] उच्छिन्न होजाता है। साधारण व्यक्तियों की बात छोड़िए वे कविगण भी (जो शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान माने जाते हैं वा समय समय पर कर्म के निर्णायक बनते हैं) मोह में पड़ जाते हैं। द्रौपदी-वस्त्रापहरण-वेला में [illegible] की चरम सीमा पर पहुंच गए। कर्तव्य-निर्णय के सम्बन्ध में उत्तरायणकाल में शरशय्या पर सोते हुए, [illegible] से समाहित युद्ध-जनित क्षोभ से सन्तप्त बने हुए धर्मराज युधिष्ठिर को उपदेश देने वाले भीष्मपितामह के मुख से भी जब हम "धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः" ये उद्गार सुनने के लिए बाध्य किए जाते हैं तो फिर अस्मदादि साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में तो टीकाटिप्पणी करना व्यर्थ ही है। फलतः कर्ममार्ग के सम्बन्ध में हमें विवश होकर "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" इसी वाक्य पर विश्राम कर लेना पड़ता है।

४—सद्गुणप्रधान ज्ञानमार्ग की सुगमता, असद्गुणप्रधान-कर्ममार्ग की जटिलता, तथा ज्ञाननिरूपण लक्षण से प्रमाद की निवृत्ति—

परन्तु दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञानमार्ग हमें सरल प्रतीत होता है। [illegible] ही ज्ञान की प्रतिष्ठा है। वह एक तत्त्व है। [illegible] में एक है, शान्त है, अविकृत है। [illegible] सिद्ध होजाता है। ज्ञान स्वभावतः सर्वथा संशय-शून्य है। संशयात्मक कर्म के [illegible] में परिणत होता हुआ अपनी स्वाभाविक [illegible] (स्वरूपगति) से [illegible] (स्वरूपच्युति) की कृपा से [illegible] बन जाता है। इसी [illegible] के लिए [illegible] (ज्ञान) निष्ठ-योगियों ने कर्म के [illegible] का आश्रय लिया। इनके [illegible] कर्ममार्ग की भांति [illegible] नहीं होता। [illegible] ज्ञान का [illegible] है। इनके [illegible] में प्रविष्ट नहीं होसकता। [illegible] के लिए [illegible] के द्वारा [illegible] हुई [illegible] को [illegible] नहीं रहेगा। इस [illegible] ज्ञानयोग (गीता के द्वारा [illegible]) से [illegible] हुआ करता। [illegible] के कारण [illegible] कर्म का [illegible] का [illegible] निराकरण कर दिया।

५—स्थूलदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता, किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की जटिलता तथा-'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' का संस्मरण—

इसप्रकार कुछ समय के लिए कर्म्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग हमें अधिक उपयोगी प्रतीत होने लगता है। परन्तु इसी सम्बन्ध में जब हम थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने लगते हैं तो यह मार्ग भी कम जटिल प्रतीत नहीं होता। प्रवृत्ति का मूल कामना है। वस्तुतः कामना (इच्छा) ही तमीलक कर्म्म में प्रवृत्ति है। कर्म्म कभी निष्काम बन जाय, यह सर्वथा असम्भव है। यद्यपि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा पूर्ण संयम के साथ अपने आत्मा का पूर्ण दमन करते हुए इस मार्ग का यथाकथंचित् अनुगमन किया जासकता है और इस संयमलक्षणा तपश्चर्य्या से प्रवृत्ति का निरोध भी सम्भव है। और यह भी ठीक है कि इस इच्छा-निरोध-लक्षण संयम से— 'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' इस गीतासिद्धान्त के ही अनुसार समय पाकर आत्मा कामना के दारुणपाश से निकल भी जाता है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि, उपयोगिता की दृष्टि से (केवल वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से) यह मार्ग ठीक होता हुआ भी बन्धनमुक्ति का कारण बनता हुआ भी कर्म्ममार्ग की तुलना में कभी कोई महत्त्व नहीं रखता। माना कि—गीता के संशोधित कर्म्ममार्ग में भी आत्मा का बन्धन नहीं है। फिर भी वहाँ कर्म्म का पलड़ा भारी है। और फिर कर्म्म कर्म्म है नानाभावों से नित्य आक्रान्त है। अतएव वह पराशान्ति (अव्ययशान्ति किंवा प्रत्यग्गामशान्ति) का कारण नहीं बन सकता। इधर ज्ञानयोग पराशान्ति का अनुगामी अवश्य है। परन्तु संसार में रहते हुए, सांसारिक कर्म्मों में लिप्त रहते हुए, प्रतिकूल राजशास्त्रों के कुचक्र से ज्ञानोपयिक देश-कालादि साधनों के विरह से कभी ज्ञानानुयायी अपनी ज्ञानचर्य्या में सफल नहीं होसकता। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं-पथस्तत् कवयो वदन्ति' यह सूक्ति कर्म्ममार्ग की भाँति ज्ञानमार्ग को ही क्षुर की तीक्ष्ण धारा मानती हुई इसे भी दुर्गमपथ ही प्रमाणित कर रही है।

६—ऐन्द्रियक-मात्रा-स्पर्श-भावों की अनिवार्य्यता, एवं स्वाभाविक कर्म्मों की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन—

मानलीजिए, एक आप का है आप पूर्ण-स्वतन्त्र हैं ज्ञानयोग साधन के लिए सुविधानुसार सम्पूर्ण साधन परिग्रह भी प्रस्तुत हैं। फिर तो कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग की उत्कर्षता सिद्ध होगई। भगवान् कहते हैं—नहीं। जिसप्रकार आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म ज्ञान एवं निष्कामकर्म्म है एवमेव इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म्म विषय ग्रहण और परित्याग है। जिसप्रकार आत्मा के स्वाभाविक धर्म्मों का हम नियन्त्रण नहीं करसकते बलात् नियन्त्रण से लाभ के स्थान में हानि ही उठानी पड़ती है एवमेव पराङ्मुख अतएव विषय-परायण इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म्मों का भी हम नियन्त्रण नहीं करसकते एवं बलात् नियन्त्रण करने से हानि ही उठानी पड़ती है। आपकी इच्छा-अनिच्छा का इन स्वाभाविक धर्म्मों के नियन्त्रण में कोई मूल्य नहीं है। चक्षु के सामने जो वस्तु आजायगी, अवश्य चक्षु उसके रूप का ग्रहण कर लेगा। शब्द आयगा श्रोत्रेन्द्रिय अवश्य पकड़ लेगी। गन्ध आवेगा घ्राणेन्द्रिय कभी वञ्चित न रहेगी। स्पर्श होगा त्वगिन्द्रिय अपने अनुभव से शून्य न रहेगी। आप न न करते ही रहें परन्तु मात्रास्पर्श कभी अपने इन्द्रियायतनों के स्वाभाविक सम्बन्ध से वञ्चित न होंगे। एक दोष।

७—इन्द्रियदमनरूप आत्महनन, तदनुगत ज्ञानमार्ग, एवं अन्तिम ज्ञानपथ, और उचित मन मनोविज्ञान का समन्वय—

आत्मप्रवाह से ही प्रवाहित इन्द्रियों का दमन आत्महत्या से कम महत्व नहीं रखता। उस महापाप के सामने यदि इस पातक की उपेक्षा भी कर दी जाय तब भी ज्ञानयोग कर्मयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ, एवं सरल नहीं माना जा सकता। जिसमें बलात्कार से इन्द्रियों का संयम करना पड़े लोकविभूति का सर्वथा परित्याग करना पड़े उस मार्ग की कठिनता तो स्वतःसिद्ध ही है। अब प्रश्न रह जाता है—केवल उपेक्षा, एवं सामान्यभाव का। कर्मवाद का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि—जिस वस्तु से हम अधिक भय करते हैं वह वस्तु हमें अधिक डराती है। एवं जिससे हम भय नहीं करते वही वस्तु हमारे मैत्रीपूर्ण व्यवहार से कालान्तर में हमारा प्रेमस्थान बन जाती है। मनोविज्ञान-सिद्धान्त भी इसी तथ्य का समर्थक है।

८—मात्रास्पर्शभावों की तितिक्षा, और अभयभाव—

नगर में रहने वाले धनिक सम्पन्नवायु (लू) से भयभीत रहते हैं। प्रतिक्षण उससे बचते रहते हैं। परिणाम इसका यह होता है कि उनका शरीर इस आक्रमण को सहने में असमर्थ होता हुआ शक्तिशून्य बन जाता है। तापक्रम का प्रवाह भी नहीं रोका जा सकता साथ ही शरीर को भी अनुपानकोष (डिब्बी) में बन्द करके नहीं रक्खा जा सकता। उधर ग्राम में रहने वाला एक कृषक पानी-धूप जाड़ा आदि का दुख सहता हुआ भी हमारी अपेक्षा स्वस्थ है। उस में प्रकृति के इन मात्रास्पर्शों में तितिक्षा (सहने की शक्ति) उत्पन्न करती है। यह तितिक्षाभाव ही उसे निर्भय बनाने में समर्थ हुआ है।

९—विविध दोषाक्रान्त ज्ञानमार्ग की जटिलता और उस की अव्यक्तपानुगति—

तितिक्षाभाव रखते हुए आत्मा को निष्कामबुद्धि से कर्म में प्रवृत्त रहने दो। आत्मधर्म भी सुरक्षित रहेंगे इन्द्रिय-धर्म भी सुरक्षित रहेंगे लोकसंग्रह भी प्रतिष्ठित रहेगा एवं बिना क्लेश के इस कर्मयोग से सब कुछ बन जायगा। उधर अध्यात्मक्लेश का साम्राज्य लोकसंग्रह का अभाव मानस संकल्प से अधिक बन्धन की सम्भावना विश्वात्मभूतिका इ थम्भि का प्रभाव भयपरम्पराओं का आक्रमण आदि आदि अनेक दोषों से युक्त ज्ञानयोग आवश्य ही अव्यक्तका का पात्र रह जायगा।

ज्ञानयोग में भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ कर्मयोग भी कठिनता से शून्य नहीं, इसी विषमा समस्या को समन्वित करने के लिए भारतवर्ष में तीसरे भक्तियोग का जन्म हुआ।

१०—ज्ञान-कर्मो-भयात्मक 'भक्तियोग' का संस्मरण—

'भक्तियोग' में ज्ञान-कर्म दोनों का समत्व रक्खा गया। कुछ ज्ञान का भाग लिया गया कुछ कर्म का भाग लिया गया दोनों भागों से समन्वित यह योग "भक्तियोग" कहलाया। सब कर्म किए, अध्यात्मज्ञान को लक्ष्य में रक्खा सब पारलौकिक आत्माओं किया इच्छा प्रत्यगात्मा की मानी गई। जो कुछ किया निष्कामभाव से ईश्वरार्पणबुद्धि से। यही भक्तियोग कहलाया। 'ईश्वरप्रणिधान' ही इसका रहस्य कहलाया जैसा—कि प्रथमखण्डान्तर्गत गीता का बुद्धियोग' नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

११- भक्तियोग' का सहज लक्षण—

ज्ञान पारलौकिक पदार्थ बनता हुआ आधिदैविक है कर्म्म ऐहलौकिक पदार्थ बनता हुआ आधिभौतिक है। भक्तिकाण्ड में आधिदैविक ज्ञान साध्य है एवं आधिभौतिक कर्म्म साधन है अतएव इसका लक्षण निम्नलिखित माना गया—

'जिस मार्ग में साधन आधिभौतिक हों, साध्य आधिदैविक हों, दोनों की समष्टि रूप वही मार्ग भक्तिमार्ग है ''

१२-'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' का संस्मरण, और भक्तियोग की श्रेष्ठता—

कर्म्म-मार्ग साध्य-साधन-रूप से उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ केवल ऐहलौकिक था। ज्ञान मार्ग साध्य-साधन-रूप से उभयथा आधिदैविक बनता हुआ पारलौकिक था। एक में कर्म्मासक्ति थी दूसरे में ज्ञानासक्ति थी। अतएव अंशात्मना दोनों योग विषम थे। इधर भक्तिमार्ग में आधिदैविक ज्ञान तथा आधिभौतिक कर्म्म दोनों का समावेश है अतएव यहाँ समता की प्रधानता है। न ज्ञानासक्ति है न द्वेषासक्ति है। अतएव यह योग राग-द्वेष-विरहित वैराग्यबुद्धियोग के समधरातल पर प्रतिष्ठित होता हुआ वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठ भगवान् का प्रिय योग बन रहा है—''भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।

१३-ज्ञान, कर्म्म, भक्ति, आत्मा ब्रह्म, आदि मार्गों का संस्मरण, एवं गीताभूमिका के विभिन्न परीक्षा-खण्डों का समन्वय—

निष्कर्ष यही हुआ कि ज्ञान-कर्म्म-भक्ति तीनों में ज्ञान-कर्म्म एक श्रेणि की वस्तु है एवं भक्ति दूसरी श्रेणि की वस्तु है। यह क्योंकि वैराग्यबुद्धियोग की अनुगामिनी है अतएव भक्तियोग और बुद्धियोग इन दोनों को हमने एक श्रेणि में प्रतिष्ठित मान लिया है। पाठकों को स्मरण होगा कि हमने ज्ञानयोगपरीक्षाप्रकरण के आरम्भ में यह कहा था कि— 'यद्यपि प्रचलित क्रमानुसार कर्म्म के अनन्तर भक्ति का ही निरूपण आवश्यक था परन्तु किसी कारणविशेष से ही कर्म्मयोगानन्तर भक्ति का निरूपण न कर पहिले हमें ज्ञानयोग का ही विवेचन करना पड़ा है। वह विशेषकारण भक्ति के उक्त लक्षण से स्पष्ट हो जाता है। चारों निष्ठाओं में ज्ञान-कर्म्म एक श्रेणि में रहने योग्य हैं एवं भक्ति तथा बुद्धि दोनों एक श्रेणि में रहने योग्य है। इसी आधार पर इस परीक्षाखण्ड के भी दो विभाग करना आवश्यक समझा गया है। ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-बुद्धि ये चारों योग आत्मा के लिए विहित हैं। ऐसी दशा में सबसे पहिले आत्मा का स्वरूप जानना आवश्यक होजाता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम दर्शन एवं विज्ञान-दृष्टि से 'आत्मपरीक्षा' की गई। दर्शन का ज्ञान से सम्बन्ध है एवं विज्ञान का कर्म्म से सम्बन्ध है। फलतः यह जानने की जिज्ञासा हुई कि ज्ञान नामक 'ब्रह्म' क्या है विज्ञान नामक-'कर्म्म' का क्या स्वरूप है एवं ब्रह्म-कर्म्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है?। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आत्मपरीक्षा के अनन्तर ब्रह्म-कर्म्म की परीक्षा की गई। ब्रह्म का ज्ञानयोग से सम्बन्ध है एवं कर्म्म का कर्म्मयोग से सम्बन्ध है। इन दोनों के स्वरूप परिचय के लिए 'ज्ञान-कर्म्मयोग की परीक्षा आवश्यक प्रतीत हुई। प्रचलित दृष्टि के अनुसार यद्यपि ज्ञानयोग ऊँची श्रेणि में प्रतिष्ठित है एवं कर्म्मयोग अवरकक्षा

थे। इस दृष्टि से ज्ञानयोग का ही पहिले विचार होना चाहिए था। परन्तु गीता की दृष्टि में (तयोस्तु कर्म्म संन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते) दोनों में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्म्मयोग ही विशेष है। इसी विशेषता को लक्ष्य में रखकर पहिले कर्म्मयोगपरीक्षा की गई अनन्तर ज्ञानयोग की मीमांसा की गई। ज्ञान-कर्म्म मय आत्मा आत्मा के ब्रह्म-कर्म्म नामक दोनों अवयव ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञानयोग कर्म्मसम्बन्धी कर्म्मयोग ये चारों ही ब्रह्म-कर्म्म विभूति से आपन्न है। अतएव आत्मपरीक्षा ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा कर्म्मयोगपरीक्षा ज्ञानयोगपरीक्षा इन चारों की समष्टि का एक स्वतन्त्र खण्ड माना गया। 'भक्तियोग' यद्यपि प्राचीनों के मतानुसार कर्म्मयोग से पीछे की एवं ज्ञानयोग से पहिले की वस्तु बनता हुआ मध्यमभूमि की वस्तु है। परन्तु ज्ञानकर्म्म-समन्वय के कारण गीता की दृष्टि में भक्तियोग ज्ञानापेक्षया विशेष एवं कर्म्मयोग की अपेक्षा से भी उत्तम बनता हुआ ज्ञान-कर्म्मयोग-मर्य्यादा से बहिर्भूत है। अतएव इसे स्वतन्त्र माना गया। बुद्धियोग इसका अनुग्राहक है बुद्धियोगपरीक्षा ही गीतासारपरीक्षा है। इसी दृष्टि से भक्तियोगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा गीतासारपरीक्षा इन तीनों प्रकरणों का एक स्वतन्त्र खण्ड माना गया है। यह प्रकरण प्रधानरूप से भक्तिखण्ड की परीक्षा करने के लिए ही प्राप्त होरहा है। इस मूल प्रस्तावना से हमें वक्तव्यांश केवल यही है लोक-प्रचलित जिन तीन निष्ठाओं का भगवान्ने गीता में संशोधन किया है उन तीनों में ज्ञानयोग प्रधानता में कर्म्मयोग इसकी अपेक्षा विशेष एवं भक्तियोग इसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। दोनों की अपेक्षा यह सरल मार्ग है। राजमार्ग है। इसीलिए गीता में यह ऐश्वर्य्यलक्षण भक्तियोग 'राजयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। परन्तु गीता के बुद्धि का मार्ग तो राजमार्ग से भी श्रेष्ठ राजर्षिमार्ग है। अतएव यह बुद्धियोग 'राजर्षियोग' नाम से प्रसिद्ध है जैसाकि पाठक आगे के प्रकरण में देखेंगे।

इति किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्

१



श्री

इति—भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्डे—

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकमुपरतम्

१



श्री

अथ-भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वखण्ड—

योगत्रयी का मौलिक विचार

२



श्री

इति—भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वखण्डे—

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकमुपरतम्

१



श्री

२—योगत्रयी का मौलिक विचार

१—मौलिकतत्त्वान्वेषण की उपयोगिता का समन्वय, एवं प्रकृतिसम्मता जीवनपद्धति का अभ्युदय-निःश्रेयस्-भाव-प्रवर्त्तकत्व—

जबतक किसी मौलिक तत्त्व का अन्वेषण नहीं कर लिया जाता, तबतक उस की उपयोगिता अनुपयोगिता के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जासकता। एवं बिना एस मौलिक निर्णय के केवल भावुकता से अपनाए हुए भाव एक वैज्ञानिक की दृष्टि से कभी अभ्युदय (ऐहलौकिक सुख) किंवा निःश्रेयस (पारलौकिक आनन्द) के प्रवर्त्तक नहीं बन सकते। साथ ही उन्हीं वैज्ञानिकों का (महर्षियों का) यह भी कहना है कि वे कर्म्म, वे ज्ञान, वे भक्ति, अथवा वे कुछ इतर भाव प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखते, जिनका सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य की कल्पना से ही है, वे भाव (अपने मन के लिए) कुछ समय के लिए भूतप्रवृत्ति से उपयोगी सिद्ध होते हुए भी कभी स्थायी अभ्युदय के कारण नहीं बन सकते। कारण स्पष्ट है। हम उस प्रकृति के ही एक पर्व हैं। प्रकृति ही विश्वाभ्यासन हम प्राणियों की जन्मदात्री है। प्रकृति ही हमारा पालन-पोषण (रक्षण) करती है। अन्त में हम उसी के क्रोड में सदा के लिए विश्राम कर लेते हैं। प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूपा ऐसी प्रकृति की उपेक्षा कर हम किसी भी दृष्टि से सुखी नहीं रह सकते।

२—सच्चिदानन्दघन आत्मा का अंशभूत मानवीय भूतात्मा, एवं भूतात्मा की कामनात्रयी का संस्मरण—

प्रकृति देवी से नित्य समन्वित व्यापक जो आनन्द ही हमारा आत्मा है। हम उस आनन्दघन के ही एक विस्फुलिंग (चिनगारी) हैं। हम उसी चिद्घन के चिदंश हैं। उस सद्घन से ही हमारी सत्सत्ता प्रतिष्ठित है। आनन्द चित्-सत्तात्मक सच्चिदानन्द के अंशभूत जीवात्मा का इसके अतिरिक्त और क्या पुरुषार्थ होसकता है कि, यह नित्य सुखी रहे, उसमें ज्ञान (चित्) का पूर्ण विकास रहे, एवं यह अणिमा-लघिमा सौविध्यक से पूर्ण ऐश्वर्य्यशाली बना रहे। आनन्दकामना भी स्वाभाविक है, ज्ञानकामना भी स्वाभाविक है, एवं ऐश्वर्य्यकामना भी स्वाभाविक ही है। स्वाभाविकी कामनात्रयी की पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य सतत प्रयास करता रहता है। परन्तु यह निर्विवाद है कि, जबतक अपनी इस यह स्वाभाविक कामना के मूल में स्वभाव (प्रकृति) को प्रतिष्ठित नहीं कर देता, तबतक उसकी कोई भी भी कामना सफल नहीं होती। आत्मकामना का मूलाधार प्रकृति ही है। प्रकृति से समन्वित आत्मा ही अज * होता हुआ भी जन्म धारण

---

* अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ (गी० ४।६।)॥

श्री

२—योगत्रयी का मौलिक विचार

१—मौलिकतत्त्वान्वेषण की उपयोगिता का समन्वय, एवं प्रकृतिसम्मता जीवनपद्धति का अभ्युदय-निःश्रेयस्-भाव-प्रवर्त्तकत्त्व—

जबतक किसी मौलिक तत्त्व का अन्वेषण नहीं कर लिया जाता तबतक उस की उपयोगिता अनुपयोगिता के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जासकता। एवं बिना एस मौलिक निर्णय के केवल अन्धश्रद्धा से अपनाए हुए, भाव एक वैज्ञानिक की दृष्टि से कभी अभ्युदय (ऐहलौकिक सुख) किंवा निःश्रेयस (पारलौकिक आनन्द) के प्रवर्त्तक नहीं बन सकते। साथ ही उन्हीं वैज्ञानिकों का (महर्षियों का) यह भी कहना है कि जो कर्म्म जो ज्ञान जो भक्ति अथवा जो कुछ इतर भाव प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखते जिनका सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य की कल्पना से ही है वे भाव (कहने भर के लिए) कुछ समय के लिए भूतदृष्टि से उपयोगी सिद्ध होते हुए भी कभी स्थायी अभ्युदय के कारण नहीं बन सकते। कारण स्पष्ट है। हम उस प्रकृति के ही एक पर्व हैं। प्रकृति ही निरुक्तावस्थापन्न हम प्राणियों की जन्मदात्री है। प्रकृति ही हमारा पालन-पोषण (रक्षण) करती है। अन्त में हम उसी के क्रोड़ में सदा के लिए विश्राम कर लेते हैं। प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूपा ऐसी प्रकृति की उपेक्षा कर हम किसी भी दृष्टि से सुखी नहीं रह सकते।

२—सच्चिदानन्दघन आत्मा का अंशभूत मानवीय भूतात्मा, एवं भूतात्मा की कामनात्रयी का संस्मरण—

प्रकृति देवी से नित्य समन्वित व्यापक ज्ञानानन्द ही हमारा आत्मा है। हम उस आनन्दघन के ही एक विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) हैं। हम उसी चिद्घन के चित्कण हैं। उस सद्घन में ही हमारी स्वस्वरूपता प्रतिष्ठित है। आनन्द-चित्-सत्तात्मक सच्चिदानन्द के अंशभूत जीवात्मा का इसके अतिरिक्त और क्या पुरुषार्थ होसकता है कि यह नित्य सुखी रहे, उसमें ज्ञान (चित्) का पूर्ण विकास रहे, एवं वह अस्तिलक्षण मौलिकसत्ता से पूर्ण ऐश्वर्य्यशाली बना रहे। आनन्दकामना भी स्वाभाविक है, ज्ञानकामना भी स्वाभाविक है, एवं ऐश्वर्य्यकामना भी स्वाभाविक ही है। स्वाभाविकी कामनात्रयी की पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य सतत प्रयास करता रहता है। परन्तु यह निर्विवाद है कि जबतक अपनी इन तीन स्वाभाविक कामना के मूल में स्वभाव (प्रकृति) को प्रतिष्ठित नहीं कर लेता, तबतक उसकी कोई भी भी कामना सफल नहीं होती। आत्मकामना का मूलाधार प्रकृति ही है। प्रकृति में प्रतिष्ठित आत्मा ही अज * होता हुआ भी जन्म धारण

* अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ (गी० ४।६।) ॥

प्रकृतिक-उत्थान की चरम सीमा पर पहुँचने का गर्व करने वाले भी हमने आज प्रकृति को एक परिहास की ही सामग्री बना डाली है। पद पद पर आज हम प्रकृति की घोषणा करते हैं परन्तु काम सब प्रकृति के विरुद्ध ही करते हैं। जिसे देखो वही आज प्रकृति का पूरा परिहास बना हुआ है। यह काम नेचर के खिलाफ है — यह सब केवल आडम्बर है — 'मनुष्यता का तकाजा है कि वह इन नेचर के खिलाफ कामों से परहेज करे' ऐसे ऐसे आदर्श वाक्यों का उपयोग किया जाता है एकमात्र भारतीय ज्ञान-कर्म-भक्ति—योगों के सम्बन्ध में। क्या हम उन प्रकृतिभक्तों से यह पूछने कि धृष्टता कर सकते हैं कि श्रीमन्! खाते पीते उठते बैठते चलते फिरते अहर्निश जिस नेचर के आप गुणगान करते रहते हैं क्या कभी स्वप्न में भी उस नेचर का स्वरूप जानने के लिए आपकी ओर से कोई प्रयास हुआ है ?। प्रकृतितत्त्व क्या है ?, प्रकृति कब कैसे कहाँ क्या उत्पन्न करती है ? क्या इन प्रश्नों की आपने कभी मीमांसा करने का कष्ट उठाया है ? । किस युग में प्रकृति का कैसा स्वरूप हो जाता है ? देश-काल-पात्र-द्रव्य आदि के तारतम्य से एक ही प्रकृति के कैसे-कैसे विविध रूप होजाते हैं ?, क्या कभी आपने इस सम्बन्ध में कोई निर्णय प्रकट करने का अनुग्रह किया है ? । यदि हाँ तो जानने की जिज्ञासा है। भूले हुए भारतीय महर्षि उनकी रचनाएँ (शास्त्र) एवं तदनुगामी हमारे जैसे आर्योपासक भारतीय आप का उपकार मानेंगे। यदि नहीं, तो फिर आप को अपनी जिज्ञासा के लिए उन्हीं भारतीय ऋषियों की शरण में आना पड़ेगा। परन्तु ध्यान रखिए ! आप की वह शरणागति भक्तिभाव को प्रधान मान कर ही सफल होसकेगी। यदि आपकी भावना दूषित है यदि पहिले से ही आपने—"हम जो कुछ जानते एवं करते हैं वह बावन तोला पाव रत्ती है प्रकृति सिद्ध है" इस भ्रमि निवेश (दुराग्रह-हठधर्मी) का अनुगमन करते हुए श्रद्धामयी भक्ति का परित्याग कर अपने आप को भ्रमक्त बना रक्खा है तो तत्काल आपके सामने भगवान् कृष्ण का 'नामलाय कश्चन' यह आदेश उपस्थित होजायगा। एवं उस समय आपको निराश होकर ही लौटना पड़ेगा। यदि भक्तिमूला जिज्ञासा है तो आपका वहाँ हृदय से अभिनन्दन है। फलस्वरूप प्रकृति का निम्नलिखित तात्त्विक स्वरूप आपके सामने उपस्थित है।

६—ऋषिपज्ञानुगत शब्दविन्यास एवं तन्मूला तात्त्विकी-शब्दनिर्वचन-प्रणाली का संस्मरण—

आर्ष महर्षियों के परिमार्जित, गौरवर्द्धित अतएव सर्वथा प्रामाणिक ज्ञानवैभव का सबसे बड़ा चमत्कार है—उनका शब्दविन्यास। उन्होंने जिस तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए जो शब्द रक्खे हैं उन शब्दों में ही वह तत्त्व निगूढ है। यदि तत्तत् तत्त्व प्रतिपादक तत्तत् शब्दों का ही हम निर्वचनदृष्टि से अन्वेषण करने लग पड़ते हैं तो वे शब्द ही उन तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं। शब्दब्रह्म का सम्यक् परिज्ञान ही सत्य लक्षण परब्रह्म के ज्ञान के लिए पर्य्याप्त है। जो तत्त्व विश्व का मूल कारण है—उसके लिए श्रुति-सम्प्रदाय में प्रकृति प्रधान नियति अव्याकृत अक्षर अमृत कारण सेतु, भूतभावन कण अन्तर्य्यामी परा सूत्र इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृत में इन सभी शब्दों का तो निर्वचन नहीं किया जासकता। उदाहरण के लिए तीन चार शब्दों का निर्वचन ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

७—'प्रकृति' शब्द के 'प्र' और 'कृति' भाव, प्रकृतिमूलक 'दैवात्' शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियाँ—

पहिले 'प्रकृति' शब्द को ही लीजिए। 'कृति' शब्द का अर्थ सर्वविदित है। "यह अमुक व्यक्ति की कृति (कर्म्म-रचना) है" यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार ही सर्वविदितता में प्रमाण है। लोक में जितने भी जड़ चेतन पदार्थ हैं, उन सबको हम "कृति" कह सकते हैं। ये सब पदार्थ कार्य्यरूप हैं। कार्य्य बिना कारण के सर्वथा अनुपपन्न है, यह भी निःसन्दिग्ध सिद्धान्त है। हाँ उस कारण का हमें ज्ञान न हो, यह दूसरी बात है। उसी अज्ञात कारण के लिए संस्कृत साहित्य में 'दैवात्' शब्द प्रचलित है। प्रकृतिरूप के संचालक प्रकृतिरूप रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-मात्राओं से अतीव सूक्ष्म तत्त्व ही "प्राण" नाम से प्रसिद्ध है। इन सूक्ष्म प्राणों की ऋषि-पितर देव-गन्धर्व असुर आदि अनेक जातियाँ हैं। इन्हीं प्राणों के समन्वय-तारतम्य से सृष्टि में विविध प्रकार के परिवर्त्तन हुआ करते हैं। इन प्राणदेवताओं का व्यापार हमारे चर्म्मचक्षु से परे की वस्तु है। किस प्राणदेवता के किस व्यापार से भूकम्प होगया है, यह हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। देवता के द्वारा होने वाला कृतिरूप भूकम्प अवश्य ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है। परन्तु जिस प्राणात्मक (देवात्मक) कारण से इस कृति का जन्म हुआ है, वह कारण हमारी ज्ञान-सीमा से बाहिर है। परन्तु हम इस सम्बन्ध में भी यह अवश्य ही कह सकते हैं कि दैववश (प्राणदेवता के द्वारा) ही ऐसा हुआ है। कितने ही भारतीय विद्वान् दैवात् का अर्थ "यों ही" किया करते हैं। इस "यों ही" से यह ध्वनि निकलती है कि, कारण कुछ न था 'अकस्मात्' ऐसा होगया। परन्तु विज्ञान दृष्टि से यह ध्वनि अशुद्ध है। कार्य्यकारणमय विश्व में कोई भी परिवर्त्तन यों ही नहीं होजाया करता। अवश्य ही प्रत्येक कार्य्य का कारण होता है। ज्ञानदशा में हम उस कारण का स्थूलदृष्टि से अभिनय करने में समर्थ होजाते हैं। किन्तु अज्ञानदशा में "दैववात्" को उपस्थित कर देते हैं। फलतः ज्ञान-अज्ञान दोनों ही कारण प्राकृतिक बनते हुए दैवात्मक हैं। परन्तु ज्ञानदशा में देवप्राणों के आधार स्थूलभूत बन जाते हैं, अतः वहाँ देवशब्द का व्यवहार न होकर स्थूलभूत का व्यवहार होने लगता है। किन्तु अज्ञानदशा में विशुद्ध देवव्यवहार प्रधान बन जाता है। इसी अर्थ को व्यक्त करने वाला हमारा 'दैवात्' शब्द है। दैवात् का अर्थ 'यों ही' कैसे बन गया, इसमें भारतीयों का अपना कोई दोष नहीं है। अपितु यह संसर्ग की कृपा का ही फल है। प्रत्येक कार्य्य में कारण ढूँढने का अभिमान करने वाले पश्चिमी विद्वान् एवं तदनुयायी तच्छिक्षा भोगी भारतीय विद्वान् कभी कभी अपने श्रीमुख से 'चाइ्चान्स' शब्द का उच्चारण कर दिया करते हैं। उनकी दृष्टि में ही चाइचान्स का "यों ही" अर्थ है। ये इस पवित्र शब्द का उपयोग कब करते हैं?, यह भी एक उदाहरण से देख लीजिए।

८—संस्कृतज्ञ विद्वानों की 'अकस्मात्' सूचक 'दैवात्' शब्द निबन्धना महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

शकुनशास्त्रवेत्ताओं का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति शुभ कार्य्य के लिए अपने घर से निकलता है और मार्ग में मार्जार (बिल्ली) मार्ग काट देती है तो उसे वापस लौट आना चाहिए। यदि वह व्यक्ति इस वचन को न मान कर चला जायगा तो उसका अनिष्ट होजायगा। ऐसे शकुनों का उक्त आज्ञा न मानने से

कोई अनिष्ट हो जाता है। उस समय आस्तिक कहता है कि, लो तुमने शास्त्र की आज्ञा नहीं मानी इसलिए तुम्हारी यह दशा हुई। तत्काल वाद्‌चाञ्चल्यवादी कह उठता है कि अभी जाने भी दो इन बातों में क्या रक्खा है। कभी किसी लाँघने से भी अनिष्ट हुआ है। यह तो काकतालीय ऐसा होगया है। तब इस सम्बन्ध में यह उपस्थित किया जाता है कि, जो इन शकुनों को नहीं मानते उनका हम कोई भी अनिष्ट नहीं देखते। साथ ही मानने वालों में से भी कितने एक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि, वे बिल्ली लाँघ जाते हैं परन्तु उनका कुछ भी तो अनिष्ट नहीं होता। केवल इसी तर्कवाद के आधार पर आज इन महानुभावों की ओर से भारतीय शकुनशास्त्र को निर्मूल बनाने की चेष्टा की जारही है। वे यह भूल जाते हैं कि, भारतीय शास्त्र 'भारतीय शास्त्र' है प्रकृतिशास्त्र है दिव्यभावमूलक अतीन्द्रियशास्त्र है। वह भौतिक दृष्ट अनिष्ट को ही "इष्ट अनिष्ट नहीं मानता। अपितु इसके साथ वह प्रज्ञागत देवानिष्ट-दृष्टता को ही विशेष महत्व देता है। यदि एकमात्र उपपराक्रमता ही इनका इष्ट होता साथ ही केवल शारीरिक-हानि ही अनिष्ट होता तो अवश्य ही ऐसे अवसरों पर उनका काकतालीय शब्द प्रयुक्त हो सकता था। कार्यकारणवादी एक वैज्ञानिक की दृष्टि में 'यों ही' बनि से सम्बन्ध रखने वाले काकतालीय शब्द का कोई मूल्य नहीं है। इसी निर्मूल-भाव ने संस्कृतज्ञ विद्वानों को भी 'दैवान्' के अर्थ में भ्रम भ्रान्त बना दिया है।

९—कृति की प्रागवस्था और 'प्रकृति' शब्द-समन्वय—

अस्तु प्रकृत में वक्तव्य यही है कि, 'कार्य' नाम से प्रसिद्ध 'कृतिमात्र' का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। कारण की उत्तरावस्था ही कार्य किंवा कृति है। मिट्टी की उत्तरावस्था ही तो घट है। शुक्र शोणित की उत्तरावस्था ही तो सन्तान है। उत्तरावस्थारूपा कृति की प्रथमावस्था ही तो कारण है। कृति की यह प्रथमावस्था ही "प्र—कृति—कृतेः प्रागवस्था पूर्वावस्था प्रथमावस्था वा" इस निर्वचन के अनुसार 'प्रकृति' है।

१०–प्रकृति' शब्दानुगता एक समस्या, और उसका निराकरण—

इस सम्बन्ध में आप प्रश्न करेंगे कि यदि कारण को ही प्रकृति कहा जाता है तो उसे प्रकृति न कहकर केवल "प्र" इस एकाक्षर शब्द से ही व्यवहृत करना चाहिए था। कृति शब्द तो उत्तर अवस्था का सूचक है एवं अभीष्ट है केवल कृति की पूर्वावस्था का अभिनय। फिर उसे 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' क्यों कहा गया? प्रकृति का अर्थ होगा—कारणयुक्त कृति। हम यह नाम चाहते हैं जो कि केवल कृति के प्रागभाव का ही सूचक हो?। स्वयं 'प्रकृति' शब्द ही इस विप्रतिपत्ति का भी निराकरण कर रहा है।

११–कार्यभावात्मक 'कृति' शब्द कारणभावात्मक 'प्र' शब्द, और कार्य-कारण-रूपा-'प्रकृति' का समन्वय—

हमें कृति की पूर्वावस्था का विचार करना है। उस पूर्वावस्था का जिसका निरवस्थना में उपयोग होता है। निरवस्था में यह प्रकृति किंवा कारक कथानुसार प्र भाव बिना कृति के सर्वथा अनुपपन्न है। निरवार्वाच्छिन्न प्र भाव (कारण) सत्तामात्र के लिए भी कृति से बाहिर नहीं है। यदि 'प्र' में से कृति

७—'प्रकृति' शब्द के प्रकार 'कृति' मात्र प्रकृतिमूलक 'दैवात्' शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियाँ—

पहिले प्रकृति शब्द को ही लीजिए। 'कृति' शब्द का अर्थ सर्वविदित है। 'यह अमुक व्यक्ति की कृति (काव्य-रचना) है' यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार ही सर्वविदितता में प्रमाण है। लोक में जितने भी जड़ चेतन पदार्थ हैं उन सबको हम "कृति" कह सकते हैं। ये सब पदार्थ कार्यरूप हैं। कार्य बिना कारण के सर्वथा अनुपपन्न है यह भी निःसंदिग्ध सिद्धान्त है। हाँ उस कारण का हमें ज्ञान न हो यह दूसरी बात है। उसी अज्ञात कारण के लिए संस्कृत साहित्य में 'दैवात्' शब्द प्रचलित है। प्राकृतिक के सञ्चालक प्राणरूप रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द–मात्राओं से अतीत सूक्ष्म तत्त्व ही "प्राण" नाम से प्रसिद्ध है। इन सूक्ष्म प्राणों की ऋषि-पितर-देव-गन्धर्व-असुर आदि अनेक जातियाँ हैं। इन्हीं प्राणों के सम्बन्ध-तारतम्य से सृष्टि में विविध प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं। इन प्राणदेवताओं का व्यापार हमारे चर्मचक्षु से परे की वस्तु है। किस प्राणदेवता के किस व्यापार से भूकम्प होगया है, यह हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। देवता के द्वारा होने वाला कृतिरूप भूकम्प अवश्य ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है। परन्तु जिस प्राणात्मक (देवात्मक) कारण से इस कृति का जन्म हुआ है वह कारण हमारी ज्ञान-सीमा से बाहिर है। परन्तु हम इस सम्बन्ध में भी यह अवश्य ही कह सकते हैं कि दैवात् (प्राणदेवता के द्वारा) ही ऐसा हुआ है। कितने ही भारतीय विद्वान् दैवात् का अर्थ 'यों ही' किया करते हैं। इस 'यों ही' से यह ध्वनि निकलती है कि कारण कुछ न था 'अकस्मात्' ऐसा होगया। परन्तु विज्ञान दृष्टि से यह ध्वनि अशुद्ध है। कार्यकारणमय विश्व में कोई भी परिवर्तन 'यों ही' नहीं होजाया करता। अवश्य ही प्रत्येक कार्य का कारण होता है। ज्ञातदशा में हम उस कारण का स्थूलरूपों से अभिनय करने में समर्थ होजाते हैं। किन्तु अज्ञातदशा में दैवभाव को उपस्थित कर देते हैं। अतएव ज्ञात-अज्ञात दोनों ही कारण प्रकृतिरूप बनते हुए दैवात्मक हैं। परन्तु ज्ञातदशा में देवप्राण के आधार स्थूलभूत बन जाते हैं अतः वहाँ दैवात्मा का व्यवहार न होकर स्थूलभूत का व्यवहार होने लगता है। किन्तु अज्ञातदशा में विशुद्ध दैवव्यवहार प्रधान बन जाता है। इसी अर्थ को व्यक्त करने वाला हमारा "दैवात्" शब्द है। दैवात् का अर्थ 'यों ही' कैसे बन गया? इसमें भारतीयों का अपना कोई दोष नहीं है। अपितु यह संसर्ग की कृपा का ही फल है। प्रत्येक कार्य में कारण ढूँढ़ने का अभिमान करने वाले पश्चिमी विद्वान् एवं तदनुयायी उच्छिष्ट-भोगी भारतीय विद्वान् कभी कभी अपने श्रीमुख से "बाइचान्स" शब्द का उच्चारण कर दिया करते हैं। उनकी दृष्टि में ही बाइचान्स का 'यों ही' अर्थ है। वे इस पवित्र शब्द का उपयोग कब करते हैं? यह भी एक उदाहरण से देख लीजिए।

८—संस्कृतज्ञ विद्वानों की 'अकस्मात्' मूला 'दैवात्' शब्द निबन्धना महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

शकुनशास्त्रवादी का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति शुभ कार्य के लिए अपने घर से निकलता है और मार्ग में मार्जार (बिल्ली) मार्ग काट देती है तो उसे वापस लौट आना चाहिए। यदि वह व्यक्ति हठ करके चला जायगा तो उसका अनिष्ट होजायगा। ऐसे हठवादी का उक्त आज्ञा न मानने से

का अनिष्ट हो जाता है। उस समय आस्तिक कहता है कि, लो तुमने शास्त्र की आज्ञा नहीं मानी इसलिए तुम्हारी यह दशा हुई। तत्काल आशुवाम्यवादी कह उठता है कि अभी कल भी दो इन बातों में क्या रक्खा है। कभी बिल्ली लांघन से भी अनिष्ट हुआ है। यह तो काकतालीय ऐसा होगया है। तब इस सम्बन्ध में यह उपस्थित किया जाता है कि, जो इन शकुनों को नहीं मानते उनका हम कोई भी अनिष्ट नहीं देखते। साथ ही मानने वालों में से भी कितने एक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि, वे बिल्ली लांघ जाते हैं परन्तु उनका कुछ भी तो अनिष्ट नहीं होता। केवल इसी तर्कवाद के आधार पर आज इन महानुभावों की ओर से भारतीय शकुनशास्त्र को निर्मूल बनाने की चेष्टा की जारही है। वे यह भूल जाते हैं कि, भारतीय शास्त्र 'भारतीय शास्त्र' है, प्रकृतिशास्त्र है, विश्वासमूलक अतीन्द्रियशास्त्र है। यह भौतिक दृष्ट अनिष्ट को ही दृष्ट अनिष्ट नहीं मानता। अपितु इसके साथ यह अदृष्टगत देवानिष्ट-दशा को ही विशेष महत्त्व देता है। यदि एकमात्र उपयोगिता ही इनका दृष्ट होता, साथ ही केवल शारीरिक-हानि ही अनिष्ट होता तो अवश्य ही ऐसे अवसरों पर उनका आक्षेप शास्त्र प्रयुक्त होसकता था। कार्यकारणवादी एक वैज्ञानिक की दृष्टि में "छीं" ही ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले काकतालीय शब्द का कोई मूल्य नहीं है। इसी निर्मूल-भाव ने संस्कृतज्ञ विद्वानों को भी "दैवात्" के अर्थ में आज भ्रान्त बना दिया है।

६—कृति की प्रागवस्था और प्रकृति' शब्द-समन्वय—

अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही है कि, 'कार्य्य' नाम से प्रसिद्ध 'कृतिमात्र' का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। कारण की उत्तरावस्था ही कार्य्य किंवा कृति है। मिट्टी की उत्तरावस्था ही तो घट है। शुक्र शोणित की उत्तरावस्था ही तो सन्तान है। उत्तरावस्थारूपा कृति की प्रथमावस्था ही तो कारण है। कृति की यह प्रथमावस्था ही 'प्र—कृति—कृतेः प्रागवस्था पूर्वावस्था प्रथमावस्था वा" इस निर्वचन के अनुसार 'प्रकृति' है।

१०—प्रकृति' शब्दानुगता एक समस्या, और उसका निराकरण—

इस सम्बन्ध में आप प्रश्न करेंगे कि यदि कारण को ही प्रकृति कहा जाता है तो उसे प्रकृति न कहकर केवल 'प्र' इस एकाक्षर शब्द से ही व्यवहृत करना चाहिए था। कृति शब्द तो उत्तर अवस्था का सूचक है एवं अभीष्ट है केवल कृति की पूर्वावस्था का अभिनय। फिर उसे "प्र' न कहकर 'प्रकृति' क्यों कहा गया ?। प्रकृति का अर्थ होगा—कारणयुक्त कृति। हम यह नाम चाहते हैं जो कि केवल कृति के प्राग्भाव का ही सूचक हो ?। स्वयं 'प्रकृति' शब्द ही इस विप्रतिपत्ति का भी निराकरण कर रहा है।

११-कार्य्यमात्रात्मक 'कृति' शब्द कारणमात्रात्मक प्र' शब्द, और कार्य्य-कारण-रूपा-'प्रकृति' का समन्वय—

हमें कृति की पूर्वावस्था का विचार करना है। उस पूर्वावस्था का विकास विश्वरचना में उपयोग देता है। विश्वरचना में यह प्रकृति किस आकार के कथानुसार प्र मात्र बिना कृति के सर्वथा अनुपयुक्त है। विश्वातिरिक्त प्र' मात्र (कारण) कारणमात्र के लिए भी कृति से बाहिर नहीं है। यदि 'प्र' में न 'कृति

निकाल दी जाती है, तो वह 'प्र' विश्वसीमा से बाहिर निकलता हुआ 'कृतिमात्र' से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करता हुआ, अतएव अपनी कारणसम्पत्ति से भी वञ्चित होता हुआ 'प्र' भी नहीं रहता। 'प्र' तभी तक 'प्र' है, जबतक कि उसके साथ 'कृति' का सम्बन्ध है। 'कारण' शब्द 'कार्य्य' की नित्य अपेक्षा रखता है। 'कारण' शब्द के सुनते ही किस का कारण है, यह जानने की अपेक्षा होती है। कार्य्यगर्भित कारण ही कारण है। कृति की अपेक्षा से ही कारण का 'प्र' भाव सुरक्षित है। इसी रहस्य को, इसी नित्य कार्य्यकारणभाव को सूचित करने के लिए इसे केवल 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' शब्द से सम्बोधित करना उचित समझा गया है।

१२–प्रकृतिवाचक–'प्रधान' शब्द का तात्त्विक–स्वरूप समन्वय—

दूसरा 'प्रधान' शब्द है। प्रकृति शब्द कृति की पूर्वावस्था का सूचक था, एवं 'प्रधान' शब्द कृति की उभयावस्था का द्योतक है। अथवा यों समझिए, प्रकृति शब्द कारण की उपादानशक्ति का सूचक है, एवं प्रधान शब्द कारण की प्रधानता का सूचक है। दूध से मलाई उत्पन्न होती है, इस दृष्टि से दूध को मलाई की प्रकृति अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु मलाई को आप दुग्धपात्र से पृथक् भी निकाल सकते हैं। अतएव दूध को 'प्रधान' नहीं कहा जासकता। प्रधान उसी प्रकृति को कहा जायगा, जिसमें कार्य्य की प्रतिष्ठा भी होगा। उत्पन्न कार्य्य उत्पादक से कभी पृथक् न हो, ऐसा अभिन्नसत्तात्मक उत्पादक ही 'प्रधान' इस निर्वचन से प्रधान कहलाएगा। 'धान' शब्द से भी काम चल सकता था, परन्तु इससे लक्षण अतिव्याप्त बन जाता। वस्त्रों को हमने धारण कर रक्खा है, अतः 'धान' के अनुसार शरीर भी 'धान' है। परन्तु शरीर और वस्त्रों की सत्ता एक नहीं है। अतएव इसे वस्त्रों का 'प्रधान' नहीं कहा जासकता। कृति की पूर्वावस्था-रूप 'प्र' ही अभिन्नसत्तारूप से 'प्र' है। अतः वही 'प्रधान' कहा जाता है। कार्य्य को कभी न छोड़ना ही 'प्र' का प्रकर्ष है। 'प्रधान' का 'प्र'–भाग इसी प्रकर्षता का सूचक है।

१३–प्रकृतिवाचक–'कारण' शब्द का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

तीसरा 'कारण' शब्द है। यह शब्द कारण की कर्तृत्वशक्ति का अभिव्यञ्जक बन रहा है। शुक्र उपादान अवश्य है, सन्तान की प्रकृति अवश्य है। परन्तु इसे कारण नहीं माना जासकता। कारण तो पिता ही माना जाएगा। शुक्र बिना पिता के व्यापार के कभी शरीराभिव्यक्ति में प्रवृत्त नहीं होसकता। उधर प्रकृति उत्पादिका होने के साथ-साथ अपनी कर्तृत्व-शक्ति से कारण भी बनी हुई है। 'उत्पादयति' के साथ 'करोति' भाव का भी समावेश है। उत्पादक शुक्र जैसे अपनी उत्पादनशक्ति को कार्य्य में परिणत करने के लिए अन्य कारण (पिता के सन्निधान) की अपेक्षा रखता है, वैसे प्रधानलक्षणा प्रकृति को अपनी उत्पादनशक्ति को व्यापार में लाने के लिए अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। वह स्वयं ही उत्पादिका (प्रकृति) है, स्वयं ही कर्त्री (कारण) है। अतएव "करोति" इस निर्वचन से इसे कारण कहा जाता है।

१४–प्रकृतिवाचक–'बीज' शब्द का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

चौथा शब्द 'बीज' है। बीज शब्द विकासभाव का वाचक है। विकास बिखरने का नाम ही बीजन है। "बीजयत्यपि" (पा० १। ३।) से वीर्य्य दाधान पर 'बिज' ही 'बीजन' है। इ–कार

न-कार के अभेद से 'योग्रन् ही वाग्रन् है। जायते और विजायते में अन्तर है। नियमोत्पत्ति का जायते से सम्बन्ध है, एवं सर्वोत्पत्ति का विजायते से सम्बन्ध है। मानवी-स्त्री से केवल मनुष्यविधा प्रजा-ही उत्पन्न होसकती है। इसी नियतभाव के कारण इसे केवल 'जन्म' ही कहा जायगा। परन्तु प्रकृति के गर्भ से यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध सभी विविध भाव इसी से उत्पन्न हुए हैं अतएव इसे 'विजम्' किंवा 'बीजम्' कहा जाता है। प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति ही 'विजायते' का अधिष्ठाता है जैसाकि— 'अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' इत्यादि-मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। 'बीज' शब्द इसी भावका समर्थक है।

१५-प्रकृतिवाचक-'निदान' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

पाँचवाँ "निदान" शब्द है। यह शब्द आत्मसमर्पण का ही सूचक है। प्रकृति अपनी कृति के लिए अपने आपका (सत्ता) का दान कर देती है। पिता प्रदान से पुत्रकृति का कारण बनता है। परन्तु यह भिन्नसत्ताक-कार्यकारणभाव-सम्बन्ध है। पिता न रहे तो पुत्र का कुछ नहीं बिगड़ता एवं पुत्र न रहे तो पितृस्वरूप की कोई हानि नहीं होती। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ अभिन्नसत्ताक-कार्य्यकारणभाव है। मिट्टी घटकृति के लिए आत्मसमर्पण किए हुए है। बिना मिट्टी को लिए घट की सत्ता ही नहीं होसकती। यही आत्मसमर्पणलक्षण नितरांदान है इसी अभिप्राय से- 'नितरां दीयते' इस निर्वचन से इसे निदान कहा जाता है। यह नितरांदान मूलकारणता से ही सम्बन्ध रखता है अतएव 'आदिकारण' को भी निदान कहा जाता है— 'निदानं त्वादिकारणम्'।

१६-प्रकृतिवाचक-'अव्यक्त' शब्द का तात्त्विक स्वरूप समन्वय—

'अव्यक्त' शब्द प्रकृति की अतीन्द्रियता का सूचक है। लौकिक-कार्यों का हम चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परन्तु लोक-कारणभूता प्रकृति को हम देखने में असमर्थ हैं। उसका कृतिरूप किंवा फलरूप ही हमारे सामने आता है। कारणदशा सदा अव्यक्त (अप्रत्यक्ष—अतीन्द्रिय) ही है। इसी आधार पर महा-भारतकारने अव्यक्तानुयायी विद्वानों के अव्यक्त-कारणरूप कर्म्म को भी 'अव्यक्त' ही बतलाया है। विद्वान् क्या कर रहा है ! इसका किसी को पता नहीं और पता लगना भी नहीं चाहिए। विद्वान् के कर्म्म का फलरूप जो 'कृतिभाव' है उसे ही लोक जानता है एवं जाने। अव्यक्तमूला एषी कर्मव्यवस्थिता ही वास्तविक-कर्त्तव्यता है।

१७-प्रकृतिवाचक-'अक्षर' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

'अक्षर' शब्द निर्विकारभावाधार का सूचक है। यदि वृक्ष से आप असार बनाते चले जायेंगे तो कुछ समय में ही सारा वृक्ष असार बन जायगा वृक्ष का मूलोच्छेद होजायगा। परन्तु यहाँ का कार्य्यकारणभाव ऐसा नहीं है। प्रकृति से ऐसे ऐसे अनन्त महाविश्व उत्पन्न होगए, परन्तु ऊर्णनाभि की भाँति उसके मारभिम स्वरूप में अणुमात्र भी कमी न हुई— 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्'। इसी अविकृतपरिणामभाव से नित्यपुरुष की यह नित्या प्रकृति "अक्षर" (क्षीण न होने वाली) नाम से प्रसिद्ध है।

निकाल दी जाती है तो वह 'प्र' चित्तसीमा से बाहिर निकलता हुआ 'कृतिमात्र' से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करता हुआ अतएव अपनी कार्यसम्पत्ति से भी वञ्चित होता हुआ 'प्र' भी नहीं रहता। 'प्र' तभी तक 'प्र' है जबतक कि उसके साथ कृति का सम्बन्ध है। 'कारण' शब्द 'कार्य' की नित्य अपेक्षा रखता है। 'कारण' शब्द के सुनते ही किस का कारण है, यह जानने की अपेक्षा होती है। कार्यगर्भित कारण ही कारण है। कृति की अपेक्षा ही से कारण का 'प्र' भाव सुरक्षित है। इसी रहस्य को, इसी नित्य कार्यकारणभाव को सूचित करने के लिए इसे केवल 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' शब्द से सम्बोधित करना उचित समझा गया है।

१२–प्रकृतिवाचक–'प्रधान' शब्द का तात्त्विक–स्वरूप समन्वय—

दूसरा 'प्रधान' शब्द है। 'प्रकृति' शब्द कृति की पूर्वावस्था का सूचक था एवं 'प्रधान' शब्द कृति की उत्तरावस्था का द्योतक है। अथवा यों समझिए, प्रकृति शब्द कारण की उत्पादकशक्ति का सूचक है एवं प्रधान शब्द कारण की प्रतिष्ठा का सूचक है। वृक्ष से सन्तति उत्पन्न होती है इस दृष्टि से वृक्ष को सन्तति की प्रकृति अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु सन्तति को हम वृक्षमण्डल से पृथक् भी निकाल सकते हैं। अतएव वृक्षको 'प्रधान' नहीं कहा जासकता। प्रधान उसी प्रकृति को कहा जायगा जोकि कार्य की प्रतिष्ठा भी होगा। उत्पन्न कार्य उत्पादक से कभी पृथक् न हो, ऐसा अविनाभावात्मक उत्पादक ही "प्रधत्ते" इस निर्वचन से 'प्रधान' कहलाएगा। 'धान' शब्द से भी काम चल सकता था परन्तु इससे लक्षण अतिव्याप्त बन-जाता। वस्त्रों को हमने धारण कर रक्खा है अतः "धत्ते" के अनुसार शरीर भी 'धान' है। परन्तु शरीर और वस्त्रों की सत्ता एक नहीं है। अतएव इसे वस्त्रों का 'प्रधान' नहीं कहा जासकता। कृति की प्रकाशावस्था-रूप 'प्र' ही अविनाभावलक्षण 'ध' है। अतः यही 'प्रधान' कहा जाता है। कार्य को कभी न छोड़ना ही 'ध' का महत्त्व है। 'प्रधान' का 'ध'–भाव इसी महत्ता का सूचक है।

१३–प्रकृतिवाचक–'कारण' शब्द का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

तीसरा 'कारण' शब्द है। यह शब्द कारण की कर्तृत्वशक्ति का अभिव्यञ्जक बन रहा है। शुक्र उत्पादक अवश्य है सन्तान की प्रकृति अवश्य है। परन्तु इसे कारण नहीं माना जासकता। कारण तो पिता ही माना जायगा। शुक्र बिना पिता के व्यापार के कभी योषिदग्नि में आहुत नहीं होसकता। उधर प्रकृति उत्पादिका होने के साथ-साथ अपनी स्वतन्त्र–शक्ति से कारण भी बनी हुई है। 'उत्पादकत्व' के साथ 'करोति' भाव का भी समावेश है। उत्पादक शुक्र जैसे अपनी उत्पादकशक्ति को कार्य में परिणत करने के लिए अन्य कारण (पिता के व्यापार) की अपेक्षा रखता है वैसे प्रधानलक्षणा प्रकृति को अपनी उत्पादकशक्तिको व्यवहार में लाने के लिए अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। वह स्वयं ही उत्पादिका (प्रकृति) है स्वयं ही कर्त्री (कारण) है। अतएव "करोति" इस निर्वचन से इसे कारण कहा जाता है।

१४–प्रकृतिवाचक–'बीज' शब्द का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

चौथा शब्द "बीज" है। बीज शब्द विजायन का सूचक है। "विजायन्ते विविधं यस्मात्" ही बीजम् है। "अन्येषामपि" (पा ६।३।१३७) से दीर्घ होजाने पर 'बिज' ही 'बीजम्' है। ब–कार

१८–प्रकृतिवाचक 'सेतु' शब्द का समन्वय–

प्रकृति के इस ओर वैकारिक जगत् है उस ओर निर्विकार पुरुष है मध्य में सेतु–स्थानीया प्रकृति है। प्रकृति का स्वर मुक्त कीजिए, बन्धन है उधर लेजाइए, मुक्ति है प्रकृतितत्त्व के इस मध्य स्थान को स्पष्ट करने के लिए ही इसे सेतु कहा जाता है।

१९–प्रकृतिवाचक 'नियति' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

इसके महान् पूर्ण नाम है नियति। इस नाम को हम इसलिए महत्त्वपूर्ण कहेंगे कि–इस नाम की व्याप्ति का हम प्रत्यक्ष में अनुभव कर रहे हैं। "नितरां यच्छति ही 'नियति' शब्द का निर्वचन है। प्रकृति का प्रकृतित्व इस नियतिभाव पर ही निर्भर है जैसा कि— 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' इत्यादि गीता सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। प्रकृति का शासनसूत्र अटल है। उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जो भी उल्लंघन करता है वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। उसका नियन्त्रण सर्वथा नियत है। वह नियमपूर्वक ही सब का नियमन किए हुए है अतएव कोशकार ने नियति को ही नियम भी मान लिया है।

२०–महातन्त्रायी तन्त्रेश्वर, और उसका शासनतन्त्र—

राजा स्वयं शासन नहीं करता स्वयं दण्डविधान नहीं करता। अपितु राजा का नियम (कानून) ही शासन करता है। राजा स्वयं अपने राष्ट्र में संक्रमण नहीं करता। अपितु-उसका शासनसूत्र ही सर्वत्र व्याप्त रहता है। महातन्त्रायी तन्त्रेश्वर स्वयं ईश्वरप्रजापति (अव्यय) विश्व का सञ्चालन नहीं करता प्राचीन मतानुसार वह तो पुष्करपलाशवत् निर्लेप है। शासन करता है उसका नियम और उसी नियम सूत्र का नाम है 'नियतिदण्ड'। यही नियतिदण्ड प्रकृति नाम से प्रसिद्ध है— 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'।

२१–महाभयात्मक नियतिदण्ड, और आधिकारिक जीव—

क्या आप समझते हैं कि सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–ग्रह–उपग्रह आदि अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपना अपना कार्य्य कर रहे हैं? नहीं, इनकी तो कोई स्वतन्त्र इच्छा है ही–नहीं। ये सब आधिकारिक जीव हैं। प्रकृति के दास हैं। सब अपने अपने धर्म्म में नियत हैं। क्या साहस कि कभी सूर्य्य मर्यादाबिन्दु का त्याग करे। अथवा पृथिवी कभी अपने पथ का परित्याग करदे। सबके मस्तक पर यह प्रकृति–दण्ड विराजमान है। उसी महाभयरूप प्रजापति के अनुशासन से सब अनुशासित हैं—

> भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः ।
>
> भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

२२–भयावह मनुष्यप्राणी और तद्द्वारा विश्वशान्ति का विकम्पन—

यदि मनुष्य नाम का भयावह प्राणी संसार में न होता, तो कभी विश्व में अशान्ति न होती। कभी यह नया शासन विधान न देता। कभी जन–धन हरण को अवसर न मिलता। कहीं

प्राणी दुःखी न होता। परन्तु ईश्वरप्रजापति के समकक्ष रहने का गर्व रखने वाले पुरुष किन्तु पशु नाम के प्राणी ने सब कुछ चौपट कर डाला। उस पुरुष (मनुष्य) ज्ञान की अधिक मात्रा के गर्व में आकर इसने प्रकृति के नियन्त्रण की उपेक्षा कर, अपने साथ साथ अपने बन्धु इतर प्राणियों को न केवल प्राणियों को ही अपितु मेघ आतप आदि इतर पदार्थों को भी दुष्ट कर डाला। एक पापी के बैठने से सारी नौका ही डूब गई। समय पर वृष्टि न होना अतिवृष्टि होना भूकम्प होना महामारी में जनविनाश होना परस्पर लड़-भिड़ कर राष्ट्र के अभ्युदय का नाश कर डालना इन सब अशान्तियों का एकमात्र मनुष्यजाति पर ही उत्तरदायित्व है। उसी ने स्वर्गसम संसार को नरक बनाया है। और यही यदि थोड़ी सी सुबुद्धि से काम ले तो आज भी यह इसे पुनः स्वर्ग ही स्वर्ग का काननवन ही बना सकता है।

२३-मानव के प्रज्ञापराध से प्रकृति का विकम्पन, एवं तद्द्वारा वैकारिक-विश्व का विकम्पन—

प्रवृत्तितत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के साथ प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। प्रकृति अपने अंशरूप वैकारिक पदार्थों पर अपना पूर्ण शासन रखती है। परन्तु इसका शासन मनुष्य में व्यर्थ होजाता है। कारण इसका यही है कि, जिस पुरुष की ज्ञान-क्रिया-अर्थ—शक्ति को लेकर प्रकृति स्वजनित वैकारिक पदार्थों का नियन्त्रण करने में समर्थ होती है वही-शक्ति औरों की अपेक्षा स्वयं प्रकृति की भी अपेक्षा मनुष्य में अधिक मात्रा से आजाती है। क्यों आजाती है? यह प्रश्न अचिन्त्य है। आजाती है यह निश्चित है और उसी का विचार प्रस्तुत है— स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'। इसी शक्तिवैशिष्ट्य के कारण मनुष्य ईश्वर के समकक्ष मान लिया गया। ईश्वरीय बल को लेकर प्रकृति जैसे कर्तु मकर्तु मन्यथाकर्तु समर्थ बन रही है एवमेव उसी बल के समधरातल पर समधरातल पर ही क्यों विशेष धरातल पर आके मनुष्य भी कर्तु मकर्तु मन्यथाकर्तु समर्थ बन जाता है। अपने इसी ज्ञानाभिमान में आकर यह प्रकृतितन्त्र का विरोधी बन जाता है। दूसरे शब्दों में कुछ समय के लिए सबका शासन करने वाली प्रकृति पर भी यह अपना अधिकार प्रतिष्ठित कर लेता है। संसार की प्रकृतिविरुद्ध कर्मों की ओर आकर्षित करने लग पड़ता है। प्रकृति का नियन्त्रण शिथिल होजाता है। परिणाम-स्वरूप प्राकृतिक विश्व के साथ के साथ साथ वैकारिक जगत भी अशान्त होजाता है।

२४-प्रकृति-विकृति-के विकम्पन से ईश्वरपुरुष का विकम्पन, उसका मानवरूपसे अवतरण एवं तद्द्वारा धर्मग्लानि की उपशान्ति—

श्रुति कहते हैं कि, ऋषि-पितर-देवता-पशु आदि आदि कोई भी प्राणात्मिका प्रजा प्रकृतितन्त्र का उल्लंघन नहीं करती। एकमात्र मनुष्य ही इसका अतिक्रमण कर जाता है-"मनुष्या एवकेऽतिक्रामन्ति" (शतपथ ब्राह्मण)। परिणाम जो-कुछ हुआ और होगा वह संसार को भोगना पड़ा एवं आज भी भोगना पड़ रहा है। जैसा कि कहा गया है प्रकृतितन्त्र का स्वजनित वैकारिक तन्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मनुष्य के कुकर्म से वैकारिक जगत् अशान्त होजाता है। धर्म-लक्षण प्राकृतिक नियन्त्रण शिथिल होजाता है। दूसरे शब्दों में विकृतिभाव से नित्यभंगिका प्रकृति भी विकृतिक्षोभ से क्षुब्ध होजाती है। फलतः प्रकृति

के स्वाभाविक नियम कुछ समय के लिए विपरीत हो जाते हैं। न समय पर वृष्टि होगी, न वर्षा होगी, न उत्पन्न होंगे, न मनुष्यों को अन्न मिलेगा। अकाल–दुर्भिक्ष–विविध प्रकार के संक्रामक रोग–भूकम्प–महाविनाश–राष्ट्रविप्लव–महायुद्ध आदि भीषणरूप से उपस्थित हो जाते हैं। सृष्टिव्यापी प्रकृति किसी प्रकार से स्थिति का संचालन की चेष्टा करती रहती है। परन्तु मनुष्यों का प्रकृतिविरुद्ध आचरण जब सीमा का अतिक्रमण कर जाता है तो—प्रकृति का रहा सहा बल भी सर्वथा असमर्थ हो जाता है। उस समय शान्ति का नामशेष भी नहीं रहता। त्राहि त्राहि! त्राहि! का ही आर्तनाद गूँजने लगता है। प्रकृति के साथ पुरुषतत्त्व नित्य विराजमान है। मनुष्य के कुकर्म से विकृतिसम्पन्न बन प्रकृति न रही। विकृतिग्रस्त से बनी प्रकृति अपने आप को न बचा सकी तो प्रकृति से सम्बद्ध पुरुष इस आक्रमण से कैसे बच सकता है। इसका प्राकृतिक चक्र का आक्रमण उस अव्ययी पर भी आ पहुँचता है। बस वहाँ पहुँचने भर की देर है, फिर तो सब परिणाम है। यह प्रकृति पर अत्याचार ही मनुष्य ने बलात्कार कर डाला और कुछ कालों में शुम्भ निशुम्भ–रावण–कंसादि की भाँति इसने अपने प्रयोगों को सफल भी बना डाला। परन्तु जब उस पुरुषतत्त्व (पुरुष की अमोघ शक्ति) से इसका धक्का लगा तो इसका सम्पूर्ण गर्व नष्ट होगया। लोकविदी नानाविध महर्षि—ऐसे भीषण अवसरों पर वे ही उपाय करते हैं जिनसे कि प्रकृति का रहा-सहा बल भी अत्याचारों की वृद्धि से नष्ट हो जाय और उसका प्रभाव उस अव्यय प्रजापति पर पड़े।

२५–भगवान् के अवतार का पावन–संस्मरण—

भगवान् अव्यय अव्यक्त निर्गुण पर जब प्राकृत चक्र का आक्रमण होता है तो स्वभाव से ही सत्त्वगुण का अनुगामी वह अव्ययपुरुष सत्त्वभाव की रक्षा के लिए प्रकृति में अपना अवतरण डालता है। यही अवतरण प्रकृति के द्वारा भूपिण्ड पर मानवशरीर में सूर्य-चन्द्रादि आधिदैविक शक्तियों की भाँति अवतीर्ण होता है। लगातीतावस्था—सिद्धान्त के अनुसार अव्यय मनुष्य मनुष्य का पथप्रदर्शक नहीं बनता, तबतक वह मानव पर नहीं आता। साथ ही पथप्रदर्शक उस मनुष्य का कर्मस्वरूप से सम्बन्ध न होकर प्रत्यक्षरूप से सम्बन्ध रहना चाहिए। इसी से अवतारविशिष्ट जीव ही सत्त्व–धर्म–रक्षा–मार्ग में सफल होता हुआ तृप्त मानवजाति का नियमन कर सकता है। यही अवताररूपात्मक जीव "अवतार" नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतिनियन्त्रणवश धर्म की ग्लानि का शमन करना, साधुजन की रक्षा करना, असाधुओं को शिक्षा देना, ये ही अवतारपुरुष के कुछ एक मुख्य उद्देश्य हैं। उद्देश्यपूर्ति के अनन्तर वह पुनः अपने लीलाधाम में लीलासंवरण कर जाता है। अस्तु इन सब विषयों का वैज्ञानिक विवेचन श्रीकृष्णावतारनिरूपणात्मक प्रथमखण्ड में गया है। अतः इस चर्चा को यहीं उपरत कर प्रकृत विषय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

२६–स्वधर्म का तात्त्विक समन्वय—

दार्शनिकरूप से मनुष्यजाति की अपनी मानते हुए परमात्मतत्त्व हमें भी अपनाता न मानते हुए हमें यह निर्णय कर लेना पड़ता है कि प्रकृति के नियन्त्रण से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में रहने वाली सब वस्तु प्रजा सब कुछ नियन्त्रित है। प्राकृतिक इच्छा का विरोधी मानव इच्छा का अनुयायी मनुष्य भी कुछ एक नियन्त्रणों से बाहिर नहीं निकल सकता। प्रकृति का यह नियन्त्रण ही भारतीयसाहित्य में "धर्म" शब्द से व्यवहृत हुआ है। सब पदार्थ इस सब-सब धर्म से नियम नियन्त्रित हैं।

२७–प्रकृति के नियत कार्य्य–कारण भाव, और 'नियति' शब्द का तात्त्विक–निर्वचन–

प्रकृति स्वस्वरूप से क्रियाप्रधान किंवा प्राणप्रधान बनती हुई यद्यपि जड़ है, तथापि क्योंकि यह उस चिन्मय के ज्ञानप्रकाश से नित्य युक्त रहती है, अतएव इसका सम्पूर्ण नियन्त्रण ज्ञानपूर्वक ही होता है। वृक्षों का विन्यास, पत्तों की छोटे–छोटे पुष्पों का यथानुरूप स्वरूप, फलों का व्यवस्थित आकार, पर्वतों का आकार–सन्निवेश, पानी का निम्नगमन, वायु का तिर्यग् गमन, अग्नि का ऊर्ध्वगमन, हरिणादिकों का समतुलित स्थान, पक्षियों का आकार सन्निवेश, ये सब एक सुव्यवस्थित शिल्प (कारीगर) से युक्त हैं। मानना पड़ता है कि कोई चतुर शिल्पी ज्ञानपूर्वक बड़ी सावधानी से नियमतः इन पदार्थों का निर्माण कर रहा है। यही इस प्रकृति का नियतिभाव किंवा नियमभाव है। एवं यह परिष्कृत शिल्प ही प्रकृतिदेवी के साक्षात् दर्शन हैं।

२८–संसरणशीला 'प्रकृति', तन्निबन्धना नियति और प्रकृतिमूलक संसरणशील विश्व

यह तो हुआ प्रकृतिभाव का किंवा नियतितत्त्व का दार्शनिक स्वरूप। अब संक्षेप से इसके वैज्ञानिक स्वरूप का भी विचार कीजिए। 'कारण' को हमने 'प्रकृति' कहा है। यहाँ 'कारण' शब्द से 'निमित्त–कारण' ही अभिप्रेत है। जिसप्रकार घट के प्रति कुम्भकार निमित्तकारण है, एवं मिट्टी उपादानकारण है, एवमेव विश्वरूप कार्य्य के प्रति भी दो कारण अपेक्षित हैं। इनमें जो निमित्तकारण होगा उसे ही हम 'मूलप्रकृति' कहेंगे। यही 'आदिकारण' कहलाएगा। इस आदिकारणलक्षणा, निमित्तकारणात्मिका प्रकृति का मौलिक स्वरूप है— गतितत्त्व। क्रियाभाव का ही नाम गति है। एवं गति ही मूलप्रकृति है। नित्य कुर्वद्रूपता ही इस कारण का नित्य संसरण है। सम्यक् संसरण–(गमन)–शीला प्रकृति ही विश्व का मूल है, अतएव इसे "संसार" (संसरणशील विश्व) कहा जाता है। इतिभाव का वाचक स्वयं संसार शब्द ही अपनी मूलप्रकृति के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है।

२९–गतिमूला प्रकृति और उसके स्थिति गति–आगति' नामक तीन प्रमुख विवर्त—

यह गतितत्त्व आगे जाकर पाँच स्वरूपों में परिणत होजाता है। केन्द्र से पृष्ठ की ओर जो गति होती है उसे 'गति' कहा जाता है। पृष्ठ से केन्द्र की ओर जो गति होती है उसे 'आगति' कहा जाता है। गति गमन है, आगति आगमन है। जाना और आना दोनों स्वरूप सर्वविदित हैं। आगतिलक्षणा गति आदान (लेना) भाव की अधिष्ठात्री है, एवं गतिलक्षणा गति विसर्ग (देना) भाव की अधिष्ठात्री है। आदान–विसर्ग में प्रतिक्षण स्पर्द्धा होती रहती है। एवं यही स्पर्द्धा पदार्थों के जीवन का मुख्य हेतु है। विरुद्धदिग्गमनगति का समन्वय ही 'स्थिति' है। स्थितिभाव गति से पृथक् तत्त्व नहीं है। अपितु गतिसमुच्चय का नाम ही स्थिति है। गतिभाव का समष्टिलक्षणा स्थितिरूप यह तीसरा विवर्त ही आदान–विसर्ग–लक्षणा आगति–गति–भावों की प्रतिष्ठा बनता है। स्थिति–गति आगति तीनों एक ही गतितत्त्व के तीन विवर्त हैं।

३०–गतितत्त्व के पाँच महिमा–विवर्त, एवं तन्मूलक अन्तर्यामी और 'सूत्रात्मा का दिग्दर्शन—

गति को स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर दीजिए, स्थितिगर्भिता गति नामक एक चौथा विवर्त और प्रकट हो जायगा। इसी प्रकार आगति को स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर देने से स्थितिगर्भिता–

आगति नामक पाँचवाँ भाव प्रकट हो जाएगा। इन पाँच से अतिरिक्त गतितत्त्व का छठा विवर्त्त कहीं भी न मिलेगा। उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण आदि-आदि जितने भी गतिभाव हैं वे सब इन्हीं पाँचों में अन्तर्भूत हैं। इन पाँचों में स्थिति-आगति-गति इन तीनों का एक विभाग है एवं इतर दोनों का एक-विभाग है। इस आगति के कारण हैं अन्तर्यामन और बहिर्यामन। गतिभावों का पदार्थ के अन्तर्याम्-लक्षण हृदयभाव से सम्बन्ध है एवं गतिभावों का पदार्थ के बहिर्याम्-लक्षण विक्षेप से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि स्थितिभाव की रक्षा गतिभावों पर निर्भर है एवं स्वरूप-भाव गतिभावों के आधार पर प्रतिष्ठित है। क्योंकि पाँचों भाव एक की ही पाँच अवस्था हैं अतएव इन पाँचों को हम उस एक की ही पाँच कला कहेंगे एवं उसे पञ्चकल एक तत्त्व कहेंगे। वही एक तत्त्व जिसकी कि पाँच कला हैं 'प्रकृति' नाम से प्रसिद्ध है। उसी के गतिशीलात्मक प्रथम विभाग एवं गतिशीलात्मक द्वितीय विभाग विज्ञानभाषा में क्रमशः 'अन्तर्यामी' एवं 'सूत्रात्मा' नाम से प्रसिद्ध हैं।

३१–अन्तर्यामी का स्वरूप-परिचय, एवं ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-नामक तीनों देवताओं का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अन्तर्यामी का अर्थ है 'भीतर (केन्द्र) बैठा हुआ बहिर्मण्डल का नियमन करने वाला'। "अन्तः-निविष्ट सन् नियमयति सर्वान् भावान्" ही प्रकृत शब्द का निर्वचन है। यह अन्तर्यामी ही हमारी गतिभावों है। गतिसमन्वितरूप स्थिति-भाव "ब्रह्मा" कहलाता है। इसीने आगति-गति के द्वारा वस्तुस्वरूप को भग्न कर रखा है। प्रतिष्ठा की विच्युति ही नाश का मूल कारण है एवं प्रतिष्ठा की रक्षा ही वस्तु की रक्षा है। इसीलिए "बिभर्त्ति" इस निर्वचन से इस स्थितिभाव को "ब्रह्मा" कहा जाता है। "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" इत्यादि श्रुति भी इसी भावभाव का समर्थन कर रही है। स्थितिलक्षण ब्रह्मा के आधार पर प्रतिष्ठित आदानलक्षण आगति-तत्त्व ही "विष्णु" है। ये इसके द्वारा वस्तु का पालन करते हैं। किसी में किसी की आहुति होना ही यज्ञ है। दो पदार्थों का रासायनिक संयोग ही यज्ञ है यज्ञ ही अन्न है अन्न ही जीवन का कारण है। विष्णुलक्षणा आदानशक्ति से ही बाहिर से पदार्थ आ आकर इस पदार्थ में आहुत होते रहते हैं। यही शक्ति अशनाया (भूख) की जननी है। इसी अशनाया शक्ति से आकर्षित अन्न वस्तु के अग्नि में आहुत होता रहता है। आदानलक्षण यज्ञ के अधिष्ठाता आगतिरूप विष्णु हैं अतएव विष्णु "यज्ञ" शब्द से भी व्यवहृत कर दिए जाते हैं। जिसप्रकार केन्द्रस्था आदानशक्ति अपनी आकर्षणशक्ति से निरन्तर कुछ लिया करती है एवमेव केन्द्रस्था विसर्गशक्ति अपनी विक्षेपणशक्ति से निरन्तर पदार्थों के अंशों को बाहिर निकाला करती है। यदि विशुद्ध आदान ही होता रहे तो आदानक्रम आगे जाकर अवरुद्ध हो जाय, फलतः पदार्थ सीमा से बाहिर जाता हुआ अपना स्वरूप ही खो बैठे। अतः आदान के साथ विसर्ग भी नित्य अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में—यह भी कहें तो और अनुचित न होगा कि जिसप्रकार आदानलक्षण विष्णु स्थितिलक्षण ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है एवमेव विसर्गलक्षण इन्द्र देवता विष्णु की प्रतिष्ठा है। विसर्ग ही आदान का कारण है। जबतक विसर्ग है तभी तक आदान है। त्याग में ही वैभव का आगमन सुरक्षित है। त्याग ही वस्तु के विकास का कारण है। विकास ही ज्योति है। ज्योति ही वस्तु का

इन्द्रभाव है। इसी इन्द्रभाव के कारण विकासलक्षण गतिभाव 'य ईन्धे' इस निर्वचन से "इन्ध" नाम से प्रसिद्ध है। 'इन्ध' ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। स्थितिलक्षण ब्रह्मा आगतिलक्षण विष्णु एवं गतिलक्षण इन्द्र तीनों एक ही गति के तीन विवर्त हैं"— "एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरा।

३२–नियति स्वरूप अन्तर्य्यामी के द्वारा विश्व का सञ्चालन एवं केन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी के द्वारा विश्व का नियन्त्रण—

तीनों की समष्टि ही 'अन्तर्य्यामी' है। हमारा मानस ज्ञान और बौद्ध ज्ञान दोनों इसके परिज्ञान में असमर्थ है। शरीरसंस्था में कौन-धातु कैसे क्या बन कर कहाँ प्रतिष्ठित होकर क्या काम करता रहता है ? यह हम नहीं जानते नहीं जान सकते। कारण यही है कि, ज्ञानेन्द्रियों का रुख बाहिर की ओर है। मन इनका अनुगामी बना रहता है। मनोऽनुगता बुद्धि भी बहिर्मुखा ही बनी रहती है। यदि किसी उपाय से हम इन्द्रिय-संयम के द्वारा मन-बुद्धि को अन्तर्मुख बनालें तो अवश्य ही अन्तर्य्यामी की उस नियति के दर्शन कर सकते हैं। यच्चयावत् पदार्थों के केन्द्र में प्रतिष्ठित यह अन्तर्य्यामी सबका सञ्चालन कर रहा है। वह सब जानता है उसके नियमन को कोई नहीं जानता। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख श्रुति कहती है—

"यः पृथिव्यां अप्सु अग्नौ, आकाशे, वायौ, आदित्ये, चन्द्रतारके, दिक्षु, विद्युति, स्तनयित्नौ सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु यज्ञेषु, सर्वेषु भूतेषु, प्राणे वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि त्वचि, तेजसि तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन् पृथिव्या अद्भ्यः० अन्तर, यं पृथिवी-आपः० न विदुः, यस्य पृथिवी आपः० शरीर, यः पृथिवी अपः अन्तरो यमयति, स तऽआत्मा—'अन्तर्यामी"—अमृतः' ।

—शत० १४ । ६ । ७ ।

३३–अन्तर्य्यामी मूलक 'हृदय', 'गह' और 'गर्भ' शब्दों का तात्त्विक-समन्वय, एवं उस की अजायमानता—

अन्तर्य्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। क्योंकि अन्तर्य्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसका वह प्रतिष्ठास्थान 'हृदयम्' नाम से व्यवहृत हुआ है। आकाशात्मक, अतएव 'शून्य' नाम से प्रसिद्ध ससीम आयतन ही 'हृदय' है। स्तोक-पृषत्-द्रप्स-हृदय नाम की चार बिन्दुओं में हृदयबिन्दु ससीम बनती हुई सर्वथा निराकार है। इसी आधार पर पदार्थ का ग्रहण है। अतएव "गृह्णाति" इस व्युत्पत्ति से इसे "गह" कहा जाता है। * छन्दोभाषा के नियमानुसार हकार के स्थान में भकार प्रयुक्त होता है। अतः 'गह' को यहाँ 'गर्भ' कहा जाता है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा

---

* "हग्रहोर्भश्छन्दसि (पा० सू०)।

विज्ञापन के अनुसार हृदयलक्षण अन्तर्यामी प्रजापति गर्भ में ही प्रतिष्ठित है। वह स्वयं स्थिर है परन्तु उसी से सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का विकास हुआ है।

३४–'हृ' रूप विष्णु 'द' रूप इन्द्र, 'यम्' रूप ब्रह्मा एवं हृदय में प्रतिष्ठित हृ-द-य-रूप-अन्तर्यामी—

आगतिशक्ति ही आहरण है "हृ" शब्द इसी का सूचक है। विसर्गशक्ति ही दान है "द" इसी का सूचक है। दोनों का नियमन करने वाली स्थिति ही "यम्" है। 'हृ' नामक विष्णु, 'द' नामक इन्द्र 'यम्' नामक ब्रह्मा की समष्टि ही "हृ-द-यम्" है। हृ-द-य नामक तीनों भाव हृदय में प्रतिष्ठित होते हुए सबका यथानुरूप सञ्चालन कर रहे हैं। किस तरह? और तीनों गतिभाव इसी प्रश्न का समाधान करते हैं। स्थितिगर्भिता आगति सोम है एवं स्थितिगर्भिता गति अग्नि है। इन्द्र अपनी शक्ति से मात्राग्नि को बाहिर निकाला करता है एवं विष्णु अपनी शक्ति से बाह्य सोम को भीतर लिया करते हैं। दोनों में परस्पर स्पर्द्धा चलती रहती है। इसी की स्पर्द्धा के तारतम्य से अक्षरभावों में परिवर्तन हुआ करता है। विष्णु की प्रधानता में पुष्टि है इन्द्राविष्णु की समानता में समता है एवं इन्द्र की प्रधानता में ह्रास है। विशुद्ध इन्द्र के साम्राज्य में विनाश है। ब्रह्मा उत्पत्तिभाव के, विष्णु स्थितिभाव के एवं इन्द्र भंगभाव के अधिष्ठाता हैं। विश्व अग्नीषोमात्मक है, विश्वात्मा अन्तर्यामी ब्रह्मा-विष्णु इन्द्रमूर्ति हैं। पाँचों की समष्टि पञ्चकल अक्षर है। अक्षर ही नियति है। नियति ही प्रकृति है। जबतक नियति ठीक है, तबतक शान्ति है। नियति बिगड़ गई सब कुछ बिगड़ गया। जिसकी नियति में अन्तर आ गया उसका विनाश निश्चित है।

३५–पञ्चविध अक्षर की पञ्चाक्षरता अक्षररूपा प्रकृति, एवं तन्मूलक विश्वप्रपञ्च का समन्वय–

आदान विसर्ग के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं आदान करने वाले विष्णु हैं विसर्ग करने वाले इन्द्र—हैं। विष्णु के द्वारा आदान होता है—सोम का। इन्द्र के द्वारा विसर्ग होता है अग्नि का। इन पाँचों को 'समुदाये प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस न्याय के अनुसार स्वतन्त्ररूप से पाँच अक्षर भी माने जाते हैं जैसा कि "अक्षरं पञ्चविधं समस्ति ब्रह्मा ब्रह्म अग्नि सोम संवदन्ति" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। पाँचों में ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र तीनों की समष्टि अन्तर्यामी है, अग्नीषोम की समष्टि सूत्रात्मा है। अन्तर्यामी हृदयस्थान का शासक है, सूत्रात्मा पिण्डजगत् के स्वरूप-संपादक हैं। अतएव यह कहा जाता है कि, अक्षररूप अग्नीषोम विश्व के उपादान न बनकर केवल निमित्त बनते हैं। उपादान तो सर्वेश्वर ही बनता है। दूसरी दृष्टि से ब्रह्मा का एक स्वतन्त्र विभाग है इन्द्राविष्णु दोनों स्पृक् हैं एवं अग्नीषोम दोनों स्पृक् हैं जैसा कि "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"—"इन्द्रस्य युज्यः सखा"—'तवाहमस्मि सख्य स्वादाः' इत्यादि से स्पष्ट है।

---

* पण्डितों का यह भी स्मरण दिलाया जाता है कि कृष्ण विष्णु के अवतार थे एवं अर्जुन इन्द्र के अवतार थे अतएव इनमें परस्पर सख्यभाव रहा जैसा कि कृष्णतत्त्वनिरूपण में विस्तार प्रतिपादित है।

३६—'नियति'—लक्षणा प्रकृति का 'हेतुभाव', तदनुबन्धिनी 'नियतिचर्य्या', और 'नियतिचर' भाव —

पञ्चकल अव्ययतत्त्व प्राणप्रधान बनता हुआ गतिमान है जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इसी गतिभाव के कारण इस अक्षरप्रकृति को 'हेतु' कहा जाता है। 'हिनोति—व्याप्नोति कार्य्यात्मकं विश्वम्' यही इसका निर्वचन है। गत्यर्थक 'हि' धातु (स्वा० प० अ०) से ही 'कमिमनि' (उ० १। ७१) इत्यादि सूत्र से 'तुन्' प्रत्यय के द्वारा 'हेतु' शब्द निष्पन्न हुआ है। यही प्रकृति नियमतः सब को अपनी मर्य्यादा में सुरक्षित रखती है। सम्पूर्ण विश्व समष्टि एवं व्यष्टिरूप से उभयथा 'नियतिचर्य्या' से नित्य आक्रान्त है। नियति की—चर्य्या (आचरण—शासन) में विचरण करता हुआ प्रत्येक पदार्थ "नियतिचर" है। उन प्रकृतिवादियों की "नेचर" का प्रत्युत्तर यही 'नियतिचर' शब्द है।

अक्षरः शास्ता—प्रकृति

१—स्थितिः (गतिप्रमृतिः)—	ब्रह्मा (अ)	—ब्रह्मा	—अन्तर्यामी पुरुषः
२—आगतिः (अर्वाग्गतिः)—	विष्णुः (इ)	—इन्द्राविष्णू	
३—गतिः (पराग्गतिः)—	इन्द्रः (उ)		
४—स्थितिगर्भिता आगतिः (संकोचः)—	सोमः (लृ)	—अग्नीषोमौ	—सूत्रात्मा पुरुषः
५—स्थितिगर्भिता गतिः (विकासः)—	अग्निः (ऋ)		

३७—पुरुष-प्रकृति-प्रकृतिविकृति-रूप अमृत-ब्रह्म-शुक्र-नामक तीन विवर्त्तों का संस्मरण—

उक्त पाँचों प्रकृतियों से किंवा एक ही प्रकृति के पाँच अवयवों से क्रमशः प्राण—आप—वाक्—अन्न—अन्नाद इन पाँच कलाओं का विकास होता है। यही पञ्चकल अक्षर विश्व का उपादानकारण बनता है। अव्ययप्रकृति की अपेक्षा यह विकृति है एवं वैकारिक विश्व की अपेक्षा इसे प्रकृति भी माना जासकता है। अतएव प्राधानिक शास्त्र में महदादियुक्त यह व्यक्ताक्षरप्रकृति 'प्रकृतिविकृति' नाम से प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध वैकारिक है। सर्वातीत पुरुष न प्रकृति है न विकृति है। इस दृष्टि से हम इस वाद को पुरुष प्रकृति विकृति (प्रकृतिविकृति) इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पुरुष अव्ययनाम से प्रकृति अक्षर नाम से एवं विकृति क्षर नामसे प्रसिद्ध है। इन्हीं तीनों को विज्ञानभाषा में अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रम्-कहा जाता है।

३८—मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मरूप अव्ययात्मा मनोमय अव्यय की त्रिवृद्रूपता, और तत्सम्बन्धी ज्ञानयोग—

एक ही पुरुषतत्त्व के ये तीन भाग कैसे हो गए ?, इसका उत्तर उसी अव्ययपुरुष से पूछिए। समाधान हो जाएगा। पञ्चकल अव्यय पुरुष का मनः–प्राण–वाग्रूप भाग 'कर्म्मात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। कर्म्मात्मा की तीन कलाएँ ही इन विभिन्नों का कारण बनती हैं। मनस्तत्त्व यही अव्यय है, प्राणतत्त्व यही अक्षर है, एवं वाग्रूप ही यही क्षर है। अव्यय की ये तीनों कलाएँ त्रिवृत्स्वरूपात्मक हैं जैसा कि गीताभाष्यान्तर्गत—"मनः–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव की व्याख्या" नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपित है। मन में भी मनः–प्राण–वाक्–तीनों हैं मन की प्रधानता है। क्योंकि मन ज्ञानप्रधान है अतएव इस त्रिवृत् मनोविभाग को 'ज्ञानमण्डल' ही कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता स्वयं अव्ययपुरुष होगा। अव्यय का मन तो ज्ञानप्रधान होगा ही साथ ही उसका कर्म्मरूप प्राण और अर्थरूप वाग्भाग भी ज्ञानप्रधान ही होगा— "यस्य ज्ञानमयं तपः"।

३९—प्राणमय अक्षर की त्रिवृद्रूपता और तत्सम्बन्धी कर्म्मयोग—

प्राण में भी मनः–प्राण–वाक् तीनों हैं प्राण की प्रधानता है। क्योंकि प्राण कर्म्मप्रधान है अतएव इस त्रिवृत् प्राणविभाग को 'कर्म्ममण्डल' ही कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता माना जायगा अव्यय के प्राण से अनुप्राणित अक्षर को, किंवा प्रकृति को। अक्षर का प्राणभाग तो कर्म्मप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं अर्थरूप वाग्भाग भी कर्म्मप्रधान ही होगा।

४०—वाङ्मय आत्मक्षर की त्रिवृद्रूपता और तत्सम्बन्धी भक्तियोग—

वाक् में भी मनः–प्राण–वाक्–तीनों हैं वाक् की प्रधानता है। क्योंकि वाक्तत्त्व अर्थप्रधान है अतएव इस त्रिवृत्–वाग्भाग को 'अर्थमण्डल' ही कहा जायगा। इसका अध्यक्ष मनोमय–अव्यय के वाग्भाग से अनुप्राणित क्षर, किंवा विकृति। क्षर का वाग्भाग तो अर्थप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं कर्म्मरूप वाग्भाग भी अर्थप्रधान ही होगा।

४१—अव्यय–अक्षर–क्षर–भावों में मध्यस्थ अक्षर की सर्वरूपता, एवं अव्यक्ता अक्षर प्रकृति की सर्वव्यापकता—

ज्ञान–कर्म्म–गर्भित (वाक्–प्राण–गर्भित) ज्ञानमूर्त्ति (मनो–मूर्त्ति) अव्ययपुरुष अर्थ ज्ञान–गर्भिता (वाक्–मनो–गर्भिता) कर्म्ममयी (प्राणमयी) अक्षरप्रकृति, एवं ज्ञानकर्म्मगर्भिता (मन–प्राणगर्भिता) अर्थमयी (वाङ्मयी) क्षरविकृति की समष्टि ही विश्व का आकार निष्पन्न है। तीनों में अव्ययपुरुष आलम्बन है अक्षरप्रकृति निमित्तकारण है एवं क्षरविकृति उपादानकारण है। अव्ययाधार पर प्रतिष्ठित अक्षर क्षर के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण कर "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व में प्रविष्ट होकर विश्वात्मा बन रहा है। यद्यपि अव्ययाक्षरक्षर की समष्टि ही विश्वात्मा है परन्तु प्रधानता अक्षर की ही है। उसी ने उस अव्यय को विश्व में प्रविष्ट किया है उसी ने क्षर को विश्वरूप में परिणत किया है।

अक्षर ही प्रकृति है, यही विश्वसृष्टि का मूल है। अतः हम सम्पूर्ण विश्व को केवल अव्यक्तमूलक ही मान सकते हैं जैसा कि निम्नलिखित गीता-सिद्धान्त से स्पष्ट है—

१—अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
२—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
३—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम् ॥

४२—ज्ञानयोगाधिष्ठाता अव्यय, कर्म्मयोगाधिष्ठाता अक्षर, भक्तियोगाधिष्ठाता क्षर, एवं योगत्रयी का समन्वय—

मनोमय अव्ययपुरुष ज्ञानयोग का अधिष्ठाता है, प्राणमयी अक्षरप्रकृति भक्तियोग की अधिष्ठात्री है एवं वाङ्मयी क्षरविकृति कर्म्मयोग की अधिष्ठात्री है। कारण स्पष्ट है। जैसा कि पूर्व में कई बार स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञान आधिदैविक पदार्थ है कर्म्म आधिभौतिक पदार्थ है। ज्ञानमय मनोविश्व आधिदैविक है अर्थमय वाग्भाग आधिभौतिक है। मध्यस्थ क्रियामय प्राणविश्व में उस ओर के अव्यय के ज्ञानभाग का भी सम्बन्ध है एवं इस ओर के क्षर के अर्थभाग का भी सम्बन्ध है। अतएव आधिदैविक (ज्ञान) आधिभौतिक (अर्थ विश्व के भागों से युक्त इस प्राणमय मध्यस्थ विश्व को हम अक्षर ही भक्तियोग का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

४३—ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों के एकदेशी लक्षण, एवं तदाधार पर व्यापक लक्षण का अन्वेषण-प्रयास—

ज्ञान कर्म्म-भक्ति, तीनों के वास्तविक लक्षण क्या? यह भी विचारणीय विषय है। 'इन्द्रिय-संयम पूर्वक आधिदैविकभाव में प्रवृत्त रहना ज्ञानयोग है निष्कामबुद्धि से आधिभौतिकभाव में प्रवृत्त रहना कर्म्मयोग है एवं ईश्वरार्पणबुद्ध्या कर्म्म करना भक्तियोग है'। ये तीनों ही लक्षण एकदेशी बनते हुए अव्याप्ति की मर्य्यादा से बहिष्कृत हैं। यदि तीनों ही योग नित्य हैं सर्वव्यापक हैं तो अवश्य ही तीनों का एक लक्षण होना चाहिए, जो संसार के मनुष्यमात्र में घट जाय न केवल मनुष्यों में ही अपितु चर-अचर-यावत्पदार्थों के साथ तीनों का समन्वय होजाय। उस व्यापक लक्षण के लिए हमें निम्नलिखित श्रौत वचन का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूपमन्नं च जायते ॥

—मुण्डकोपनिषत्

३८—मन प्राणवाङ्मय कर्म्मात्मरूप अव्ययात्मा, मनोमय अव्यय की त्रिवृद्रूपता, और तदनुबन्धी ज्ञानयोग—

एक ही पुरुषतत्त्व के ये तीन भाग कैसे हो गए ? इसका उत्तर उसी अव्ययपुरुष से पूछिए। समाधान हो जायगा। यद्यपि अव्यय पुरुष का मनः-प्राण-वाग्रूप भाग 'कर्म्मात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। कर्म्मात्मा की तीन कलाएँ ही "स त्रिविधः" का प्रवर्त्तन करती हैं। मनःस्थान यही अव्यय है, प्राणस्थान यही अक्षर है, एवं वाग्रूप से यही क्षर है। अव्यय की ये तीनों कलाएँ त्रिवृद्भावापन्ना हैं जैसे कि ईशोपनिषद्भाष्यान्तर्गत—"मनः-प्राण-वाक् का त्रिवृद्भाव की व्यापकता" नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपित है। मन में भी मनः-प्राण-वाक्—तीनों हैं मन की प्रधानता है। क्योंकि मन ज्ञानप्रधान है अतएव इस त्रिवृत् मनःपिण्ड को 'ज्ञानमहत्तत्त्व' ही कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता स्वयं अव्ययपुरुष होगा। अव्यय का मन तो ज्ञानप्रधान होगा ही साथ ही उसका कर्म्मरूप प्राण और अर्थरूप वाग्भाग भी ज्ञानप्रधान ही होगा—"यस्य ज्ञानमयं तपः"।

३९—प्राणमय अक्षर की त्रिवृद्रूपता और तदनुबन्धी कर्म्मयोग—

प्राण में भी मनः-प्राण-वाक् तीनों हैं, प्राण की प्रधानता है। क्योंकि प्राण कर्म्मप्रधान है अतएव इस त्रिवृत् प्राणपिण्ड को 'कर्म्ममहत्तत्त्व' ही कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता माना जायगा अव्यय के प्राण से अनुगृहीत अक्षर को, जिसे प्रकृति को। अक्षर का प्राणभाग तो कर्म्मप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं अर्थरूप वाग्भाग भी कर्म्मप्रधान ही होगा।

४०—वाङ्मय आत्मक्षर की त्रिवृद्रूपता और तदनुबन्धी भक्तियोग—

वाक् में भी मनः-प्राण-वाक्—तीनों हैं वाक् की प्रधानता है। क्योंकि वाक्तत्त्व अर्थप्रधान है अतएव इस त्रिवृत्-वाग्भाव को 'अर्थमहत्तत्त्व' ही कहा जायगा। इसका अध्यक्ष मनोमय-अव्यय के वाग्भाग से अनुगृहीत क्षर, जिसे विकृति। क्षर का वाग्भाग तो अर्थप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं अर्थरूप वाग्भाग भी अर्थप्रधान ही होगा।

४१—अव्यय-अक्षर-क्षर-भावों में मध्यस्थ अक्षर की सर्वरूपता, एवं अव्यक्ता अक्षर प्रकृति की सर्वव्यापकता—

ज्ञान-कर्म्म गर्भित (ज्ञान प्राण-गर्भित) ज्ञानमूर्त्ति (मनो-मूर्त्ति) अव्ययपुरुष, अर्थ ज्ञान-गर्भिता (वाक्-मनो-गर्भिता) कर्म्ममयी (प्राणमयी) अक्षरप्रकृति, एवं ज्ञानकर्म्मगर्भिता (मन -प्राणगर्भिता) अर्थमयी (वाङ्मयी) क्षरविकृति की समष्टि ही विश्व का आधार विश्वात्मा है। तीनों में अव्ययपुरुष आलम्बन है अक्षरप्रकृति निमित्तकारण है एवं क्षरविकृति उपादानकारण है। अव्ययाधार पर प्रतिष्ठित अक्षर क्षर के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का निर्माण कर "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व में प्रविष्ट होकर 'विश्वात्मा' बन गया है। यद्यपि अव्ययाक्षरक्षर की समष्टि ही विश्वात्मा है परन्तु प्रधानता अक्षर की ही है। उसी ने उस अव्यय को विश्व में प्रविष्ट किया है उसी ने क्षर का विश्वरूप में परिणत किया है।

कहलाया जानेवाला है। स्थितिभाव अर्थसापेक्ष बनता हुआ क्षर की विभूति है। गतिभाव क्रियासापेक्ष बनता हुआ अक्षर की विभूति है। संसार में यच्चयावत् पदार्थों के अव्यय-अक्षर-क्षरमूर्ति-विश्वात्मा प्रतिष्ठित है। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्" (ईशोपनिषत्) इस औपनिषद सिद्धान्त से कौन अपरिचित है। ! अतएव सिद्ध होजाता है कि प्रत्येक वस्तु में विकास भी है स्थितिभाव भी है, एवं गतिभाव भी है। वस्तु का विकास ही उसका अव्ययानुबन्धी ज्ञानयोग है वस्तु का स्थितिभाव ही उसका क्षरानुबन्धी-कर्मयोग है एवं वस्तु का गतिभाव ही उसका अक्षरानुबन्धी भक्तियोग है। फलतः सार्थ इस दृष्टि से ज्ञानी-कर्मठ एवं भक्त है। यही प्राकृतिक ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगों की सर्वव्यापकता है। परन्तु·········।

४६—अभिन्नापि एकापि प्रकृति के नाना विवर्त, एवं एकत्वनिबन्धना महामाया का, तथा नानात्व-निबन्धना योगमाया का पावन संस्मरण—

अभी ठहर जाइए। इस 'किन्तु' 'परन्तु' की समालोचना पीछे की जायगी। अभी प्रकृति- चर्चा ही चलने दीजिए। प्रकृति का स्वरूप यदि नियत था तो संसार में यह वैचित्र्य क्यों उत्पन्न हुआ ?, यह प्रश्न थोड़ा-सरके लिए हमारे प्रकृतिवाद पर सहसा आघात कर बैठता है। किन्तु उत्तर बड़ा सरल है। व्यक्ति एक ही है उसकी प्रकृति भी एक ही है किन्तु वह अपने बाबा का पोता बापका बेटा बेटेका बाप पत्नी का पति पाठशाला का अध्यापक, व्यापारी का ग्राहक, पत्रका सम्पादक, राजा की प्रजा घर का स्वामी यह सब क्या कहलाया ?। बस जो उत्तर इस प्रश्न का है वही उत्तर उक्त प्रश्न का है। प्रकृति का स्वरूप एक सर्वथा ही एक किन्तु कर्म-भेद से जैसे एक ही व्यक्ति के अनेक नाम-अनेक-कर्म होजाते हैं एवमेव कर्मनानात्व से एक ही प्रकृति नानाभावों में परिणत होजाती है। पानी में भी वही अन्तर्यामी है अग्नि में भी वही अन्तर्यामी है। परन्तु पानी का वही अन्तर्यामी पानी को निम्न धरातल का अनुगामी बना रहा है वही अन्तर्यामी अग्नि को ऊँचे की ओर ले जारहा है। जिसने आग-पानी वायु-आदि में अन्तर किया उसीने उस एक ही अन्तर्यामी को भिन्न भी बनाया। वह भेदक कौन ? हरि की योगमाया अभेदक कौन ?, अव्यय की महामाया।

५०—ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-मायानुगता योगमायात्रयी, और मायाप्रवर्तक इन्द्रदेवता—

पूर्व में बतलाया गया कि, एक ही प्रकृति के ब्रह्मा-विष्णु आदि पाँच अवयव हैं। इन पाँचों अवयवों पर समष्टिरूप से व्याप्त रहने वाली प्रकृति ही महामाया है। पुरुषवत् यह महामाया भी एकरूपा ही है। इसके गर्भ में इसीके माप परिमाण से सर्वप्रथम तीन योगमायाओं का आविर्भाव होता है। पहिली ब्रह्ममाया है दूसरी विष्णुमाया है तीसरी शिवमाया किंवा इन्द्रमाया है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋग्वेदसंहिता)।

५१—'माया' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय, एवं तद्युक्ता अपड-खण्डात्मिका योगमाया और उसका योगत्व-समन्वय—

माया एक प्रकार का वह परिच्छेद है जो असीम को ससीम बना देता है अखण्ड को खण्ड-खण्ड-रूप में परिणत करदेता है। मितकारिणी प्रकृति ही माया है। अतएव-क्या महामाया न सर्वव्यापक अखण्ड

४४—ब्रह्म-नामरूप-कर्म-भावात्मक तीन व्यापक योग, और योगत्रयी का समन्वय

श्रुति कहती है कि जो ब्रह्म है सर्ववित् (सर्वात्ममय) है जिसका तप (कर्म) ज्ञानमय है उससे ब्रह्म-नामरूप-कर्म नाम के तीन तत्त्वों का विकास होता है। त्रितत्त्व-विकासक यह तत्त्व यही व्यापी श्रुतिसिद्ध पूर्ण शब्दों में सर्वथा अपरिच्छिन्ना प्रकृति (अक्षर) ही है। यही अव्यय के ज्ञान से मनोमयी बनती हुई सर्वज्ञ है, यही—स्वर के क्रियाभाग से कर्ममयी बनती हुई सर्वकर्मिणी है एवं अपने प्राणव्यापार से यही तपोमयी है। इसके ज्ञानव्यापार से ज्ञानभाग के द्वारा नामरूप का विकास होता है, कर्मभाग से ब्रह्म का विकास होता है एवं प्राणभाग से कर्म का विकास होता है। ज्ञानमय नामरूप, अर्थमय ब्रह्म एवं कर्ममय कर्म ही क्रमशः ज्ञान-कर्म-भक्ति-विवर्त हैं।

४५—प्रकृतिसिद्ध—सर्वव्यापक—अर्थप्रधान 'कर्मयोग'—

ये ही तीनों तत्त्व विज्ञानभाष्य में क्रमशः प्रतिष्ठा—ज्योति—यज्ञ—इन नामों से प्रसिद्ध हैं। वैकारिक विश्व में अर्थप्रधान भूतभाग ही ज्ञान—कर्म की प्रतिष्ठा बनते हैं, जैसा कि ज्ञानयोगपरीक्षोपक्रम में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अर्थ ही सत्ताभाव है। सत्ता ही प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म है। यह प्रतिष्ठालक्षण सत्ताभाव (सोपाधिक सत्ताभाव) ही ब्रह्म है, यही प्रतिष्ठा है। यही आधिभौतिक प्रपञ्च है। यही प्रकृतिसिद्ध अर्थप्रधान कर्मयोग है।

४६—प्रकृतिसिद्ध—सर्वव्यापक—ज्ञानप्रधान—'ज्ञानयोग'—

प्रकाश का ही नाम ज्योति है। ज्योति ही ज्ञान है। नामरूप, इन दोनों का ही नाम आधिदैविक ज्योति है। 'हम यह जानते हैं, हम यह जानते हैं' इस प्रकार के ज्ञान की सीमा विश्वापेक्षया नाम-रूप पर ही विश्रान्त है। या तो हम नाम जानते हैं, अथवा रूप जानते हैं। नाम रूप से अतिरिक्त ज्ञान का (मानि-स) और क्या स्वरूप शेष रह जाता है।' नामरूप से ही विश्व प्रकाशित है। जिस दिन नाम-रूप का अस्तंगत-भाव हो जायगा, उस दिन विश्व केवल स्मृति की ही वस्तु रह जायगा। नामरूपलक्षण यह ज्योतिर्भाव ही ज्ञाति है, यही आधिदैविक प्रपञ्च है, यही प्रकृतिसिद्ध ज्ञानप्रधान-ज्ञानयोग है।

४७—प्रकृतिसिद्ध—सर्वव्यापक—क्रियाप्रधान—भक्तियोग—

आत्मविकास का माध्यम ही यज्ञ है। यज्ञ ही कर्म है—"यज्ञो वै कर्म"। (शत. ब्राह्मण)। सम्पूर्ण कर्मों की सीमा आदान विसर्गात्मक इस यज्ञकर्म पर ही विश्रान्त है, अतएव यज्ञकर्म को "श्रेष्ठतमकर्म" माना गया है—"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" (शतपथब्राह्मण)। संसार में जितना भी क्रियाभाव है, सब आदानविसर्ग का बनता हुआ यज्ञरूप है। ज्योतिर्लक्षण ज्ञान का प्रतिष्ठालक्षण अर्थ के साथ सम्बन्ध कराने वाला सूत्र यह यज्ञ, अतएव उभयकर्मावच्छिन्न यज्ञ ही है। यही उभयभाव से युक्त बनता हुआ प्रकृतिसिद्ध भक्तियोग है। यही सम्बन्ध सर्वत्र व्याप्त है।

४८—विकासभावात्मक ज्ञानयोग, स्थितिभावात्मक कर्मयोग, गतिभावात्मक भक्तियोग इन तीनों योगों से युक्त विश्व का पर अक्षर-पदार्थ—

विकासभाव ज्ञानयोग है, स्थितिभाव कर्मयोग है, एवं गतिभाव भक्तियोग है। विकास-स्थिति-गति रूप बनता हुआ अव्यय की विभूति है, जैसा कि मूलभाष्य में विभूति-रहस्योपनिषत् में विस्तार से

(महादेव) आते । आते हैं अंशरूप से एकमात्र विष्णु । अवताररहस्यवेत्ता विद्वानों को यह विदित है कि भारतवर्ष में २४—१ —जितने भी अवतार सुने जाते हैं वे सब एकमात्र विष्णु से ही सम्बन्ध रखते हैं । पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि जब जब संसार में अत्याचार फैलता है तब तब देवगण सहित ब्रह्मा और महादेव योगीकशायी गोविन्द की नहीं नहीं गोविन्द की उस योगमाया की ही स्तुति करते हैं, जिसने कि—"सोऽपि निद्रावश नीत" (सप्तशती) के अनुसार स्वयं उनको भी मोहनिद्रा से अभिभूत कर रक्खा है । प्रार्थना से योगमाया हरि का प्रबोधन कराती है । हरि अवतार के लिए आश्वासन प्रदान करते हैं । यही कारण है कि, धर्मग्लानि के उपशम के लिए विष्णु के अतिरिक्त अवतारों के लोक में ब्रह्मावतार किंवा महादेवावतार प्रसिद्धि में नहीं आए ।

५५—शुक्र-शोणितानुगता रयि-प्राणात्मिका आध्यात्मिकी योगमाया का स्वरूप—समन्वय एवं तद्द्वारा विश्व का सम्मोहन—

एक चमत्कार और देखिए । आग्नेयतत्त्व का ही नाम विष्णु है एवं रिश्वाकर्मिता आगति को ही हमनें सोम बतलाया है । सोम ही विष्णु का विष्णुत्व है । सोमादान से ही यज्ञमूर्त्ति विष्णु का यज्ञकर्म प्रतिष्ठित है । उधर इन्द्र नामक गतःतत्त्व का अग्नि के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है । यों समन्वित,कि सोमात्मक विष्णु शान्त हैं एवं अग्निदैवत्य इन्द्र, किंवा पुराणपरिभाषानुसार रुद्र उग्र देवता हैं । उभय-नियन्ता स्थितिलक्षण ब्रह्मा अनुग्रहाधीन हैं । आग्नेयप्राण वृषा कहलाता है सौम्यप्राण योषा नाम से प्रसिद्ध है । योषा स्त्रीभाव का समर्थक है वृषा पुरुषभाव का समर्थक है । माता के गर्भाशयमें योषाप्राण की प्रधानता है अतएव यह सौम्य विष्णु-प्रधान है—"प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुः शये (शतपथ ब्राह्मण) । पिता आग्नेय-प्राणात्मक वृषाप्रधान है । जन्मदाता पिता है गर्भरक्षा करने वाली माता है । वही पालन करती है वही रक्षा करती है । यह विष्णु की योगमाया का ही अनुग्रह है । माता साक्षात् योगमाया है वैष्णवी माया है । इसीलिए आर्ष-साहित्य में पिता की अपेक्षा माता का स्थान ऊँचा माना गया है । तात्पर्य यही है कि तीनों योगमायाओं में से केवल विष्णुमाया ही योगमाया कहलाती है जैसाकि— 'योगमाया हरेरपैतत तया संमोह्यते जगत्' इत्यादि रहस्यवचन से स्पष्ट है ।

५६—योगमायानुगत सौम्य महद्ब्रह्म, तन्निबन्धन त्रिगुणभाव सूर्य्य चन्द्र पृथिव्यनुगत दर्शपूर्णमास से त्रिगुण महान् की आकृति—प्रकृति—अहंकृति—भावों में परिणति—

यही योगमाया विज्ञानभाषा में 'महद्ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । पूर्व के वैज्ञानिक आत्मपरीक्षा प्रकरण में इसे ही हमने 'महानात्मा कहा है । महान् पारमेष्ठ्य—सौम्यतत्त्व है जैसाकि—"महत्तत्त्वम् सोमो महिषश्चकार" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । सूर्य के दर्शपूर्णमास से इस पारमेष्ठ्य सौम्य महान् में त्रिगुणभाव का उदय होजाता है । जिसप्रकार चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है चन्द्रा-पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है एवमेव चन्द्र-पृथिवी से युक्त सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है जोकि परिक्रमारहस्य आज के भौतिक विज्ञान की परिज्ञानसीमा से बहिर्भूत है । सूर्य की इसी परिक्रमा का नाम दर्श-पूर्णमास है । पारमेष्ठ्य महान् का जो भाग सूर्य से प्रकाशित रहता है,

परात्पर को सीमित किया है वो महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित खण्डरूपा योगमाया ने इस जन्मवाली महामाया को भी सीमित कर, इसे भी खण्ड–खण्ड रूप में परिणत कर लिया है। क्योंकि यह माया खण्डात्मिका महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित रहती हुई महामाया से युक्त रहती है अतएव इसे 'योगमाया' कहा जाता है। 'योग' शब्द के इस सामान्य अर्थ की अपेक्षा से ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र तीनों ही मायाएँ योगमाया कहला सकती है। ब्रह्ममाया उत्पत्ति की अधिष्ठात्री है विष्णुमाया पालनकर्म की अधिष्ठात्री है। एवं इन्द्रमाया संहार की प्रवर्त्तिका है।

५२—योगमायात्रयी से अनुगता विष्णुमाया का ही योगमायात्व, एवं योगमायावच्छिन्न वैष्णव–यज्ञ की सर्वव्यापकता का समन्वय—

पदार्थ की उत्पत्तिमें ब्रह्ममाया का अनुग्रह है स्थिति में विष्णुमाया का अनुग्रह है एवं संहार में इन्द्रमाया का हस्तक्षेप है। यज्ञपुर (शरीर) के जन्मदाता ब्रह्मा हैं पुरंरक्षक द्वारपाल विष्णु हैं, एवं पुर–विनाशक इन्द्र हैं। तभी तो ये 'पुरन्दर' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार 'महामायया युक्ता खण्डात्मिका माया योगमाया' इस निर्वचन के अनुसार यद्यपि उक्त तीनों ही खण्डमाया योगमाया नामसे व्यवहृत होसकती हैं एवं होती हैं परन्तु योग—शब्द के सामान्य अर्थ के विचार करने पर "योगमाया" नाम की अधिकारिणी एकमात्र विष्णुमाया ही रह जाती है। दो वस्तुओं का मिलना ही योग कहा जाता है। इन्द्रमाया पूर्वकथनानुसार अपनी विस्रंसनरूपा विच्छेदशक्ति से मिली हुई वस्तु का बन्धन तोड़ कर उसे उत्क्रान्त कर देती है अतएव योग नहीं अपितु वियोग है। अतः इस योगमाया को योगमाया की अपेक्षा अयोगमाया कहना ही अन्वर्थ बनता है। ब्रह्ममाया शुक्र–शोणित के योग के द्वारा किंवा रयि और प्राण के योग के द्वारा चेतन एवं अचेतन पदार्थों के जन्म का कारण बनती हुई यद्यपि योगमाया कहला सकती है। परन्तु ब्रह्ममाया का यह योगभाव विष्णुमाया की कृपा पर ही अवलम्बित है। यज्ञदान से ही शुक्रशोणित का स्वरूप निष्पन्न होता है। उधर योनि में शुक्रशुक्रि का योग होना भी वैष्णव यज्ञ की कृपा का ही फल है।

५३—अष्टावी योगमाया का विस्तार–समन्वय—

स्वयं ब्रह्मा का स्वरूप भी विष्णुमाया से ही सुरक्षित है। यदि विष्णुदेवता अन्नाधान न करे, तो फिर स्वयंभू ब्रह्मा की प्रतिष्ठा कभी सुरक्षित न रहे। इसीलिए विष्णु को प्रतिष्ठा की (ब्रह्मा की) भी प्रतिष्ठा कहा जाता है। इसप्रकार ब्रह्ममाया का योगत्व भी विष्णुमाया में ही अन्तर्भूत होजाता है। अन्नका आदान कर उसका पदार्थों के साथ योग करा के इस योग के द्वारा पदार्थों का किंवा पदार्थ–समष्टिरूप विश्व का स्वरूप सुरक्षित रखना एकमात्र वैष्णवी माया का ही काम है। अतः आगे किसी का योगमाया न कहकर विष्णुमाया को ही हम योगमाया कहेंगे।

५४—योगमायावच्छिन्न हरि के विविध अवतार, एवं मत्स्यावतार–महाकूर्मावतार–आदि की प्रसिद्धि का समन्वय—

जो पालन करता है उस ही रक्षा की चिन्ता होती है। पालन करना क्योंकि एकमात्र विष्णुमाया का ही काम है अतएव विश्वभाग में जब जब अशान्ति उपस्थित होती है तब तब न ब्रह्मा आते न इन्द्र

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिका ।
वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमाया–समावृतः ॥

श्रीमद्भागवते

महामाया का व्यापक पुरुष से सम्बन्ध है एवं उसका अवतार असम्भव है। दूसरी दृष्टि [illegible] के अवतार हैं— 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' ।

६०—महामोहप्रवर्त्तिका योगमाया, तन्निवृत्त्युपायभूता योगमायोपासना, एवं तत्सम्बन्ध में मार्कण्डेय–महर्षि के उद्बोधक–वचन—

जिसप्रकार उस व्यापक पुरुष के लिए वह महामाया है, एवमेव त्रिगुणात्मक विश्व एवं विश्व में रहने वाली त्रिगुणात्मिका प्रजा के लिए तो योगमाया ही महामाया है। सभी प्राणी ज्ञानमात्रा से युक्त हैं। ज्ञान मोहनाश का कारण है। परन्तु इस महामायामयी योगमाया के निग्रहात्मक अनुग्रह से रहता हुआ भी ज्ञान मोह को नहीं हरा सकता। बड़े बड़े तपस्वी भी ज्ञानी भी योगमाया के बलवत् आकर्षण से मोह के अनुगामी बन ही जाते हैं। मोह से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—माया की आराधना अथवा की स्तुति। जिसने मोहपाश में आबद्ध कर रक्खा है वही पाशबन्धन से विमुक्त भी कर सकती है। इसी मायारहस्य का विश्लेषण करते हुए महर्षि उपासक सुरथ राजा से कहते हैं—

१—ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ।
विषयाश्च महाभाग यान्ति चैवं पृथक् पृथक् ॥
२—दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथाऽपरे ।
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ॥
३—ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते नहि केवलम् ।
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः ॥
४—ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ।
मनुष्याणां च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तथोभयोः ॥
५—ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान्पतगाञ्छावचञ्चुषु ।
कणमोक्षादृतान्मोहात् पीड्यमानानपि क्षुधा ॥
६—मानुषा मनुजव्याघ्र साभिलाषाः सुतान् प्रति ।
लोभात् प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि ॥

यह प्रकाशित अंश सत्वमूर्त्ति महान् है, अप्रकाशित अंश तमोमूर्त्ति महान् है एवं सान्ध्य भाग रजोमूर्त्ति महान् है। इन तीनों गुणों के अतिरिक्त इसी महान् में इसी दर्शपूर्णमास से आकृति–प्रकृति–अहंकृति भावों का जन्म होता है। भूतमयी पृथिवी के दर्शपूर्णमास से महान् में आकृतिभाव का उदय होता है, चन्द्रमा के दर्शपूर्णमास से प्रकृतिभाव का जन्म होता है एवं स्वयं सूर्य के दर्शपूर्णमास से अहंकृतिभाव का उदय होता है। अहंकृति का सत्त्वगुण से सम्बन्ध है, प्रकृति का रजोगुण से सम्बन्ध है एवं आकृति का तमोगुण से सम्बन्ध है।

५७—महद्गर्भीभूत चिदात्मा का संस्मरण, एवं योगमाया के द्वारा अनेक भावों की प्रवृत्ति—

इस योगमायामय महान् के इन्हीं ९ भावों का तीनों देवताओं के साथ सम्बन्ध होता है। ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान हैं, विष्णु रजोगुणप्रधान हैं एवं रुद्र तमोगुणप्रधान हैं। इसप्रकार महामायामूर्त्ति अक्षर के गर्भ में रहने वाली यह योगमाया (विष्णुमाया) त्रिगुणभावमयी बन जाती है। यही त्रिगुणात्मिका योगमाया उस अक्षर को खण्ड-खण्ड–रूप में परिणत कर देती है। 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार इसी महद्गर्भ में चिदात्मा गर्भ धारण करते हैं। जिसप्रकार पानी के मेघ से एक ही सूर्यप्रतिबिम्ब अनेक भावों में परिणत होता हुआ खण्ड–खण्ड रूप में विभक्त हो जाता है, एवमेव एक ही अव्ययात्मा (अक्षरयुक्त अव्यय) शरीरोपाधिभेद से नानारूपों में इस योगमाया के अनुग्रह से खण्ड–खण्ड रूप में परिणत हो गया है।

५८—चतुरशीतिलक्षमिता योगमाया एवं योगमाया की आवरणपरम्पराओं से चिदात्मा की निगूढता—

चतुरशीतिलक्ष आकृतिभावयुक्ता इस योगमाया के आगे चलकर अनन्त भाग होजाते हैं। संसार में अनन्त सीमित पदार्थ हैं। एक एक सीमित पदार्थ एक एक योगमाया है। प्रत्येक योगमाया में परमाणु–भेद से अनन्त योगमाया हैं। बड़ी योगमाया में छोटी योगमाया, छोटी में पुनः योगमाया, इस तारतम्य–सम्बन्ध से विश्व में नानाभावसमर्पिका त्रिगुणभावमयी इसी योगमाया का साम्राज्य होरहा है। योगमाया के आवरण से परात्परलक्षणा महामाया एवं तदवच्छिन्न महामायी पुरुष दोनों का स्वरूप आवृत होरहा है। योगमाया ने ही आत्मस्वरूप को आवृत कर रक्खा है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

> नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
> मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
>
> —गीता

५९—योगमायावच्छिन्न विष्णु के अवतार का संस्मरण—

ध्यान है अवतार का एकमात्र इसी योगमाया से सम्बन्ध है, क्योंकि अवतार विष्णु का ही होता है एवं उन्हीं की माया योगमाया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

६—प्रकारान्तरेण समष्टि —

१ मन

१—आनन्दमयं मन—ज्ञानयोगभूमि —विज्ञानमय प्राण—भक्तियोगभूमि ३—मनोमयी वाक् —कर्म्मयोगभूमि		—ज्ञानयोगाधिष्ठाता—अव्ययपुरुष

२ प्राणः

१—आनन्दगर्भिता, मनोमय मघवो ब्रह्मा प्राणमूर्त्तिः	—ज्ञानयोगभूमिः	भक्तियोगाधिष्ठात्री प्रकृति (अक्षरः)
२—विज्ञानगर्भिता प्राणमय, मघराति विष्णु प्राणमूर्त्तिः	—भक्तियोगभूमि	
३—मनोगर्भित वाङ्मयः मघविन्- इन्द्र—प्राणमूर्त्ति		
४—मनोगर्भित मन प्राणमय मर्घविन्-अग्नि प्राणमूर्त्ति	—कर्म्मयोगभूमिः	
५-प्राणप्राणगर्भितः प्राणवाङ्मयः मघविन-सोम-प्राणमूर्त्ति		

३ वाक्

१—आनन्दगर्भितः, मनोमय यद्मूर्त्ति प्राण—वाङ्मय	—ज्ञानयोगभूमिः	कर्म्मयोगाधिष्ठात्री विकृति (क्षर)
२—विज्ञानगर्भिताः, प्राणमय्यः लोकमय्य आपः—वाङ्मय्य	—भक्तियोगभूमिः	
३—मनोगर्भिता, वाङ्मयी रेतमयी—वाक् वाङ्मयी		
४—मनोगर्भित मन.प्राणवाङ्मयः भूतमय—अन्नाद—वाङ्मय	—कर्म्मयोगभूमि	
५—प्राणप्राणगर्भित प्राणवाङ्मयं धर्ममयं-अन्नम् वाङ्मयम्		

४—समष्टि

१—मन—ज्ञानं (ज्ञानयोग)—मनोमूर्तिरव्ययः
२—प्राण—क्रिया (भक्तियोग)—प्राणमयोऽक्षरः
३—वाक्—अर्थ (कर्मयोग)—वाङ्मयः क्षरः

}—सदिदं सर्वम्



५—समष्टि

१—मनोमयं मनः (मनः)—ज्ञानम् (ज्ञानमयो ज्ञानयोगः) अधिदै०
२—मनोमयः प्राणः (मनः)—क्रिया (ज्ञानमयो भक्तियोगः) दै० मू
३—मनोमयी वाक् मनः—अर्थः (ज्ञानमयः कर्मयोगः) अधिभू०

}—ज्ञानयोगः

१—प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—क्रिया (क्रियामयो भक्तियोगः) दै मू०
२—प्राणमयं मन (प्राण)—ज्ञानम् (क्रियामयो ज्ञानयोग) अधिदै
३—प्राणमयी वाक् (प्राण)—अर्थ (क्रियामय कर्मयोगः) अधिभू०

}—भक्तियोगः

१—वाङ्मयी वाक् (वाक्)—अर्थः (अर्थमयः कर्मयोगः) अधिभू
२—वाङ्मयः प्राण (वाक्) क्रिया (अर्थमयो भक्तियोग) दै मू
३—वाङ्मयं मन (वाक्) ज्ञानम (अर्थमयो ज्ञानयोग) अधिदै

}—कर्मयोग

१—अव्ययपुरुष

आनन्द-विज्ञान— मनोमयो [illegible]

- १—मनः (ज्ञानं—ज्ञानयोगः)—अधिदैवतम्
- २—प्राण (क्रिया—भक्तियोग)—दैवतानिचभूतानिच
- ३—वाक् (अर्थः—कर्मयोग)—अधिभूतम्

—आलम्बनम्
"न करोति न लिप्यते"

—•—

२—अक्षरप्रकृतिः (महामाया)

- १—ब्रह्मा (१) —मनोमय (ज्ञानं-ज्ञानयोगः) अधिदै०
- २—विष्णुः (१), ३—इन्द्रः (२) —प्राणमयौ (क्रिया—भक्तियोग) दै० भू०
- ४—अग्नि (१), ५—सोम (२) —वाङ्मयो (अर्थ—कर्मयोगः) अधिभू०

—निमित्तकारणम्
"करोति, न लिप्यते"

—•—

३—क्षरप्रकृतिः (प्रकृतिविकृतिः) योगमाया

- १—प्राण (१) —मनोमयः (ज्ञान—ज्ञानयोग) अधिदै०
- २—आपः (१), ३—वाक् (२) —प्राणमय्यौ (क्रिया—भक्तियोग) दै० भू०
- ४—अन्नादः (१), ५—अन्नम् (२) —वाङ्मयौ (अर्थ—कर्मयोग) अधिभू०

—उपादानकारणम्
"विकरोति लिप्यते च"

—•—

७—तथापि ममतावर्ते मोहगर्ते निपातिताः ।
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणः ॥
८—तन्नात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ।
महामाया हरेश्चैषा तया संमोह्यते जगत् ॥
९—ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
१०—तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥
११—सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥
१२—एतत्ते कथितं भूप ! देवीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
एवं प्रभावा सा देवी ययेदं धार्यते जगत् ॥
१३—विद्या तथैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया ।
तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्ये विवेकिनः ॥
१४—मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे ।
तामुपैहि महाराज ! शरणं परमेश्वरीम् ॥
१५—आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥

—श्रीमार्कण्डेयपुराणे

६१—विश्वात्मा एवं विश्व समष्टिरूप सृष्टिप्रपञ्च तदनुगता त्रिवर्गत्रयी, एवं सम-स्या मोहजननी योगमाया—

अव्यक्त के कथन का निष्कर्ष यही हुआ कि [illegible] विश्वात्मा, और विश्व इन दो भागों में विभक्त है। विश्वात्मा में अव्यय-अक्षर-क्षर ये तीन विवर्त हैं। तीनों क्रमशः पुरुष प्रकृति-विकृति हैं। पुरुष मन-प्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, आलम्बन है। प्रकृति प्राणप्रधाना बनती हुई क्रिया-प्रधाना है, [illegible] में उपादानिका है। यही निमित्तकारण है, [illegible] से एक है, महामाया है। [illegible] वाक्प्रधाना बनती हुई अर्थप्रधाना है, उपादानकारण है। यही त्रिगुणमात्रात्मिका योगमाया है। यही माँ [illegible] की जननी है, यही विश्वरूपा है, यही सर्वरूपा है। ये ही तीनों विवर्त क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म मार्गों के लक्ष्य-मर्यादा हैं। निम्न लिखित वाक्यों में विश्व का स्वरूप सर्वात्मना स्पष्ट हो जाता है।

१—प्रकारान्तरेण समष्टि —

१ मन

१—आनन्दमयं मन—ज्ञानयोगभूमि
२—विज्ञानमय प्राणः— भक्तियोगभूमि
३—मनोमयी वाक् —कर्म्मयोगभूमि
} —ज्ञानयोगाधिष्ठाता—अव्ययपुरुषः

२ प्राणः

१—आनन्दगर्भितः, मनोमयः सर्वज्ञो ब्रह्मा प्राणमूर्त्तिः } —ज्ञानयोगभूमिः
२—विज्ञानगर्भितः प्राणमयः, सर्वशक्तिः विष्णुः प्राणमूर्त्तिः
३—मनोगर्भित वाङ्मयः सर्ववित्- इन्द्र—प्राणमूर्त्ति } —भक्तियोगभूमि
४—मनोगर्भित मन प्राणमय सर्ववित्-अग्नि प्राणमूर्त्ति
५-प्राणवाग्गर्भितः प्राणवाङ्मयः सर्ववित्-सोमः प्राणमूर्त्ति } —कर्म्मयोगभूमिः
} भक्तियोगाधिष्ठात्री प्रकृति (अक्षरः)

३ वाक्

१—आनन्दगर्भिता मनोमय ब्रह्ममूर्त्तिः, प्राणः—वाङ्मय } —ज्ञानयोगभूमिः
२—विज्ञानगर्भिता प्राणमय्य लोकमय्या-आपः —वाङ्मय्य
३—मनोगर्भिता, वाङ्मयी देवमयी—वाक् वाङ्मयी } —भक्तियोगभूमिः
४—मनोगर्भित मनःप्राणवाङ्मयः भूतमय —अन्नाद-वाङ्मय
५—प्राणवाग्गर्भितं प्राणवाङ्मयं धर्म्ममयं-अन्नम्-वाङ्मयम् } —कर्म्मयोगभूमि
} कर्म्मयोगाधिष्ठात्री विकृति (क्षर)

४—समष्टिः

१—मनः—ज्ञानं (ज्ञानयोगः)—मनोमूर्त्तिरव्ययः
२—प्राणः—क्रिया (भक्तियोगः)—प्राणमयोऽक्षरः
३—वाक्—अर्थः (कर्म्मयोगः)—वाङ्मयः क्षरः

} —यदिदं सर्वम्

५—समष्टि

१—मनोमयं मनः (मनः)—ज्ञानम् (ज्ञानमयो ज्ञानयोगः) अधिदै०
२—मनोमयः प्राणः (मनः)—क्रिया (ज्ञानमयो भक्तियोगः) दै० मू
३—मनोमयी वाक् मनः—अर्थः (ज्ञानमयः कर्म्मयोगः) अधिभू

} —ज्ञानयोगः—अ

१—प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—क्रिया (क्रियामयो भक्तियोगः) दै० मू
२—प्राणमयं मनः (प्राणः)—ज्ञानम् (क्रियामयो ज्ञानयोगः) अधिदै०
३—प्राणमयी वाक् (प्राणः)—अर्थः (क्रियामयः कर्म्मयोगः) अधिभू

} भक्तियोगः—अ

१—वाङ्मयी वाक् (वाक्)—अर्थः (अर्थमयः कर्म्मयोगः) अधिभू०
२—वाङ्मयः प्राणः (वाक्) क्रिया (अर्थमयो भक्तियोगः) दै० मू
३—वाङ्मयं मनः (वाक्) ज्ञानम् (अर्थमयो ज्ञानयोगः) अधिदै

} कर्म्मयोगः—अ

९—सौम्या विष्णुमाया-योगमाया-खण्डाखण्डात्मिका-त्रिगुणमयी दुरत्यया—

१—सत्त्वगुणको महान्—तदिदं पारमेष्ठ्यं ब्रह्म सौम्यं वैष्णवम्—विश्वात्मयोनिः
२—रजोगुणको महान् "
३—तमोगुणको महान् "
४—अहंकृतिमहान् "
५—प्रकृतिमहान्
६—आकृतिमहान् "

१०—दर्शपौर्णमास—

१—सौरप्रकाशानुगतो महान्—प्रकाशमूर्तिः—सत्त्वम्
२—सौरबिम्बनिगूढो महान्—तमोमूर्तिः—तमः
३—मध्यगतो महान्—रजोमूर्तिः—रजः
४—सौरपूर्णमासेन महति—अहंकृतेरुदयः—अहंकृतिः
५—चान्द्रपूर्णमासेन महति—प्रकृतेरुदयः—प्रकृतिः
६—पार्थिवपूर्णमासेन महति—आकृतेरुदयः—आकृतिः

१—सत्त्वमूर्तिर्महान्—अहंकृतेरधिष्ठाता—ज्ञानयोगभूमिः
२—रजोमूर्तिर्महान्—प्रकृतेरधिष्ठाता—भक्तियोगभूमिः
३—तमोमूर्तिर्महान्—आकृतेरधिष्ठाता—कर्मयोगभूमिः

११—पुरुषयुक्ता गुणान्विता त्रिकला प्रकृतिः, तन्निबन्धन-त्रिसत्यभाव, एवं—'त्रि सत्या वै देवाः' का समन्वय—

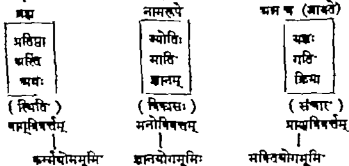
प्रकृति क्या है ?, इस प्रश्न की मीमांसा की गई। इस मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पुरुषयुक्ता प्रकृति अपनी अव्यक्तरूपा त्रिगुणरूपा त्रिगुणमायात्मिका योगमाया को आगे कर विश्व का स्वरूप-निर्माण कर रही है। क्योंकि पुरुषविशिष्ट प्रकृति से युक्ता योगमाया ही विश्व की जननी है, दूसरे शब्दों में—तीनों का समन्वित रूप ही विश्व का आत्मा है अतएव सम्पूर्ण विश्व में समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से

७—महामायाविवर्त्त—

मनोमयत्वात् सर्वज्ञः, प्राणमयत्वात् सर्वशक्तिः, वाङ्मयत्वात् सर्ववित्

तस्मात्—(भगवान्)

एतत्



सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते

८—योगमायाविवर्त्त—

१—ब्रह्ममाया—ततो जन्म (उत्पादनम्)—अनुग्रहशीला—योगमाया
२—विष्णुमाया—तत स्थितिः (पालनं रक्षणं च)—सौम्या—योगमाया
३—शिवमाया—ततो भङ्गः (संहारः)—आग्नेया—योगमाया

९—सौम्या विष्णुमाया—योगमाया—खण्डखण्डात्मिका—त्रिगुणमयी दुरत्यया—

१—सत्त्वगुणको महान्—सविर्द् पारमेष्ठ्य ब्रह्म सौम्यं वैष्णवम्—विश्वास्मयोनिः
२—रजोगुणको महान् ,,
३—तमोगुणको महान्
४—आहंकृतिमहान्
५—प्रकृतिमहान् ,,
५—आकृतिमहान् ,,



१०—दर्शपौर्णमास—

१—सौरप्रकाशानुगतो महान्—प्रकाशमूर्त्तिः—सत्त्वम्
२—सौरबिम्बविगतो महान्—तमोमूर्त्तिः—तमः
३—सन्धिगतो महान्—रजोमूर्त्तिः—रजः
४—सौरपूर्णमासेन महति—आहंकृतेरुदयः—आहंकृतिः
५—चान्द्रपूर्णमासेन महति—प्रकृतेरुदयः—प्रकृतिः
६—पार्थिवपूर्णमासेन महति—आकृतेरुदयः—आकृतिः



१—सत्त्वमूर्त्तिर्महान्—आहंकृतेरधिष्ठाता—ज्ञानयोगभूमिः
२—रजोमूर्त्तिर्महान्—प्रकृतेरधिष्ठाता—भक्तियोगभूमिः
३—तमोमूर्त्तिर्महान्—आकृतेरधिष्ठाता—कर्म्मयोगभूमिः



६२—पुरुषयुक्ता गुणान्विता त्रिवत्सा प्रकृति, तन्निबन्धन—त्रिभाव, एवं—'त्रि-सत्या वै देवाः' का समन्वय—

प्रकृति क्या है ? इस प्रश्न की मीमांसा की गई। इस मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, पुरुषयुक्ता प्रकृति अपनी अवयवरूपा त्रिगुणवत्सा त्रिगुणभावात्मिका योगमाया को आगे कर विश्व का स्वरूप-निर्माण कर रही है। क्योंकि पुरुषविशिष्ट प्रकृति से युक्ता योगमाया ही विश्व की जननी है, दूसरे शब्दों में—तीनों का समन्वित रूप ही विश्व का आत्मा है, अतएव सम्पूर्ण विश्व में समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से

अतः ज्ञान-कर्म भक्ति-योगों का ही साम्राज्य है। प्रकृतिसिद्ध मातृवंश की भाँति प्रकृतिसिद्धा योगमयी भी मानिक बनी हुई सर्वथा नित्य है। इसी मायामयी के प्रभाव से अव्यय योगमायावच्छिन्न त्रिकल विराट्रूप के अनुग्रह से सर्वत्र त्रिलभाव का साम्राज्य दीखता है। शास्त्रीय व्यवहारों में तो त्रिपुटि का शासन है ही, परन्तु लौकिक व्यवहार भी इससे वञ्चित नहीं है। इसी त्रित्वपुटि में सृष्टिमूलकत्व परिपठित है। देवता प्रत्यक्षानुगामी हैं इसी अभिप्राय से इनके सम्बन्ध में – 'त्रिसत्या वै देवाः' यह वचन प्रसिद्ध है। त्रिपुटि का साम्राज्य कहाँ कहाँ व्याप्त है ?, यह निम्नलिखित कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है—

६२—त्रिपुटिभावान्विता त्रिगुणात्मिका योगमाया के त्रित्व-धर्मों का विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय एवं प्राकृत त्रित्वानुबन्धिनी मायामयी के कतिपय उदाहरण—

विश्वातीत प्रविविक्तब्रह्म, विश्वचर प्रविष्टब्रह्म, विश्वरूप सृष्टब्रह्म भेद से ब्रह्म के तीन विवर्त हैं। भूमा, अणिमा, भूमाणिमा भेद से विश्वातीत परात्पर के तीन विवर्त हैं। अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक (पुरुष-प्रकृति-विकृति) भेद से विश्वचर षोडशी पुरुष के तीन विवर्त हैं। स्वयम्भू त्रैलोक्यरूप स्वः, सूर्य त्रैलोक्यरूप भुवः, पृथिवी त्रैलोक्यरूप भूः भेद से विश्व भी विवर्त है।

आनन्द-विज्ञान-मनोमना (श्वोवसीयस्मनो) भेद से मुक्तिसाक्षी ज्ञानात्मा (विद्यामय) भी विवर्त है। मनः-प्राण-वाक् भेद से सृष्टिसाक्षी कर्मात्मा (कर्ममय) भी विवर्त है। ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु-अग्नीषोम भेद से प्रकृति (अक्षर) भी विवर्त है। प्राण-आपो-वाक्-अन्नान्नाद भेद से विकृति (क्षर) भी विवर्त ही है। सत्ता-चेतना-आनन्द भेद से व्यापक ब्रह्म भी विवर्त है।

— —

वाक्-आप-अग्नि भेद से सृष्टिबीज शुक्र भी विवर्त है। आत्मा-प्राण-पशु भेद से अग्निमूर्ति प्रजापति भी विवर्त है। आत्मा पर्व-पुनःपर्व भेद से प्रजापति की संस्था भी विवर्त है। अर्क-अन्न-अशीति भेद से महदुक्थ भी विवर्त है। काम-तप-श्रम भेद से सृष्ट्यनुबन्ध भी विवर्त है। ज्ञान-कर्म-अर्थ भेद से सामाजिक ब्रह्म भी विवर्त है। ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान भेद से ब्रह्म (ज्ञान) भी विवर्त है। कर्म-विकर्म-अकर्म भेद से कर्म भी विवर्त है। नाम-रूप-कर्म भेद से ब्रह्म भी विवर्त है। संचित-प्रारब्ध-क्रियमाण भेद से अनुष्ठित कर्म भी विवर्त है। कायिक-वाचिक-मानसिक भेद से मानसिक कर्म भी विवर्त है। ऋतु-श्रद्धा-सत्य भेद से आभ्यन्तर कर्म भी विवर्त है। संस्कार-विकार-... भेद से बाह्यकर्म भी विवर्त है।

अव्यक्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानात्मा भेद से ईश्वरविवर्त भी विवर्त है। अन्तर्यामी सूत्रात्मा सर्वात्मा भेद से अव्यक्तात्मा भी विवर्त है। सत्यात्मा-महानात्मा-विज्ञानात्मा भेद से व्यक्ताव्यक्तात्मा भी विवर्त है। सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट् भेद से व्यक्तात्मा भी विवर्त है। विज्ञानात्मा-महानात्मा-शारीरिकात्मा भेद से आध्यात्मिक आत्मा भी विवर्त है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ भेद से शारीरिकात्मा भी विवर्त है। अग्नि-वायु-इन्द्र भेद से वैश्वानर भी विवर्त है। प्राज्ञ

व्यान अपान भेद से तैजस[३] भी त्रिकल है। प्रज्ञा-प्राज्ञ-भूत भेद से प्राज्ञ[११] भी त्रिकल है। पवमान पावक-शुचि भेद से अग्नि[१२] भी त्रिकल है। रुद्र-मरुत् मारुत भेद से वायु[१३] भी त्रिकल है। वासव मरुत्वान-मघवा भेद से इन्द्र[१४] भी त्रिकल है।

अध्यात्म अधिभूत अधिदैवत भेद से प्रपञ्च[१५] भी त्रिकल है। आम्-तन्-मत भेद से परम अ निर्देशक शब्दब्रह्म[१६] भी त्रिपर्वा है। स्फोट-स्वर-वर्ण भेद से वाङ्मय[१७] प्रपञ्च भी त्रिपर्वा है। अक्षरस्फोट-वाक्यपदस्फोट-शब्दाक्षरस्फोट भेद से स्फोट[१] भी त्रिकल है (भूषणसम्मत आठों स्फोटों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव है)। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित भेद से स्वर[११] भी त्रिकल है। व्यञ्जनात्मक-स्वरात्मक-उभयात्मक[४] भेद से वर्ण भी त्रिकल है। भूत-भविष्यत् वर्तमान भेद से काल भी त्रिपर्वा[११] है। एकवचन-द्विवचन-बहुवचन भेद से वचन[४] भी त्रिपर्वा है। कर्त्ता-कर्म-करण भेद से कर्तृतन्त्र[१] भी त्रिपर्वा है। आत्मनेपद परस्मैपद उभयपद भेद से धातु भी त्रिपर्वा है। अकर्मक-सकर्मक-प्रेरणार्थक भेद से क्रिया भी त्रिपर्वा है। उत्तम-मध्यम-प्रथम भेद से पुरुष[११] भी त्रिपर्वा है। कर्तृप्रधानवाक्य-कर्मप्रधानवाक्य-भावप्रधानवाक्य भेद से वाक्य[४] भी त्रिपर्वा है। लिंग-वचन-कारक भेद से संज्ञा भी त्रिपर्वा है। रूढ़ यौगिक योगरूढ़ भेद से संज्ञा[४] भी त्रिपर्वा है। पुल्लिंग-स्त्रीलिंग-नपुंसकलिंग भेद से लिंग भी त्रिपर्वा है। स्वर-व्यञ्जन-विसर्ग भेद से सन्धिप्रकार[११] भी त्रिपर्वा है।

अहं-ब्रह्मास्मि-तत्त्वमसि-सोऽहं—भेद से महावाक्य[१] भी त्रिपर्वा है। सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से भेद[१] भी त्रिपर्वा है। योग-विभूति-बन्ध भेद से सम्बन्ध[४] भी त्रिपर्वा है। काल-स्वभाव-कर्म भेद से नियति[१] भी त्रिपर्वा है। दृष्ट अनुमान-आप्त भेद से प्रमाण[१] भी त्रिपर्वा है। औपश्लेषिक-वैषयिक-अभिव्यापक भेद से आधार[११] प्रकार भी त्रिपर्वा है। स्वार्थ-परार्थ-परमार्थ भेद से वृत्ति भी त्रिपर्वा है। मिथ्या-व्यवहार-परमार्थ भेद से दृष्टि[१] भी त्रिपर्वा है। सत्य भाव-सत्यानृत भेद से भाव[४] भी त्रिपर्वा है

भृगु-आङ्गिरा-अत्रि भेद से ऋषि[१] भी त्रिपर्वा है। अग्निष्वात्ता सौमसत्-बर्हिषद् भेद से पितर[१] भी त्रिपर्वा है। आग्नेय-सौम्य-साध्य भेद से देवता[३] भी त्रिपर्वा है। नमुचि-वृत्र-बल भेद से असुर[४] भी त्रिपर्वा है। प्रज्ञा-प्रजा-अरपा भेद से अतिक्रान्ता प्रजा[१] भी त्रिपर्वा है। कहाँ तक गिनायें त्रिकल प्रजापति की इस त्रिपुटि के संक्षिप्त निदर्शन से ही एक स्वतन्त्र विशालकाय ग्रन्थ बन सकता है। अतः अधिक विस्तार न कर कुछ एक त्रिपुटियों की परिगणना उद्धृत कर विश्राम कर लिया जाता है—

६६-ऋक्-यजुः, साम (वदत्रयी)।
६७-पद्य-गद्य-गान (रचनात्रयी)
६८-भूः-भुव-स्वः (लोकत्रयी)
६९-अग्नि वायु आदित्य (देवत्रयी)
७०-मा प्रमा-प्रतिमा (छन्दोत्रयी)
७१ महोक्थ-महाव्रत-साम (रहस्यत्रयी)
७२-ब्रह्म क्षत्र विट (वीर्य्यत्रयी)
७३-ब्रा० क्षत्रिय-वैश्य (वर्णत्रयी)
७४-यज्ञ-तप-दानम् (कर्म्मत्रयी)
७५-इष्ट-आपू० दत्तम् (लोककर्म्मत्रयी)
७६-स्वर्ग-नरक-मुक्ति (गतित्रयी)
७७-अग्नि-यम-आदित्य (अङ्गिरात्रयी)
७८-आपः-वायु-सोम (भृगुत्रयी)
७९-इष्टि-पशु-सोमः (यज्ञत्रयी)
८०-पुरोडाश-वपा-रस (द्रव्यत्रयी)
८१-तप्त आप-अमृतम् (भूतत्रयी)
८२-सत्यवती ऋतवती-मन्यवती
(उपासनात्रयी)
८३-आकृति-प्रकृति अहंकृति (वृत्तित्रयी)
८४-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति (अवस्थात्रयी)
८५-उत्पत्ति स्थिति-लयः (भावत्रयी)
८६ बृहत् वैराज रैवत (सारसामत्रयी)
८७-रथन्तर-रूप शाक्वर (पा० सामत्रयी)
८८-भर्गः-मह-यशः (शुक्लत्रयी)
८९-प्रात०म०-माध्यंदि-सायं (सवनत्रयी)
९०-व्यक्ति आकृति, जाति (विश्वमत्रयी)
९१-यज्ञायज्ञिय-वारवन्तीय भायन्तीय
(सामत्रयी)

९१ ज्योति-गौ-आयु (सौरतत्त्वत्रयी)
९३-इडा ऊर्क् भोगाः (पारमेष्ठ्यतत्त्वत्रयी)
९४-रत-श्रद्धा-पशुः (चान्द्रतत्त्वत्रयी)
९५-वाक्-गौ-द्यौ (पार्थिवतत्त्वत्रयी)
९६-आत्मा-सर्व शरीम् (द्रव्यत्रयी)
९७-स्थूल सूक्ष्म० कारण० (शरीरत्रयी)
९८-प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रा (मात्रात्रयी)
९९-नभचर-स्थलचरः-जलचर
(जीवत्रयी)
१००-धातु-मूल-जीवा (जीवत्रयी)
१०१-संसज्ञा, अन्तःसज्ञा, असंज्ञा
(प्राणित्रयी)
१०२-निदानं—निघन्दु—चिकित्सा
(आयुर्वेद-विषयत्रयी)
१०३-वातः-पित्तम्-कफः (धातुत्रयी)
१०४-शिरा-स्नायव-धमन्यः
(नाडीत्रयी)
१०५-घनाः-द्रवा-वाष्पा (अवस्थात्रयी)
१०६-स्वच्छा, अनिच्छा, परेच्छा
(प्रारब्धत्रयी)
१०७ दधि-मधु-घृतम् (रसत्रयी)
१०८-माता, पिता, सन्ततिः
(मैथुनीसंहितात्रयी)
१ ९-माता-पिता-आचार्य्यः
(संस्कारिकी संहितात्रयी)
११०-आचार्य्य अन्तवासी, विद्या
(ज्ञानसंहितात्रयी)
१११ ईश्वर-जीव जगत् (सर्वत्रयी)

६४—लोकव्यवहारानुगत त्रित्व-धर्म्मों का समन्वय—

यह तो हुआ शास्त्रीय व्यवहार। अब संक्षेप से लौकिक व्यवहार का भी विचार कर लीजिए। घोर-घोरतम नास्तिक सम्प्रदाय, एवं आस्तिक सम्प्रदाय दोनों ने ही अपने व्यवहारक्षेत्र में त्रित्ववाद को मूल मान रक्खा है। भारतीय धर्म्मों के उपक्रम उपसंहार में मङ्गलपाठ आवश्यक माना गया है। मङ्गलपाठ के उपसंहार में—"ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!" यह वाक्य सन्निविष्ट रहता है। शान्ति जिसको चाहिए चाहे वह आत्मा हो शरीर हो, अथवा विश्व का कोई भी जड़ चेतन पदार्थ हो, त्रिगुणभाव के कारण वह त्रिपर्वा किंवा त्रिकल ही होगा। ऐसी दशा में तदुपयुक्त शान्ति तबतक सर्वाङ्गीण न बनेगी जबतक कि शान्ति-भाव को भी त्रिपर्वा नहीं बना लिया जायगा। इसीप्रकार तीन बार आचमन करना, तीन बार हाथ धोना तीन बार शपथ खाना आदि आदि व्यवहार भी त्रिकल आत्मस्वरूप के ही अनुगामी बने हुए हैं।

६५—लोकानुबन्धी त्रिभावों का स्वरूप-समन्वय—

वर्त्तमान न्यायालयों में वादी-प्रतिवादियों के सम्बन्ध में न्यायविभाग का सेवक (चपरासी) "अमुक व्यक्ति उपस्थित है ?"। इस आह्वान-वाक्य को तीन बार दोहराना क्यों आवश्यक समझता है ? रात्रि के समय पैट्रोल-सेनास्थल आदि प्रवेशनिषिद्ध स्थानों में भूल से चले जाने वाले व्यक्ति पर 'कौन ?' शब्द की त्रिरावृत्ति के अनन्तर ही रक्षक को उस आगन्तुक पर फायर करने का आदेश क्यों मिला ?, अपराध के लिए समस्त व्यक्ति के गले में एक-दो-तीन के अनन्तर ही क्यों गलपाश डाला जाता है ? क्या पश्चिमी वैज्ञानिकों के प्रज्ञापथ में इन प्रश्नों का समाधान है ?। नहीं। इन सभी त्रित्वभावों का समाधान करेगा एकमात्र प्रकृति-शास्त्र भारतीय शास्त्र। वही यह बतला सकेगा कि, आत्मपुरुष प्रकृति से युक्त है। स्वयं आत्मा भी त्रिकल है। एवं उसकी प्रकृति (स्वभाव) भी त्रिगुणभावमयी बनती हुई त्रिकल है। भला प्रकृति-पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले इस स्वभावसिद्ध त्रित्वभाव का कौन विरोध कर सकता है ?।

६६—जननी के धर्म्मों का अन्य-पदार्थों में समन्वय—

उक्त सभी त्रयीभावों की मूल प्रतिष्ठा है गुणत्रयी। गुणत्रयी का मौलिक स्वरूप है—पाठकों की पूर्वपरिचिता वही 'योगमाया' अव्यय से आरम्भ कर महान् पर्य्यन्त, भूत से आरम्भ कर देवता पर्य्यन्त, पृथिवी से आरम्भ कर द्युलोक पर्य्यन्त जितने भी विश्वभाव हैं वे सभी गुणमयी इस गुणत्रया योगमाया के आवरण से नित्य आवृत हैं। जननी के धर्म्म सन्तान में न आवें यह कैसे होसकता है ?। योगमाया की दूसरे शब्दों में योगमायानुबन्धी इन्हीं तीनों गुणों की सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सत्त्वं रज-स्तम-इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥१॥ (गी० १४।५।)
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥२॥ (गी० ७।१३)।

६६-ऋक्-यजु , साम (वेदत्रयी)।
६७-पद्य-गद्य-गान (रचनात्रयी)
६८-भूः-भुवः-स्वः (लोकत्रयी)
६९-अग्नि वायु आदित्य (देवत्रयी)
७० -मा प्रमा-प्रतिमा (छन्दोत्रयी)
७१ महोक्थ-महाव्रत-साम (रहस्यत्रयी)
७२-ब्रह्म क्षत्र-विट् (वीर्य्यत्रयी)
७३-ब्रा० क्षत्रियः-वैश्यः (दक्षत्रयी)
७४-यज्ञ -तप दानम् (कर्म्मत्रयी)
७५-इष्ट-आपू० दत्तम् (लोककर्म्मत्रयी)
७६-स्वर्ग-नरक-मुक्ति (गतित्रयी)
७७-अग्नि -यम -आदित्य (अङ्गिरात्रयी)
७८-आपः-वायु-सोम (भृगुत्रयी)
७९-इष्टि -पशु -सोमः (यज्ञत्रयी)
८०-पुरोडाश-वपा -रस (द्रव्यत्रयी)
८१-तम भाग -अभम् (भूतत्रयी)
८२ -सत्यवती ऋतवती-अन्यवती
(उपासनात्रयी)
८३-आकृति-प्रकृति अहंकृति (वृत्तित्रयी)
८४-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति (अवस्थात्रयी)
८५-उत्पत्ति स्थिति -लयः (मायात्रयी)
८६ बृहत् वैराज रैवत (सारमामत्रयी)
८७-रथन्तर-वैरूप शाक्कर (पा० मामत्रयी)
८८-मर्गा-मह -यशः (तपस्त्रयी)
८९-भासस -मार्ग्यवि-मार्प (मथनत्रयी)
९०-व्यक्ति आकृति, जाति (विक्रमत्रयी)
९१-पन्नापन्नीय वारवन्तीय आयन्तीय
(सामत्रयी)

९२ ज्योति-र्गौ -आयु (सौरतत्त्वत्रयी)
९३-इडा ऊर्क् भोगाः (पारमेष्ठ्यतत्त्वत्रयी)
९४-रत -श्रद्धा पशु (चान्द्र तत्त्वत्रयी)
९५-वाक्-गा -द्यौ (पार्थिवतत्त्वत्रयी)
९६-आत्मा-सत्त्वं शरीम् (दण्डत्रयी)
९७-स्थूल० सूक्ष्म० कारण० (शरीरत्रयी)
९८-प्रज्ञा प्राण-भूतमात्रा (मात्रात्रयी)
९९-नभचर -स्थलचरः-जलचर
(जीवत्रयी)
१००-धातु-मूल-जीवा (जीवत्रयी)
१०१-संसंज्ञा, अन्तःसंज्ञा असंज्ञा
(साक्षित्रयी)
१०२-निदानं—निघन्टु—चिकित्सा
(आयुर्वेद-विषयत्रयी)
१०३-वात-पित्तम्-कफः (धातुत्रयी)
१०४-शिरा-स्नायव -धमन्यः
(नाडीत्रयी)
१०५-धनाः-द्रवा -वाय्याः (अवस्थात्रयी)
१०६-स्वेच्छा, अनिच्छा, परेच्छा
(प्रारब्धत्रयी)
१०७ दधि-मधु-घृतम् (रसत्रयी)
१०८-माता, पिता, सन्ततिः
(मैथुनीसंहितात्रयी)
१०९-माता-पिता आचार्य्यः
(मांस्कारिकी संहितात्रयी)
११०-आचार्य्य, अन्तेवासी, विद्या
(ज्ञानसंहितात्रयी)
१११ ईश्वर-जीव जगत् (सर्वत्रयी)

६४— लोकव्यवहारानुगत त्रित्व-धर्मों का समन्वय—

यह तो हुआ शास्त्रीय व्यवहार। अब संक्षेप से लौकिक व्यवहार का भी विचार कर लीजिए। पौरुषेय नास्तिक सम्प्रदाय एवं आस्तिक सम्प्रदाय दोनों ने ही अपने व्यवहारप्रपञ्च में त्रित्ववाद को मूल मान रक्खा है। भारतीय कार्यों के उपक्रम उपसंहार में मङ्गलपाठ आवश्यक माना गया है। मङ्गलपाठ के उपसंहार में— 'ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!' यह वाक्य सन्निविष्ट रहता है। शान्ति जिसकी चाही जायगी वह आत्मा हो शरीर हो अथवा विश्व का कोई भी वह चेतन पदार्थ हो, त्रिगुणभाव के कारण वह त्रिपर्वा किंवा त्रिकल ही होगा। ऐसी दशा में तत्प्रयुक्त शान्ति तबतक सर्वाङ्गीण न बनेगी जबतक कि शान्तिभाव को भी त्रिपर्वा नहीं बना लिया जायगा। इसीप्रकार तीन बार आचमन करना तीन बार हाथ धोना तीन बार शपथ खाना, आदि आदि व्यवहार भी त्रिकल आत्मस्वरूप के ही अनुगामी बने हुए हैं।

६५—लोकानुबन्धी त्रिभावों का स्वरूप-समन्वय—

वर्तमान न्यायालयों में वादी-प्रतिवादियों के सम्बन्ध में न्यायविभाग का सेवक (चपरासी) "अमुक व्यक्ति उपस्थित है ?" । इस आह्वान-वाक्य को तीन बार दोहराना क्यों आवश्यक समझता है ? यदि के समय सैन्य-सेनास्थान आदि प्रवेशनिषिद्ध स्थानों में भूल से जाने वाले व्यक्ति पर 'कौन ?' शब्द की त्रिरावृत्ति के अनन्तर ही रक्षक को उस आगन्तुक पर फायर करने का आदेश क्यों मिला ?, वधदण्ड के लिए लाए व्यक्ति के गले में एक-दो-तीन के अनन्तर ही क्यों गलपाश डाला जाता है ? क्या पश्चिमी वैज्ञानिकों के प्रज्ञाक्षेत्र में इन प्रश्नों का व्याख्यान है ? । नहीं । इन सभी त्रित्वभावों का समाधान करेगा एकमात्र प्रकृतिशास्त्र भारतीय शास्त्र। वही यह बतला सकेगा कि, आत्मपुरुष प्रकृति से युक्त है। स्वयं आत्मा भी त्रिकल है। एवं उसकी प्रकृति (स्वभाव) भी त्रिगुणभावमयी बनती हुई त्रिकल है। भला प्रकृति-पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले इस सहज सिद्ध त्रित्वभाव का कौन विरोध कर सकता है ? ।

६६—जननी के धर्मों का अन्य-पदार्थों में समन्वय—

उक्त सभी त्रयीभावों की मूल प्रतिष्ठा है गुणत्रयी। गुणत्रयी का मौलिक स्वरूप है—पाञ्चों की पूर्वपरिचिता वही 'योगमाया' अणु से आरम्भ कर महान् पर्यन्त, भूत से आरम्भ कर देवता पर्यन्त, पृथिवी से आरम्भ कर द्युलोक पर्यन्त जितने भी विश्वभाव हैं वे सभी गुणमयी इस गुरुतया योगमाया के आवरण से नित्य आवृत हैं। जननी के धर्म अन्य में न आवें यह कैसे होसकता है ?। योगमाया की दूसरे शब्दों में योगमायानुबन्धी इन्हीं तीनों गुणों की सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सत्त्वं रज-स्तम-इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥१॥ (गी० १४।५।)
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥२॥ (गी० ७।१३)।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥२॥ (गी० १८।४०)

६७—योगत्रययुक्ता गुणत्रयसमन्विता योगमाया का स्वरूप—

अव्यय के सम्बन्ध से ज्ञानयोगाधिष्ठात्री, अक्षर के सम्बन्ध से भक्तियोगाधिष्ठात्री, एवं क्षर के सम्बन्ध से निर्गुण+ भाव से कर्मयोगाधिष्ठात्री। साथ ही अव्यय-अक्षर के बिना योगमाया रह ही नहीं सकती। फलतः इसका योगत्रयात्मकत्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। योगत्रययुक्ता गुणत्रयसमन्विता योगमाया क्यों कर है ?, सुनिए।

६८—प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र-सम्मत प्राकृतिक भूतसर्ग का विस्तार, एवं उसके त्रिविध, तथा चतुर्दशविध विवर्त्तों का समन्वय—

भौतिक सर्ग है, तो सुनाइए कैसा प्राधानिक शास्त्र है। प्रकृति क्या करती है ? इस का ठीक ठीक उत्तर प्रकृतिवादी (सांख्य) ही दे सकता है। प्रकृतितत्त्व के सम्पूर्ण विवर्त्तभावों को स्पष्ट करने वाले निम्नलिखित तीन वचन हमारे सामने आते हैं—

१—अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥

+ त्रिगुणभाव का सम्बन्ध कर्मयोग से है। दूसरे शब्दों में त्रिगुणभावमय कर्मयोग का अवलम्बन योगमाया से सम्बन्ध है। यदि कर्म से गुणभाव निकाल दिया जाता है तो त्रिगुणातीत यह कर्म भक्तिधारा से विमुक्त होकर निर्गुण अनासक्तिकर्म धर्मधारा का स्वरूप बन जाता है। "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" से भगवान् ने कर्ममार्ग में से त्रिगुणभाव के निराकरण का ही आदेश दिया है।

अध्यात्मसंस्था में व्यापक चिदात्मा के अंशभूत प्रज्ञानात्मा शारीरिक आत्मा, नाम के दो विवर्त हैं। दोनों में से प्रज्ञानात्मरूप आत्मा देह में रहता हुआ भी त्रिगुणभाव के कारण देहाभिमान से शून्य है, निर्लेप है। अव्यक्तप्रकृति में दो ईश्वर के कारण स्वयं पर अव्यक्तप्रकृति के गर्भ में प्रकट होने वाली अवस्था योगमाया के त्रिगुणभाव का आक्रमण नहीं होता। जैसा कि—"अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। शारीरिक आत्मा प्रकृति उसी प्रज्ञानात्मा का अंश है। परन्तु "जीवभूतां महाबाहो" ! के अनुसार इसका आविर्भाव अव्यक्तप्रकृति के गर्भ में ही होता है। अतएव अव्यक्तप्रकृति पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगमाया के आक्रमण से यह देहाभिमानी शारीरिक आत्मा, (अतएव 'देही' नाम से प्रसिद्ध) नहीं बच सकता। शरीर से सम्बन्ध रखने वाले देहात्मक शारीरात्मक जीवात्मक दोनों में से शारीरिक आत्मा ही बद्ध हो जाता है। इसी स्थिति के लिए भगवान् को अव्यय के साथ 'त्रिगुण' विशेषण लगाना पड़ा है।

२—ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्, स्तमोविशालश्च मूलत सर्ग ।
मध्य रजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्त ॥

३—तत्र जरामरणकृत दुःखं प्राप्नोति चेतन पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्मात् दुःखं स्वभावेन ॥

—सांख्यकारिका ५३-५४-५५ ।

योगमायात्मिका प्रकृति का एकमात्र कार्य्य है—भूतसृष्टि किंवा सांख्य के शब्दों में भौतिकसर्ग । निर्माण सामग्री सत्त्व-रज-स्तमो-भेद से तीन भागों में विभक्त है । तीनों समष्टियाँ यद्यपि परस्पर अविनाभूत हैं अतएव प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक भौतिक सर्ग में तीनों गुणों की सत्ता माननी पड़ती है । इसी आधार पर प्रत्येक सर्ग में सत्त्वानुबन्धी अध्यात्मानुगत ज्ञानयोग रजोऽनुबन्धी अक्षरानुगत भक्तियोग एवं तमोऽनुबन्धी क्षरानुगत कर्मयोग तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है । इसप्रकार यद्यपि गुणसमानापेक्षया सभी भूतसर्ग समान धरातल पर प्रतिष्ठित हैं । तथापि गुणतारतम्य से यह सर्ग सत्त्वविशाल रजोविशाल तमोविशाल भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है । आगे जाकर तो छन्दः प्रस्तार की भाँति यह सर्ग असंख्य भेदों में परिणत होजाता है जैसाकि अनुपद में ही बतलाए जाने वाले कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट होजायगा । पहिले स्थूल सर्गों का ही विचार कीजिए—जब प्रकृति में सत्त्वभाव की प्रधानता रहती है रज और तम गौण बनते हुए सत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं तो उस दशा में सत्त्वप्रधाना बनती हुई यह प्रकृति—ब्रह्म-प्रजापति ऐन्द्र-पितर-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच इन अष्टविध सत्त्वविशालसर्गों की जननी बनती है । यही ऊर्ध्वसर्ग कहलाता है । क्योंकि तीनों गुणों में से स्वयं सत्त्वगुण ऊर्ध्वस्थानीय है । यही 'दैवसर्ग' नाम से भी प्रसिद्ध है । इन आठों दैवसर्गों में सुप्रसिद्ध ११ इन्द्रियाँ तो रहती ही हैं साथ ही क्रम से ही इनमें आठ सिद्धियाँ नव तुष्टियाँ और रहती हैं । फलतः इनमें २८ इन्द्रियाँ होजाती हैं । चान्द्रमण्डल इनकी आधार-भूमि है । सौर प्रकाश इनका शत्रु है । इनके पैर नहीं होते अतएव विज्ञानभाषा में इन्हें "अपादजीव" कहा जाता है । चान्द्रसोम के सम्बन्ध से इनका शरीर उसी प्रकार सोमप्रधान है जैसे कि पार्थिव-मिट्टी के सम्बन्ध से पार्थिव शरीर मृत्प्रधान रहता है । इसी सौम्य भाव के कारण इन आठों देवयोनियों का रूपरूपणी से यथाशीघ्र सौम्य प्राणियों पर (बच्चों एवं स्त्रियों पर, क्योंकि बच्चों में भी सोम की प्रधानता रहती है एवं स्त्रियों का मूलद्रव्य भी सोमतत्त्व ही है) आक्रमण हुआ करता है । यही आयुर्वेद के अनुसार भूताक्रमण कहलाता है । इसी के लिए हमारे इस वैज्ञानिक चिकित्सा-शास्त्र मे (चरकमे) भूतोपशमनीयाध्याय नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण रक्खा है ।

६६—अष्टविध सत्त्वविशाल-सर्गों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

आठों में उत्तर उत्तर देवसर्ग की अपेक्षा पूर्व पूर्व सर्ग सत्त्वाधिक्य के कारण श्रेष्ठ-श्रेणि में प्रतिष्ठित है । दूसरी दृष्टि से ब्रह्म प्राजापत्य-ऐन्द्र-पैत्र्य इन चारों का एक विभाग है गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-इन चारों का एक विभाग है । अन्य दृष्टि से ब्रह्म-प्राजापत्य का एक युग्म ऐन्द्र-पैत्र्य का एक युग्म गन्धर्व-यक्ष

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥२॥ (गी० १८।४०)

६७—योगत्रययुक्ता गुणत्रयसमन्विता योगमाया का कर्तृत्व—

अव्यय के सम्बन्ध से ज्ञानयोगाधिष्ठात्री अक्षर के सम्बन्ध से भक्तियोगाधिष्ठात्री एवं स्वयं अपने त्रिगुण+ भाव से कर्मयोगाधिष्ठात्री साथ ही अव्यय-अक्षर के बिना योगमाया रह ही नहीं सकती। फलतः इसका योगत्रयानुगतत्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है। योगत्रययुक्ता गुणत्रयसमन्विता योगमाया क्यों क्या है। सुनिए।

६८—प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र–सम्मत प्राकृतिक भूतसर्ग का विस्तार, एवं उसके त्रिविध, तथा चतुर्दशविध विवर्त्तों का समन्वय—

गीता आप है तो सुनाने वाला प्राधानिक शास्त्र है। प्रकृति क्या करती है? इस का ठीक ठीक उत्तर प्रकृतिवादी (सांख्य) ही दे सकता है। प्रकृतितत्त्व के सम्पूर्ण विवर्त्त भावों को स्पष्ट करने वाले निम्नलिखित तीन वचन हमारे सामने आते हैं—

१—अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥

+ त्रिगुणभाव का सम्बन्ध कर्मयोग से है। दूसरे शब्दों में त्रिगुणभावात्मक कर्मयोग का अवलम्बना योगमाया से सम्बन्ध है। यदि कर्म से गुणभाव निकाल दिया जाता है तो इन्द्रातीत वह कर्म प्रकृतिधारा में विमुक्त होकर निर्गुण ब्रह्मस्वरूपात्मक अव्ययात्मा का कर्म बन जाता है। 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' में भगवान ने कर्मभाव में से त्रिगुणभाव के संशोधन का ही आदेश किया है।

अध्यात्मसंस्था में व्यापक चिदात्मा के सर्वव्यापक प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा नाम के दो विवर्त्त हैं। दोनों में से प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय देह में रहता हुआ भी विभूतिभाव के कारण देहाभिमान से सर्वथा निर्लेप है। अक्षरप्रकृति से परे होने के कारण इस परा अक्षरप्रकृति के गर्भ में प्रकट होने वाली अपरा योगमाया के त्रिगुणभाव का आक्रमण नहीं होता जैसाकि—'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते' इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। शारीरक आत्मा यद्यपि उसी प्रत्यगात्मा का अंश है। परन्तु 'जीवभूतां महाबाहो' के अनुसार इसका स्वरूपभाव अक्षरप्रकृति के गर्भ में ही रहता है। अतएव तद्रूप्मानवगतक पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगमाया के आक्रमण से यह देहाभिमानी शारीरक अव्यय (अतएव 'देही' नाम से प्रसिद्ध) नहीं बच सकता। शरीर में प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वराव्यय शारीरकात्मलक्षण जीवाव्यय दोनों में से शारीरक अव्यय ही बन्धन में आता है इसी स्पष्टीकरण के लिए भगवान को अव्यय के साथ 'देहिनं' विशेषण लगाना पड़ा है।

अभिक समिकट रहती हुई प्रकृति के उक्त दोनों विवर्तों को जानने में विशेष समर्थ है। जब प्रकृति में रजोभाव की प्रधानता रहती है सत्त्व और तम गौण बनते हुए रज के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं तो उस दशा में रजःप्रधाना प्रकृति मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि–कीट इन पाँच रजोविशालसर्गों की जननी बनती है। यही मध्यसर्ग है। क्योंकि गुणत्रयी में रजोगुण मध्य-स्थानीय है। यही "तिर्य्यक्सग" नाम से भी प्रसिद्ध है। इन पाँचों की चेतना का मूल आधार वायुतत्त्व ही है।

७२—तमोविशालसर्ग का स्वरूप–समन्वय--

तमोभावप्रधाना सत्त्वरजोगर्भिता प्रकृति तमोविशालसर्ग की जननी बनती है। धातुवर्ग ओषधि-वनस्पति से आरम्भ कर स्तम्ब पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च तमोगुण–प्रधान है। यही प्रकृति का तीसरा मौलिक स्वरूप है। क्योंकि गुणत्रयी में तमोगुण मूल में प्रतिष्ठित है अतएव इसे मूलसर्ग कहा जाता है।

७३—'चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः' और ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त सर्गों का सस्मरण—

ऊर्ध्वसर्ग सत्त्वानुबन्धी किंवा सत्त्वप्रधान बनता हुआ सत्त्वसम्बन्धी ज्ञानमूर्ति अव्यय का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव इस सर्ग को हम ज्ञानयोगानुगामी कह सकते हैं। मध्यसर्ग रजोऽनुबन्धी किंवा रजःप्रधान बनता हुआ रज सम्बन्धी क्रियामूर्त्ति महामाया मक अक्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ क्रियाप्रधान है। अतएव इस मध्यसर्ग को (मध्यस्थता के कारण ज्ञानार्थरूपा उभय सम्पत्ति से युक्त रहने के कारण) भक्तियोगानुगामी कह सकते हैं। मूलसर्ग तमोऽनुबन्धी किंवा तमः–प्रधान बनता हुआ तमः-सम्बन्धी अर्थमूर्त्ति योगमायात्मक क्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ अर्थप्रधान है। अतएव इसे हम कर्म्मयोगानुगामी मान सकते हैं। ब्रह्म से आरम्भ कर स्तम्ब * पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला यह प्राकृतिक सर्ग सम्मूच १४ भागों में विभक्त है। यही शास्त्रपरिभाषा का— 'चतुर्द्दशविधो भूतसग' है। इन चौदहों में भी अवान्तर तारतम्य है।

७४—सत्त्वविशालसर्गानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगत्रयी—

सत्त्वविशाल अष्टविध देवसर्ग इतर दोनों सर्गों की अपेक्षा जहाँ ज्ञानप्रधान बनता हुआ ज्ञानयोग का अनुगामी है वहाँ अपने पारस्परिक भेद के कारण इनमें भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है। ब्रह्म प्रजापति नाम के प्रथम पुष्प में सत्त्व की प्रधानता है इन्द्र एवं पितर में रज की प्रधानता है एवं गन्धर्वादि चारों में तम की प्रधानता है। सत्त्वप्रधान प्रथम पुष्प ज्ञानयोगानुगामी है रजःप्रधान द्वितीय-पुष्प भक्तियोगानुगामी है एवं तमःप्रधान चतुर्थपुष्प कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व–रज–तम के क्रमिक सम्बन्ध से इन सत्त्वविशाल एवं ज्ञानयोगानुगामी देवसर्गों में भी अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं।

---

* पानी में काई के रूप से प्रतिष्ठित शैवाल का मासिक रूप ही 'स्तम्ब'' है।

का एक युग्म एवं राक्षस पिशाच का एक युग्म है। चारों युग्मों में से आरम्भ के दो युग्मों का आक्रमण तो कादाचित्क है। शेष दोनों अवरयुग्म प्रायः उत्पात मचाते ही रहते हैं। पिशाच का मांस भाग पर आक्रमण होता है। यही बच्चों का 'सूखा' (सूखने की बीमारी) कहलाता है। राक्षस का आक्रमण रुधिर पर होता है रुधिर पीला किंवा श्वेत होजाता है। 'यक्ष' का आक्रमण इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियाँ अपना व्यापार ग्रस्त व्यस्त करने लगती हैं। 'गन्धर्व' का आक्रमण मन पर होता है मन प्रलाप का अनुगामी बन जाता है। 'पितर' का आक्रमण शुक्रस्थित महानात्मा पर होता है सन्तान का निरोध हो जाता है जिसकी कि अनेक चिकित्साओं में से पितृकर्म भी एक अनिवार्य्य चिकित्सा मानी गई है। 'ऐन्द्र' का आक्रमण बुद्धि पर होता है बुद्धि का व्यवसायात्मक स्वाभिमान विच्छिन्न होजाता है। 'प्राजापत्य' का आक्रमण योगमाया (प्रकृति) पर होता है प्रकृति (स्वभाव) बिगड़ जाती है स्वभाव विकृत होजाता है। 'ब्राह्म' का आक्रमण आकृति पर होता है। मनुष्य अपना आपा ही खो बैठता है। इन दूषित आक्रमणों के साथ साथ अनुकूल अनुकूल-सामग्री के उपलब्ध होजाने पर कभी कभी इनका आक्रमण काम्य की भी वस्तु बन जाता है। स्वम वेद में एक ऐसे ही आक्रमण का उल्लेख मिलता है। उल्लेख यों है—

७—कबन्ध आथर्वण के द्वारा पतञ्चल काप्य से प्रश्न एवं तन्मूलक देवसर्ग का संस्मरण—

अरुणपुत्र सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक उद्दालक कहते हैं कि याज्ञवल्क्य! हम (उद्दालक) काप्यमहर्षि के यहाँ यज्ञशास्त्र के अध्ययन के लिए मद्रदेश में रहते थे। काप्य की स्त्री में गन्धर्व का आगमन होता रहता था। एक बार मेरे सामने ही (परस्परप्रश्नोत्तरकाल) गन्धर्वदेवता ऋषिपत्नी में प्रकट हुआ। मैंने उससे प्रश्न किया कि तुम कौन हो ?। उत्तर मिला—मैं अथर्वा नाम के गन्धर्ववंश में उत्पन्न होने वाला आथर्वण हूँ, और मेरा नाम कबन्ध है। आश्चर्य्य! महा आश्चर्य्य!! अपने परिचय देने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही पतञ्चल काप्य से एवं उस स्थान में रहने वाले याज्ञिकों से कबन्ध प्रश्न कर बैठा कि— 'यदि आप जानते हैं तो उस सूत्र (सूत्रात्मा) का स्वरूप बतलाइए, जिसमें यह लोक, परलोक एवं सम्पूर्ण भूतसर्ग बद्ध हैं ?। पतञ्चल काप्य कहने लगे भगवन्! मैं यह नहीं जानता कि, वह सूत्रात्मा कौन है। कबन्ध ने दूसरा प्रश्न यह किया कि "उस अन्तर्य्यामी का क्या स्वरूप है जो इस लोक परलोक एवं सम्पूर्ण भूतसर्ग को (उनके हृदय में बैठा हुआ) नियन्त्रण में रखता है ?। पतञ्चल काप्य कबन्ध के इस दूसरे प्रश्न का भी उत्तर न दे सके। आगे जाकर कबन्ध कहने लगा कि, हे काप्य! जो व्यक्ति उस सूत्रात्मा और अन्तर्य्यामी को जानेगा वही ब्रह्मवित्, लोकवित्, देववित् वेदवित् यज्ञवित् भूतवित् आत्मवित् एवं सर्ववित् कहलाएगा। और तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इन दोनों का स्वरूप मैं जानता हूँ। (शत १४।५।७।१।)।

७१—रक्षोपिशाचसर्ग का स्वरूप-समन्वय—

उक्त आख्यान से यह भी सिद्ध होता है कि इन देवयोनियों में जन्म-मृत्यु विवाह सन्तति आदि मानुष-व्यवहार यथावत् प्रतिष्ठित हैं। इनमें प्रधानरूप से प्रकृति का रसभाग प्रतिष्ठित है। प्रकृति के ही अन्तर्य्यामी सूत्रात्मा ये दो विवर्त हैं जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। अतएव यह प्रजा प्रकृति के

अधिक सन्निकट रहती हुई प्रकृति के उक्त दोनों विवर्त्तों को जानने में विशेष समय है। जब प्रकृति में रजोभाव की प्रधानता रहती है सत्त्व और तम गौण बनते हुए रज के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं तो उस दशा में रजःप्रधाना प्रकृति मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि–कीट इन पाँच रजोविशालसर्गों की जननी बनती है। यही मध्यसर्ग है। क्योंकि गुणत्रयी में रजोगुण मध्य-स्थानीय है। यही "तिर्य्यक्स्रग" नाम से भी प्रसिद्ध है। इन पाँचों की चेतना का मूल आधार वायुतत्त्व ही है।

७२—तमोविशालसर्ग का स्वरूप-समन्वय—

तमोभावप्रधाना सत्त्वरजोगर्भिता प्रकृति तमोविशालसर्गों की जननी बनती है। धातुवर्ग ओषधि-वनस्पति से आरम्भ कर स्तम्ब पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च तमोगुण-प्रधान है। यही प्रकृति का तीसरा मौलिक स्वरूप है। क्योंकि गुणत्रयी में तमोगुण मूल में प्रतिष्ठित है अतएव इसे मूलसर्ग कहा जाता है।

७३—'चतुर्दशविधो भूतसर्गः' और ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त सर्गों का सस्मरण—

ऊर्ध्वसर्ग सत्त्वानुबन्धी किंवा सत्त्वप्रधान बनता हुआ सत्त्वसम्बन्धी ज्ञानमूर्ति अव्यय का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव इस सर्ग को हम ज्ञानयोगानुगामी कह सकते हैं। मध्यसर्ग रजोऽनुबन्धी किंवा रजःप्रधान बनता हुआ रज सम्बन्धी क्रियामूर्ति महामायात्मक अक्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ क्रियाप्रधान है। अतएव इस मध्यसर्ग को (मध्यस्थता के कारण ज्ञानार्थरूपा उभय सम्पत्ति से युक्त रहने के कारण) भक्तियोगानुगामी कह सकते हैं। मूलसर्ग तमोऽनुबन्धी किंवा तम-प्रधान बनता हुआ तमः-सम्बन्धी अर्थमूर्ति योगमायात्मक क्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ कर्मप्रधान है। अतएव इसे हम कर्मयोगानुगामी मान सकते हैं। ब्रह्मा से आरम्भ कर स्तम्ब * पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला यह प्राकृतिक सर्ग सम्पूर्ण १४ भागों में विभक्त है। यही सांख्यशास्त्र का—'चतुर्दशविधो भूतसर्ग' है। इन चौदहों में भी अवान्तर तारतम्य है।

७४—सत्त्वविशालसर्गानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगत्रयी—

सत्त्वविशाल अष्टविध देवसर्ग इतर दोनों सर्गों की अपेक्षा जहाँ ज्ञानप्रधान बनता हुआ ज्ञानयोग का अनुगामी है वहाँ अपने पारस्परिक भेद के कारण इनमें भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है। ब्रह्म प्रजापति नाम के प्रथम युग्म में सत्त्व की प्रधानता है इन्द्र एवं पितर में रज की प्रधानता है एवं गन्धर्वादि चारों में तम की प्रधानता है। सत्त्वप्रधान प्रथम युग्म ज्ञानयोगानुगामी है रजःप्रधान द्वितीय-युग्म भक्तियोगानुगामी है एवं तमःप्रधान चतुर्थयुग्म कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व–रज–तम के क्रमिक सम्बन्ध से इन सत्त्वविशाल एवं ज्ञानयोगानुगामी देवसर्गों में भी अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं।

---

* पानी में काई के रूप से प्रतिष्ठित शैवाल का मौलिक रूप ही 'स्तम्ब" है।

७५—रजोविशालसर्गानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म योगत्रयी—

मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट इन रजोविशाल, अतएव भक्तियोगानुगामी तिर्यक्सर्गों में भी यही क्रम है। सत्त्वप्रधान मनुष्य ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान-पशुपक्षी-युग्म भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान कृमि-कीट-युग्म कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व-रज-तम के क्रमिक विकास से इस रजोविशाल अतएव भक्ति-योगानुगामी तिर्य्यक्सर्गों में भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है।

७६—तमोविशालसर्गानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी—

धातु औषधि वनस्पति-स्तम्भ-लक्षण तमोविशाल अतएव कर्म्मयोगानुगामी मूलसर्गों में भी क्रमसाम्य है। सत्त्वप्रधान ओषधि-वनस्पतिवर्ग ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान स्तम्भ भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान धातुवर्ग कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व-रज-तम के तारतम्य से तमोविशाल अतएव कर्म्मयोगानुगामी इस मूलसर्ग में भी तीनों योगों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट है।

यद्यपि सांख्य ने १४ भूतसर्गों का अष्टविकल्प दैवसर्ग, पञ्चधा विभक्त [पशु-पक्षी-सर्प-कीट-स्थावर] तैर्यग्योनसर्ग, एकविध मानुषसर्ग इस क्रम से विभाजन किया है। परन्तु विज्ञानदृष्टि की प्रधानता देते हुए हमने गुणविवेक की दृष्टि से देवताओं को एक वर्ग में मानते हुए इनका स्वतन्त्र विभाग माना है। चेतन प्राणियों की साम्यदृष्टि से मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि कीट इन पाँचों का स्वतन्त्र विभाग माना है। सर्प के स्थान में सर्वविध कृमियों के संग्रह के लिए 'कृमि' शब्द ही अधिक उपयुक्त समझा है। ओषध्यादि स्थावर विभाग को स्वतन्त्र माना है। यदि सांख्यमतानुसार ही इस सर्ग का विचार किया जाता है तो निम्नलिखित तालिका हमारे सामने आती है—

चतुर्दशविधो भूतसर्गः सांख्याभिमतः—

देवसर्गः — { ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पित्र्यः
गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाचः } — सत्त्वविशालसर्गः — ऊर्ध्वसर्गः—८

—•—

मनुष्यसर्गः — { ब्रा क्ष वै शूद्रभेदभिन्नो मनुष्यः } — रजोविशालसर्गः — मध्यसर्गः—१

—•—

तिर्यक्सर्गः — { स्थावराः, सरीसृपाः, कीटाः, पक्षिणः, पशवः } — तमोविशालसर्गः — मूलसर्गः—५
चतुर्दशविधो भूतसर्गः

—•—

७७–पृथ्व्यनुगत 'भूत' तत्त्व, तदनुगता भौतिकी प्रजा, एवं त्रैलोक्यलोकात्मक-पार्थिव-भूत सर्ग की चतुर्दशविधता का समन्वय—

जिस विज्ञानदृष्टि के आधार पर सांख्याभिमत भूतसर्ग का उक्त स्वरूप-संशोधन हुआ है उस विज्ञानदृष्टि से इस भूतसर्ग को हम समष्टि–व्यष्टि–संघ–असंघ इन तीन भागों में विभक्त करेंगे। ये ही तीनों क्रमशः चेतनसर्ग, अर्द्धचेतनसर्ग, अचेतनसर्ग इन नामों से एवं अष्टात्मक, नवात्मक, एकात्मक, नामों से भी व्यवहृत किए जाते हैं। अष्टात्मक चेतनसर्ग 'जीव' नामक जीवसर्ग है। नवात्मक अर्द्धचेतनसर्ग 'भूत' नामक जीवसर्ग है। एवं एकात्मक अचेतनसर्ग "वायु" नामक जीवसर्ग है। विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार तीनों ही सर्ग त्रैलोक्यत्रिलोकी से सम्बन्ध रखते हुए पार्थिव हैं। पृथिवी क्योंकि भूतप्रधाना है अतएव चतुर्दशविध इस पार्थिवसर्ग को हम अवश्य ही 'भूतसर्ग' (भूतसृष्टि–पार्थिवप्रजा) कह सकते हैं।

७८–दुरत्यया दुर्विज्ञेया सर्गपरम्परा एवं उसके 'भाव–गुण–विकार' नामक तीन विवर्त्तों का संस्मरण—

जब प्रकृति ही दुरत्यया होती हुई दुर्विज्ञेया है तो प्रकृति से उत्पन्न सर्ग कैसे सुविज्ञेय रह सकते हैं। इन सर्गों की दुर्विज्ञेयता भाव गुण–विकार भेद से तीन भागों में विभक्त है। भावसृष्टि अव्ययसृष्टि है इसे ही मानसीसृष्टि भी कहा जाता है। गुणसृष्टि अक्षरसृष्टि है, इसे ही प्राकृतिकसृष्टि भी कहा जाता है। विकारसृष्टि क्षरसृष्टि है, यही मैथुनीसृष्टि, भाविकीसृष्टि वैकारिकीसृष्टि आधिदैविकसृष्टि पार्थिवीसृष्टि, भूतसृष्टि भौतिकसृष्टि रूपसृष्टि, त्रिदेवसृष्टि त्रिगुणसृष्टि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। इस त्रिगुणाभिधा क्षरसृष्टि का एकमात्र पार्थिव जाताजाति से ही सम्बन्ध है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने कहा है—

> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥
>
> —गीता

७९–त्रिगुणाभिधा प्रकृति की विश्वव्यापकता, एवं उसके भाव–गुण–विकार–नामक तीन महिमाविवर्त्त—

अव्ययानुगता मानसीसृष्टि की विकासभूमि अव्यक्त–स्वयम्भू एवं महत् परमेष्ठी है। यही [सौम्यभाव] और चार मनु ही इस भावाभिधा सृष्टि के प्रधान विवर्त्त हैं जैसाकि–'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः' [अव्यक्त] एवं पृथग्विधाः इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। अक्षरानुगता गुणसृष्टि की विकासभूमि विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य है। त्रिगुणभाव का [अपने यथापूर्व भाव रूप से] स्वरूप समर्पक यही है क्योंकि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तन्मात्रारूप गुणों का उद्गम यही स्थान है। क्षरानुगता विकारसृष्टि की विकासभूमि वायुगर्भिता पृथिवी है। चार प्रकार का ही संयोग है। अतएव 'प्रकृति' शब्द न केवल पृथ्वीन है। प्रकृति के ही अव्यक्तस्थान अक्षरभाग से गुणसृष्टि होती है प्रकृति के ही सर्वप्रधान क्षरभाग से गुणसृष्टि होती है एवं प्रकृति के ही सर्वप्रधान क्षरभाग से

त्रिधारसृष्टि होती है जैसाकि-'विकारांश्च गुणांश्चैवान विद्धि प्रकृति-सम्भवान' इत्यादि गीता-वचन से स्पष्ट है।

८०-सत्त्व-रज-स्तमो-गुणात्मिका प्रकृति के विश्वानुबन्धी 'परम-मध्यम-अवम-' नामक तीन धामों का संस्मरण—

निष्कर्ष यही हुआ कि, पञ्चपर्वात्मिका विश्वसृष्टि को हम सत्त्वानुगता अव्ययसृष्टि रजोऽनुगता अक्षरसृष्टि एवं तमोऽनुगता क्षरसृष्टि के भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यही विश्वसृष्टि का मौलिक विभाग है। स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टि परमधाम है, चन्द्रमा-पृथिवी की समष्टि अवमधाम है, एवं सूर्य मध्यमधाम है। 'यस्मादर्वाक् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य से नीचे नीचे का विवर्त मर्त्यप्रधान है। ऊपर का भाग अमृतप्रधान है। 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इस श्रुति के अनुसार मध्यस्थ सूर्य दोनों का संयोजक बनता हुआ अमृतमृत्युमय है। अमृत प्रधान परमधाम + में अमृतप्रधान सत्त्वमूर्ति अव्यय की प्रधानता है। मर्त्यप्रधान अवमधाम में मर्त्य-प्रधान तमोमूर्ति क्षर की प्रधानता है एवं उभयप्रधान मध्यमधाम में उभयप्रधान रजोमूर्ति अक्षर की प्रधानता है।

८१—त्रिधामानुगत त्रिविध सर्ग, 'पुरुष-महामाया-योगमाया-निबन्धना-सर्गत्रयी का विस्तार, एवं तालिका के द्वारा तत्समन्वय प्रयास—

परमधाम ज्ञानयोगानुयायी है मध्यमधाम भक्तियोगानुयायी है एवं अवमधाम कर्मयोगानुयायी है। तीनों क्रमशः भाव-गुण-विकार-सृष्टियों के अधिष्ठाता बने हुए हैं। विज्ञान-दृष्टि से भावसर्ग सत्त्वविशाल है गुणसर्ग रजोविशाल है एवं विकारसर्ग तमोविशाल है। सत्त्वविशालसर्ग का स्वयं पुरुष से सम्बन्ध है रजोविशालसर्ग का महामाया [अक्षर] से सम्बन्ध है एवं तमोविशालसर्ग का योगमाया [क्षर] से सम्बन्ध है। तारतम्य से त्रिगुणात्मिका बनती हुई भी क्षररूपा योगमाया तमः-प्रधाना ही मानी जायगी। कारण भगवान् ने योगमाया को आवरण ✱ करने वाली बतलाया है एवं आवरण करना एकमात्र तमोगुण का ही स्वाभाविक धर्म है। आपके साम्याभिमत सत्त्व-रज-स्तमो-विशालसर्गों का विज्ञान-सिद्ध क्षरप्रधान योगमायानुबन्धी केवल तमोविशालसर्ग में ही अन्तर्भाव है जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।

+ स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम (उपनिषत्)
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम। (गीता)

✱ "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृत" (गीता)

१ चतुर्दशविधो भूतसर्गः—(संशोधित)

१—ब्रह्म	(१)	(१)	ऊर्ध्वे—सत्त्वविशालः	ब्रह्मादि —ज्ञानयोगानुगामी
२—प्रजापतिः	(२	( )		
३—इन्द्रः	(१)	(१)		
४—पितर	(२)	(४)		
५—गन्धर्व	(१)	(१)		
६—यक्षः	(१)	(२)		
७—राक्षस	(१)	(१)		
८—पिशाचः	(२)	(४)		
९—मनुष्य	(१)	(१)	मध्ये—रजोविशालः	—भक्तियोगानुगामी
१०—पशु	(२)	(१)		
११—पक्षी	(३)	(२)		
१२—कीट	(१)	(१)		
१३—कृमि	(२)	(२)		
१४—स्तम्बवराः			तमोविशालश्च मूलतः—सर्गः	स्तम्बपर्यन्तः —कर्मयोगानुगामी

२–सत्त्वविशालो दैवसर्ग — (ज्ञानयोगानुगत —

अ ष्ट धा

- १—ब्रह्मा
- २—प्रजापतिः
  } सत्त्वानुगतौ–ज्ञाननिष्ठौ—ज्ञानयोगानुगतौ
- १—इन्द्रः
- २—पितरः
  } रजोऽनुगतौ भक्तौ—भक्तियोगानुगतौ
- १—गन्धर्व
- २—यक्ष
- १—राक्षसः
- १—पिशाच
  } तमोऽनुगता–कर्म्म ॥—कर्म्मयोगानुगता

ज्ञानयोगानुगता–देवा–सौम्याः

सत्त्वविशालाः

३–रजोविशालो तिर्य्यक्-सर्ग —(भक्तियोगानुगतः)—

- १—मनुष्याः } सत्त्वानुगता –ज्ञाननिष्ठाः—ज्ञानयोगानुगताः
- १—पशव
- २—पक्षिण
  } रजोऽनुगता–भक्ता—भक्तियोगानुगताः
- १—क्रमिक
- २—कीट
  } तमोऽनुगताः कर्म्मणा—कर्म्मयोगानुगता

भक्तियोगानुगता प्राणिनः–मानुष्या

रजोविशालाः

४–तमोविशाल स्थावरसर्ग—(कर्म्मयोगानुगतः—

- १—ओषधयः
- —वनस्पतय
  } सत्त्वानुगताः–ज्ञानयोगानुगता
- १—स्वशरीरावाशयः } रजोऽनुगता —भक्तियोगानुगताः
- १—धातवः, अन्ये च पाषाणादयः } तमोऽनुगता–कर्म्मयोगानुगताः

कर्म्मयोगानुगता–अजीवा–

भूतचेष्टाः तमोविशालाः

७७-सूर्य्यानुगत 'भूत' वर्ग, तदनुगता भौतिकी प्रजा, एवं सौम्यलोकात्मक-पार्थिव-भूतसर्ग की चतुर्दशविधता का समन्वय—

जिस विज्ञानदृष्टि के आधार पर लोकाभिमत भूतसर्ग का उक्त स्वरूप-संशोधन हुआ है, उस विज्ञानदृष्टि से इन भूतसर्गों को हम ससंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-असंज्ञ इन तीन भागों में विभक्त करेंगे। ये ही तीनों क्रमशः चलनसर्ग, अर्द्धचलनसर्ग, अचलनसर्ग इन नामों से एवं ज्ञानात्मक, क्रियात्मक, एकात्मक, नामों से भी व्यवहृत किए जाते हैं। ज्ञानात्मक चेतनसर्ग "जीव" नामक जीवसर्ग है। क्रियात्मक अर्द्धचेतनसर्ग 'वृक्ष' नामक जीवसर्ग है। एवं एकात्मक अचेतनसर्ग "धातु" नामक जीवसर्ग है। विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार तीनों ही सर्ग त्रैलोक्यत्रिलोकी से सम्बन्ध रखते हुए पार्थिव हैं। पृथिवी क्योंकि भूतरूपमयी है अतएव अवश्य पार्थिव इन पार्थिवसर्गों को हम अवश्य ही 'भूतसर्ग' (भूतसृष्टि-पार्थिवप्रजा) कह सकते हैं।

७८-दुरन्वया दुर्विज्ञेया सर्गपरम्परा, एवं उसके 'भाव-गुण-विकार' नामक तीन विवर्तों का संस्मरण—

जब प्रकृति ही दुरन्वया होती हुई दुर्विज्ञेया है तो प्रकृति से उत्पन्न सर्ग कैसे सुविज्ञेय रह सकते हैं। इन सर्गों को दुर्विज्ञेय भाव-गुण-विकार भेद से तीन भागों में विभक्त है। भावसृष्टि अव्ययसृष्टि है इसे ही मानसीसृष्टि भी कहा जाता है। गुणसृष्टि अक्षरसृष्टि है, इसे ही प्राकृतिकसृष्टि भी कहा जाता है। विकारसृष्टि क्षरसृष्टि है, यही मैथुनीसृष्टि भौतिकीसृष्टि, वैकारिकीसृष्टि, आर्त्तिकसृष्टि पार्थिवीसृष्टि भूतसृष्टि भाविकसृष्टि रूपसृष्टि त्रिवेदसृष्टि त्रिगुणसृष्टि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। इस त्रिगुणात्मिका क्षरसृष्टि का एकमात्र पार्थिव भावापृथिवी से ही सम्बन्ध है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने कहा है—

> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥
>
> —गीता

७९-त्रिगुणात्मिका प्रकृति की विश्वव्यापकता, एवं उसके भाव-गुण-विकार-नामक तीन महिमाविवर्त—

अव्ययानुगता मानसीसृष्टि की विकासभूमि अव्यक्त-स्वयम्भू एवं महान् परमेष्ठी है। यद्यपि [मौलिकप्राण] सात चार मनु ही इस मानसिका सृष्टि के प्रधान विवर्त्त हैं जैसाकि—'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। भवन्ति भावा भूतानां मत्त [अव्ययात्] एव पृथग्विधाः' इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। अक्षरानुगता गुणसृष्टि की विकासभूमि विश्वके प्रभव सूर्य्य है। त्रिगुणभाव का [अपना स्वरूपपूर्ण भाव यहां से] स्वरूप समर्थक नहीं है जैसाकि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तन्मात्रारूप गुणों का उपक्रम यहीं स्थान है। क्षरानुगता विकारसृष्टि की विकासभूमि अन्नधर्मिता पृथिवी है। क्षर प्रकार का ही स वर्ग है। अतएव 'प्रकृति' शब्द से दोनों गृहीत हैं। प्रकृति के ही अभूतप्रधान अक्षरभाग से गुणसृष्टि होती है प्रकृति के ही सर्वप्रधान क्षरभाग से गुणसृष्टि होती है एवं प्रकृति के ही सर्वप्रधान क्षरभाग से

विकारसृष्टि होती है जैसाकि–'विकारांश्च गुणांश्चैवान् विद्धि प्रकृति–सम्भवान' इत्यादि गीता–वचन से स्पष्ट है।

८०–सत्त्व–रज–स्तमो–गुणात्मिका प्रकृति के विश्वानुबन्धी 'परम–मध्यम–अवम–' नामक तीन धामों का संस्मरण—

निष्कर्ष यही हुआ कि, पञ्चपर्वात्मिका विश्वसृष्टि को हम सत्त्वानुगता अव्ययसृष्टि रजोऽनुगता अक्षरसृष्टि एवं तमोऽनुगता क्षरसृष्टि के भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यही विश्वसृष्टि का मौलिक विभाग है। स्वयम्भू–परमेष्ठी की समष्टि परमधाम है चन्द्रमा–पृथिवी की समष्टि अवमधाम है एवं सूर्य्य मध्यमधाम है। 'तस्मात्तत् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य से नीचे नीचे का विवर्त्त मर्त्यप्रधान है। ऊपर का भाग अमृतप्रधान है। निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इस यजुःश्रुति के अनुसार मध्यस्थ सूर्य्य दोनों का संयोजक बनता हुआ अमृतमृत्युमय है। अमृतप्रधान परमधाम* में अमृतप्रधान सत्त्वमूर्त्ति अव्यय की प्रधानता है। मर्त्यप्रधान अवमधाम में मर्त्य–प्रधान तमोमूर्त्ति क्षर की प्रधानता है, एवं उभयप्रधान मध्यमधाम में उभयप्रधान रजोमूर्त्ति अक्षर की प्रधानता है।

८१—त्रिधामानुगत त्रिविध सर्ग, 'पुरुष–महामाया–योगमाया निबन्धना–सर्गत्रयी का विस्तार, एवं तालिका के द्वारा तत्समन्वय प्रयास—

परमधाम ज्ञानयोगानुयायी है मध्यमधाम भक्तियोगानुयायी है एवं अवमधाम कर्म्मयोगानुयायी है। तीनों क्रमशः भाव–गुण–विकार–सृष्टियों के अधिष्ठाता बने हुए हैं। विज्ञान–दृष्टि से भावसर्ग सत्त्ववि–शाल है गुणसर्ग रजोविशाल है एवं विकारसर्ग तमोविशाल है। सत्त्वविशालसर्ग का सम्बन्ध पुरुष से सम्बन्ध है रजोविशालसर्ग का महामाया [अक्षर] से सम्बन्ध है एवं तमोविशालसर्ग का योगमाया [क्षर] से सम्बन्ध है। तारतम्य से त्रिगुणात्मिका बनती हुई भी क्षररूपा योगमाया तमः–प्रधाना ही मानी जायगी। कारण भगवान् ने योगमाया को आवरण* करने वाली बतलाया है एवं आवरण करना एकमात्र तमोगुण का ही स्वाभाविक धर्म्म है। आपके अव्ययाभिमत सत्त्व–रज–स्तमो–विशालसर्गों का विज्ञान–सिद्ध क्षरप्रधान योगमायानुबन्धी केवल तमोविशालसर्ग में ही अन्तर्भाव है जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।

— स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम (उपनिषत्)
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम। (गीता)

* "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृत" (गीता)

विज्ञानाभिमत त्रिविध मर्ग—

(१) १–स्वयम्भू
१– } परमधाम (ब्रह्मविद्यानिमित्तभूमि)—सत्त्वानुगतममृतम्
(२) २–परमेष्ठी

२–(३) १–सूर्य } मध्यमधाम (ब्रह्मविद्याभूमि)–रजोऽनुगतौ अमृतमृत्यू

(४) १–चन्द्रमाः
३ } अवमधाम (सर्वविकारभूमिः)—तमोऽनुगतं मर्त्यम्
(५) २–पृथिवी

} पञ्चपर्वा—विश्वम्

———

१–सत्त्वानुगतेनात्मना—भावसृष्टिः (ऋषयः–मानवाः–पितरः–असुराः)
२–रजोऽनुगतेनाक्षरेण—गुणसृष्टिः (पञ्चतन्मात्राः)
३–तमोऽनुगतेन क्षरेण—विकारसृष्टिः (चतुर्दशविधो भूतसर्गः)
} सर्गसंगमसृष्टि

———

१–सत्त्वविशाली—ज्ञानानुगतो—भावसर्गः—ज्ञानयोगानुगतः (मानससृष्टिः)

२–रजोविशाली—कर्मानुगतो—गुणसर्गः—भक्तियोगानुगतः (प्राणसृष्टिः)

३–तमोविशालीऽर्थानुगतो—विकारसर्गः—कर्मयोगानुगतः (मैथुनीसृष्टिः)

———

१–अव्यक्तात्मसृष्टिः (स्वायम्भुवी—पारमेष्ठिनी—गुणातुगता—निर्गुणा सृष्टिः)

२–व्यक्ताव्यक्तसृष्टिः (सौरी) —महामायानुगता–गुणात्मिका सृष्टिः

३ व्यक्तसृष्टिः (चान्द्रमसी पार्थिवी) —योगमायानुगता त्रिगुणात्मिका सृष्टिः

———

८२ – त्रिविध-सर्गानुगता पार्थिवी–त्रिलोकी, एवं तदनुगत चौदह प्रकार का भूत-सर्ग –

वैज्ञानिकी सृष्टिधारा की मीमांसा को छोड़िए। प्रस्तुत है सांख्याभिमत चतुर्दशविध भूतसर्ग का वैज्ञानिक विचार। यही अत्र मीमांस्य है। यह पूर्णरूपेण लक्ष्य में रखना चाहिए कि, इस सर्ग का केवल चन्द्रगर्भिता पृथिवी से ही सम्बन्ध है। पृथिवी के चित्य-चितेनिधेय भेद से दो विवर्त माने गए हैं। संक्षेप में इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि पिण्डपृथिवी के केन्द्र से निकल कर २१ वें स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त प्राणाग्निमय मण्डल ही चितेनिधेया पृथिवी है। इसके त्रिवृत (९) पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) ये तीन विभाग हैं। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इस पृथिवी का पृथिवीलोक है पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इसका अन्तरिक्षलोक है एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इसका द्युलोक है। इसप्रकार केवल स्तोमभेद से पृथिवी में ही तीनों लोकों का भोग सिद्ध होजाता है। विज्ञानभाषा में महापृथिवीरूपा यही त्रिलोकी 'स्तोम्यात्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही 'अदितिपृथिवी' भी कहा जाता है। यही ब्राह्मणग्रन्थों की 'द्यावापृथिवी' है। पृथिवी माता है द्यु पिता है। पृथिवी योनि है द्यु रेतोधा है, पार्थिव-द्यु रस रेत है। तीनों के समन्वय से ही चतुर्दशविध भूतसर्गों की अभिव्यक्ति हुई है।

८३—त्रैलोक्यदेवताओं का तानूनप्त्र, तन्निबन्धन सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ विराट्-नामक प्रज्ञाख्य–देवता, एवं इनकी ज्ञान क्रिया-अर्थ–रूपता का समन्वय—

त्रिवृत्पृथिवी अग्निप्रधान है। यह पार्थिव प्राणाग्नि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है। पञ्चदश अन्तरिक्ष वायुप्रधान है। यह क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है। एकविंश द्युलोक इन्द्रप्रधान है। यह ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है। इन तीनों त्रैलोक्य-देवताओं का परस्पर तानूनप्त्र [संगमन] होता है। फलतः तीनों तीनों शक्तियों से युक्त होजाते हैं केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य रहता है। ज्ञानशक्तियुत इन्द्र क्रियाशक्तियुत वायु इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला अतएव इन्द्र-वायु-अग्नि–मूर्ति-अर्थशक्तियुत अग्नि 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध है। यही 'भूतात्मा' "विष्णु" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। अर्थशक्तियुत अग्नि, ज्ञानशक्तियुत इन्द्र इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला अतएव अग्नि इन्द्र-वायुमूर्ति क्रियाशक्तियुत वायु 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। यही 'हंसात्मा' *— 'ब्रह्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध है। अर्थशक्तियुत अग्नि क्रियाशक्तियुत वायु, इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला अतएव अग्नि-वायु इन्द्रमूर्ति ज्ञान शक्तियुत इन्द्र 'सर्वज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। यही "प्रज्ञात्मा" "शिव" इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। तानूनप्त्र के कारण यद्यपि तीनों ही तीनों शक्तियों से युक्त हैं परन्तु क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्र की प्रधानता से तीनों क्रमशः अर्थ क्रिया-ज्ञान-प्रधान ही बन रहे हैं।

---

* गत्यागत्यानुगामी प्रेत हंस भाव को इस हंसात्मा से सर्वथा पृथक् समझना चाहिए।

८४—सर्वज्ञानुगत सत्त्वसर्ग, हिरण्यगर्भानुगत अन्तःसंज्ञसर्ग, विराडनुगत असंज्ञसर्ग-भेद से त्रिविध-सर्गों का समन्वय, एवं तात्त्विक-माध्यम से सर्गत्रयी का स्वरूप-व्यवच्छेद—

अर्थ का वाक् से सम्बन्ध है अव्यय की वागनुगता वाक् से सम्बन्ध है एवं यही तमोभाव का अधिष्ठाता है। अतएव तमःप्रधान अर्थमूर्ति विराट् विष्णु को हम तमोऽनुबन्धी कर्मयोग का प्रवर्तक कह सकते हैं। क्रिया का प्राण से सम्बन्ध है अव्यय के प्राणानुगत प्राण से सम्बन्ध है एवं यही रजोभाव का अधिष्ठाता है। अतएव रजःप्रधान क्रियामूर्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को हम रजोऽनुबन्धी भक्तियोग का प्रवर्तक मान सकते हैं। ज्ञान का अव्यय से सम्बन्ध है मनोऽनुगत मन से सम्बन्ध है एवं यही सत्त्वभाव का अधिष्ठाता है। अतएव सत्त्वप्रधान ज्ञानमूर्ति सर्वज्ञ शिव को हम सत्त्वानुबन्धी ज्ञानयोग का प्रवर्तक कह सकते हैं 'ज्ञानमिच्छे-न्महेश्वरात्'। तीनों लोकों के अधिष्ठाता ये ही तीनों देवता संसार अन्तःसंज्ञ-असंज्ञ इन तीन मूलरूपों के प्रवर्तक बनते हैं जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

[illegible] [illegible]
- १—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न—प्राणमयवलम्—अग्निमयम्—(पृथिवी)
- २—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न—प्राणमयवलम्—वायुमयम्—(अन्तरिक्षम्)
- ३—एकविंशस्तोमावच्छिन्न—प्राणमयवलम्—इन्द्रमयम्—(द्यौः)

[illegible]

—•—

- १—अग्निः (अर्थमयः)—पार्थिव—वाङ्मयः—वागनुगतः।
- २—वायु (क्रियामयः)—आन्तरिक्ष्य प्राणमयः—प्राणानुगतः।
- ३—इन्द्र (ज्ञानमय)—दिव्यः—मनोमयः—अव्ययानुगत।

विश्वेदेवा

—•—

- १—इन्द्र (ज्ञानम्)—मन—अव्यय—सत्त्वम्
- २—वायु (क्रिया)—प्राण—अक्षर—रज
- ३ अग्नि (अर्थ)—वाक्—क्षर—तमः

अग्निवायुगर्भित इन्द्र इन्द्रात्मा महान् शिव

—•—

१–वायुः (क्रिया)—प्राण—अक्षर—रज
२ २–इन्द्रः (ज्ञानम्)—मन—अव्यय—सत्त्वम्
३–अग्नि (अर्थ)—वाक्—क्षर—तम

अग्नीन्द्रगर्भितः 'वायु' ईशात्मा
हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा

—•—

१–अग्निः (अर्थः) वाक्—क्षर—तम
३ २–वायुः (क्रिया) प्राणः—अक्षर—रज
३–इन्द्र (ज्ञानम् मन—अव्यय—सत्त्वम्

इन्द्रवायुगर्भितः 'अग्नि' सूत्रात्मा
विराट् विष्णुः

—•—

१–सर्वज्ञ——शिव—दिव्य——दिव्यसर्गाधिष्ठाता ——सत्त्वमूर्ति
२–हिरण्यगर्भः-ब्रह्मा—आन्तरिक्ष—आन्तरिक्षसर्गाधिष्ठाता–रजोमूर्ति
३–विराट्——विष्णु-पार्थिव——पार्थिवसर्गाधिष्ठाता——तमोमूर्ति

—•—

१–सत्त्वमूर्ति शिव—सत्त्वविशालसर्गप्रवर्त्तकः—ज्ञानयोगाधिष्ठाता——सर्वज्ञमूलसर्गाधारः।
२–रजोमूर्तिर्ब्रह्मा——रजोविशालसर्गप्रवर्त्तकः—भक्तियोगाधिष्ठाता——अन्तःसंज्ञमूलसर्गाधारः।
३–तमोमूर्तिर्विष्णु—तमोविशालसर्गप्रवर्त्तकः—कर्मयोगाधिष्ठाता—असंज्ञमूलसर्गाधारः।

—•—

८५—इन्द्रात्मसत्त्वघन सर्वज्ञ शिव से अनुप्राणित ज्ञानात्मक-सत्त्वविशाल ससंज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय (सत्त्वविशालसर्गस्यात्मक-दिव्य-(१)—

चतुर्दशविध भूतसर्गों की मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन कराया गया। अब क्रमशः-तीनों के अवान्तर विभागों का विवेचन करते हुए तीनों के स्वरूपों की मीमांसा प्रस्तुत की जाती है। क्रमप्राप्त पहिले सत्त्वमूर्ति, सत्त्व विशालसर्गों के प्रवर्तक सर्वज्ञ इन्द्रात्मा शिव से सम्बन्ध रखने वाले ससंज्ञसर्ग का ही विचार कीजिए।

'संसग्र' उस सर्ग का नाम है जिस में ज्ञानभाग (चित्त) की अभिव्यक्ति-प्राधान्य के साथ साथ क्रिया एवं अर्थशक्ति का भी विकास रहे । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि जिस जीव में ज्ञानप्रधान अव्यय क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ एवं अर्थप्रधान विराट् इन तीनों आधिदैविक आत्माओं का मिला एक ही आत्मा के इन तीनों विवर्तों का समावेश रहेगा समावेश नहीं (क्योंकि समावेश तो विश्वमात्र के प्रत्येक रूप में है) अपितु अभिव्यक्ति रहेगी, वही 'संसग्रजीव' कहलाएगा । एवं उसे ही हम "चेतन" कहेंगे ।

यह चेतनसर्ग चान्द्र सोम तथा दिव्य इन्द्र के भेद से दो भागों में विभक्त है । पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने मनुष्य पृथिवी को भूतभाग की प्रवर्तिका बतलाया था । जिन चेतनजीवों में चान्द्रसोम की प्रधानता रहती है वहाँ 'पशुता' कहा जाता है और वे पूर्वकथनानुसार ब्रह्म-प्रजापति आदि भेद से आठ भागों में विभक्त हैं । जिनमें चान्द्रभाग गौण एवं इन्द्रप्राण मुख्य रहता है वही दूसरा चेतनवर्ग है । इसके मनुष्य पशु-पक्षी-कीट-कृमि ये पाँच विभाग हैं ।

पाषाणों में भी किञ्चित् ज्ञानशक्ति है यह बतलाया ही जा चुका है । कृमि के सहस्रपात् शतपात्-पादशपात् आदि अनेक भेद हैं । इनमें चेतना की अभिव्यक्ति स्वल्पमात्रा में है । पार्थिव आकर्षण अधिक है ज्ञानमय इन्द्र की मात्रा स्वल्प है । अतएव ये भूपृष्ठ पर रेंगते हुए ही चलते हैं । भूपृष्ठ को छोड़कर ऊपर उठ जाना इन की शक्ति के बाहिर है । भ्रमर-मक्षिका-मशक-आदि ये सब प्राणी कीट वर्ग में आते हैं जो भूपृष्ठ के साथ साथ निराधारभूम भी रहसकते हैं । कृमि की अपेक्षा इन में चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई । परिणामतः पार्थिव-आकर्षण शिथिल हुआ । कृमि के अनन्तर पक्षियों का स्थान है । पक्षी में और अधिक चेतना आई । पक्षी का मस्तकभाग एवं आत्मरूप इन्द्रप्राण से थोड़ा ऊँचा होगया प्रायः नीचा रहा । यहाँतक तो एक क्रम चला । अब यहाँ से पशु में क्रम बदल गया । पार्थिव एवं सौर आकर्षण समानभाव में परिणत होगया । पक्षी के मस्तक पृष्ठ भाग जहाँ ऊर्ध्व-भाव में थे वहाँ पशु के मस्तक-पृष्ठभाग समान धरातल पर आगए । आगे फिर क्रम बदला । मनुष्य में चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति होगई । इसका इसके आगे का मस्तकभाग पार्थिव आकर्षण से वियुक्त होता हुआ और इन्द्र की ओर खिंच होकर (तन कर) खड़ा होगया । परन्तु इसके शरीर में मिट्टी का भाग अधिक रहा अतएव यह भूपृष्ठ को न छोड़सका । इसी आधारभाव के लिए इसे पैरों की अपेक्षा हुई — 'पद्भ्यां भूमिः प्रतिष्ठिता' । आगे जाकर सोम की वृद्धि से चेतना में और भी अधिक वृद्धि हुई । सोम स्निग्धात्मक सौम्य पदार्थ है । यही स्नेह को अपने गर्भ में धारण कर प्राणात्मक इन्द्र को मधुर किंवा सर्वांश बनाता है । क्योंकि सोम की वृद्धि से चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई अतएव यह चेतनवर्ग पार्थिव आकर्षण से सर्वथा मुक्त होगया । उसे पैरों की आवश्यकता नहीं रही । आवश्यकता पड़ने पर सब प्रकार के शरीर धारण कर लेना इस का जन्मसिद्ध धर्म बन गया । कृमि-कीटादि की भाँति इन चार देवयोनियों में भी चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई जिस का कि विस्तार करना सर्वथा अप्रासङ्गिक होगा । इसप्रकार-चान्द्र सोम और दिव्य इन्द्र के तारतम्य से चेतनसर्ग दो भागों विभक्त होगया । पहिला सर्ग आठ भागों में विभक्त हुआ दूसरा ५ भागों में । सम्भूय सम्पूर्ण चेतनसर्ग के १३ विवर्त होगए । इन्हें हम विश्वसर्ग ही कहेंगे । विराट् का अंश यहाँ 'वैश्वानर' कहलाया हिरण्यगर्भ का अंश 'तैजस' कहलाया एवं सर्वज्ञ का अंश 'प्राज्ञ' कहलाया ।

इन तीन आत्म-विवर्तों के कारण ही यह सत्त्व-सत्त्वविशालसर्ग 'त्र्यात्मक' सम्बोधन का अधिकारी बना ।

८६—आध्यात्मलक्षण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अनुप्राणित द्व्यात्मक रजोविशाल-अन्त — मज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय (रजोविशालसर्ग —द्व्यात्मक—आन्तरिक्ष्य —(२)—

पार्थिवभाग की अधिकता से जीवों में चेतनांश अभिभूत होगया (दब गया) वे ही जीव 'अन्तः-सञ्ज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हुए। इन में आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के, एवं पार्थिव विराट् विष्णु के प्रत्यक्षों की ही प्रधानता रही। सर्वज्ञ के विरोभावरूप अभाव से ये पृथिवी के मूल को न छोड़सके। विराट् के द्वारा इनके शरीर का निर्माण हुआ एवं हिरण्यगर्भांशभूत तैजसवायु के द्वारा इन में ऊर्ध्वगमन-लक्षण गतिभाव का विकास हुआ। हिरण्यगर्भांशभूत तैजसवायु के विकास से ये बढ़ तो अवश्य गए, परन्तु मूल (भूगर्भ) को न छोड़सके। अतएव इन्हें मूलजीव कहा गया। यद्यपि अमरबल्ली आदि कुछ एक वल्लियाँ अवश्य ही ऐसी हैं जो वृक्षों पर बिना पृथिवीमूल के भी व्याप्त होजाती हैं। परन्तु इन में भी पूर्वदेश त्याग—उत्तर प्रदेशसंयोग—लक्षणा—प्राणानुगता गति का तो अभाव ही है। अतएव इन को भी निर्मूल नहीं माना जासकता। इन मूलजीवों का आरम्भ स्तम्ब से होता है एवं समाप्ति वृक्षों पर होती है। स्तम्ब—कुश-काश-वल्ली-गुल्म-लता-तृण-क्षुप-शुषक-वृक्ष आदि अनेक विवर्तों में ये अन्तःसञ्ज्ञ विभक्त हैं। इनमें केवल स्पर्शेन्द्रिय का ही विकास रहता है। जो अवस्था स्वप्नावस्था में मानव की रहती है वही अवस्था इन अन्तः-सञ्ज्ञ जीवों की है। स्वप्न में हमारी संज्ञा (प्रज्ञानमनोऽनुगत चिद्वृत्ति) अन्तर्मुख रहती है एवमेव इनकी चेतना सदा अन्तर्मुख ही रहती है। अतएव इन्हें—"अन्तःसञ्ज्ञ" कहा जाता है। त्वगिन्द्रिय के विकास के द्वारा ही इनमें क्रमशः अशन-क्षमन-गन्ध-ग्रहणादि व्यापार होते हैं। इसी के द्वारा इन्हें सुख-दुःखानुभव हुआ करता है। परन्तु जिसप्रकार स्वप्न सुख-दुःखों के प्रतीकार में हम असमर्थ रहते हैं एवमेव स्वप्नावस्था से नित्ययुक्त ये अन्तःसञ्ज्ञ जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हुए भी इनके प्रतीकार में असमर्थ रहते हैं— "अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः (महाभारत)।

इनका प्रधान आत्मा रजोमूर्त्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा (वायु) है अतएव इन्हें हम पूर्वपरिभाषानुसार भक्ति योगानुगामी कहसकते हैं। इन में ज्ञान का भी आंशिक समावेश है इसलिए तो ये भक्त्यंश हैं अर्थ का भी समावेश है इसलिए ये अर्धज्ञ हैं। सन्ध्य अवस्था ही स्वप्नावस्था है। ज्ञानानुगता जाग्रदवस्था का इनमें अभाव है। उधर स्वप्न का सन्निपात भी साम्य ही माना गया है। ब्रह्मा का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है अतएव इन अन्तःसंज्ञ रजोविशालसर्ग को हम 'आन्तरिक्ष्य' कह सकते हैं। इनों में चेतना है अथवा नहीं? इस प्रश्न की मीमांसा की आज कोई भी आवश्यकता नहीं रही जब कि भारतललाम स्व० श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यन्त्रों के द्वारा इस रहस्य को सभी के लिए व्यक्त कर दिया है।

८७—आध्यात्मलक्षण विराट् विष्णु से अनुप्राणित एकात्मक तमोविशाल-सर्ग का स्वरूप-परिचय-(तमोविशालसर्गः एकात्मक —पार्थिव —(३)—

पार्थिवभाग की ओर वृद्धि हुई। शेषभूता चेतना भी आत्यन्तिकरूप से अभिभूत होगई। केवल पार्थिव अग्नि का ही (विराड्यका ही) साम्राज्य शेष रह गया। वे ही जीव 'असंज्ञ' किंवा 'अचेतन' कह

'संमग्न' उस मन का नाम है जिस में ज्ञानभाग (विद्या) की अभिव्यक्ति-प्राधान्य के साथ साथ क्रिया एवं अर्थशक्ति का भी विकास रहे। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि जिस जीव में ज्ञानप्रधान सर्वज्ञ क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ एवं अर्थप्रधान विराट् इन तीनों आधिदैविक आत्माओं का किंवा एक ही आत्मा के इन तीनों विवर्तों का समावेश रहेगा समावेश नहीं (क्योंकि समावेश तो विश्वमात्र के प्रत्येक कण में है) अपितु अभिव्यक्ति ऐसी वही 'संमग्नजीव' कहलाएगा। एवं उसे ही हम "चेतन" कहेंगे।

यह चेतनसर्ग आग्नेय सोम तथा स्निग्ध इन्द्र के भेद से दो भागों में विभक्त है। पाठकों को स्मरण होगा कि, इसको असन्ना पृथिवी का मूलरूप ही प्रवर्तिका बतलाया था। जिन चेतनजीवों में आग्नेयसोम की प्रधानता रहती है वहाँ 'स्वसंज्ञ' कहा जाता है और ये पूर्वकथनानुसार ब्रह्म-प्रजापति आदि भेद से आठ भागों में विभक्त हैं। जिनमें आग्नेयप्राण गौण एवं इन्द्रप्राण मुख्य रहता है वही दूसरा चेतनसर्ग है। इसके मनुष्य पशु पक्षी-कीट-कृमि ये पाँच विभाग हैं।

पार्थिव देवों में भी कौशिक ज्ञानवृत्ति है यह बतलाया ही जा चुका है। कृमि के सहस्रपाद शतपाद-पादशापाद आदि अनेक भेद हैं। इनमें चेतना की अभिव्यक्ति स्वल्पमात्रा में है। पार्थिव आकर्षण अधिक है अतएव इन्द्र की मात्रा स्वल्प है। अतएव ये भूपृष्ठ पर रेंगते हुए ही चलते हैं। भूपृष्ठ को छोड़कर ऊपर उठ जाना इन की शक्ति के बाहिर है। भ्रमर-मक्षिका-मशक-आदि ये सब प्राणी कीट कहलाये जो भूपृष्ठ के साथ साथ निरालम्ब भी रह सकते हैं। कृमि की अपेक्षा इन में चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई। परिणामतः पार्थिव-आकर्षण शिथिल हुआ। कृमिके अनन्तर पक्षियों का स्थान है। पक्षी में और अधिक चेतना आई। पक्षी का मस्तकभाग पृष्ठभाग की अपेक्षा इन्द्राकर्षण से थोड़ा ऊँचा होगया पृष्ठभाग नीचा रहा। यहाँतक तो एक क्रम चला। अब यहाँ से पशु में क्रम बदल गया। पार्थिव एवं ऐन्द्र आकर्षण समानभाव में परिणत होगया। पक्षी के मस्तक-पृष्ठ भाग जहाँ ऊर्ध्व-अध भाव में थे वहाँ पशु के मस्तक-पृष्ठभाग समान धरातल पर आगए। आगे फिर क्रम बदला। मनुष्य में चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति होगई। इसका इसके आगे का मस्तकभाग पार्थिव आकर्षण से विमुक्त होता हुआ और इन्द्र की ओर खिंच कर (तन कर) खड़ा होगया। परन्तु इसके शरीर में मिट्टी का भाग अधिक रहा अतएव यह भूपृष्ठ को न छोड़ सका। इसी आधारस्थान के लिए इसे पैरों की अपेक्षा हुई— 'पद्भ्यां भूमिः प्रतिष्ठिता'। आगे चलकर सोम की वृद्धि से चेतना में और भी अधिक वृद्धि हुई। सोम विकासक 'ओम' पदार्थ है। यही जिन को अपने गर्भ में धारण कर प्राणात्मक इन्द्र को मस्त किया करता बनाता है। क्योंकि सोम की वृद्धि से चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई अतएव यह चेतनसर्ग पार्थिव आकर्षण से सर्वथा मुक्त होगया। उसे पैरों की आवश्यकता नहीं रही। आवश्यकता पड़ने पर सब प्रकार के शरीर धारण कर लेना इस का स्वाभाविक धर्म बन गया। कृमि-कीटादि की भाँति इन आठ देवयोनियों में भी चेतना की क्रमिक अभिव्यक्ति हुई जिस का कि विचार करना सर्वथा अप्राकृत होगा। इसप्रकार-आग्नेय सोम-और ऐन्द्र इन्द्र के तारतम्य से चेतनसर्ग दो भागों में विभक्त होगया। पहिला सर्ग आठ भागों में विभक्त हुआ दूसरा ५ भागों में। सम्भूय तेर-ह होगए चेतनसर्ग के १३ विवर्त होगए। इन्हें हम त्रिलोकभाग ही कहेंगे। विराट् का अंश यहाँ वैश्वानर कहलाया हिरण्यगर्भ का अंश 'तैजस' कहलाया एवं सर्वज्ञ का अंश 'प्राज्ञ' कहलाया।

इन तीन आरम्भ-विवर्तों के कारण ही यह सर्वज्ञ-सत्त्वविशालसर्ग त्र्यात्मक सम्बोधन का अधिकारी बना।

८६-माध्यात्मलक्षण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अनुप्राणित द्व्यात्मक रजोविशाल-अन्तः-संज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय (रजोविशालसर्ग -द्व्यात्मक-आन्तरिक्ष्य-(२)—

पार्थिवभाग की अधिकता से जीवों में चेतनांश अभिभूत होगया (दब गया) वे ही जीव अन्तः-संज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए। इन में आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के एवं पार्थिव विराट् विष्णु के प्रत्ययों की ही प्रधानता रही। सर्वज्ञ के तिरोभावलक्षण प्रभाव से ये पृथिवी के मूल को न छोड़सके। विराट् के द्वारा इनके शरीर का निर्माण हुआ एवं हिरण्यगर्भाशभूत तैजसवायु के द्वारा इन में ऊर्ध्वगमन-लक्षण गतिभाव का विकास हुआ। हिरण्यगर्भाशभूत तैजसवायु के विकास से ये बढ़ तो अवश्य गए, परन्तु मूल (मूगर्भ) को न छोड़सके। अतएव इन्हें मूलजीव कहा गया। यद्यपि अमरबेलजी आदि कुछ एक वल्लियाँ अवश्य ही ऐसी हैं जो वृक्षों पर बिना पृथिवीमूल के भी व्याप्त होजाती हैं। परन्तु इन में भी पूर्वदेश त्याग-उत्तर प्रदेशसंयोग-लक्षणा-प्राणानुगता गति का तो अभाव ही है। अतएव इन को भी निम्मूल नहीं माना जासकता। इन मूलजीवों का आरम्भ स्तम्ब से होता है एवं समाप्ति वृक्षों पर होती है। स्तम्ब-कुश-काश-वल्ली-गुल्म-लता-तृण प्रतुप गुल्म वृक्ष आदि अनेक विवर्तों में ये अन्तःसंज्ञ विभक्त हैं। इनमें केवल त्वगिन्द्रिय का ही विकास रहता है। जो अवस्था स्वप्नावस्था में मानव की रहती है वही अवस्था इन अन्त सञ जीवों की है। स्वप्न में हमारी संज्ञा (प्रज्ञानमनोऽनुगत चिदंश) अन्तर्मुख रहती है एवमेव इनकी चेतना सर्वा अन्तर्मुख ही रहती है। अतएव इन्हें — 'अन्तःसंज्ञ' कहा जाता है। त्वगिन्द्रिय के विकास के द्वारा ही इनमें क्रमशः स्पर्शन-हसन-गन्ध-महणादि व्यापार होते हैं। इसी के द्वारा इन्हें सुख-दुःखानुभव हुआ करता है। परन्तु जिसप्रकार स्वप्न दुःख-सुखों के प्रतीकार में हम असमर्थ रहते हैं एवमेव स्वप्नावस्था में नित्ययुक्त ये अन्तःसंज्ञ जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हुए भी इनके प्रतीकार में असमर्थ रहते हैं— "अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः (महाभारत)।

इनका प्रधान आत्मा रजोमूर्त्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा (वायु) है अतएव इन्हें हम पूर्वपरिभाषानुसार भक्तियोगानुसारी कहसकते हैं। इन में ज्ञान का भी आंशिक समावेश है इसलिए तो ये अन्तःसंज्ञ हैं अर्थ का भी समावेश है इसलिए ये अर्थसंज्ञक हैं। जन्म-अवस्था ही स्वप्नावस्था है। ज्ञानानुगता जाग्रदवस्था का इनमें अभाव है। उधर आप का भक्तियोग भी तान्त्रम ही माना गया है। ब्रह्मा का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है अतएव इन अन्तःसंज्ञ रजोविशालसर्गों को हम 'आन्तरिक्ष्य' कह सकते हैं। वृक्षों में चेतना है अथवा नहीं ?, इस प्रश्न की मीमांसा की आज कोई भी आवश्यकता नहीं रही, जब कि भारतललाम स्व. श्री जगदीशचन्द्र वसु ने यन्त्रों के द्वारा इस रहस्य को सभी के लिए व्यक्त कर दिया है।

८७-अन्त्यात्मलक्षण विराट् विष्णु से अनुप्राणित एकात्मक तमोविशाल-सर्ग का स्वरूप-परिचय-(तमोविशालसर्ग एकात्मकः-पार्थिवः-(३)—

पार्थिवभाग की ओर वृद्धि हुई। शयसूता चेतना भी आत्यन्तिकरूप से अभिभूत होगई। केवल पार्थिव अग्नि का ही (चिदंशका ही) सम्प्राप्य शेष रह गया। वे ही जीव "असंज्ञ" किंवा अचेतन कहे

जाए। यह तो प्रत्येक स्थिति में नहीं ही भुलाना चाहिए कि चेतन–अचेतन–जड़ चेतन इत्यादि व्यवहारों का कारण "चिद्भाव–चिदभाव (आत्मसत्ता–आत्माभाव) नहीं है। क्योंकि वैदिक-विज्ञान के अनुसार (आत्मा के चिदभाव के कारण) ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें मनः-प्राण-वाङ्-मय आत्मा प्रतिष्ठित न हो। चिदंश का विकास एवं अविकास ही उक्त व्यवहार का कारण है। इन्द्रियों के द्वारा ही चिदंश विकसित होता है। मेघ में यदि सूर्यप्रकाश आवृत होगया भुकावरोध से पटस्थ दीपक का प्रकाश यदि अवरुद्ध होगया तो इस अवरोधभाव से ही सौरप्रकाश एवं दीपप्रकाश का मेघावच्छिन्न पुरप्रकाश में एवं पटावच्छिन्न पटाकाश में अभाव नहीं माना जासकता। एवमेव प्रकाशसूचक इन्द्रियवर्ग के अभाव से यदि किसी भौतिक पदार्थ में चेतना का विनिगमन नहीं है तो एतावता ही उसके मूलाधार को आत्मशून्य नहीं कहा जासकता। इन्द्रियसत्ता एवं इन्द्रियाभाव ही चेतन-जड़ भेद का कारण है न कि आत्मसत्ता एवं आत्माभाव जैसाकि– 'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' इत्यादि आर्षवचनों से स्पष्ट है।

जो अवस्था सुषुप्तिकाल में हमारी रहती है वही अवस्था इन धातुजीवों की रहती है। इन में तमः शिलाप्रधान प्राज्ञ हिरण्यगर्भ आधारभूत तैजस (ज्ञान–क्रिया) दोनों अभिभूत हैं। केवल 'विराट्' विष्णु के आश्रयभूत अर्थप्रधान वैश्वानर की ही इन में प्रधानता है। अतएव यह 'एकात्मक' कहलाता है। ये ही 'धातुजीव' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। सर्वज्ञ के विकासाभावलक्षण अभाव से न इन में ज्ञान है एवं हिरण्यगर्भ के विकासाभावलक्षण अभाव से न इनके स्वरूप में वृद्धि है। ये जैसे के वैसे ही रहते हैं। यही मौक्तिकास्त्र का 'स्थावरसर्ग' है। क्योंकि इन में विराट्स्थानीय पार्थिव वैश्वानर का ही विकास है अतएव इसे हम पार्थिवसर्ग ही कहेंगे। वैश्वानर स्थिरानुगामी बनता हुआ तमोमय है। अतएव इस सर्ग को "तमोविशालसर्ग" कहा जायगा।

सौगन्धिक, पद्मराग, अनमधराग, पारिजातपुष्पक, बालसूर्यक, वैदूर्य, इन्द्रनील, कलाय पुष्पक, महानील, नन्दक, शीतवृष्टि (चन्द्रकान्त) सूर्यकान्त आदि मणियाँ सप्त धातु, सप्त उपधातु, सप्त रस, सप्त उपरस, सप्त विष, सप्त उपविष आदि ४२ रसवर्ग, पन्ना, पुखराज, हीरक, मोती, माणिक्य, लाल आदि आदि सब इस तीसरे स्थावर धातुसर्ग में ही अन्तर्भूत हैं। तमोविशाल का स्थावरसर्ग का यही सक्षिप्त स्वरूप–निदर्शन है।

अष्टविकल्प देवसर्ग पञ्चविकल्प तिर्यक्सर्ग इन १४ सर्गों की समष्टि ही उत्तमविशाल विश्वसर्ग है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव द्युलोक ही इन की मूलप्रतिष्ठा है। ज्ञानयोग ही इनका अधिष्ठान है। एकविध क्रिया अनेकविध अन्य सर्ग ही रजोविशाल अन्तरिक्ष सर्ग है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव अन्तरिक्षलोक ही इन की मूल प्रतिष्ठा है। भक्तियोग ही इनका अधिष्ठान है। एकविध क्रिया अनेकविध धातुसर्ग ही तमोविशाल पार्थिवसर्ग है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव पृथिवीलोक ही इन की मूलप्रतिष्ठा है। एवं कर्मयोग ही इन का अधिष्ठान है। सत्वविशालसर्ग जाग्रद्-अवस्था है रजोविशालसर्ग स्वप्नावस्था है एवं तमोविशालसर्ग सुषुप्ति-अवस्था है। तारतम्य के तारतम्य से इनमें प्रत्येक में भी तीन तीन विभाग होजाते हैं जैसाकि आगे चलकर स्पष्ट होजायगा।

विज्ञानसम्मत–योगमायानुबन्धी सर्ग—

(१) १—ब्रह्म (१)
(२) २—प्रजापतिः (२)
(३) ३—इन्द्रः (३)
(४) ४—पितरः (४)
(५) ५—गन्धर्व (५)
(६) ६—यक्षाः (६)
(७) ७—राक्षसाः (७)
(८) ८—पिशाचाः (८)

चान्द्रसोमप्रधानसर्गाः ८

• • •

(९) १—मनुष्य (१)
(१०) १—पशु ( )
(११) २—पक्षी (३)
(१) ३—कीटः (४)
(१३) ४—कृमि (५)

मनुष्यप्रधानसर्गाः ५

• • •

एकविंशस्तोमावच्छिन्न–वैराट्–हिरण्मयगर्भित–सर्वमः सिद्ध–मानप्रधान–प्रतिष्ठाभूमि, सर्गप्रपञ्च।

सत्त्वविशालसर्ग –दिव्याः–(ससंज्ञा –ज्ञानात्मका जीव–जीवा)

—o—

स्तम्ब
गुल्म
काश
वल्ली
तृण
क्षुप
एपक
वृक्षादि

पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नो विराट्–गर्भित–हिरण्य–गर्भो ब्रह्मा क्रियाप्रधान–प्रतिष्ठाभूमि सर्गप्रपञ्च।

पार्थिवप्रधानमूलसर्गाः १

रजोविशालसर्ग –आन्तरिक्षाः–(अन्तःसंज्ञाः–क्रियात्मकाः मूल–जीवाः)

—•—

मणि मुक्ता वज्र भस्म गंधक पारद अभ्रक—आदि	भूतात्माविष्णुभूता विश्व विष्णु—सर्वेश्वराः— प्रतिष्ठाभूमि कर्मिकरूप।	तमोविरासलक्षणाः—पार्थिवाः—(सर्वेश्वरा—एकारसमका वायु—जीवाः)



१—सर्वज्ञाः——प्राज्ञाः——ज्ञानप्रधानाः—अग्निवायुगर्भिताः—इन्द्र—ईश्वरात्मा—शिवः।

२—हिरण्यगर्भाः—तैजसः—क्रियाप्रधानाः—अग्नीन्द्रगर्भिताः——वायुः—हंसात्मा——ब्रह्मा

१—विराजः——वैश्वानरः अर्थप्रधानाः—वाग्निन्द्रगर्भिताः——अग्निः—भूतात्मा—विष्णु



१—महात्मा-विष्णुः	२—देवात्मा-ब्रह्मा	३—इन्द्रात्मा-शिवः
तमोमूर्त्तिः	रजोमूर्त्तिः	सत्त्वमूर्त्तिः
१—विराट् (अधिदैवतम्)	१—हिरण्यगर्भः (अधिदैवतम्)	१—सर्वज्ञः (अधिदैवतम्)
२—वैश्वानरः (अध्यात्मम्)	२—तैजसः (अध्यात्मम्)	२—प्राज्ञः (अध्यात्मम्)
३—त्रिवृत्स्तोमः (अधिदैवतम्)	३—पञ्चदशस्तोमः (अधिदैवतम्)	३—एकविंशस्तोमः (अधिदैवतम्)
४—मूलग्रन्थिः (अध्यात्मम्)	४—हृदयग्रन्थिः (अध्यात्मम्)	४—ब्रह्मरन्ध्रम् (अध्यात्मम्)
अपानमण्डलम्	व्यानमण्डलम्	प्राणमण्डलम्
पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौः
अर्थशक्तिः	क्रियाशक्तिः	ज्ञानशक्तिः
असंज्ञविवर्त भावः	अन्तःसंज्ञविकास भावः	ससंज्ञविकास भावः
एकविधः	एकविधः	अनेकधाविधः
अचेतनः	अर्द्धचेतनः	चेतनः

पञ्चदशविधो भूतसर्गः

१–प्राज्ञ
२–तैजस
३–वैश्वानर
} सर्वसाराम्बिका गीता–(मीमा) ज्ञानयोगानुगता

१–तैजस
२–वैश्वानर
} अन्तःसंज्ञा–रूपात्मका गीता (मूलानि) भक्तियोगानुगता

१–वैश्वानर } ससंज्ञा–पञ्चात्मका गीता (वाक्य) कर्मयोगानुगता

८८–प्रकृतिनिबन्धन-त्रिगुणभाव का विस्तार, एवं भाव-गुण-विकार–सर्गत्रयी–से समन्वित विवमता—

प्रकृति के सम्मित प्रकारभावों को लक्ष्य में रख कर ही हमें त्रिगुणभाव की व्याप्ति का विचार करना चाहिए। सत्वप्रधान पुरुषानुबन्धी भावसर्ग, रजःप्रधान महामाया–(अक्षर)–नुबन्धी गुणसर्ग, एवं तमःप्रधान योगमाया–(क्षर)–नुबन्धी विकारसर्ग, ये तीनों क्रमशः सत्वविशाल–रजोविशाल–तमोविशाल–सर्ग हैं। यही मौलिक विषमसर्ग है। इन तीनों में से भावसर्ग स्वयम्भू–परमेष्ठी से, गुणसर्ग सूर्य से, एवं विकारसर्ग चन्द्रगर्भिता पृथिवी से सम्बन्ध रखता है।

८९–सत्वविशाल-ससंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त—

इस तमोविशाल पार्थिवसर्ग के भी सत्वविशाल ससंज्ञ, रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग एवं तमोविशाल असंज्ञसर्ग भेद से तीन विभाग हो जाते हैं। इनमें भी प्रत्येक सर्ग तीनों रूपों से आक्रान्त है। सर्वप्रथम पहिले सत्वविशाल ससंज्ञसर्ग को ही लीजिए। यद्यपि त्रिविध ज्ञानप्रेरक सत्वविशाल है, मनुष्य का आन्तरिक बनता हुआ रजोविशाल है, एवं पशु-पक्षी-कृमि-कीट इन चारों की समष्टि पार्थिवरस प्रधान बनती हुई तमोविशाल है।

९०–रजोविशाल-अन्तःसंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त—

दूसरा रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग है। जिसमें एक पदार्थ ऐसे हैं कि, यदि कोई प्राणी उनके समीप से निकलता है, तो वे उसीप्रकार अपनी शाखाओं से उसका वेष्टन कर लेते हैं, जैसेकि एक सज्जन मनुष्य किसी वस्तु को आग्रह से ग्रह कर लेता है। अवश्य ही ऐसे वृक्ष–लतादि ज्ञानप्रधान माने जायेंगे। छुई-मुई (लाजवन्ती) का यदि स्पर्श कर लिया जाता है, तो वह उसीप्रकार नत हो जाती है, जैसेकि एक स्त्री रमणी के लाज्जाभार से लज्जा से नितमुखी बन जाती है। ऐसे कतिपय अन्तःसंज्ञौषधी को हम अवश्य ही ज्ञानप्रधान मानते हुए सत्वविशाल कहेंगे। कमल–सूर्यमुखी आदि कतिपय पुष्पों में विकास-

एवं मुकुलित-भावानुबन्धी क्रियामात्र प्रत्यक्ष में देखा जाता है। क्रिया का रजोगुण से सम्बन्ध है। ऐसी दशा में ऐसे अन्तःसंज्ञ जीवों को अवश्य ही रजोविशाल माना जासकता है। वट-पिप्पल-निम्ब-करीर-ताल [खजूर] आदि कर्कशाङ्ग सर्वथा स्थूणरूप वृक्ष-ओषधि आदि अन्तःसंज्ञ जीवों को अवश्य ही तमोविशाल माना जासकता है।

६१–तमोविशाल भूतसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त—

तीसरा तमोविशाल भूतसर्ग है। चन्द्रकान्त सूर्यकान्त स्फटिक, वैदूर्य आदि ज्योतिर्मन मणियाँ प्रकाशरूप ज्ञानविकास के सम्बन्ध से सत्त्वविशाल मानी जासकती हैं। रेडियम फास्फोरस, हीरक मुक्ता माणक पन्ना नीलम पुष्पराग [पुखराज] गोमेदक आदि पदार्थों को सामान्य विकास के सम्बन्ध से रजोविशाल कहा जासकता है। एवं सुवर्ण रजत ताम्र सीसक कांस्य पित्तल आदि स्थूल अप्रकाशित धातुवर्ग को अवश्य ही तमोविशाल माना जासकता है।

६२–सत्त्वविशाल-देवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त

संस्थावर्ग के सत्त्वविशाल देवसर्ग को लीजिए। ब्रह्म-प्रजापति का युग्म ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है इन्द्र पितर का युग्म क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है एवं गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच चारों अर्थप्रधान बनते हुए तमोविशाल हैं।

६३–रजोविशाल मानवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त—

सत्त्वसर्ग के रजोविशाल मनुष्यसर्ग को लीजिए। ब्रह्मवीर्य्ययुक्त अतएव ज्ञानप्रधान मनुष्य [भारतीय परिभाषा के अनुसार ब्राह्मणवर्ण] सत्त्वविशाल है। क्षत्रवीर्य्ययुक्त अतएव क्रियाप्रधान मनुष्य [क्षत्रियवर्ण] रजोविशाल है। एवं विड्वीर्य्ययुक्त अतएव अर्थप्रधान मनुष्य [वैश्यवर्ण] तमोविशाल है।

६४–मानवव्यक्ति-निबन्धन त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त—

केवल मनुष्य का ही विचार कीजिए। ज्ञानशक्तियुक्त शिरोभाग सत्त्वविशाल है क्रियाशक्तियुक्त हस्त-पादस्थल रजोविशाल है एवं अर्थसंचयाधिष्ठाता उदरभाग तमोविशाल है। अथवा ललाट प्रदेशस्थ शिरो-गुहारूप अमृतस्थान ज्ञानात्मक श्वेतवर्ण प्रज्ञान शिव से युक्त होता हुआ सत्त्वविशाल है। हृदयस्थान क्रिया प्रधान रक्तवर्ण ब्रह्मा से युक्त होता हुआ रजोविशाल है। एवं नाभिस्थान अर्थप्रधान नीलवर्ण विष्णु से युक्त होता हुआ तमोविशाल है। केवल मस्तिष्क को लीजिए। आदित्यात्मक [इन्द्रात्मक] चक्षु ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है। वाय्वात्मिका नासिका क्रियाप्रधान बनती हुई रजोविशाल है। एवं अग्न्यात्मक मुख अर्थप्रधान बनता हुआ तमोविशाल है। करणों की दृष्टि से देखिए। ज्ञानाधिष्ठात्री बुद्धि सत्त्वविशाल है उभयात्मक मन रजोविशाल है एवं अर्थानुगत इन्द्रियवर्ग तमोविशाल है। अध्यात्मदृष्टि से मनुष्यशरीरगत आत्मविवर्त का विचार कीजिए। अव्यक्त-महान् का युग्म ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है विज्ञानात्मा [बुद्धि] क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है एवं प्रज्ञानयुक्त प्राणात्मा अर्थाविष्ट बनता हुआ तमोविशाल है।

४ रजोविशालेषु–भक्तियोगानुगतेषु–भ्रान्त सर्गेषु योगत्रयोपभोग —

१—शान्तचन्ती —चेतनायुक्ता —सत्त्वीभावाः —सत्त्वविशाला —ज्ञानिन
२—भ्रमाल —पुष्पमुखी —भक्तिरसपुष्पा —रजोविशालाः —उपासका
३—[illegible] —निष्फल —वात्सादिभूता —तमोविशाला —कर्मपरतन्त्राः

———•———

५–तमोविशालेषु–कर्मयोगानुगतेषु–भ्रमसर्गेषु–योगत्रयोपभोग —

१—भक्तिव्याः —सत्त्वविशालाः —ज्ञानी
२—हीरकरमकादिवर्गा —रजोविशालाः —उपासकाः
३—सुवर्ण-रजतादिधातुवर्गः—तमोविशालाः—कर्मपरतन्त्र

———•———

६–प्रमदा सर्गे–सत्त्वविशाल–ज्ञानयोगानुगते–देवसर्गे योगत्रयोपभोग —

१—ब्रह्म च प्रजापतिश्च —सत्त्वविशाला —ज्ञानिनी
२—इन्द्रश्च शिवश्च —रजोविशाला —उपासकी
३—गन्धर्व-यक्ष-गन्धर्व याचा —तमोविशाला —कर्मपरतन्त्राः

———•———

७–मर्मदा सर्गे–रजोविशाल–भक्तियोगानुगते–मनुष्यसर्गे–योगत्रयोपभोग —

१—ब्रह्मवीर्योपेता मनुष्याः —सत्त्वविशाला —ज्ञानिनः
२—क्षत्रवीर्योपेता मनुष्याः —रजोविशालाः —उपासका
३—विड्वीर्योपेता मनुष्या —तमोविशाला —कर्मपरतन्त्राः

———•———

८–कल्पेषु–मनुष्यस्यैव योगत्रयोपभोग —

(क) १—शिरोभाग —सत्त्वविशाल —ज्ञानी
२—हृदयी उदर—रजोविशाल —उपासक
३—उदरम् —तमोविशाला —कर्मपरतन्त्र

———•———

(ख) —शिरोभुजामध्यमुखस्थानम्—सत्त्वविशालम्—ज्ञानी
२—हृदयस्थानम् —रजोविशालम्—उपासक
३—नाभिस्थानम् —तमोविशालम्—कर्मपरतन्त्र

———•———

९—कैवल्यमस्तिष्के—एव योगत्रयोपभोगः —

१—इन्द्रात्मकं चक्षुः —सत्त्वविशालम् —ज्ञानी
२—वाय्वात्मिका नासिका—रजोविशाला —उपासकः
३—अग्न्यात्मकं मुखम् —तमोविशालम् —कर्म्मपरतन्त्रः

—•—

१०—करणेषु योगत्रयोपभोगः—

१—बुद्धिः —सत्त्वविशाला —ज्ञानयोगानुगता
२—मनः —रजोविशालम् —भक्तियोगानुगतम्
३—इन्द्रियाणि—तमोविशालानि —कर्म्मयोगानुगतानि

—•—

११—स्वयम्भ्वात्मवर्गे योगत्रयोपभोगः —

१—महद्गर्भिताव्यक्तात्मा—सत्त्वविशालः —ज्ञानी
२—विज्ञानात्मा —रजोविशालः—उपासकः
३—प्रज्ञानगर्भितप्राणात्मा—तमोविशालः—कर्म्मपरतन्त्रः

—•—

१२—ससंज्ञात्मके तमोविशाले कर्म्मयोगानुगते पश्वादिसर्गे योगत्रयोपभोगः—

१—पक्षिणः —सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—पशवः —रजोविशालाः —उपासकाः
३—कृमिकीटाः—तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः

—•—

१३—सत्त्वविशालेषु ज्ञानयोगानुगतेषु पक्षिषु योगत्रयोपभोगः —

१—भेरुण्ड-शुक—सारिकादयः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—चटक-चाष—मयूरादयः—रजोविशालाः —उपासकाः
३—काकपक्ष्यादयः — —तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—•—

१४—रजोविशालेषु भक्तियोगानुगतेषु पशुषु योगत्रयोपभोगः—

१—गावः —तुरगादयः —सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—हरिण—मृगादयः —रजोविशालाः—उपासकाः
३—गर्दभ—श्वानादयः—तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—•—

६५—भूतसर्गनिबन्धन-त्रिगुणात्मक-विविध महिमा—विवर्तों का स्वरूप—समन्वय—

कर्मकर्म के तमोविशाल परवादिसर्गों की मीमांसा कीजिए। ज्ञान की विशेष मात्रा से युक्त पक्षी सत्त्वविशाल हैं क्रियानुगत पशु मध्यम श्रेणि में प्रतिष्ठित होता हुआ रजोविशाल है एवं कृमि-कीटवर्ग अर्थ प्रधान बनते हुए तमोविशाल हैं। केवल पक्षियों को लीजिए। स्वर्णिम मैनका शुक, सारिका आदि ज्ञानीय पक्षी सत्त्वविशाल हैं चटक-बरट-तीतर-बाज-कबूतर आदि पक्षी रजोविशाल हैं। एवं काक-गृध्र-चील आदि पक्षी तमोविशाल हैं। पशुओं को लीजिए। हाथी-घोड़ा आदि पशु ज्ञानप्रधान बनते हुए सत्त्वविशाल हैं। वृषभ हरिण शूकर, सिंह व्याघ्र आदि पशु क्रियाप्रधान बनते हुए रजोविशाल हैं। एवं गर्दभ-श्वान-शृगाल आदि मूर्ख पशु तमोविशाल हैं। कृमियों को लीजिए। पिपीलिका [चिऊँटी] कीट [कीड़ा] आदि ज्ञानानुगत कृमि सत्त्वविशाल हैं। मत्कुण-ऊर्णनाभि आदि क्रियानुगत कृमि रजोविशाल हैं। एवं मल-मूत्र-विष्ठा आदि निकृष्ट पदार्थों को ही अपनी आवासभूमि बनाने वाले स्थूल सूक्ष्म कृमि अर्थानुगत बनते हुए तमोविशाल हैं। कीट विभाग पर दृष्टि डालिए। भ्रमर-पतङ्ग आदि ज्ञानानुगत कीट सत्त्वविशाल हैं। वायुसंचरणशील विविध कीट [क्रियानुगत] रजोविशाल हैं। एवं मशक-मक्षिका आदि अर्थप्रिय कीट तमोविशाल हैं। इसप्रकार सर्वकर्म के प्रत्येक पर्व में भी तीनों भाग व्याप्त हो रहे हैं। यही दशा रजोविशाल आभूतसर्गों एवं तमोविशाल अर्थसर्गों की समझिए। यही नहीं, महतोमहीयान् से आरम्भ कर अणोरणीयान पर्यन्त स्थूलतम से आरम्भ कर सूक्ष्मतम पर्यन्त ब्रह्म से आरम्भ कर परमाणु पर्यन्त त्रिगुणभावमय विवर्त व्याप्त है। ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-युत आत्मा का यह विश्वसर्ग इन स्वाभाविक आक्रमणों से कैसे वञ्चित रह सकता है- 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'[1]। आगे की तालिकाएँ प्रकृति के इसी त्रिगुणात्मक विस्तार का यशोगान कर रही हैं

१ विश्वात्मपर्वेषु योगत्रयोपभोगः—(मौलिकयोगत्रयी)

१—सत्त्वानुबन्धी भावसर्गः [अव्यक्तरूपः—मानसः—ज्ञानम्—ज्ञानयोगः [सत्त्वविशालसर्गः महद्गर्भितः स्वायम्भुव]

२—रजोऽनुबन्धी गुणसर्गः [महामायारूपः प्राणमयः-क्रिया—भक्तियोगः [रजोविशालसर्गः सौरः]

३—तमोऽनुबन्धी विकारसर्गः [योगमायारूपः—वाचिकः-अर्थः—कर्मयोगः [तमोविशालसर्गः—चन्द्रगर्भितः पार्थिवः]



—योगमायानुगतेषु जीवेषु योगत्रयोपभोगः—(विकारसर्गे वा)—(पार्थिवसर्गे वा)

(क)

—वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्जीवः—मनुष्यः—ज्ञानानुगतः [जीवजीवाः] सत्त्वविशालः

२—वैश्वानरतैजसमूर्त्तिर्जीवः—अन्तःसंज्ञ-क्रियानुगतः [मूलजीवाः] रजोविशालः

३—वैश्वानरमूर्त्तिर्जीवः—असंज्ञ—अर्थानुगतः [धातुजीवाः] तमोविशालः



(ख)
१—मन (ज्ञानं)—अव्ययः—सत्त्व—इन्द्र [२१] द्यौः—शिवः—ज्ञानम्
२—प्राणः [क्रिया]—अक्षरः—रजः—वायु [१५]—अन्त —ब्रह्मा—भक्तिः
३—वाक् [अर्थ]—क्षरः—तमः—अग्निः [९]—पृथिवी—विष्णु —कर्म
} सर्वज्ञ—इन्द्रः—ज्ञानयोगाधिष्ठाता

(ग)
१—प्राणः [क्रिया] अक्षरः—रजः—वायुः [१५] अन्त ब्रह्मा कर्म
२—मन [ज्ञानं]—अव्ययः—सत्त्व—इन्द्र [२१] द्यौः—शिवः—भक्तिः
३—वाक् [अर्थ]—क्षरः—तमः—अग्निः [९] पृथिवी—विष्णुः—ज्ञानम्
} हिरण्यगर्भो वायुः भक्तियोगाधिष्ठाता

(घ)
१—वाक् [अर्थः]—क्षरः—तमः—अग्निः [९] पृथिवी-विष्णु —कर्म
२—प्राणः [क्रिया]—अक्षरः—रजः—वायु [१५] अन्त —ब्रह्मा—भक्तिः
३—मनः [ज्ञानं] अव्यय—सत्त्व-इन्द्रः [२१] द्यौः-शिव—ज्ञानम्
} विराड्विष्णु—कर्मयोगाधिष्ठाता

(ङ)
१—सर्वज्ञोपभूताः —वैश्वानरतैजसप्राज्ञचयकोषाः —ससंज्ञाः —ज्ञानिनः
२—हिरण्यगर्भोपभूताः—वैश्वानरतैजसचयकोषाः —अन्तःसंज्ञाः—उपासकाः
३—विराडुपभूताः —वैश्वानरचयकोषाः —असंज्ञाः —कर्मपरतन्त्राः

३—सत्त्वविशालेषु-ज्ञानयोगानुगतेषु-सर्गेषु योगत्रयोपभोगः—
१—महर्षिप्रभृतयो देवसर्गाः —सत्त्वविशालाः—[ज्ञानयोगी]
२—मनुष्यसर्गाः —रजोविशालाः —[उपासकः]
३—पशु-पक्षि-कृमि-कीट-सर्गाः —तमोविशालाः —[कर्मपरतन्त्राः]

४ रजोविशालेषु-भक्तियोगानुगतेषु-मन्त्रसर्गेषु योगत्रयोपभोग —

१— लाजवन्ती —चलनाकुलाः —नमतीपत्रकाः —सत्त्वविशाला —ज्ञानिन
२— कमल —सूर्यमुखी —साग्निरूपपुष्पा —रजोविशाला —उपासका
३— वट —निम्ब —शालादिवृक्षा —तमोविशाला —कर्मपरतन्त्राः

५—तमोविशालेषु-कर्मयोगानुगतेषु-धर्मसर्गेषु-योगत्रयोपभोग —

१— मणिगणाः —सत्त्वविशालाः —ज्ञानी
२— हीरकप्रभृतिकर्षाः —रजोविशाल —उपासक
३— सुवर्ण-रजतादि धातुकर्षा —तमोविशाल —कर्मपरतन्त्र

६—प्रथमात्मके-सत्त्वविशाले-ज्ञानयोगानुगते-देवसर्गे योगत्रयोपभोग —

१— ब्रह्म च प्रजापतिश्च —सत्त्वविशालौ —ज्ञानिनौ
२— इन्द्रश्च पितरश्च —रजोविशालौ —उपासकौ
३— गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाचा —तमोविशालाः —कर्मपरतन्त्राः

७—सर्गात्मके-रजोविशाले-भक्तियोगानुगते-मनुष्यसर्गे-योगत्रयोपभोगः—

१— ब्रह्मर्षिप्रभृति मनुष्याः —सत्त्वविशालाः —ज्ञानिनः
२— राजर्षिप्रभृति मनुष्याः —रजोविशालाः —उपासकाः
३— विट्प्रभृति मनुष्याः —तमोविशालाः —कर्मपरतन्त्राः

८—केवलेषु-मनुष्येष्वेव योगत्रयोपभोग —

(क) १— शिरोभाग —सत्त्वविशाल —ज्ञानी
२— हस्तौ उरश्च —रजोविशाल —उपासक
३— उदरम —तमोविशाल —कर्मपरतन्त्र

(ख) १— शिरोगुहाकण्ठमूलस्थानम्—सत्त्वविशालम्—ज्ञानी
२— हृदयस्थानम् —रजोविशालम्—उपासक
३— नाभिस्थानम् —तमोविशालम्—कर्मपरतन्त्र

९—केवलमस्तिष्के—एव योगत्रयोपभोगः—

१—ज्ञानात्मकश्चक्षुः —सत्त्वविशालम् —ज्ञानी
२—वाय्वात्मिका नासिका—रजोविशाला —उपासक
३—अन्नात्मकं मुखम् —तमोविशालम् —कर्म्मपरतन्त्रः



१ —करणेषु योगत्रयोपभोगः—

१—बुद्धिः —सत्त्वविशाला —ज्ञानयोगानुगता
२—मनः —रजोविशालम् —भक्तियोगानुगतम्
३—इन्द्रियाणि—तमोविशालानि —कर्म्मयोगानुगतानि



११—स्वपरात्मवर्गे योगत्रयोपभोग —

१—महद्गर्भितप्रज्ञात्मा—सत्त्वविशाल —ज्ञानी
२—विज्ञानात्मा ——रजोविशालः—उपासकः
३—प्रज्ञानगर्भितप्राणात्मा—तमोविशाल —कर्म्मपरतन्त्रः



१२—ससंज्ञात्मके तमोविशाले कर्म्मयोगानुगते पश्वादिसर्गे योगत्रयोपभोग —

१—पक्षिणः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—पशवः —रजोविशालाः —उपासकाः
३—कृमिकीटाः—तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः



१३—सत्त्वविशालेषु ज्ञानयोगानुगतेषु पक्षिषु योगत्रयोपभोगः—

१—[illegible]-शुक—सारिकादयः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—काक-सारस—मयूरादयः —रजोविशालाः —उपासकाः
३—[illegible] — —तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः



१४—रजोविशालेषु भक्तियोगानुगतेषु पशुषु योगत्रयोपभोगः—

१—गावः —मृगादयः —सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—वृषभ—सूकरादयः —रजोविशालाः —उपासकाः
३—गर्दभ—श्वानादयः—तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः।



१५—तमोविशालेषु, कर्म्मयोगानुगतेषु कृमिषु योगत्रयोपभोगः—

१—पिपीलिका—कीटादयः —सत्वविशालाः —ज्ञानिनः
२—ऊर्णनाभि—मधुकृदादय —रजोविशालाः—उपासकाः
३—मक्षिकाप्रभृतयः — — तमोविशालाः—कर्म्मपराः

१६—तमोविशालेषु कर्म्मयोगानुगतेषु कीटेषु योगत्रयोपभोगः—

१—भ्रमर—पतङ्गादय ——सत्वविशालाः—ज्ञानिन
२—अन्तरिक्षचारिणो विविधा —रजोविशालाः —उपासकाः
३—मक्षिका—मशकादय ——तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः

त्रिगुणात्मिका प्रकृति [योगमाया] क्या करती है ?, इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न है—प्रकृति क्या नहीं करती ? । त्रैलोक्य [पार्थिव वायवाग्नेयी] में जो कुछ 'अस्ति' कहने योग्य है वह सबकुछ अदितिगुणविशिष्ट [अन्नगर्भित], इसी त्रिगुणात्मिका दुरत्यया दुर्विज्ञेया योगमाया का विस्तार है । अपने सत्वानुबन्धी ज्ञान-योग से, रजोऽनुबन्धी भक्तियोग से एवं तमोऽनुबन्धी कर्म्मयोग से यह सर्वत्र व्याप्त होरही है । इसकी इसी योगात्मिका व्याप्ति से त्रैलोक्य में रहने वाले अचेतन-अर्द्धचेतन-चेतन सब पदार्थ [प्रत्येक] तीनों योगों से व्याप्त हैं । वह स्वाभाविक ज्ञान-कर्म्म-भक्तियोग के तारतम्य से सर्वत्र सब में व्याप्त है । यही इन तीनों योगों की प्रकृतिसिद्धा * चातुर्वर्ण्यस्वरूपा नित्यता है । एवं यही "योगत्रयी का संक्षिप्त मौलिक विचार' है ।

'योगत्रयी का मौलिक-विचार' नामक
द्वितीय-प्रकरण उपरत
२

---

*—"प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्, संस्कारविशेषाच्च" ।
—वसिष्ठ

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—
"योगत्रयी का मौलिक विचार"
नामक
द्वितीय-प्रकरण-उपरत
२



श्री

अथ–भक्तियोगपरीक्षाया–पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी, और भारतीय महर्षि"

नामक

तृतीय–प्रकरण

३

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी का मौलिक विचार"

नामक

द्वितीय-प्रकरण-उपरत

२



श्रीः

३–योगत्रयी और भारतीय–महर्षि

१–प्रकृतिसिद्धा-ज्ञान भक्ति कर्म्म-योगत्रयी, तीनों योगों का सह–समन्वय, एवं कल्पित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों के द्वारा प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी की अन्तर्मुखता—

द्वितीय-प्रकरणोपवर्णिता प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी का उन प्राच्य महर्षियोंने अपनी योगदृष्टि से प्रत्यक्ष किया। प्रत्यक्ष कर प्रकृतिसिद्धा वर्णव्यवस्था की भाँति तीनों योगों की प्रकृति के अनुसार वर्णधर्म्मों का अनुगामी बनाते हुए भारतीय-मानव-समाज में इन तीनों योगों को व्यवस्थित किया। ऋषियों के द्वारा व्यवस्थित ये ही प्राकृतिक योग भारतीय-शास्त्र में ज्ञानयोग–कर्म्मयोग–भक्तियोग इन नामों से प्रसिद्ध हुए। तीनों ही योग सनातन हैं, नित्यसिद्ध हैं। तीनों के सम्बन्ध में यह कल्पना करना कि 'पहिले कर्म्म योग का आविष्कार हुआ अनन्तर भक्तियोग प्रचलित हुआ सर्वान्त में परमेश्वरवादमूलक ज्ञान योग का परिज्ञान हुआ' सर्वथा भ्रान्ति ही मानी जायगी। अपितु जिस देवयुग में कर्म्मयोग का आविर्भाव हुआ था उसी युग में भक्तियोग एवं ज्ञानयोग भी विकास की परमसीमा पर पहुँच चुके थे। हाँ इस सम्बन्ध में यह तो फिर भी माना जा सकता है कि सत्ययुगोपलक्षित देवयुग में ज्ञानयोग की त्रेतायुगोपलक्षित वैदिकयुग में कर्म्मयोग की एवं द्वापरयुगोपलक्षित पौराणिकयुग में भक्तियोग की विशेष प्रधानता रही। आगे जाकर कलियुगोपलक्षित मध्ययुग में तीनों ही योगों का स्वरूप विलुप्त होगया। ज्ञानयोग का आसन कल्पित अद्वैतवाद ने छीन लिया। कर्म्मयोग का आसन कल्पित अवैध यज्ञकर्म्मों ने छीन लिया एवं ज्ञानवैराग्यानुगामी भक्तियोग का आसन अज्ञान-आसक्ति के अनुयायी नामसंकीर्तन-परायण लोकयशःकामुक भक्तों ने छीन लिया।

२–'योग' शब्द–व्यवहार का कारणान्वेषण–प्रयास—

जबकि तीनों योग प्रकृतिसिद्ध थे स्वतन्त्र थे तो इनके विरुद्ध अपनी कल्पना का समावेश कर तीन शास्त्रीय योगों का आविष्कार क्यों किया गया? यह भी एक स्वतन्त्र प्रश्न है। 'विष्णुमाया' नाम से प्रसिद्धा योगमाया का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि "योग" शब्द का अर्थ है संगमन मेल सम्बन्ध। अब इस सम्बन्ध में हमें यह विचार करलेना चाहिए कि ज्ञान कर्म्म भक्ति, इन तीनों के साथ किस का योग (सम्बन्ध) हुआ जिससे कि ये तीनों प्रकृतिरूप "योग" शब्द से व्यवहृत होने लग पड़े।

३–वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–मूर्त्ति शारीरिक भूतात्मा से अनुप्राणित 'योग', और तदनुबन्धिनी योगत्रयी—

मानववर्ग से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी का पार्थिवभाग से सम्बन्ध है जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पार्थिववर्ग में पार्थिव आत्मा ही प्रधान है। इसी पार्थिव आत्मा का

ज्ञान-कर्म्म-अर्थों की ओर अपने भूतात्मा को भुकाते हुए, भोजन के लिए आत्मसमर्पण करते हुए परिभाषा के अनुसार 'खाना-पीना-मौज उड़ाना' इस आदर्श का अनुगमन करते हुए, लौकिक ज्ञान लौकिक कर्म्म एवं लौकिक अर्थों का अपने भूतात्मा के साथ योग करा देना ही प्रकृतिसिद्ध-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म योग है। इन प्रकृतिसिद्ध योगों का अनुगामी बनता हुआ शारीरक भूतात्मा बहिर्जगत् का ही उपासक बन रहा है।

७–बहिर्योगत्रयी से समन्वित भूतात्मा की प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगत्रयी से पराङ्मुखता, एवं आत्मयोगत्रयी से वञ्चित कामभोगात्मक-बहिर्योग से समन्वित मानव की अशान्ति के मूलकारणान्वेषण का प्रयास—

शारीरिक आत्मा में जहाँ भी कहीं से ज्ञान-कर्म्म अर्थ की मात्राएँ आई हैं जिनके अनुगमन से कि शारीरक भूतात्मा ज्ञान-कर्म्म अर्थ-मय बना हुआ है उन पर [विषयाभ्यासदशा]—मात्राओं से इतर्मूर्ति भूतात्मा बहिर्जगत के ज्ञान-कर्म्म अर्थों के साथ जहाँ युक्त है वहाँ उस 'परमसम्पत्ति [आत्मसम्पत्ति] से विमुख है। यही रूप 'परमात्मा प्रत्यगात्मा' कहलाता है। इसी के अंश से देहाभिमानी शारीरिक भूतात्मा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। क्योंकि योगमाया परानुबन्धिनी है उधर स्वयं महात्मा भी (मनुष्य का भी) परानुबन्धी है एवं बहिर्जगत् भी भूतप्रधान बनता हुआ परानुबन्धी ही है अतएव परमपद में स्वभावतः आसक्त ['मधुसिरपा-भूतानाम्'] भूतात्मा उस परातीत प्रत्यगात्मा के योग से बिना प्रत्यगात्म सम्बन्धी—आत्मात्मक ज्ञान-कर्म्म-अर्थों के योग से सर्वथा वञ्चित रहता है एवं परप्रधान बाह्यजगत् के प्राकृतिक [परानुबन्धी] बिना योगमायानुबन्धी ज्ञान-कर्म्म अर्थ प्रपञ्च के साथ युक्त रहता है। यही बाह्ययोग [उदरपोषण का साधक बनता हुआ भी वैषयिक क्षणिक सुखों का उत्तेजक बनता हुआ भी] इसकी अशान्ति का ही मूलकारण प्रमाणित हो जाता है।

८–पशुसर्गानुगता पशव्या योगत्रयी के साथ प्राकृत मानवसर्गानुगता मानुषी-योगत्रयी का सह समतुलन एवं इस की आत्यन्तिकी भयावहता—

प्राकृतिक-योगत्रयी की दृष्टि से मनुष्य और पशु दोनों समधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। पशु भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनयात्रा का निर्वाह कर ही लेता है उधर मनुष्य भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवितमात्र तो रह ही सकता है। *वह सींग पूँछ वाला पशु है तो यह बिना सींग पूँछ का पशु है।* ऐसी योगत्रयी से न इसके आत्मानुगामी ज्ञान का विकास होता न कर्म्म का विकास होता एवं न अर्थ का। होता भी है —तो उस ज्ञान का जो कि ज्ञान क्षणिक विज्ञान का बाना पहिनता हुआ मानवसमाज की शान्ति का मूलोच्छेदक ही है उस कर्म्म का जो मानव की कामनाओं को उत्तेजित ही करते जाता है एवं उस अर्थ का जो कि आत्मस्थिरता का नाशक ही है। इस दृष्टि से तो यह मानुषी-योगत्रयी पशव्या-योगत्रयी से भी कहीं भयानक बन जाती है।

अस्मत्परिभाषानुसार शारीरिक आत्मा कहा जाता है। मनु के शब्दों में यही कर्म्मकर्त्ता भूतात्मा है—"यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः" (मनु १२।१२)। इस भूतात्मा की अर्थप्रधान वैश्वानर, क्रियाप्रधान तैजस एवं ज्ञानप्रधान प्राज्ञ ये तीन कलाएँ हैं। फलतः भूतात्मा इन्द्रियों के द्वारा वैश्वानर भाग से भूतानुबन्धी 'अर्थ' के साथ 'योग' करता है, तैजसभाग से अर्थानुबन्धी 'कर्म्म' के साथ 'योग' करता है एवं प्राज्ञ भाग से कर्मानुबन्धी 'ज्ञान' के साथ योग करता है।

४–लौकिक-सामान्य-मानववर्ग के प्रकृत्यनुगत प्राकृत—ज्ञान, भक्ति, कर्म्म—योगों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ जानता है'—इस वाक्य का यही अर्थ है कि, इसके आत्मा के साथ (प्राज्ञभाग के साथ) भौतिक ज्ञान का योग होरहा है। यही प्रकृतिसिद्ध ज्ञानयोग है। 'प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ करता रहता है'—इस वाक्य का यही अर्थ है कि इसके आत्मा के साथ (तैजस भाग के साथ) भौतिक वस्तुप्राप्ति-साधक कर्म्म का योग हो रहा है। यही प्रकृतिसिद्ध भक्तियोग है। जानने और करने से, दूसरे शब्दों में ज्ञानपूर्वक कर्म्म करने से भौतिकी अर्थसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस अर्थसम्पत्ति के साथ भी कर्त्ता-ज्ञाता आत्मा का (आत्मा के वैश्वानर भाग का) सम्बन्ध होता है। यही प्रकृतिसिद्ध कर्म्मयोग है।

५–प्राणिमात्र में समन्वित लौकिकी प्राकृतिकी-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी—

मूर्ख से मूर्ख मनुष्य एवं विद्वान् से विद्वान् मनुष्य सब में भूतात्मानुगामी प्रकृतिसिद्ध ये तीनों योग प्रतिष्ठित हैं। जिनका योग होता है वे हैं वैषयिक ज्ञान, सात्त्विक कर्म्म एवं भौतिक पदार्थ। जिनके साथ योग होता है वह है भूतात्मा किंवा भूतात्मा की ज्ञानमय—प्राज्ञ, कर्म्ममय—तैजस एवं अर्थमय वैश्वानर नाम की तीन कलाएँ। प्रकृतिमूलक, प्रकृतिसिद्ध ये तीनों योग न केवल मनुष्यों में ही, अपितु प्राणीमात्र में भी सिद्ध हैं।

६ मानव के वैयक्तिक, एवं पारिवारिक योगक्षेम, तत्संसाधक तीन सामान्ययोग, एवं लौकिक योगत्रयी से अनुप्राणित योगपरायण मानववर्ग—

ऐसे प्रकृतिसिद्ध तीनों योग केवल योग-क्षेम के ही साधन हैं, प्रकृतिसत्ता के ही आधार हैं। यदि मनुष्य ज्ञानपूर्वक कुछ करता रहेगा, तो अर्थ-प्राप्ति के द्वारा इसकी जीवनयात्रा का सुचारु-रूप से निर्वाह होता रहेगा। ऐसे ज्ञानी भक्त एवं कर्म्मठ को अपने लिए, किंवा अपने कुटुम्ब के लिए अन्न-पानादि की चिन्ता का विशेष सामना न करना पड़ेगा। एक शिल्पी (कारीगर) ज्ञानपूर्वक सामान-निर्माण का काम करता है, अर्थप्राप्ति होती है। उसके द्वारा यह अपने भूतात्मा का भी भरण पोषण करता है एवं अपने कुटुम्ब का भी पालन करता है। यदि यह प्रकृतिसिद्ध इन तीनों तन्त्रों का परित्याग करता हुआ अकर्मण्य बन जायगा तो अवश्य इसका भूतात्मा भी सुरक्षित न रहेगा एवं साथ ही यह कुटुम्ब-क्षय का भी कारण बन जायगा। तात्पर्य यही हुआ कि भूतात्मा, भूतात्मा से सम्बद्ध शरीर एवं भूतात्मा-सम्बन्धी पुत्र-स्त्री-बन्धुवर्ग आदि की जीवनयात्रा को लक्ष्य में रखते हुए, इनकी रक्षा के लिए भौतिक प्राकृतिक

ज्ञान-कर्म्म-अर्थों की ओर अपने भूतात्मा को झुकाते हुए, भोजन के लिए आत्मसमर्पण करते हुए, परमिक्षान के अनुसार 'खाना-पीना-मौज उड़ाना' इस आदर्श का अनुगमन करते हुए, लौकिक ज्ञान लौकिक कर्म्म एवं लौकिक अर्थों का अपने भूतात्मा के साथ योग करा देना ही प्रकृतिसिद्ध-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योग है। इन लद्धसिद्ध योगों का अनुगामी बनता हुआ शारीरक भूतात्मा बहिर्जगत् का ही उपासक बन रहा है।

७-बहिर्योगत्रयी से समन्वित भूतात्मा की प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगत्रयी से पराङ्-मुखता, एवं आत्मयोगत्रयी से वञ्चित काममोगात्मक-बहिर्योग से समन्वित मानव की अशान्ति के मूलकारणान्वेषण का प्रयास—

शारीरिक आत्मा में जहां भी कहीं से ज्ञान-कर्म्म-अर्थ की मात्रायें आई हैं जिनके अंशानुगमन से कि शारीरक भूतात्मा ज्ञान-कर्म्म अर्थ-मय बना हुआ है उन पर [सिवराव्ययप्रदत्ता]—मात्राओं से कृतमूर्ति भूतात्मा बहिर्जगत् के ज्ञान-कर्म्म अर्थों के साथ जहाँ युक्त है वहाँ उस 'परसम्पत्ति [आत्मसम्पत्ति] से विमुख है। वह शीर्ष- परमात्मा 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है। इसी के अंश से देहाभिमानी शारीरिक भूतात्मा का स्वरूप-निर्माण हुआ है। क्योंकि योगमाया परानुबन्धिनी है उधर स्वयं महात्मा भी (मनुष्य मन भी) परानुबन्धी है एवं बहिर्जगत् भी भूतप्रधान बनता हुआ परानुबन्धी ही है अतएव परप्रपञ्च से समाहत आत्म ['प्रवृत्तिरपा-भूतानाम] भूतात्मा उस परातीत प्रत्यगात्मा के योग से किंवा प्रत्यगात्म सम्बन्धी—आत्मात्मक ज्ञान-कर्म्म अर्थों के योग से तो वञ्चित रहता है एवं परप्रधान बाह्यजगत् के प्राकृतिक [परानुबन्धी] किंवा योगमायानुबन्धी ज्ञान-कर्म्म-अर्थ प्रपञ्चों के साथ युक्त रहता है। यही बाह्ययोग [उत्पत्तिरूप का साधक बनता हुआ भी वैयक्तिक क्षणिक सुखों का उत्तेजक बनता हुआ भी] इसकी अशान्ति का ही मूलकारण प्रमाणित होजाता है।

८-पशुसर्गानुगता पशव्या योगत्रयी के साथ प्राकृत मानवसर्गानुगता मानुषी-योगत्रयी का सह समतुलन, एवं इस की आत्यन्तिकी सर्वाग्रहता—

प्राकृतिक-योगत्रयी की दृष्टि से मनुष्य, और पशु दोनों समधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। पशु भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनयात्रा का निर्वाह कर ही रहा है, उधर मनुष्य भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवितमात्र तो रह ही सकता है। वह सींग पूँछ वाला पशु है तो यह बिना सींग पूँछ का पशु है। ऐसी योगत्रयी से न इसके आत्मानुगामी ज्ञान का विकास होता न कर्म्म का विकास होता एवं न अर्थ का। होता भी है —तो उस ज्ञान का, जो कि ज्ञान लौकिक विज्ञान का नाम पहिनता हुआ मानवसमाज की शान्ति का मूलोच्छेदक ही है उस कर्म्म का जो मानव की कामनाओं का उत्तेजन ही करने वाला है एवं उस अर्थ का जो कि आसक्तिरूप का मन्त्र ही है। इस दृष्टि से तो यह मानुषी-योगत्रयी पशव्या-योगत्रयी से भी कहीं बढ़कर बन जाती है।

९—सीमित योगक्षेमानुगत पशुवर्ग की प्राकृतिक तुष्टि, एवं तत्समतुलन में कामासक्तिमय मानव की प्रवृद्धा योगक्षेमवासना, तथा तन्निबन्धन प्रवृद्धतम दुःखधाम—

कारण—पशुओं का भूतात्मा सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है अपितु वह नियतिचक्र का अनुगामी है। अतएव उनके ज्ञान-कर्म्म अर्थ-भूतानुगामी बनते हुए भी सर्वात्मना सीमित रहते हैं। यही कारण है कि उनका योग-क्षेम व्यवस्थित बना रहता है। इधर ज्ञानस्वातन्त्र्य से समन्वित मनुष्य ज्ञान का दुरुपयोग करता हुआ योगक्षेम-व्यवस्था का भी अतिक्रमण कर जाता है। प्रकृति इसे जितना देना चाहती है, आसक्तिवश इसकी भूख उससे भी बढ़ जाती है। और यों 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा' लिप्सायें सर्वात्मना वासनामय होजाती हैं। कहना न होगा कि, पृथिवीमण्डल के समस्त मनुष्य प्रकृतिसिद्ध इन्हीं तीनों योगों के अनुगामी हैं। और यही योगानुगमन मानव की अशान्ति का मूल कारण है।

१०—'वदतोव्याघात' न्यायमूला एक विप्रतिपत्ति एवं प्रकृतियोग तथा पुरुषयोग के व्यवच्छेद-माध्यम से विप्रतिपत्ति का समन्वय-प्रयास—

यह वदतो-व्याघात कैसा ?। द्वितीय प्रकरण में प्रकृति के स्वरूप का उपक्रम करते हुए हमने यह कहा है कि, प्रकृति के अनुसार चलने में ही आनन्द है, शान्ति है। आज ठीक इसके विपरीत यह कहा जाता है कि, प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी तो पशुधर्म्म है, अशान्ति की जननी है। दुरवस्था प्रकृति की वदतो-व्याघात करने के लिए हमें विवश करे तो इसमें हमारा क्या दोष ?। प्रकृति का अनुगमन सर्वथा शान्तिकर, किन्तु प्रकृति का ही अनुगमन सर्वथा अशान्तिकर। यदि हमारा भूतात्मा योग-क्षेम-निर्वाह के लिए प्रकृतिसिद्ध मार्गों का अनुगमन करता हुआ अव्ययात्मधर्म्मों [पुरुषधर्म्मों] के साथ भी युक्त रहता है तो इसे समस्तसम्पत्ति भी प्राप्त होजाती है। दोनों ओर से सार का समतुलन होजाता है। 'प्रकृतिसिद्ध मार्ग शान्तिप्रद हैं' इस वाक्य का अर्थ है—'पुरुषयोगानुबन्धी प्रकृतिसिद्ध मार्ग'। यदि केवल प्रकृति का ही योग है तो अवश्य ही महद्भय उपस्थित है। अपने लिए ही महद्भय नहीं, अपितु अपने साथ साथ जगत् का भी विनाश है। पशु यहाँ अपने रूप से प्रकृति के अनुगामी रहते हैं, वहाँ पर रूप से नियन्त्रित रहते हुए पुरुषयोग से भी एकान्ततः वञ्चित नहीं रहते हैं। अतएव विशुद्ध प्रकृतियोगानुगामी मनुष्य की अपेक्षा पशु अधिकतर सुखी रहते हैं। उधर उन मनुष्य की अपेक्षा भी जो केवल पशुधर्म्मवत् योगक्षेम पर ही अपने योगों का विश्राम कर देता है, वे मनुष्य अधिक अशान्त रहते हैं जो कि योग-क्षेम-मर्य्यादा का अतिक्रमण कर अपने कामनाभाव को निःसीमरूपेण उद्दीप्त कर लेते हैं। योगक्षेमानुगामी श्रमिक (मजदूर) रूखा-सूखा खाकर भी सुखी है, किन्तु मर्य्यादामुक्त श्रीमन्त पर्य्याप्त भोजन-प्रसाद करता हुआ भी अशान्त है इस सर्वानुभूत सिद्धान्त का कौन विरोध कर सकता है ?।

११—अव्ययपुरुषप्रधान ईश्वर, अक्षरप्रकृतिप्रधान जीव (मानव), क्षरविकृतिप्रधान जगत् एवं विश्वमायात्मिका योगमाया का सहज आकर्षण—

तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि प्रकृति का वही योगानुगमन शान्तिकर है जिसमें पुरुषयोग समाविष्ट हो। पुरुषयोग से वञ्चित प्रकृतियोग क्यों अशान्ति का कारण बन जाता है ?, इस प्रश्न के समाधान

का भी समन्वय कर लीजिए। योगमाया ही यहाँ प्रकृति शब्द से ग्राह्य है। योगमाया क्षरप्रधाना है। एवं यही भूतसर्ग की अधिष्ठात्री है। स्वयं भूतात्मा महामायानुबन्धी बनता हुआ अक्षरप्रधान है एवं प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान है। अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा (आध्यात्मिक) ईश्वर है, अक्षरप्रधान शारीरिक आत्मा जीव है एवं क्षरप्रधान विश्व जगत् है। योगमाया क्योंकि क्षरप्रधाना है एवं इसीके गर्भ में अक्षर प्रधान जीव का जन्म होता है अतएव यह विशेषतः योगमाया से आकर्षित होता हुआ तद्रूप भौतिक वर्गों का ही अनुगामी बना रहता है।

१२–पुरुष-प्रकृति-निबन्धन भूमानन्द का तारतम्य, तन्निबन्धन शान्ति-सुख तारतम्य, एवं प्रकृतियोग के क्षेत्र में शान्ति का अत्यन्ताभाव—

यह भी सिद्ध विषय है कि, अव्यय के द्वारा अक्षर में पुण्यप्रकाश का आगमन हुआ है एवं अक्षर के द्वारा क्षर में। इसी द्वार-सम्बन्ध से यह भी निश्चित है कि, अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा की अपेक्षा अक्षर प्रधान शारीरक आत्मा में प्रकाश अल्प है इसकी अपेक्षा मनोयुक्त इन्द्रियवर्ग में कम है एवं तदपेक्षया क्षरप्रधान विश्व में कम है। आनन्दलक्षणा तृप्ति का भूमाभाव से ही सम्बन्ध है। उधर योगमायानुबन्धी भौतिक वर्ग की अपेक्षा भूतात्मा स्वयं भूमामय है। ऐसी दशा में इसकी तृप्ति वही आनन्द कर सकता है जो कि इसकी अपेक्षा भूमाभावापन्न हो। भौतिक पदार्थों में उस भूमा का अभाव है नाभूमत्त्वस्य तु व्याशा-स्ति विद्येन। परिणामतः अभिलषित आनन्द न मिलने से विशुद्ध प्रकृतियोगी के अनुगामी को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

१३–सहज शान्ति प्राप्ति से अनुप्राणित 'पुरुषानुबन्धी योग', सहज-शान्ति विघातक 'प्रकृत्यनुबन्धी अयोगात्मक-योग', एवं दोनों का तारतम्य—

शान्ति मिले कब जबकि जीवनमात्र-निर्वाह के लिए आवश्यक योगक्षेममात्रार्थ प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ भूतात्मा पुरुषनिष्ठा (प्रत्यगात्मनिष्ठा) योगत्रयी में प्रतिष्ठित रहे। पुरुषनिष्ठा योग-त्रयी ही समाधि है इसमें परिनिष्ठित योगी ही प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ ऐहलौकिक अभ्यु-दय के साथ साथ पारलौकिक शाश्वत भूमानन्द (निःश्रेयस) का भी अधिकारी बनता हुआ निर्योगक्षेम आत्मवान् बन जाता है। क्योंकि विशुद्ध प्राकृतिक-योगत्रयी केवल भौतिक-सम्पत्ति की अभिवृद्धि का कारण बनती हुई भूतात्मा को अपनी ओर आकर्षित करती हुई उसे प्रत्यगात्मयोग से वञ्चित कर देती है अतएव इस योग को हम 'अयोग' ही कहेंगे जिसके कि अनुगामी सम्पूर्ण प्राकृत विश्व एवं तन्मय बनकर प्राकृत मानव बने हुए हैं।

१४ आत्मस्वरूप के साक्षात्कारकर्ता महर्षियों के द्वारा दृष्टा, व्यवस्थिता पुरुषयोगत्रयी, तदनुगामी भारतवर्ष, एवं योग का क्षेत्रभूतत्व —

आत्मसाक्षात्कार करने वाले महर्षियोंने इस विप्रतिपत्ति का अनुभव किया। और इसके निराकरण के लिए ही प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी के आधार पर पुरुषानुगामी तीन मार्गों का आविष्कार किया। इन

आत्मप्रकार का आविष्कार के प्रचार का प्रचार के अनुगमन का एकमात्र श्रेय मिला आविष्कर्ता-भारतीय महर्षियों को, मन्वादि धर्माचार्यों को, एवं तदनुगामिनी भारतीय-श्रद्धामय-धर्मानुगता प्रजा को। इसी वैशिष्ट्य से यह आविष्कार एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन गया। शेष देश 'शेषकोटि' में रहते हुए- 'यत्नैषात्यलम्बितो वेताल' की सूक्ति का चरितार्थ करने वाले ही बने रह गए।

१५-अशरीरी सत्यगात्मा एवं अशरीरी भूतात्मा के ज्ञान क्रिया-अर्थ-पर्वों का योगात्मक 'योग', तथा तदभिन्नभूता ज्ञान-भक्ति-कर्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी'-का स्वरूप-समन्वय—

ज्ञान-कर्म-श्रम-मन विश महत्वगात्मा का शारीरिक आत्मा (मानवीय भूतात्मा) अंश है अंशात्मिका उन ज्ञान-कर्म-अर्थ-मात्राओं। अंशी की धनात्मिका ज्ञान-कर्म-अर्थ-कलाओं के साथ योग-होजाना ही व्यावहारिक (शास्त्रमूलक व्यावहारिक अतएव इस दृष्टि से पारमार्थिक) ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग है। दूसरे शब्दों में महत्वगात्मा और शारीरक के ज्ञानों का योग ही ज्ञानयोग है, कर्मों का योग ही भक्तियोग है, एवं अर्थों का योग ही कर्मयोग है। इन योगों की साधनभूता प्रक्रियाएँ भी आगे चलकर शब्दव्यवहार से 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध होगई हैं। वस्तुतः योग सिद्ध पदार्थ है। सिद्धयोग के साधन के लिए दूसरे शब्दों में योगविभूति प्राप्त करने के लिए जिन साधनों का अनुगमन किया जाता है वे साधन भी 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। आज वे साधन ही सर्वसाधारण में 'योग' नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं। परन्तु योगतत्व की मीमांसा करते हुए हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि-ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों ही योग नित्य हैं, सिद्ध हैं। अंशी का अंश के साथ किंवा अंश का अंशी के साथ कभी योग न रहे यह सर्वथा असम्भव है। हाँ अंशात्मा अपने प्रज्ञापराध से संस्कारावरण को लेकर इस सिद्धयोगविभूति को मलिन अवश्य ही बना लेता है। इस मलिनता का प्रभाव भी अंश पर ही रहता है। अंशी तो फिर भी निर्लेप ही रहता है। पुरुष का पुरुषार्थ यही है कि वह उपासनाविशेषों से आवरण को हटा दे। आवरण के हटते ही सिद्धयोगविभूति का उदय होजायगा एवं शारीरक आत्मा सत्यगात्मानुभव प्राप्त करता हुआ पूर्ण बन जायगा। अवस्था की आत्यन्तिक उपक्रान्ति होजायगी एवं नित्य भूमानन्द अभिव्यक्त होजायगा।

१६ गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में पिष्टपेषणात्मिका महती विप्रपत्ति—

सम्भव है पाठक यह प्रश्न करेंगे कि योगत्रयी अनादि है एवं इसके अनुगमन से पुरुष का पुरुषार्थ सिद्ध होजाता है। फिर गीताने इन के सम्बन्ध में पिष्टपेषण के अतिरिक्त और क्या बतलाया ?। प्रश्न का समाधान पूर्वप्रकरणों में कई प्रकार से किया जाचुका है। यहाँ भी प्रकरणसङ्गति के लिए दो अक्षर कह देना अनुचित न होगा।

१७-ज्ञानयोगवादी सांख्यों का कल्पित अद्वैतवादमूलक कर्मत्यागात्मक कल्पित ज्ञानयोग, और उसकी अपाधरमणीयता—

महर्षिभिन्न योगत्रयी की ज्वलन का कारण मानने वाले वैद्योंने रोग की चिकित्सा के साथ साथ रोगी की भी चिकित्सा कर डाली। सबसे पहिले ज्ञानयोगवादी सांख्यों को ही लीजिए। उन्होंने यह समझा कि ज्ञान एक पवित्र वस्तु है एवं यही एकमात्र आत्मा का स्वरूपधर्म है। शारीरिक एवं भौतिक कर्मोंने एवं

भौतिक कर्म्मोंने ही पवित्र ज्ञानात्मा को मलिन कर रक्खा है। ऐसी दशा में भूतात्मा को जबतक कर्म्माशय-पाशों से पृथक् नहीं कर दिया जायगा तबतक कैवल्यविमोक्ष असम्भव है। एकमात्र इसी के आधार को आगे करते हुए कपिल ने कर्म्म का खण्डन करते हुए विशुद्ध ज्ञानानुष्ठान का ही आदेश दे डाला। इसप्रकार व्यक्त कर्म्मवाद से विरहिता सांख्यनिष्ठा विशुद्ध अव्यक्तरूप में ही परिणत होगई। इस दिशा में योग-क्षेम की भी सर्वथा उपेक्षा ही की गई।

१८-कर्म्मयोगवादी कर्म्मठों का कामनामय काम्यकर्म्मयोग एवं उसकी निस्सारता, तथा भक्तियोगवादी भक्तों के क्षम्य भक्तियोग का दिग्दर्शन—

कर्म्मयोगियोंने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि जगदीश्वर ने कर्म्म के द्वारा ही यह लोकवैभव प्राप्त कर रक्खा है तो हम भी इसकी कामना क्या न करें?। इसी कामना को फलासक्ति को आगे करते हुए उन्होंने विशुद्ध व्यक्त-कर्म्ममार्ग की ही श्रेष्ठता स्वीकार की। एतदतिरिक्त एक ऐसा मध्यम वर्ग अभिव्यक्त हो गया जिसने कर्म्म की भी अवहेलना ठीक न समझा एवं ज्ञानमूर्त्ति ईश्वर की उपेक्षा भी इस से सह्य न हुई। फलतः इस मध्यम वर्ग ने अपना यह निश्चय प्रकट किया कि, कर्म्म करो परन्तु ईश्वरार्पणबुद्धि से। ऐसा करने से तुम्हें कर्म्म का फल भी मिल जायगा (क्योंकि कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता) एवं इच्छा क्योंकि ईश्वर की होगी तुम केवल निमित्तमात्र रहोगे अतएव कर्म्मजनित-स्वरूपदोष का भी तुम पर कोई प्रभाव न होगा। इस ईश्वरानुग्रह से ही तुम्हारे सम्पूर्ण पाप प्रक्षालित हो जायेंगे- 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'।।

१९-कपिलसम्मता ज्ञानभाघुकता, हिरण्यगर्भसम्मता भक्तिभाघुकता एवं स्वयम्भुसम्मता कर्म्मभाघुकता का स्वरूप दिग्दर्शन तथा समत्वमूला-बुद्धियोगान्विता ज्ञान भक्ति-कर्म्म-योगनिष्ठाओं का पावन संस्मरण—

कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग कर्म्मफलासक्तिलक्षण कर्म्मयोग एवं ईश्वरानुग्रहप्राप्ति-प्रार्थनालक्षण भक्तियोग ये तीनों योग कहने को अवश्य ही अन्तरात्मा के अनुगामी बन गए। परन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाता है तो इनका आसन उन तीनों योगों के समत्वलक्षण पर ही प्रतिष्ठित मानना पड़ेगा जो कि तीनों योग विशुद्ध प्रकृति के अनुगामी बनते हुए योगक्षेम के बाधक माने गए हैं। अव्यक्त प्रकृति (अक्षर) ज्ञानप्रधाना है व्यक्त प्रकृति (क्षर) कर्म्मप्रधाना है। एक में ज्ञानप्रधान एवं कर्म्म गौण है एक में कर्म्म प्रधान तथा ज्ञान गौण है। फलतः विषमभावयुक्त दोनों ही योग समत्वमूलक प्रत्यगात्मा (अव्यय) की समता से तो सर्वथा ही वञ्चित हैं। भक्तियोग मध्यममार्ग बनता हुआ यद्यपि 'सम' है परन्तु ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति-कामना के बीज से यह भी विषम ही बना हुआ है। इसप्रकार भूतानुगामी लौकिक ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-यदि विशुद्ध क्षर के (योगमाया के) अनुगामी बनते हुए विषम हैं तो लोकप्रचलित कपिल-हिरण्यगर्भ-स्वयम्भू सम्मत शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग-अक्षरानुगामी बनते हुए विषम हैं। समता का एकमात्र आश्रय है-प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वराव्यय। बिना उसके ये तीनों शास्त्रीय योग भी अयोग ही हैं। कपिल ने अव्यय की उपेक्षा समझ कर ही अपने ज्ञानयोग को भ्रान्त बनाया। हिरण्यगर्भ ने त्रिगुणमाया से समन्वित सगुणेश्वर के कारण भ्रान्ति की। एवं स्वयम्भू का कर्म्म

आविष्कार का आविष्कार के प्रचार का प्रचार के अनुगमन का एकमात्र श्रेय मिला आविष्कर्त्ता-भारतीय महर्षियों को, मन्वादि धर्माचार्यों को एवं तदनुगामिनी भारतीय-धर्मप्रज्ञ-धर्मानुगता प्रजा को। इसी वैशिष्ट्य से यह आविष्कार एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन गया। शेष देश 'शतकोटि' में रहते हुए- 'यत्रैवायुस्तत्रैवो पताका' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले ही बन रह गए।

१५-अंशी प्रत्यगात्मा एवं अंश भूतात्मा के ज्ञान क्रिया अर्थ-पर्वों का योगात्मक 'योग', तथा तन्निबन्धना ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी'-का स्वरूप-समन्वय—

ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-घन जिस प्रत्यगात्मा का शारीरिक आत्मा (मानवीय भूतात्मा) अंश है तदात्मक उन ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-भावात्मक। अंशी की घनात्मिका ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-कलाओं के साथ योग-होजाना ही व्यावहारिक (शास्त्रमूलक व्यावहारिक अतएव इस दृष्टि से पारमार्थिक) ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योग है। दूसरे शब्दों में प्रत्यगात्मा और शारीरिक के ज्ञानों का योग ही ज्ञानयोग है, कर्म्मों का योग ही भक्तियोग है, एवं अर्थों का योग ही कर्म्मयोग है। इन योगों की साधनभूता भावनाएँ भी आगे जाकर तात्स्थ्यन्याय से योग नाम से ही प्रसिद्ध होगई हैं। वस्तुतः योग सिद्ध पदार्थ है। सिद्धयोग के साधन के लिए दूसरे शब्दों में योगविभूति प्राप्त करने के लिए जिन साधनों का अनुगमन किया जाता है वे साध न भी 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। आज वे साधन ही सर्वसाधारण में 'योग' नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं। परन्तु योगतत्त्व की मीमांसा करते हुए हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म तीनों ही योग नित्य हैं, सिद्ध हैं। अंशी का अंश के साथ किंवा अंश का अंशी के साथ कभी योग न रहे, यह सर्वथा असम्भव है। हाँ अंशात्मा अपने प्रज्ञापराध से संस्कारावरण का लेकर इस सिद्धयोगविभूति को मलिन अवश्य ही बना लेता है। इस मलिनता का प्रभाव भी अंश पर ही होता है। अंशी तो फिर भी निर्लेप ही रहता है। पुरुष का पुरुषार्थ यही है कि वह उपायविशेषों से आवरण को हटा दे। आवरण के हटते ही सिद्धयोगविभूति का उदय होजायगा एवं शारीरिक आत्मा प्रत्यगात्मानुभव प्राप्त करता हुआ पूर्ण बन जायगा। अल्पता की आत्यन्तिक अनुपपत्ति होजायगी एवं नित्य भूमानन्द अभिव्यक्त होजायेगा।

१६-गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में पिष्टपेषणात्मिका महती विप्रपत्ति—

सम्भव है पाठक यह प्रश्न करेंगे कि योगत्रयी अनादि है एवं इसके अनुगमन से पुरुष का पुरुषार्थ सिद्ध होजाता है। फिर गीताने इन के सम्बन्ध में पिष्टपेषण के अतिरिक्त और क्या बतलाया ?। प्रश्न का समाधान पूर्वप्रकरणों में कई प्रकार से किया जाचुका है। यहाँ भी प्रकरणसङ्गति के लिए दो अक्षर लिख देना अनुचित न होगा।

१७-ज्ञानयोगवादी सांख्यों का कल्पित अद्वैतवादमूलक कर्म्मत्यागात्मक कल्पित ज्ञानयोग, और उसकी आपातरमणीयता—

प्रकरणनिष्ठा योगत्रयी को पृथक् पृथक् मानने वाले सम्प्रदायों ने रोग की चिकित्सा के साथ साथ रोगी की भी चिकित्सा कर डाली। सबसे पहिले ज्ञानयोगवादी सांख्यों को ही लीजिए। उन्होंने यह समझा कि, ज्ञान एक पवित्र वस्तु है एवं यही एकमात्र आत्मा का स्वस्वधर्म है। लौकिक एवं भौतिक कर्मोंने एवं

जो भी तत्त्व सृष्टि के आरम्भ में जैसे थे आज भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। अतीत में उन से जो कर्म होता था आज भी वही कर्म होता है। इसीप्रकार जौ-गेहू-चाँवल-उड़द-मूँग आदि ओषधियाँ आम्र-केला नारङ्गी आदि वनस्पतियाँ और और भी धातुवर्ग जैसे पहिले थे आज भी हैं। मनुष्य पशु-पक्षी-आदि के स्वरूपों का संघठन जैसे हजारों वर्ष पहिले था आज भी है।

३-प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक युगधर्म्म से अनप्राणिता-परिवर्त्तन-भ्रान्ति, भ्रान्तिमूलक विसंवाद एवं परिवर्त्तनवादियों के काल्पनिक-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिक-मानव का उद्बोधनमन्त्र--

'प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक' जिस युगधर्म्म शब्द को आगे कर कुछ एक बुद्धिवादी शास्त्र-परिवर्त्तन की जिज्ञासा प्रकट करते हैं साथ ही इसी हेत्वाभास को आगे कर प्रकृतिरहस्यानभिज्ञ जो महानुभाव वर्त्तमानयुग के लिए शास्त्रों की अनुपादेयता सिद्ध करने में ही मायपण से प्रयत्नशील बने हुए हैं क्या उनका यह प्रश्न सर्वथा आपातरमणीय ही नहीं है ?। पीने के लिए वही पानी भोजन के लिए वही अन्न भोक्ता वही आत्मा भोगसाधन वे ही इन्द्रियाँ। क्या उन्होंने इन में परिवर्त्तन की चेष्टा की है ?। परिवर्त्तन के पक्षपाती उन महानुभावों से हम पूँछते हैं कि क्यों नहीं वे उस ईश्वर को ही बदल देते जो कि आज बहुत पुराना हो-गया है ?। क्यों नहीं उस विश्व का ही कायाकल्प कर डालते जिसमें सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि यथावत् यथास्थान व्यवस्थित रहते हुए आजतक उसी ढर्रे पर चले आरहे हैं ?। क्यों नहीं उन वेदों के स्थान में नए वेद बना डालते जब पुराने वेदों की भाषा आज के सर्वसाधारण अतएव अनुकूलवादी भी मानव के लिए अत्यन्त क्लिष्ट अतएव अनुपयुक्त है ?। क्यों नहीं प्रचलित भाषा में छोटे छोटे वाक्यों के स्वरूप नवीन ही वेद बना दिए जाते ?। और फिर उन्हें मनुष्य मनुष्यों में भी भारतीय भारतीयों में भी द्विजातियों ही अपना पारिवारिक-दायाद (मौरूसी जायदाद) समझे, इस की भी क्या आवश्यकता ?। वेद यदि ईश्वरीय ज्ञान है तो उस का क्यों नहीं समानरूप से मनुष्यमात्र को अधिकार ?। न न पशुओंने क्या अपराध किया है। क्यों नहीं चतुष्पदास्त-जनता वेदभाषा में ही बात चीत करे ?। क्यों नहीं जौ-गेहूं के स्थान में पाषाणादि को ही अन्न बना लिया जाय ?। पानी के स्थान में अग्निपान ही क्यों न किया जाय ?। क्या ये सब वास्तवरूप सम्भव हैं ?। यदि नहीं, तो शास्त्रों में भी परिवर्त्तन असम्भव है। फलतः उन भावों पर वेदापस्तत्व करने वाले परिवर्त्तनवादियों के उद्गार भी सर्वथैव निरर्थक हैं। प्रकान्त-युगधर्म्माभिनिविष्टों की इत्थंभूता भ्रामकता-पूर्ण मान्यताओं का विचार करते हुए ही नैष्ठिक मानव के मुख से ये उद्गार अभिव्यक्त हो ही तो पड़ते हैं कि—

स्यादन्यः परमेश्वरः स हि नवं ब्रह्म यद्युत्पादयेत् ।
तत्राप्युन्नयवाच्य-वाचक-गुणान-वेदान् समुल्लासयेत् ॥
तान् विन्दन्त चतुष्पदान्तजनन्ता, चेष्टन्त साप्युस्पथम् ।
सर्वोवाप समाकुर्या हि हृदयोद्गारोऽपि पार नयेत् ॥

योग साधना के द्वारा विकृत बना दिया गया। भगवान्‌ने तीनों का संशोधन किया और उस संशोधन की मूलप्रतिष्ठा बना एकमात्र अव्ययपुरुष तथा बुद्धियोग। बुद्धियोग-समन्वित से युक्त, अव्ययानुगामी अवश्य कर्म्मपरिग्रहलक्षण ज्ञानयोग ही वास्तविक ज्ञानयोग माना गया, ज्ञानतन्त्रसमन्वित कर्म्मयोग ही वास्तविक कर्म्मयोग माना गया एवं निष्कामभावयुक्त भक्तियोग ही वास्तविक भक्तियोग माना गया, जैसाकि पूर्वप्रकरणानुगत-ज्ञानयोगपरीक्षा-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२०-अभ्युदय-निःश्रेयस-समाधक गीतायोगों का ब्रह्मर्षियों एवं विशेषतः राजर्षियों के द्वारा आविष्कार, तथा गीतायोगानुबन्धी 'निष्कामभाव' का संस्मरण—

इस प्रकार ब्रह्मविद्या योगत्रयी के आधार पर भारतीय ब्रह्मर्षियों के द्वारा विशेषतः राजर्षियों के द्वारा मानव-समाज के अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए अधिकारभेद से तीन योगों का आविष्कार हुआ। ये ही तीन योग मानव-समाज के अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के कारण बने। बुद्धियोग के समावेश से शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा के साथ साथ इन मार्गों में लोकसंग्रह का भी सर्वात्मना समावेश होगया। वर्णधर्म्मात्मक सब धर्म्मों में ही 'स्वधर्म्म' का ध्यान दिया गया। शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों को सर्वोच्च आसन प्रदान किया गया। एवं इन सभी विवर्त्तों की आधारभूमि माना गया एकमात्र निष्कामभाव। जिन कर्म्मों से लोकसंग्रह सुरक्षित रहता है, यदि वे वर्णधर्म्म के विरोधी भी हैं, तब भी उन का आदर किया गया, किन्तु अपवादरूप से परिस्थितियों की दिग्देशकालानुगत-समता-विषमता के तारतम्यानुपात से।

२१-यथाश्रमधर्म्मानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी का ही सर्वतः श्रेयोपपत्व एवं युगधर्म्मानुबन्ध से यथाश्रमधर्म्म का शैथिल्य—

तर्कतः श्रेयोपथ तो यही है कि प्रत्येक वर्ण अपने अपने वर्णधर्म्म का अनुगमन करता हुआ शास्त्रसिद्ध-ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, इन तीनों में से किसी एक का ही अनुगमन करे। परन्तु युगधर्म्मों का परिवर्त्तन भी (शास्त्र के कथनानुसार ही) सहज लोकधर्म्म बन जाता है। शास्त्र ही हमें यह भी कहते हैं कि कलियुग में वर्णधर्म्म शिथिल होजायगा, यथाधर्म्म पर आरूढ़ रहना मानव-समाज के लिए कठिन हो-जायगा। इस का यह तात्पर्य्य तो नहीं है कि, हम स्वयं ही युगधर्म्म के उत्तेजक बनते हुए यथाधर्म्म के विरोधी बन बैठें। किंवा वर्णधर्म्म-प्रतिपादक शास्त्रवत् वर्णगोप्ता शास्त्रों की निन्दा करते रहें, किंवा उन्हें अप्रामाणिक बतलाते हुए उन के विरुद्ध विष-वमन किया करें।

२२-सनातन ईश्वर-प्रजापति के सनातन विश्व की सनातन-लोकविभूतियाँ—

शास्त्रों की निभ्रान्तता प्रामाणिकता अतएव उपादेयता नित्यसिद्धा है। कोईसा भी युग हो, शास्त्रादेशा-नुसार वर्णधर्म्म-मूलक स्वधर्म्म पर आरूढ़ रहना अभ्युदय का ही कारण माना जायगा। परिवर्त्तनशीला प्रकृति प्रतिक्षण नवीन नवीन रूप धारण करती हुई हमारे सामने आती रहती है। इसीलिए संसार को परिवर्त्तनशील माना गया है। प्रकृति के इस स्वाभाविक परिवर्त्तन के साथ साथ अपरिवर्त्तनीय भावों की भी उपेक्षा नहीं की जासकती। प्रकृति के इन्द्र-वायु-अग्नि-अह-अप्सरा-विद्युत्-मास आदि भाति

जो भी तत्त्व सृष्टि के आरम्भ में जैसे थे आज भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। अतीत में उन से जो कर्म होता था आज भी वही कर्म होरहा है। इसीप्रकार जौ-गेहूं-चाँवल-उर्द-मूंग आदि ओषधियाँ आम्र-केला नारङ्गी आदि वनस्पतियाँ और और भी धातुवर्ग जैसे पहिले थे आज भी हैं। मनुष्य पशु—पक्षी—आदि के स्वरूपों का सङ्घटन जैसे हजारों वर्ष पहिले था आज भी है।

३-प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक युगधर्म्म से अनभ्यासिता-परिवर्त्तन-भ्रान्ति, भ्रान्तिमूलक विसंवाद एवं परिवर्त्तनवादियों के काल्पनिक-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिक-मानव का उद्बोधनपत्र -

'प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक' जिस युगधर्म्म शब्द को आगे कर कुछ एक बुद्धिवादी शास्त्र-परिवर्त्तन की जिज्ञासा प्रकट करते हैं साथ ही इसी हेत्वाभास को आगे कर प्रकृतिरहस्यानभिज्ञ वो महानुभाव वर्त्तमानयुग के लिए शास्त्रों की अनुपादेयता सिद्ध करने में ही प्राणपण से प्रयत्नशील बने हुए हैं क्या उनका यह प्रयत्न सर्वथा आपातरमणीय ही नहीं है ?। पीने के लिए वही पानी भोजन के लिए वही अन्न भोक्ता वही आत्मा भोगसाधन वे ही इन्द्रियाँ। क्या उन्होंने इन में परिवर्त्तन की चेष्टा की है ?। परिवर्त्तन के पक्षपाती उन महानुभावों से हम पूछते हैं कि क्यों नहीं वे उस ईश्वर को ही बदल देते जो कि आज बहुत पुराना हो-गया है ?। क्यों नहीं उस विश्व का ही ध्वंस कर डालते जिसमें सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि अवयव यथास्थान व्यवस्थित रहते हुए आजतक उसी ढर्रे पर चले आरहे हैं ?। क्यों नहीं उन वेदों के स्थान में नए वेद बना डालते जब पुराने वेदों की भाषा आज के संघर्षशून्य अतएव अनुकूलताओं में भी मानव के लिए अत्यन्त क्लिष्ट अतएव अनुपयुक्त है ?। क्यों नहीं प्रचलित भाषा में छोटे छोटे वाक्यों के संग्रहरूप नवीन ही वेद बना लिए जाते ?। और फिर उन्हें मनुष्य मनुष्यों में भी भारतीय भारतीयों में भी द्विजातिवर्ग ही अपना प्रातिस्विक दायाद (मौरूसी जायदाद) समझें, इस की भी क्या आवश्यकता ?। वेद यदि ईश्वरीय ज्ञान है तो उस का क्यों नहीं समानरूप से मनुष्यमात्र को अधिकार ?। न न पशुओं ने क्या अपराध किया है। क्यों नहीं चतुष्पदसमस्त जनता वेदभाषा में ही बात चीत करे ?। क्यों नहीं जौ-गेहूं के स्थान में पाषाणादि का ही अन्न बना लिया जाय ?। पानी के स्थान में अग्निपान ही क्यों न किया जाय ?। क्या ये सब तारतम्यदृष्ट्या सम्भव हैं ?। यदि नहीं तो शास्त्रों में भी परिवर्त्तन असम्भव है। फलतः उन मन्त्रों पर वेदासनारूढ़ करने वाले परिवर्त्तनवादियों के उद्गार भी सर्वथैव निरर्थक हैं। प्रकृत-युगधर्म्माभिनिविष्टों की इत्थंभूता भावुकता-पूर्णा मान्यताओं का विचार करते हुए ही नैष्ठिक मानव के मुख से ये उद्गार अभिव्यक्त हो ही तो पड़ते हैं कि—

> स्यादन्य परमेश्वर स हि नव प्रत्न पदमुत्पादयन् ।
> तत्राप्युक्तमवाच्य-वाचक-गुणान्-वेदान् समुद्भासयेत् ॥
> तान् विन्दन्त चतुष्पदान्तमनन्ता, यत्नेन साध्युत्पथम् ।
> सर्वे याय समाकुर्या हि हृदयोद्गारोऽपि पार नयन् ॥

२४–अपरिवर्तनीय अक्षर से नियन्त्रित परिवर्तनशील क्षर के परिवर्तनों का भी अपरिवर्तनत्व एवं सनातन ईश्वर के निश्वासभूत शास्त्र का सनातनत्व–

अक्षरानुगामी अपरिवर्तनीय भावों के साथ रहने वाला क्षरानुगामी परिवर्तन ही वास्तविक परिवर्तन है। मूलप्रकृति की गति में स्थिती हुई ही विकृति अपने स्वरूप की सुरक्षित रखने में समर्थ है। अक्षरस्थिति का प्रवाहरूपा गति की प्रतिष्ठा नहीं बना दिया आज उसका प्रवाहरूपा गति की स्वरूपरक्षा ही सम्भव नहीं है। इस प्रावाहिक परिवर्तन की त्रिकालज्ञ शास्त्र नहीं जानता यह कौन कह सकता है। जिस आत्मा–परमात्मा जैसे अतीन्द्रिय-भावों का स्पष्टीकरण कर दिया वह शास्त्र "कल क्या होगा" यह जानने में असमर्थ होता हुआ भारत समाप्त कर गया यह मानना भी हमें प्रायश्चित्त का भागी बना रहा है। फिर युगधर्मानुसार कहाँ किसे अंशों में परिवर्तन अपेक्षित था उन का निर्णय भी तो शास्त्रों ने कर ही दिया है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि— सनातन ईश्वर की निश्वासवाणी की प्रतिच्छविरूप शास्त्र भी अवश्य ही सनातन है।

२५–गीताशास्त्र की 'शास्त्र' के प्रति अनन्यनिष्ठा–

परिवर्तन के पक्षपाती साथ ही गीताभक्ति का डिण्डिमघोष करने वाले उन उत्पथानुगामी भक्तवर्गों से हम पूँछते हैं कि जब गीताशास्त्र ही इस समय के लिए उपयोगी है इतर सम्पादि शास्त्र अनुपयुक्त है तो भगवान् ने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय में शास्त्र का महत्त्व क्यों स्वीकार किया है। यदि भगवान् की दृष्टि में शास्त्र-सामयिक ही होते तो कभी उनके मुख से (परिवर्त्तनात्मक शास्त्र के सम्बन्ध में आपकी दृष्टि से) 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' ये उद्गार न निकलते।

२६–शास्त्रीय सनातन सिद्धान्तों की सदैकरसता-निबन्धना सनातनता, एवं तदनुप्राणित शाश्वत–सनातनधर्म–

सत्य-अहिंसा-अस्तेय आदि नैतिक नियमद्वारों पर चलते भी उत्तम माने जाते थे आज भी उनकी उत्तमता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। युगधर्मानुसार से यदि आज कोई आज इन नैतिक आदर्शों का उत्थापन करता है तो क्या समाज उसे ऊँची दृष्टि से देखता है? क्या युगधर्म को लिया परिवर्त्तनमार्ग की आगे करते हुए— 'सत्य बोलना पाप है' चोरी करना पुण्य है' इत्यादि रूप से उन नैतिक आज्ञाओं में परिवर्त्तन चाहने वाला व्यक्ति आदर की दृष्टि से देखा जायगा? हमें स्मरण रखना चाहिए कि, सत्य सदा सत्य ही है उत्तम वस्तु सदा उत्तम ही है। अभ्युदय–निःश्रेयस-साधक शास्त्रादेशों का जो महत्त्व पूर्व युगों में था आज भी है। और उसी के अनुगमन में हमारा अभ्युदय भी है। परिस्थितिवश यदि कोई व्यक्ति सत्य का आचरण नहीं करता तो क्या उसका यह असत्य उत्तम माना जायगा कि, वह सत्य की निन्दा करने लगे? नहीं। यथाशक्ति हमें सत्य का ही अनुगमन करना चाहिए। परिस्थितिवश कहीं मिथ्या का अवसर आवे वहाँ से यथाशक्य आत्मपरित्राण का ही प्रयत्न करना चाहिए, और विवशता में मिथ्यानुगमन करने से हमें पश्चात्ताप प्रायश्चित्त ही करना चाहिए।

२७–अविचारितरमणीया शास्त्रनिन्दा एवं कल्पनाओं का काल्पनिक-व्यामोहन–

जबकि गीतासिद्धान्त के अनुसार ही शास्त्र सनातनतत्व है तो उसके सम्बन्ध में भी हमें उक्त नीति का ही अनुगमन करना चाहिए। "हम शास्त्रादेशानुगमन करने में असमर्थ हैं एकमात्र इसी हेतु

को मानी कर हम शास्त्र की निन्दा करने लगें निन्दा का आवश्यपूर्वक प्रचार करने लगें अपनी इस कुप्रवृत्ति के लिए क्षुब्ध मानने के स्थान में उद्दण्डतापूर्वक शास्त्रसिद्धान्तों के खण्डन में ही अपने बल-बुद्धि-तर्क का दुरुपयोग करने लगें क्या इसी का नाम गीताभक्ति है ? । क्या गीता ने हमने अविद्यात्मिका ऐसी ही शिक्षा प्राप्त की है ! । क्या इसी आधार पर हम अपने को 'पक्का' ईश्वरवादी एवं आस्तिक मानने का अभिमान कर रहे हैं ? । अशान्तमयम् ! अशान्तमयम् !! महतीविडम्बना !!!

२८—'परिस्थिति' मूलक हेत्वाभास का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य के प्रति हेत्वाभासानुयायियों की निरपेक्षता—

आज कुछ एक संशोधक महोदय शास्त्रादेशों के सम्बन्ध में ये भी उद्गार निकाला करते हैं कि जब परिस्थितिवश हम शास्त्रादेशों का यथावत् पालन नहीं कर सकते तो फिर उन आदेशों को बोझ भी क्यों लिया जाय ! । क्यों नहीं उन दशा में हम शास्त्रों को कुछ समय के लिए एक कोने में रखकर समयानुसार प्रवाहित होने वाली प्रगति के ही अनुयायी बन जाँय !। सन्ध्या-तर्पण-श्राद्ध आदि कर्मों का जैसा विधान है ठीक उसी विधान के अनुसार वैसा ही करना परिस्थितिवश वर्तमान युग में असम्भव है । जिन्हें सुविधाएँ प्राप्त हैं वे करें जो नहीं कर सकते पूरी इसलिए व्यवस्था नहीं निभा सकते वे करें ही क्यों ।

२९—'असामर्थ्य' प्रयुक्त हेत्वाभास का वाग्विजृम्भण, तदनुगामी 'मध्यमवर्ग', एवं काल्पनिक-विविध-समस्याओं के सर्जन के द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति तद्वर्ग की निरपेक्षता—

स्वागतं मा । ऐसे वर्ग को ही हम माध्यमिक वर्ग भी कह सकते हैं । विचारपरामर्श से इस वर्ग के सम्बन्ध में भी हमें दो धारणाएँ व्यक्त करनी पड़ती हैं । फलतः धारणाभेद से इस माध्यमिक वर्ग के भी आगे जाकर दो विभाग हो जाते हैं । कुछ एक महानुभाव तो अवश्य ही ऐसे हैं जो शास्त्रों पर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास रखते हैं । शास्त्र का अक्षर अक्षर उनके लिए मान्य है । परन्तु साथ ही "यदि कर्म का स्वरूप बिगाड़ दिया तो वह कर्म लाभ के स्थान में हानि का ही कारण बन जायगा इस शास्त्रादेश की भीतिवश से वे शास्त्रीय कर्मों में प्रवृत्त होते हुए डरते हैं । सदाचार शास्त्रीय ज्ञान का अभाव कौटुम्बिक-चिन्ता आदि अनेक कारणों को अपने गर्भ में रखने वाली परिस्थिति से विवश होकर उस भीतिवश को मूल में रखते हुए ही वे महानुभाव कहा करते हैं कि क्या करें दुःख तो अवश्य होता है अशास्त्रीय कर्मों से अधःपतन भी होती है परन्तु विवश हैं । इसी विवशता में पड़कर यद्यपि श्रद्धापूर्वक शास्त्रीय कर्म-ज्ञान भक्ति-योगों से वञ्चित होना हुआ करता है कि— 'जब हम ठीक ठीक कर नहीं सकते तो करें ही क्यों ।

३०—मिथ्याभिमान से प्रदर्शनमात्र के लिए शास्त्रभक्ति-प्रदर्शनपरायण वञ्चकवर्ग का अनर्गल प्रलाप

तृतीय वर्ग ऐसे भी हैं जो अन्तरात्मा से तो शास्त्र पर अणुमात्र भी श्रद्धा विश्वास नहीं रखते । परन्तु जिस समाज में रहकर इन्हें अपनी स्वार्थपरायणता पूरी करनी होती है स्वार्थसिद्धि के लिए इन्हें उस समाज

निष्ठा की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है। अवसर आने पर सर्वे भद्रालु की भाँति मायावश प्रकट करते रहने में भी ये महानुभाव अणुमात्र भी संकोच नहीं करते। यह उस वर्ग की दशा है जिस का पालन पोषण समाज के श्रीमन्तों की कृपा पर ही निर्भर है। उस शास्त्रनिष्ठ समाज को प्रसन्न करने के लिए, साथ ही "तुम शास्त्रानुसार कर्म क्यों नहीं करते" इस प्रश्न के समाधान के लिए ये व्यावहारिक समय कहा करते हैं कि– जी! इच्छा तो बहुत कुछ है परन्तु क्या करें परिस्थितिवश नहीं कर सकते। पूरी विधि न जानने से भय लगता है कि कहीं सत्फल के स्थान में दुष्फल न हो जाय। करें तो ठीक ठीक करें नहीं तो कुछ भी न करें।

३१–युगधर्म्मानुगामी विभिन्न दो वर्गों का स्वरूपपरिचय, एवं तत्सम्बन्ध में विविध वक्ताओं का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इसप्रकार एक वर्ग हृदय से शास्त्र के प्रति निष्ठा रखता हुआ दूसरा वर्ग स्वार्थानुबन्ध से शास्त्रसम्मान का दम्भ करता हुआ वर्तमान युग में शास्त्रीय कर्मों की उपेक्षा ही कर रहा है। दोनों में प्रथम वर्ग के लिए ही हमने "स्वागतम्" कहा है। दूसरे वर्ग के लिए तो– 'दुरतस्तं प्रथमं नमः' ही पुरस्कार है। क्योंकि जो वर्ग प्रत्यक्षरूप से (खुलम खुल्ला) शास्त्र की निन्दा करता रहता है उसकी अपेक्षा भी यह द्वितीय वर्ग कहीं अधिक भयङ्कर है। वास्तव में जो महानुभाव पूर्वोक्त श्रेणी के हैं शास्त्रीय-मर्म्मज्ञान से कोसों दूर हैं पश्चिमी-शिक्षा की सजीव प्रतिमा हैं जो स्वयं स्वार्थ के नहीं, अपितु जिनका समाज है धर्मध्वज-धर्मद्रुमक के द्वारा दुर्योधन की भाँति जिन्होंने भीष्म-कृप-द्रोण सदृश कतिपय महापुरुषों को भी स्व-व्यामोहन-धारा में सफला आबद्ध कर रक्खा है शकुनिस्थानीय कतिपय दुर्जन ही जिनके पथप्रदर्शक हैं दुर्जन-सज्जनों के मध्य में रहने वाला साम्प्रतिक भी जनसम्पर्क में जिनके साथ में परम्परा बद्ध हैं ऐसे सज्जन स्वच्छन्द व्यक्ति ही स्पष्ट शब्दों में शास्त्रों की निन्दा से अपनी जिह्वा कलङ्कित करते रहते हैं। धर्माचरण के अभिमान से ये शास्त्राधिकारी भी बने रहते हैं। शास्त्र के सम्बन्ध में वे अपनी ऐसी परिष्कृत सम्मति देते रहते हैं मानो इन्होंने शास्त्रों का आमूलचूड मन्थन ही कर डाला हो। साथ ही "हाँ बाबू बिलकुल ठीक" कहने वालों की भी कमी नहीं रहती। ऐसे ही महानुभाव अपनी लिप्सावासना की तृप्ति के अनुसार शास्त्रों में परीक्षण करते रहते हैं। ये ही शास्त्रों के निन्दक हैं। इस भूतवर्ग के लिए तो 'कदापि मा तु पाठानामवतमतम सम समः' ही पर्य्याप्त होगा।

जो अपने श्रीमुख से "अच्छा तो हम नास्तिक हैं शास्त्र वास्त्र नहीं मानते सुखी स्वर्गासने होने-मना यह अभिमान के साथ यह कहते रहते हैं अवश्य ही विज्ञान की विश्वधारा में जानकर वहाँ पतित किया जासकता है। क्योंकि–"अज्ञानं तम्य शरणम्"। अज्ञान से ही इन्होंने अन्तर्भावना को अपना लिया है। यदि विज्ञान-सम्मत तर्क के द्वारा इनके सम्मुख शास्त्रों का मर्म्म रक्खा जाता है तो अवश्य ही कालान्तर में ये भारतागत नास्तिक भी परम आस्तिक बन सकते हैं जैसाकि हमें इस विषय का व्यक्तिगत अनुभव है। परन्तु जिनका वाणी से सदा "मुझमें राम बगल में छुरी" रही है उस दूसरे अतिनिन्दित वर्ग की चिकित्सा तो ईश्वर ही करे हमारे सम साधारण मनुष्यों के लिए तो असम्भव ही है। सम्भव है 'स्वयं' महर्षि अपने कौशल से ही इस का भी उद्धार कर सकें।

३२–गीताशास्त्र की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य—

जब हमारे सामने यह परिस्थिति बनी रहती है, जो कि पूर्ण श्रद्धालु होता हुआ भी या तो परिस्थितिवश शास्त्रकर्म्मानुष्ठान न करने के कारण, अथवा विधिनिषेधवश न करने के कारण वर्त्तमान युग के लिए शास्त्रों को असुपालय समझता रहा है। 'हमारा गीताशास्त्र इन्हीं के उद्धार के लिए प्रवृत्त हुआ है' यदि गीता के सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

३३ शास्त्रीय कर्त्तव्य-कर्म्मों के सम्बन्ध में साभिमान आवेश, और उसका नीरक्षीर विवेक—

वैसे तो इस कलहमूलक कलियुग में कुछ एक परिगणित अपवादों को छोड़कर किसी को भी पूर्णरूप से शास्त्रीय आदेशों पर चलने का न तो अधिकार ही है, न योग्यता ही है, न साधन ही है, न समय ही है। स्मरण कीजिए उस वर्ण-व्यवस्था के वैज्ञानिक स्वरूप का, जिसके सम्बन्ध में बड़े अभिमान के साथ हमने यह कहा था कि— 'वर्णव्यवस्था प्रकृतिसिद्धा है, जन्मसिद्धा है'। इसलिए प्रत्येक वर्ण को अपना अपना शास्त्रसिद्ध आधिकारिक कर्म्म ही करते रहना चाहिए। वर्णधर्म्म-विरोधी शास्त्रसिद्ध कर्म्म कभी शाश्वत शान्ति के कारण नहीं बन सकते— 'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'।

३४–आदर्शवाद, और यथार्थवाद का समतुलन, एवं यथार्थवाद से वञ्चित आदर्शवाद की आत्यन्तिक-यातयामता—

यदि इसी आदर्शवाद पर सुख एवं मुक्ति का विश्राम मान लिया जाता है, तब तो सम्पूर्ण शास्त्र वर्त्तमान युग के लिए केवल नमस्कार की ही वस्तु बने रह जाते हैं। आदर्शवाद की शोभा है-व्यवहार मात्र। ऐसे सिद्धान्त, जो आदर्शवाद की दृष्टि से स्वर्ग के उत्तम सोपान पर प्रतिष्ठित हैं, यदि व्यवहार में नहीं आते, किंवा नहीं आ सकते, तो उस दशा में सचमुच वे सिद्धान्त दूर से ही प्रणाम्य हैं। और सच पूछिए, तो हमें निःसंकोच होकर कहना पड़ेगा कि भारतवर्ष के ह्रास के जहाँ अन्य और कई एक कारण हैं, वहाँ उन कारणों में विशुद्ध आदर्शवाद किंवा सिद्धान्तवाद भी एक मुख्य कारण है। यदि हमारे सनातन धर्म्मी पाठक बुरा न मानें, तो यह भी कह देने में हम किसी आपत्ति का अनुभव नहीं करेंगे कि एक मात्र विशुद्ध आदर्शवाद ने ही हमारा सर्वनाश किया है। कैसे ?, तो सुनिए !

३५–गीताप्रतिपादित-शास्त्रीय-सिद्धान्त के सम्बन्ध में 'आदर्शवाद' का अन्वेषण प्रयास, एवं गीताशास्त्र की पिष्टपेषणता अतएव निरर्थकता—

आदर्श सदा आदर्श ही रहेगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। उत्तम वस्तु सदा उत्तम ही मानी जायगी यह भी निर्विवाद है। शास्त्र सनातन सत्य हैं, और उनके निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करने पर ही मानव-समाज का अभ्युदय सम्भव है, यह भी ध्रुव सत्य है। फलतः "गीता प्रधानरूप से शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रम धर्म्मानुकूल कर्म्मों का ही प्रतिपादन करती है" यह सिद्धान्त भी सर्वमान्य है। परन्तु केवल इसी सिद्धान्त पर गीतार्हस्य का विश्राम मान लेने से तो गीता की अपूर्वता, विलक्षणता एवं पूर्णता कदापि सिद्ध

नहीं हो सकती। फिर तो यह कह देने में भी कोई आपत्ति न होगी कि वर्णाश्रम का मौलिक रहस्य मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद से ही गतार्थ है। यज्ञविधान के सम्बन्ध में जो कुछ आवश्यक है वह स उससे भी अधिक बतला दिया है। वर्णाश्रमकर्मों की इतिकर्तव्यता (किस को कब कौन सा कर्म करना चाहिए, यह पद्धति) मन्वादि-धर्मशास्त्रों से गतार्थ है। यदि गीता का यही चरम लक्ष्य है तो श्रुति-स्मृति से सर्वथा गतार्थ उस उद्देश्य के समतुलन में गीता एक पिष्टपेषणमात्र ही है अतएव यह एक निरर्थक शास्त्र ही है।

२६ वैदिक-कामनामय-कर्मकाण्ड का संशोधक ? निष्काम-कर्मयोगात्मक गीता-शास्त्र—

यदि इस सम्बन्ध में कोई गीताभक्त यह कहे कि श्रुति-स्मृति में जिन यज्ञ-कर्मों का विधान हुआ है वे कामनामय होने से शाश्वत-शान्ति के कारण नहीं बन सकते। वेदादि शास्त्रविहित कर्म—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिरूप से सर्वथा सकाम हैं। फलकामासक्ति को मूल में रखते हुए ही वैदिक कर्म विहित हैं। गीताने श्रुति-स्मृति सिद्ध तीनों योगों का आदर अवश्य किया है परन्तु साथ ही कामना के परित्याग का आदेश दिया है। 'निष्कामकर्म ही शाश्वत-शान्ति के कारण हैं' गीता का यही संशोधन है। और इसी संशोधन से गीता की अपूर्वता सिद्ध हो जाती है।

२७ वैदिक कर्मयोग की निष्कामता के समतुलन में गीता के कर्मवाद का शैथिल्य एवं पुनरपि गीता की पिष्टपेषणता—

परन्तु जब हम वैदिक-कर्मों के मौलिक रहस्य का अन्वेषण करने चलते हैं तो उक्त हेतुवाद भी गीता की अपूर्वता सुरक्षित नहीं रख सकता। यह ठीक है कि कर्मकाण्डप्रधान ब्राह्मणग्रन्थों में पदे पद 'किं कामना यजामहे' —"किं तथा न स्यात्" —स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि रूप से कामभावों का प्राचुर्य उपलब्ध होता है। परन्तु वेद का ही अन्तिमभागरूप उपनिषत्-जिन साद शब्दों में निष्कामकर्म की ही घोषणा करता हुआ पश्चात् उसे ही परा शान्ति का कारण बतलाता हुआ हमारे सामने आता है। गीताने स्थान स्थान पर अमृत-मृत्यु-लक्षण ज्ञान-कर्म के समन्वितरूप जिस समत्व का निरूपण किया है उपनिषदों में विस्तार के साथ उस का भी निरूपण हुआ है जैसाकि— 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी"— 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' — 'सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह' — 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' 'असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। यही नहीं, जिस बुद्धियोग को गीता का अपूर्व विषय बतलाया गया है उसका मूल भी उपनिषदों में स्पष्ट है जैसाकि भाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। स्वयं मानवधर्मशास्त्रने भी—

'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्' इत्यादि रूप से वैदिक-कर्मों को प्रवृत्त (सकाम) निवृत्त (निष्काम) भेद से अन्यथा प्रवृत्तकर्म को स्वर्गसुख का कारण माना है एवं निवृत्तकर्म को पराशान्ति-प्राप्ति का हेतु बतलाया है। अतएव यदि गीता ने निष्कामकर्म का निरूपण किया है तो यह भी वेद का पिष्टपेषण ही है।

३८—शास्त्रसार-समन्वयात्मिका गीता का सर्वशास्त्रमयत्व-प्रदर्शन—

वादी यदि यह कहें कि श्रुति-स्मृति-शास्त्र आचार्य्यभेद से अत्यन्त दुर्गम है अतएव सामान्य मनुष्य श्रौत-स्मार्त-कर्म्मों के सम्बन्ध में बहुविस्तृत श्रुति-स्मृति-ग्रन्थों से अपने इस स्वल्प जीवन में निर्णय नहीं कर सकता। इसी विप्रतिपत्ति से मनुष्य श्रौत-स्मार्त कर्म्म-जाल में भ्रम जाता हुआ कर्त्तव्य-कर्म्म से विमुख होजाता है। भगवान् ने गीताशास्त्र में बड़े संक्षेप से कर्म्म का निर्णय कर दिया है। अनन्त वेदशास्त्र एवं असंख्य स्मृतिशास्त्रों के दुर्गम कर्म्मजाल का समन्वय करते हुए केवल सातसौ श्लोकों से समन्वित गीता में उन सब के लिए सरलपथ प्रदर्शित कर दिया है। इसीलिए गीता— सर्वशास्त्रमयी' कह जाती है।

३९—गीता के सम्बन्ध में—'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' मूला नितान्त-भ्रान्त-धारणा—

इसी वेदवाद को आगे करते हुए ये महानुभाव यह भी कहा करते हैं कि—'जिसने गीता का मर्म्म समझ लिया उसने सब कुछ जान लिया'। गीतास्वाध्याय के अनन्तर मनुष्य के लिए कुछ भी ज्ञातव्य-कर्त्तव्य नहीं रह जाता। केवल गीता ही कर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में पर्य्याप्त साधन है— किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। केवल इसी आधार पर आज कतिपय महानुभावों के श्रीमुख से यह भी सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता रहता है कि—सब शास्त्र निरर्थक हैं। यदि उन्हें थोड़ी देर के लिए सार्थक मान भी लिया जाय तो भी 'गीता के अतिरिक्त गीता के रहते उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती'। देश के एक महान नेता ने इस सम्बन्ध में अपने ये भाव प्रकट करते हुए कहा है—

"गीता के द्वारा हम अपनी तमाम धार्म्मिक उलझनें समझ लेंगे। ... । ऐसी एक भी धार्म्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके' (श्रीगान्धीजी)

४०—आपदव्यवसायात्मक आज का गीताशास्त्र, और राष्ट्रीय-गीताभक्तों का शास्त्रों के प्रति प्रचण्ड-आक्रोश—

यही कारण है कि भारतीय-राष्ट्रवर्ग में सब शास्त्रों का आसन आज गीताने ही अपहृत कर लिया है। धार्म्मिक-शिक्षा क्या होनी चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में गीता को ही आगे रक्खा जाता है। इसप्रकार सर्वशास्त्र-विरहिता भगवान् की यह गीता आज एकप्रकार से 'आपदव्यवसाय' का ही माध्यम बन गई है। सभी गीता के मर्मस्पर्शी बने हुए हैं। आज गीताध्ययन ही सब को प्रिय है। सचमुच यह 'भारतमाता' सौभाग्य के चिह्न हैं। किन्हीं का विचार तो फिर किया जायगा। प्रकृत में वक्तव्य यही है कि, हेतुवादियों के कथनानुसार गीता सब शास्त्रों का निचोड़ है कर्म्म-निर्णय करने वाला एकमात्र है। आर यही गीता की विशेषता है।

४१—कर्म्मविकर्म्यता से असंस्पृष्ट गीताशास्त्र अतएव गीताशास्त्र की शास्त्रदृष्ट्या अकृत्स्नता, असर्वता, एवं स्वयं गीताशास्त्र की श्रुति-स्मृति-शास्त्रपरता—

विचार करने पर इस युक्ति का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। अन्यथा-सिद्ध है भाष्य में यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित है कि गीता किसी भी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता नहीं बतलाती। अथ से इति पर्य्यन्त गीता के

नहीं हो सकती। फिर तो यह कहने में भी कोई आपत्ति न होगी कि वर्णाश्रम का मौलिक रहस्य मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद से ही यथार्थ है। आत्मज्ञान के सम्बन्ध में भी कुछ भागवत् है वेद ने उससे भी अधिक बतला दिया है। वर्णाश्रमकर्मों की इतिकर्तव्यता (किस को कब कौनसा कर्म करना चाहिए, यह पद्धति) स्मृति-धर्मशास्त्रों से ज्ञात है। यदि गीता का यही चरम लक्ष्य है तो श्रुति-स्मृति से सर्वथा यथार्थ उक्त उद्देश्य के समतुलन में गीता एक पिष्टपेषणमात्र ही है अतएव वह एक निरर्थक शास्त्र ही है।

२६ वैदिक-कामनामय-कर्मकाण्ड का संशोधक ? निष्काम-कर्मयोगात्मक गीता-शास्त्र—

यदि इस सम्बन्ध में कोई गीताभक्त यह कहे कि श्रुति-स्मृति में जिन काम्य-कर्मों का विधान हुआ है वे कामनामय होने से शाश्वत-शान्ति के कारण नहीं बन सकते। वैदिक शास्त्रविहित कर्म—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिरूप से सर्वथा सकाम हैं। फलकामासक्ति को मूल में रखते हुए ही वैदिक कर्म विहित हैं। गीताने श्रुति-स्मृति-सिद्ध दोनों मार्गों का आदर अवश्य किया है परन्तु साथ ही कामना के परित्याग का आदेश दिया है। "निष्कामकर्म ही शाश्वत शान्ति के कारण हैं" गीता का यही संशोधन है। और इसी संशोधन से गीता की अपूर्वता सिद्ध हो जाती है।

२७ वैदिक कर्मयोग की निष्कामता के समतुलन में गीता के कर्मवाद का शैथिल्य एवं पुनरपि गीता की पिष्टपेषणता—

परन्तु जब हम वैदिक-कर्मों के मौलिक रहस्य का अन्वेषण करने चलते हैं तो उक्त हेतुवाद भी गीता की अपूर्वता सुरक्षित नहीं रख सकता। यह ठीक है कि कर्मकाण्डप्रधान ब्राह्मणग्रन्थों में पदे पदे 'किं काम्या यजामहे' — 'किं ततो न स्यात् —स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि रूप से कामभावों का प्राचुर्य उपलब्ध होता है। परन्तु वेद का ही अन्तिमभागरूप उपनिषत्-तन्त्र स्पष्ट शब्दों में निष्कामकर्म की ही घोषणा करता हुआ एकमात्र उसे ही परा शान्ति का कारण बतलाता हुआ हमारे सामने आता है। गीताने स्थान स्थान पर अमृत-मृत्यु-लक्षण ज्ञान-कर्म के समन्वितरूप जिस समत्व का निरूपण किया है उपनिषदों में विस्तार के साथ उस का भी निरूपण हुआ है जैसाकि— 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी"—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"—"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह' — 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' 'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। यही नहीं, जिस बुद्धियोग को गीता का अपूर्व विषय बतलाया गया है उसका मूल भी उपनिषदों में व्यक्त है जैसाकि आत्मभूमिका-प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। स्वयं मानवधर्मशास्त्रने भी—

'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्' इत्यादि रूप से वैदिक-कर्मों को प्रवृत्त (सकाम) निवृत्त (निष्काम) भेद से क्रमशः प्रवृत्तकर्म को स्वर्गसुख का कारण माना है एवं निवृत्तकर्म को परमशान्ति-प्राप्ति का हेतु बतलाया है। अतएव यदि गीता ने निष्कामकर्म का निरूपण किया है तो यह भी गीता का पिष्टपेषण ही है।

का ही प्रधानरूप से निरूपण किया है। यद्यपि कर्मेतिकर्तव्यता भी कर्म का एक ढंग ही है परन्तु कर्म पद्धतिरूप इस ढंग का गीता में निरूपण नहीं है। मनुष्य का क्या कर्तव्य है? इस प्रश्न पर गीता विशेष विचार नहीं करती। अपितु शास्त्रोक्त कर्तव्य-कर्मों का कौशल क्या है? गीता का यही प्रधान लक्ष्य है। और वह कौशल है एकमात्र वैराग्यलक्षण- 'बुद्धियोग' जिसका कि निरूपण पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

४३–गीताशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ, एवं गीताशास्त्र की भाति लिकता, तथा सार्वभौमता के अनुबन्ध से विचार-विमर्श—

हाँ तो ऊपर की पंक्तियों से हम यह समझे कि शास्त्रविहित कर्मों के साथ बुद्धियोगरूप कौशल का प्रदर्शन करने वाला शास्त्र ही 'गीताशास्त्र' है। अवश्य ही गीता की यह अपूर्वता है। परन्तु केवल इसी अपूर्वता से गीता 'ईश्वरीयग्रन्थ' नहीं माना जासकता। सम्भव है गीता की यह अपूर्वता वर्णाश्रमधर्म के अनु यायी एक भारतीय का उपकार करसके। परन्तु जो श्रुति-स्मृति शास्त्र से परिचित नहीं, श्रौत-स्मार्त कर्मों का जिन्हें अधिकार नहीं वे तो ऐसी गीता से वञ्चित ही रह जाते हैं। गीता न भारतवर्ष की है न द्विजातिवर्ग की ही अपनी कोई प्रातिस्विक निधि (धरोहर) है। अपितु गीता तो उन भगवान् की है जो कि भगवान् चर-अचर सब के हृदयों में अन्तर्यामीरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए सबका अपने नियतिदण्ड से सञ्चालन कर रहे हैं। भगवान् का अवतार केवल भारतीयों के अभ्युदय के लिए ही नहीं हुआ है अपितु "अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमाश्रितः" के अनुसार सम्पूर्ण विश्व के अभ्युदय के लिए ही भगवान् का प्राकट्य है। उन सर्वव्यापक भगवान् का ज्ञान भी कभी किसी व्यक्ति देश आदि में सीमित नहीं रह सकता। अवश्य ही भगवान् का गीताज्ञान मनुष्यमात्र के अभ्युदय के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। सभी वर्ण सभी जातियाँ समानरूप से गीतायोग के अधिकारी हैं। जहाँ श्रुति-स्मृति शास्त्र-"यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्मं निबोधत" की मर्यादा से बद्ध होते हुए केवल भारतीय वर्णाश्रमानुगामिनी प्रजा के ही उपकारक बन रहे हैं वहाँ गीताशास्त्र विश्वसम्मुख को अपना मूल बनाता हुआ संसार की निधि है। विभिन्न धर्म विभिन्न मतवाद व्यक्तिगत स्वार्थ साम्प्रदायिक सीमाभाव आदि आदि सभी भेदवाद अभिन्न गीतायोग के सामने इतवीर्य हैं। यही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। गीतोपदेश एक वेदानुयायी द्विजाति का जितना उपकार कर सकता है एक ईसाई पारसी, मुसलमान यहूदी भी इस योग का अनुष्ठान करता हुआ कृतकृत्य बन सकता है। और अपने इसी गुणातिशय से गीता आज विश्वबन्द्य ग्रन्थ बन रहा है।

४४ सनातनधर्मी विद्वानों का प्रखर आक्रोश तत्प्रवर्तिका विचारशैली एवं गीता से अनुप्राणिता विचार-द्वयी का परस्पर असमाहित्य—

सनातनधर्म के मौलिक रहस्य से अपरिचित अतएव नाममात्र के सनातनधर्मी विद्वानों के सम्मुख जब गीतायोग के सम्बन्ध में गीता की उक्त अपूर्वता रक्खी जाती है तो वे अग्निशर्मा-बाबुरूप बन जाते हैं। व वह कथमपि स्वीकार नहीं करसकते कि गीताज्ञान का सर्वसमानाधिकार है। गीता को विश्वबन्द्य ग्रन्थ मानने में वे सनातनधर्म की हानि समझते हैं। और सामान्यदृष्टि से विचार करने पर हमें भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होने लगता है कि, यदि गीता का सबको समानाधिकार दे दिया जायगा तो गीता एक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थ बन

शास्त्रों का अन्वेषण कर जाइए, आपको- 'स्वधर्म्म का पालन करना चाहिए' - 'वर्णाश्रम कर्मों का आसक्ति छोड़कर अनुगम करना चाहिए' - 'क्षत्रिय को युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए'- सबको अपने अपने कर्म्मों में निष्कामभाव से प्रवृत्त रहना चाहिए' इत्यादि रूप से स्वधर्म का निर्देश अवश्य मिलेगा। परन्तु उस स्वधर्म्म का क्या स्वरूप है ? क्या इतिकर्त्तव्यता है ? ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों के कर्म्म किस पद्धति से होते हैं ? इन प्रश्नों का आधार-व्याख्यान तो क्या, समाधान आपको गीताशास्त्र में उपलब्ध न होगा। यह तो एक गीताभक्त को भी मान ही लेना होगा कि, द्विजातिवर्ग के लिए विहित सन्ध्यादि शास्त्रसिद्ध-कर्म्म भगवान् की पूजा अभिमत हैं। परन्तु क्या कोई गीताभक्त केवल गीता के आधार पर ही उन सब कर्म्मों का अनुष्ठान कर सकता है ? 'किस वर्ण को किस आश्रम में कौनसा कर्म्म करना चाहिए ?' इस प्रश्न का समाधान गीता से नहीं होसकता एवं न होने की आवश्यकता ही है। यह प्रश्न श्रुति-स्मृति-शास्त्रों से ही गतार्थ है तो उसका उल्लेख होता ही क्यों। किन कर्मों को क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में भगवान् का-"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्य-व्यवस्थितौ, ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तु मिहार्हसि' यह उत्तर ही पर्य्याप्त है।

४२-गीताशास्त्र की मौलिकता का आधारभूत 'कर्म्मकौशल', एवं तदनुबन्धी समत्व-योगानुगत-'बुद्धियोग'—

यदि गीता ही हमारी कर्म्मेतिकर्त्तव्यता की व्यवस्था कर देती तो भगवान् कभी शास्त्रविधान की व्यवस्था में हमें न डालते। बिना इतर शास्त्रों के केवल गीता के आधार पर हमारा कोई भी कर्म्म सिद्ध नहीं होसकता। हमें अगत्या शास्त्रों के उस दुर्गम पथ का आश्रय लेना ही पड़ता है, और लेना ही पड़ेगा। गीता का स्वधर्म्म शास्त्रविधानोक्त कर्म्म ही है। जो महानुभाव भगवान् की उक्त आज्ञा के विरुद्ध स्वधर्म्म की कल्पित व्याख्या कर शास्त्रविधान की उपेक्षा करते हैं, वे भगवान् के और उनके गीताशास्त्र के द्रोही ही हैं। और फिर हमारा तो यह भी दृढ़ निश्चय है कि बिना वेदादि-शास्त्रों के परिज्ञान के गीता के एक अक्षर का भी मर्म्म समझ में नहीं आसकता। यदि कतिपय विचारशीलों के मतानुसार गीता सम्पूर्ण शास्त्रों का सार है तो यह शास्त्रों से भी अधिक दुर्गम है। बहुविस्तारसापेक्ष शास्त्र ही जब हमारे लिए कठिन हैं तो उनका सार निष्कर्षरूप हमारी दुरवस्थापन्न कर्म-प्रजा के लिए और भी अधिक कठिन ही प्रमाणित होगा, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार न करेगा। गीता का समन्वय यदि "अधिकार" शब्द पर प्रतिष्ठित है तो स्वयं गीताशास्त्र भी अधिकारी की अपेक्षा रखता है। हम शास्त्रों की सर्वथा उपेक्षा करदें, उनकी निन्दा करें, अक्षरव्याख्या हमारे लिए 'हौआ' बनी रहे, शास्त्रीय-कर्म्म हमारे शत्रु बन रहें, और फिर हम अपनी कल्पना से स्वेच्छाचारमात्र से गीता का निगमन कर डालें- 'धर्मोऽयमन्यतमः'।

इसप्रकार न गीता के द्वारा कर्म्म का निर्णय ही सम्भव, न गीता का विषय ही अपूर्व, फिर गीता पढ़नी क्यों है ?, यह प्रश्न ज्यों का त्यों उपस्थित रह जाता है। इस प्रश्न का उत्तर है- 'समन्वयभाव'। गीता एकमात्र कर्म्मशैली का निरूपण करती है, और यह शैली ही गीता की अपनी देन है। यह सर्वानुसिद्ध है कि कभी कभी काम के करने का न जानने से उत्तम भावना के रहते भी कर्म्म बिगड़ जाता है। उत्तम से उत्तम कर्म्म भी करने के ढंग न जानने से अनुपयोगी बन जाता है। भगवान् ने कर्म्मशैली [कर्म्म करने का तरीका-ढंग]

का ही प्रधानरूप से निरूपण किया है। यद्यपि कर्मेतिकर्तव्यता भी कर्म का एक अंग ही है परन्तु कर्म पद्धतिरूप इस अंग का गीता में निरूपण नहीं है। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है ! इस प्रश्न पर गीता विशेष विचार नहीं करती। अपितु शास्त्रोक्त कर्त्तव्य-कर्म्मों का कौशल क्या है !, गीता का यही प्रधान लक्ष्य है। और वह कौशल है एकमात्र वैराग्यलक्षण- 'बुद्धियोग' जिसका कि निरूपण पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

४३-गीताशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ, एवं गीताशास्त्र की प्रातिस्विकता, तथा सार्वभौमता के अनुबन्ध से विचार-विमर्श—

हाँ तो ऊपर की पंक्तियों से हम यह समझे कि शास्त्रविहित कर्मों के साथ बुद्धियोगरूप कौशल का प्रदर्शन करने वाला शास्त्र ही 'गीताशास्त्र' है। अवश्य ही गीता की यह अपूर्वता है। परन्तु केवल इसी अपूर्वता से गीता 'ईश्वरीयग्रन्थ' नहीं माना जासकता। सम्भव है गीता की यह अपूर्वता वर्णाश्रमधर्म्म के अनुयायी एक भारतीय का उपकार करसके। परन्तु जो श्रुति-स्मृति-शास्त्र से परिचित नहीं, श्रौत-स्मार्त कर्मों का जिन्हें अधिकार नहीं वे लोग ऐसी गीता से वञ्चित ही रह जाते हैं। गीता न भारतवर्ष की है न द्विजातिवर्ग की ही अपनी कोई प्रातिस्विक निधि (बपौती) है। अपितु गीता तो उन भगवान् की है जो कि भगवान् चर-अचर सब के हृदयों में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए सबका अपने नियतिदण्ड से शासन कर रहे हैं। भगवान् का अवतार केवल भारतीयों के अभ्युदय के लिए ही नहीं हुआ है अपितु "अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमाश्रित" के अनुसार सम्पूर्ण विश्व के अभ्युदय के लिए ही भगवान् का प्राकट्य है। उन सर्वव्यापक भगवान् का ज्ञान भी कभी किसी व्यक्ति देश आदि में सीमित नहीं रह सकता। अवश्य ही भगवान् का गीताज्ञान मनुष्यमात्र के अभ्युदय के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। सभी वर्ण सभी जातियाँ समानरूप से गीतायोग के अधिकारी हैं। जहाँ श्रुति-स्मृति शास्त्र- "यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्म्मं निबोधत" की आज्ञा से बद्ध होते हुए केवल भारतीय वर्णाश्रमानुगामिनी प्रजा के ही उपकारक बन रहे हैं, वहाँ गीताशास्त्र विश्वबन्धुत्व को अपना मूल बनाता हुआ संसार की निधि है। विभिन्न धर्म्म विभिन्न मतवाद व्यक्तिगत स्वार्थ साम्प्रदायिक सीमाभाव आदि आदि सभी भेदवाद अभिन्न गीतायोग के सामने हतवीर्य्य हैं। यही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। गीतोपदेश एक वेदानुयायी द्विजाति का जितना उपकार कर सकता है एक ईसाई पारसी, मुसलमान यहूदी भी इस योग का अनुष्ठान करता हुआ कृतकृत्य बन सकता है। और अपने इसी गुणातिशय से गीता आज विश्वबन्द्य ग्रन्थ बन रहा है।

४४ सनातनधर्म्मी विद्वानों का प्रचण्ड आक्रोश सद्प्रवर्त्तित विचारशैली एवं गीता से अनुप्राणिता विचार-द्वयी का परस्पर असमाहित्य—

सनातनधर्म्म के मौलिक रहस्य से अपरिचित अतएव नाममात्र के सनातनधर्म्मी विद्वानों के सम्मुख जब गीतायोग के सम्बन्ध में गीता की उक्त अपूर्वता रक्खी जाती है तो वे अग्निशर्म-वायुरूप बन जाते हैं। व यह कथमपि स्वीकार नहीं करसकते कि गीताज्ञान का सर्वों समानाधिकार है। गीता को विश्वबन्द्य ग्रन्थ मानने में वे सनातनधर्म्म की हानि समझते हैं। और सामान्यदृष्टि से विचार करने पर हमें भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होने लगता है कि यदि गीता का सबको समानाधिकार दे दिया जायगा तो गीता एक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थ बन

जायगा। क्योंकि ज्ञान-ध्यान ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगों का अधिकार एकमात्र भारतीय वर्णप्रजा को ही है। यदि गीता के ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग शास्त्रसिद्ध हैं तब तो इनका भी सबको अधिकार नहीं दिया जा सकता। यदि शास्त्रविरुद्ध हैं तो फिर गीताशास्त्र इतर वर्णों के लिए भले ही उपयुक्त हो कम से कम भारतीय प्रजा तो ऐसे शास्त्रविरुद्ध योगमार्ग को कभी आदर की दृष्टि से नहीं देख सकेगी। बात दोनों में से एक ही मानी जायगी। या तो गीता को श्रुति-स्मृत्यनुगामिनी मानते हुए केवल भारतीय प्रजा के लिए ही नियत मानिए। अथवा-शास्त्रमर्यादा से बहिष्कृत मानिए। दोनों में से कौनसी बात मानी जाय ?, पहिली में शास्त्रमर्यादा की रक्षा है परन्तु समन्वय की व्यापकता सीमित होती है दूसरी में समन्वय की तो रक्षा है परन्तु शास्त्रमर्यादा जीर्ण-शीर्ण है। बड़ी कठिन समस्या है। गीताशास्त्र के अतिरिक्त इस समस्या को और कौन सुलझा सकता है !।

४५-गीताशास्त्र की अपूर्वता से दोनों तथ्यों का समन्वय, शास्त्र सिद्धयोगत्रयी एवं लोकानुगता मनप्रवृत्ति तथा कल्पित आदर्शवाद का संस्मरण—

गीता की अपूर्वता ने दोनों विरुद्ध मार्गों का समन्वय कर रक्खा है। अवश्य ही गीताशास्त्र-श्रुति-स्मृति के अक्षर अक्षर का अनुगामी बनता हुआ हम भारतीयों की ही एकमात्र मौलिक निधि है इसमें तो अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। और इस दृष्टि से गीता का योग एकमात्र हमारे ही अधिकार की वस्तु है। वर्णधर्म की अचल भित्ति पर प्रतिष्ठित शास्त्रसिद्ध गीतोक्त ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगों का एकमात्र हमें ही अधिकार है। जो व्यक्ति गीता को एक विशेष की सम्पत्ति समझ रहे हैं अवश्य ही वे भ्रान्ति में हैं। परन्तु साथ ही गीता ने एक उपाय ऐसा भी बतला दिया है कि, जो व्यक्ति शास्त्रीय योगों का अनुगमन न कर विरुद्धमार्ग का अनुगमन कर रहा है वह भी उस उपाय से अपना जीवन सरल बना सकता है। शास्त्रसिद्ध योगत्रयी की अपेक्षा से जहाँ गीताशास्त्र वर्णाश्रमव्यवस्था से बद्ध होता हुआ देशविशेष के लिए सीमित है वहाँ उपाय की अपेक्षा यह सबका ही उपकारक है। क्योंकि विज्ञानसार योगत्रयी के लिए द्विजातिवर्ग ही अधिकारी माना जाता है वहाँ उस उपाय का अनुगमन करने में वर्णनियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं है। 'अनुगम' शब्द ही उसकी व्याप्ति का स्थान है। वह क्या उपाय है ?, यह विचार पीछे किया जायगा। पहिले विशुद्ध भारतवासी शास्त्रनिष्ठ सनातनधर्मियों के अन्तर्निष्ठ ... का दृश्य देख लीजिए।

४६-पथायना में वर्णित भारत की पात्रपात्रता—

पूर्वोक्त पथ में कहा गया है भारतवर्ष की सीमा व्यवहारमार्ग है और व्यवहारमार्ग की प्रतिष्ठा सामयिक परिस्थिति है। धर्म की मौलिकता को आश्रयण में रखने की चेष्टा करते हुए सामयिक परिस्थिति का अनुगमन करना ही सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्यार्थ है। जो व्यक्ति सामयिक परिस्थिति की सर्वथा उपेक्षा कर केवल आदर्शवाद किंवा सिद्धान्तवाद के ही गुणगान किया करते हैं उनका वह विशुद्ध आदर्श सर्वथा निरर्थक ही बन जाता है और सनातनधर्मियों को कोई भी लाभ नहीं पहुँचा है।

४७-भावनात्मक पथाय में शून्य आदर्श में अनुप्राणित सनातनधर्मियों का व्यवहारधर्माचरण पर तथाभूत धर्मव्याज से हमारा आन्यन्तिक पतन—

इस बात में हम शास्त्रों की एवं धर्म की दुहाई देने लगते हैं। और इस आवेश में रह कर हम सामयिक परिस्थिति की सर्वथा भूल जाते हैं। उदाहरण के लिए उस वर्णव्यवस्था को ही लीजिए जिसके [illegible]

करने में हम एड़ी से चोटी तक का पसीना बहा देते हैं। वर्णव्यवस्था सर्वोत्तम है यह भी ठीक। वर्णव्यवस्था का अनुगमन प्रत्येक दशा में अभ्युदयकर है यह भी ध्रुवसत्य। परन्तु जो वस्तु सिद्धान्त में सर्वोत्तम हो परन्तु सामयिक परिस्थिति जिस सिद्धान्त को पनपने में बाधा पहुँचा रही हो उस सिद्धान्त का गुणानुवाद ही हमारा हित साधन नहीं कर सकता। जो विद्वान् वर्णव्यवस्था के उपदेशों से समामञ्चों को कम्पित किया करते हैं क्या हम उन से यह पूँछने की धृष्टता कर सकते हैं कि आज अपने आपको सनातनधर्म्मी कहने का अभिमान करने वाले कितने उपदेशक ऐसे हैं जो शास्त्रसिद्ध वर्णव्यवस्था के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं ?। हमनें तो प्रत्यक्ष में देखा है कि, बड़े बड़े संस्कृतज्ञ विद्वानों की महामहोपदेशकों की सन्ततियाँ भी उन्हीं की इच्छा से आज वर्णधर्मविरोधिनी पश्चिमीशिक्षा का अनुगमन कर रही हैं। आज कौन वर्ण अपने धर्म्म पर प्रतिष्ठित है ?। परिस्थितिवश कहिए, अथवा और किसी कारणविशेष से कहिए सबका कर्म्म उत्पथ ही बन रहा है। ब्राह्मणवर्ग शूद्रकर्मक बनता हुआ भी अभिमान कर रहा है। क्षत्रियवर्ग तो सर्वथा ही अस्तप्राय है। वैश्यमहाभाग भी धर्म्म की आड़ में स्वार्थसाधन ही कर रहे हैं। शूद्र अमर्यादित बन रहे हैं। कर्म्म विरहित विशुद्ध आत्माभिमान ने भी क्या कभी वर्णधर्म्म की रक्षा की है ?। व्यवहार हमारा सर्वथा पतित और आदर्श रहना उन्नत। फिर कहिए तो सही इस आदर्श का हम क्या करें ?। और ऐसे आदर्शवादियों के उपदेश से जनता क्या लाभ उठावे ?। स्मरण रखिए, आप कुछ समय के लिए अपनी वाणी को अवश्य ही धोखा दे सकते हैं परन्तु आत्मा को एवं आत्ममूलक धर्म्म को धोखा नहीं दिया जासकता। धोखे में पड़ा हुआ यह धर्म्म ही अधर्म्म बन कर कभी हमें ही धोखा दे जायगा— न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्'।

४८–प्रचलित भक्तिकाण्ड की महती-विभीषिकाएँ, एवं तद्द्वारा आचारधर्म्म का अभिभव—

इसीप्रकार प्रचलित उपासनाकाण्ड को लीजिए। शास्त्रपद्धति के द्वारा वेदमन्त्रों से प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ सर्वथा पवित्र हैं एवं इनके दर्शन का एकमात्र अधिकार द्विजातिवर्ग को ही है इस सत्यसिद्धान्त में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जासकती। अवश्य ही शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा के लिए अत्यज-प्रवेश को रोकना चाहिए। परन्तु इस प्रवेश-निरोध का प्रचार करते समय हमारे सनातनधर्म्मी उपदेशक यह भूल जाते हैं कि जिन प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हम भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं वह प्राणप्रतिष्ठा हमारे रोष से पहिले से ही पलायित होचुकी है। बुरा न मानिए, विवेक से काम लीजिए। हृदय पर हाथ धर कर अन्तर्य्यामी से पूँछिए कि क्या वे मन्दिर जो आज स्वार्थी महन्त-महन्तों की व्यभिचारलीला के पातक क्षेत्र बने हुए हैं कभी दिव्यभावना से युक्त रह सकते हैं ?। जिन मन्दिर-मठों की सात्त्विक आय का उपयोग मन्दिर मठाधीशों की विलासलीला में पानी की भाँति बहता रहता है शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ जिन पुजारियों के मलिन अन्तःकरणों से पवित्र भगवत्-प्रतिमाएँ अहोरात्र मंश्लिष्ट रहती हैं जहाँ का कोना कोना दूषित वातावरण की प्रतिमा बना हुआ है उनकी रक्षा के लिए गला फाड़ना क्या सफल हो सकेगा ?। क्या हम स्वार्थलीला को सुरक्षित रखने का नाम ही मन्दिर, एवं प्रतिमाओं की पवित्रता की रक्षा है ?।

४९–आचारहीन-पुरुषसमाज का स्त्रीवर्ग के प्रति दम्भपूर्ण आक्रोश और आक्रोशमूला पतनपरम्पराएँ—

और आगे बढ़िए। स्त्री का यह परम धर्म्म है कि, वह कभी परपुरुष का चिन्तन न करे। न केवल इस जन्म में ही, अपितु परजन्म में भी वह उसी पति का अनुगमन करे। सचमुच सिद्धान्त बड़ा ही पवित्र

एवं प्रत्येक दशा में स्मरणीय है। और नारी को इसी का अनुगमन करना भी चाहिए। परन्तु इस धार्मिक धर्म का उद्घोष करते हुए हम यह भूल जाते हैं कि आज भारतीय पुरुषसमाज न अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रख सका है ?। अनसूया सीता सावित्री अनुसूया दमयन्ती नर्म्मदा आदि महासतियों के चरित्रों का गान कर जहाँ हम स्त्रीसमाज पर अपना प्रभाव डालना चाहते हैं वहाँ साथ साथ ही हमें भी भगवान् राम रामचन्द्र, नल दुष्यन्त आदि एकपत्नीव्रतनिष्ठों के आदर्श का अनुगमन करना चाहिए। हमारा चरित्र पथ से इति पथभ्रष्ट दूषित रहे और फिर हम अपने उसी कलङ्कित मुख से उन आदर्शवाद के कल्पित स्वप्न देखना करें यह विडम्बना नहीं, तो और क्या है ?। निदर्शनमात्र है। आज हम सनातनधर्मियों के समीप केवल आदर्श ही आदर्श रह गया है। उसका उपयोग होसकता है तो यही कि–अपना कलङ्कित मुख उस आदर्श (दर्पण) में देख देख कर पश्चात्ताप किया करें। पद पद पर शास्त्रीय वचनों को, अतीत युग के आदर्श चरित्रों को सामने रखने से न आजतक किसी का अभ्युदय हुआ है एवं न भविष्य में ऐसे धर्मसमाज से अभ्युदय की कोई आशा ही रखनी चाहिए। हाँ पतन अवश्य होगा है और हो रहा है जिसके कि फलस्वरूप सनातन धर्म्मी जगत् को भोगने पड़ रहे हैं। आज प्रत्यक्ष में उनके शास्त्रों पर, शास्त्रीय कर्म्मों पर, आचारों पर सभ्यता पर, देवमन्दिरों पर आततायियों की ओर से भीषण आक्रमण होरहे हैं और वे आक्रमण सफल भी होते जाते हैं। इस पाप का भागी कौन ? हम एकमात्र सनातनधर्म्मी–समाज, उसकी मोह निद्रा उसका कोरा आदर्शवाद और आदर्शवाद के उदर में पनपने वाला मिथ्याचार।

५०–आचारधर्म्म एवं युगधर्म्म का परस्पर प्रचण्ड संघर्ष तथा धार्मिक–प्रजा की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता—

मान लीजिए–हम आदर्शवाद को सुरक्षित रखना चाहते हैं, शास्त्रानुकूल कर्म्मों में ही प्रवृत्त रहना चाहते हैं। परन्तु उन शास्त्रों के कथनानुसार ही वर्त्तमानयुग में आदर्श को, शास्त्रमर्य्यादा को यथावत् सुव्यवस्थित रखने का कोई मार्ग नहीं मिल रहा। धर्म्मशास्त्र कहते हैं कि जिसके राज्य में अधर्म्म होता हो, ब्राह्मण दुःख पाते हों ———— की हिंसा होती हो, उस देश को छोड़ देना चाहिए। कहिए, कहाँ चला जाय ?। ढूँढिए उस देश को, जहाँ उक्त विभीषिकाएँ न हों। क्या ढूँढ सकेंगे ?। असम्भव। यही तो युगधर्म्म है। कृत और कलि में यही तो अन्तर है। धर्म्मशास्त्रों में ऐसे असंख्य विधिनिषेधनियम भरे पड़े हैं जिनका युगधर्म्म की कृपा से अधिकांश में (इच्छा न रखते हुए भी) आज हम पालन नहीं कर सकते। और वर्त्तमान भारतवर्ष की तो चर्चा करना ही व्यर्थ है जहाँ की प्रजा स्वयं ही शास्त्रों को कुचलने के लिए सन्नद्ध खड़ी है। इसीलिए तो एक राष्ट्रनेताने अपने श्रीमुख से—"यदि शास्त्र चाहेंगे तो न अछूत बन सकेंगे" इस वाक्य से धर्म्मशास्त्र को अस्वीकृत कर दिया था।

५१–अधर्मसम्पत्त्यनुगत धार्मिक–सङ्कट, और धर्म्मभक्त की परवशता—

एक व्यक्ति आर्थिक सङ्कट में पड़कर सेवाधर्म्म स्वीकार कर लेता है। अहर्निश परिश्रम करने पर कहीं वह अपना उदरपोषण करने में समर्थ होता है। शास्त्रसंस्कारवश उस की शास्त्र पर भी पूर्ण निष्ठा है। परन्तु परिस्थितिवश उसे समय नहीं मिलता। कहिए, वह क्या करे ?। किस उपाय से वह इस धर्म्मसङ्कट से बचे ?। और हमारा विश्वास है कि आज हमारी व्यक्ति एकमात्र अर्थसमस्या की जटिलता से ही अपनी

श्रद्धा को कार्यरूप में परिणत नहीं करसकते । क्या शास्त्रों में इन परवशों के अभ्युदय का कोई भी मार्ग नहीं है ?।

५२–अर्थप्रलोभनानुगता हमारी स्खलनपरम्पराएँ, एवं तदुपलक्षणाय असत्य–दम्भ–छल आदि आसुरधर्म्मों का अनुगमन—

और आगे चलिए । कितने एक व्यक्ति ऐसे भी हैं जो किसी प्रकार परिस्थितियों का सामना करते हुए अवकाशानुसार शास्त्रीय कर्म्मों के लिए समय निकालते हैं यथाशक्ति करते भी हैं । परन्तु सब साधनों की अनुकूलता के अभाव से साथ ही स्वयं शास्त्रज्ञान की कमी से वह कर्म्म जिस विधि से होना चाहिए, नहीं होता । उदाहरण के लिए एक वकील को लीजिए, ऐसे प्लीडर को लीजिए, जो जाति से ब्राह्मण है मातापिता जिसके परम सनातनधर्म्मी हैं । आर्थिक परिस्थिति के कारण जिसे पश्चिमी–शिक्षा का अनुगामी बन जाना पड़ा है । परन्तु संस्कारानुग्रहवश श्राद्धादि कर्म्मों में उसका पूर्ण विश्वास है । श्राद्ध का समय है अपराह्न । १० बजे उसे नियम से कोर्ट में पहुँच ही जाना चाहिए । फलतः उसे ९ बजे से पहिले पहिले ही श्राद्धकर्म्म का श्राद्ध करदेना पड़ता है । इस शास्त्रविरुद्ध श्राद्धकर्म्म से होने वाले प्रत्यवाय से वह विवश व्यक्ति कैसे बचे ?। वह जानता है कि मिथ्या बोलना पाप है । परन्तु उसे यह भी ध्यान है कि, बिना इस असत्यप्रयोग के वह सफल प्लीडर नहीं बन सकता । बतलाइए, इसके उद्धार का क्या उपाय ?।

५३–कलियुगानुगता महती–विभीषिकाएँ, एवं तत्परित्राणोपायभूत अन्यतम– भक्तियोग'–

निदर्शनमात्र है । त्रिगुणमायात्मिका प्रकृति के गर्भ में रहने वाले सर्वथा अल्पशक्ति मनुष्य के जीवन में पद पद पर ऐसे धर्म्मसङ्कट उपस्थित होते रहते हैं । कभी कभी तो ये सङ्कट जीवनसूत्र का भी विच्छेद कर डाल देते हैं । इन विषम परिस्थितियों में पड़ने से हमारा रहा सहा विवेकज्ञान भी लुप्त होजाता है हम किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं । हम ऐसी परिस्थितियों में या तो यह निर्णय कर डालते हैं कि–छोड़ो इन सब झगड़ों को । अथवा यह निश्चय कर लेते हैं कि, जैसे तैसे मिथ्याचार करके ही कालयापन करलेंगे । कौन इन सांसारिक वैभवों के पीछे दौड़े । इसप्रकार हमें स्वतएव क्लैव्याक्रान्त अर्जुन का उत्तराधिकार मिल जाता है । अब यदि हमारे अभ्युदय का कोई मार्ग बच जाता है तो वह है एकमात्र श्रीकृष्ण का उत्तराधिकारी "गीताशास्त्र" । कल्याणस्वरूप भगवान् से हमें अवश्य ही आश्वासन मिलेगा । भगवान् हमें परिस्थिति से होने वाले पापों से बचाएँगे । उसके लिए वे प्रदान करेंगे उसी उपाय का जो कि शास्त्रभक्तों को शास्त्र–निष्ठा की पूर्णरूप से सुरक्षित रखता हुआ अब मानों अभक्तों का भी अभ्युदय साधन करेगा । और वही उपाय होगा–इस 'पूर्वखण्ड' का मुख्य प्रतिपाद्य "भक्तियोग" ।

५४–शास्त्रनिष्ठ आरूढयोगी, शास्त्रानुगत आरुरुक्षु मानवश्रेष्ठ और सांसारिक–प्रपञ्च ग्रस्त सामान्य मानव—

शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का यथार्थ अनुष्ठान करने वाले कृतकृत्य निर्दोष सिद्धयोगी सर्वथा परिगणित हैं । स्थूलदृष्टि से तो ऐसे सिद्धयोगी सर्वथा ही परे हैं । युगधर्म्म के परिज्ञाता वे सच्चे योगी आज के संसार के सामने नहीं आते । आते हैं तो कब ? जबकि सर्वनाश का समय उपस्थित होता है । फलतः इनके सम्बन्ध में तो कुछ भी

पूर्ण आदेश। केवल अथबल पर गठित-पठित समाज को अपना अनुयायी बनाते हुए, इसी निकम्मे पुरुषार्थशून्य संघठन को 'सङ्घच्छध्वम्' से अनुगत पवित्र संघठन शब्द से, अलङ्कृत करते हुए, हिन्दुत्व की रक्षा का ठेका लेकर हिन्दुत्व के विनाश पर तुले हुए, भारतीय सभ्यता से विरोध रखने वाले न्यायालयों के साथ समझौता करते हुए, अशास्त्रीय अतएव सर्वथा असत्य आग्रह को उन्नति का मूल मन्त्र मानते हुए वे ही आज प्रबलवेग से भारतीय आदर्श-एवं बचे खुचे-व्यवहारप्रपञ्च को भी निर्मूल बनाने में प्रयत्नशील बन रहे हैं।

५९-विविध वर्गों के विविध विभवाद—

एक कहते हैं करो कुछ मत, केवल हमारा शास्त्र हमारा शास्त्र हमारा सनातनधर्म्म हमारा सनातनधर्म्म पुकारते रहो। दूसरे कहते हैं सब कुछ करो, कोई नियन्त्रण नहीं धर्म्म का नाम निशान मिटादो। सम्भव हो तो शास्त्रों को समुद्रगर्भ में विलीन करदो। हम हिन्दू हैं हिन्दुस्थान हमारा है स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है -इस वाक्य का पारायण करते हुए आगे बढ़ते चलो। विरोधियों को ग्राम ग्राम-दण्ड-भेद से जैसे बने कुचलते जाओ।

६०-परस्परात्यन्तप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभाग, एवं उनकी क्रमशः 'धर्म्म', तथा सुधार' के प्रति आधारशून्या दम्भप्रवृत्तियों का नग्न चित्रण—

एक ओर धर्म्म के ठेकेदार, तो दूसरी ओर हिन्दुत्व के ठेकेदार। सचमुच यह ठेकेदारी बड़ी भयङ्कर वस्तु है। जबतक हमारे इस पवित्र देश में ठेकेदारी न थी तबतक हम पूर्ण सुखी थे। परन्तु जब से ठेकेदारी चली है तब से प्रत्येक वस्तु का मूल्य तो बढ़ गया परन्तु वस्तु का स्वरूप नष्ट होगया। भला लोक प्रचलित इस ठेकेदारी से धर्म्म और हिन्दुत्व कैसे बचा रह जाता?। इन दोनों ठेकेदारों ने धर्म्म-और हिन्दुत्व का मूल्य तो अवश्य बढ़ा दिया। भरत्यार्थ प्रवर्त्तन्ते धर्म्मकञ्चुकाः -के अनुसार आज आपको सर्वत्र सनातनधर्म्मसभा आर्य्यसमाजमन्दिर व्याख्यानवाचस्पति, महामहा-उपदेशक, प्रतिनिधिसभा शाखा सभा उपशाखासभा आदि का प्राचुर्य्य मिलेगा। असंख्य मन्दिर, असंख्य मठ आदि के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। प्रत्येक श्रीमान् अपने जीवन में एक दो मन्दिर, धर्म्मशाला बनाकर अक्षय पुण्य का भागी होगा। परन्तु 'सत्यापि बन्ध्यायते'। कोने कोने में धर्म्म की दुहाई लगने पर भी आज कोई ठीक समय पर सन्ध्या जैसा आवश्यक कर्म भी तो नहीं करता। इसीप्रकार हिन्दुत्व की दुर्दशा का नग्न चित्र हमारे सामने है। सर्वत्र हिन्दुत्व का आज नाद व्याप्त है। यही क्यों आज तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्रादि नामों का स्थान भी तो इसी हिन्दुत्व ने छीन लिया है। इसप्रकार विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार आदि और अन्त, दोनों एक ही केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठित होरहे हैं। 'य एवारि स एवान्तः'।

६१-'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः'—

लक्ष्य एक, अभिनिवेश समान परन्तु फल में बड़ा अन्तर। ऐसा क्यों?, उत्तर उसी मोममाषा से पूछिए। धर्म्मानुयायी (हिन्दु आलस्य की सजीव प्रतिमा) महानुभाव केवल आदर्शवाद में पड़कर मीमांसानुगामी लोकवैभव से भी हाथ धो बैठे। न इधर के रहे, न उधर के। "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः"।

विचार करना अनधिकारचेष्टा ही होगी। कुछ महापुरुष ऐसे हैं जो संसार में रहते हुए शमनियमादि उपायों से इन्द्रियसंयम करते हुए, विविक्तदेशसेवी बनते हुए शास्त्रसिद्ध कर्म्म-ज्ञान-भक्ति तीनों में से किसी योग का अनुष्ठान कर रहे हैं। महापुरुषानुगत धर्म्मदायक संसारियों की दृष्टि में अवश्य ही वे परिगणित भक्ति शास्त्र के सम्यक् अनुष्ठाता कहला सकते हैं। तथापि गीता के शब्दों में इन आरुरुक्षु (अभ्यासकर्त्ता) योगियों की चर्चा करने का भी हमें अधिकार नहीं है।

५५-धर्म्मसूत्र का सञ्चालक-भारतीय मानववर्ग, एवं उसकी विविध उपाधियाँ —

अब हमारे सामने चार प्रकार का मानव समाज उपस्थित होता है। एक समाज तो ऐसा है जो शास्त्रों का पूर्ण भक्त है, शास्त्रमर्म्म का भी परिज्ञाता है, परन्तु पेट भर के लिए वह शास्त्रसिद्ध योगानुष्ठान का भी अभिमान करता है। साधारण जनता इन्हें आदर की दृष्टि से भी देखती है, यथाशक्य इनके उपदेश अवश्य ही भी वह उगती है। सनातनधर्म्म के आचार्य्य सन्त, महन्त, महामण्डलेश्वर, उपदेशक धुरन्धर विद्वान् इन सबको हम एक स्वतन्त्र श्रेणि में प्रतिष्ठित मानते हैं। धर्म्मसूत्र का सञ्चालक भार भी इन्हीं पर है। परिणाम क्या होता है?, यह अप्रत्यक्ष ही प्रश्न है।

५६-सहज श्रद्धाशील, किन्तु शास्त्रमर्म्मानभिज्ञ मानववर्ग —

कुछ एक श्रद्धालु ऐसे हैं जो न तो संस्कृतभाषा का ज्ञान रखते न परिस्थितिवश इच्छा रखते हुए भी अपनी जिज्ञासा ही शान्त कर सकते। परन्तु शास्त्रों पर श्रद्धा विश्वास रखते हुए जैसे तैसे यथासम्भव रूप से शास्त्रसिद्ध योगचर्या का अनुगमन करते रहते हैं।

५७-शास्त्र से तटस्थ प्राकृत मानवों का प्रदर्शनात्मक-छलपूर्ण शास्त्र शब्दोद्घोष—

कुछ एक महानुभाव ऐसे भी हैं जो शास्त्र चाहते जानते मानते कुछ नहीं। न शास्त्रों वाक्यों, एवं तदुक्त योगों योगों न इनकी भक्ति-शक्ति ही। अन्तर्जगत् में यह सब कुछ इनके लिए ढकोसला है। परन्तु अपने अनुयायिवर्ग को प्रसन्न रखने के लिए, अथवा शास्त्रनिष्ठ व्यक्तियों को व्यामोह में डाल कर उनसे स्वार्थ साधन करने के लिए ये बाह्यरूप से शास्त्रभक्ति का अधिकाधिक प्रदर्शन करते रहते हैं। साथ ही इसी के सम्बन्ध में यथोपयुक्त शास्त्र को आगे कर कुरूढी चलाते हैं। यही नहीं, उन श्रद्धालुओं की निन्दा भी किया करते हैं कि "देखो, ये जैसा चाहिए वैसा नहीं कर अनर्थ कर रहे हैं। और हम ही हम इस अनर्थ से बचे हुए हैं"— अमस्तशास्त्र बहिःशोधा।

५८-शास्त्रद्रोही परिवर्त्तनवादी उच्छृङ्खल-मानववर्ग, और उसका अनर्गल प्रलाप—

अब एक ऐसा वर्ग हमारे सामने आता है जिसका अन्तः, और बहिः दोनों ही समान धारा में प्रवाहित हैं। इनकी उत्पत्ति भी भारतवर्ष में ही हुई है। जन्म से भी ये द्विजाति ही हैं। परन्तु परिवर्त्तन-प्रिय ये महानुभाव युगधर्म्मानुसार या तो शास्त्रों का परिवर्त्तन चाहते हैं अथवा फिर शास्त्र का नामोल्लेख भी नहीं रखना चाहते। इनकी दृष्टि में नाश का एकमात्र कारण है—भारतीय शास्त्र उनके प्रवर्त्तक महर्षियों के स्वार्थ!

पूर्ण आवेश। केवल भयबल पर गर्वित-पठित समाज को अपना अनुयायी बनाते हुए, इसी निकम्मे पुरुषार्थशून्य संघटन को 'सङ्घशक्तिः' से अनुगत पवित्र संघटन शब्द से समाहित करते हुए, हिन्दुत्व की रक्षा का ठेका लेकर हिन्दुत्व के विनाश पर तुले हुए, भारतीय सभ्यता से विरोध रखने वाले न्यायालयों के साथ समझौता करते हुए, अशास्त्रीय अतएव सर्वथा असत्य आग्रह को उन्नति का मूल मन्त्र मानते हुए ये ही आज प्रबलवेग से भारतीय आदर्श-एवं बचे खुचे-व्यवहारकाण्ड को भी निर्मूल बनाने में प्रयत्नशील बन रहे हैं।

५९–विविध वर्गों के विविध विलाप—

एक कहते हैं करो कुछ मत केवल हमारा शास्त्र हमारा शास्त्र हमारा सनातनधर्म्म हमारा सनातनधर्म्म पुकारते रहो। दूसरे कहते हैं सब कुछ करो, कोई नियन्त्रण नहीं, धर्म्म का नाम निशान मिटादो। सम्भव हो तो शास्त्रों को समुद्रगर्भ में विलीन करदो। 'हम हिन्दू हैं हिन्दुस्थान हमारा है स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'-इस वाक्य का पारायण करते हुए आगे बढ़ते चलो। विरोधियों को साम दाम-दण्ड-भेद से जैसे बने कुचलते जाओ।

६०–परस्परात्यन्तप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभाग, एवं उनकी क्रमशः 'धर्म्म', तथा 'सुधार' के प्रति आधारशून्या दम्भप्रवृत्तियों का नग्न चित्रण—

एक ओर धर्म्म के ठेकेदार, तो दूसरी ओर हिन्दुत्व के ठेकेदार। सचमुच यह ठेकेदारी बड़ी मजेदार वस्तु है। जबतक हमारे इस पवित्र देश में ठेकेदारी न थी तबतक हम पूर्ण सुखी थे। परन्तु जब से ठेकेदारी चली है तब से प्रत्येक वस्तु का मूल्य तो बढ़ गया परन्तु वस्तु का स्वरूप नष्ट होगया। भला लोक प्रचलित इस ठेकेदारी से धर्म्म और हिन्दुत्व कैसे बचा रह जाता ?। इन दोनों ठेकेदारों ने धर्म्म-और हिन्दुत्व का मूल्य तो अवश्य बढ़ा दिया। मत्स्यान्याय प्रचरन्ति धर्म्मकञ्चुकाः —के अनुसार आज आपको सर्वत्र सनातनधर्म्मसभा आर्य्यसमाजमन्दिर, व्याख्यानवाचस्पति, महामहा-उपदेशक प्रतिनिधिसभा शाखा सभा उपशाखासभा आदि का प्राचुर्य्य मिलेगा। धर्म्मक्षेत्र मन्दिर सहस्रधा-मन्दिर आदि के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। प्रत्येक श्रीमान अपने जीवन में एक दो मन्दिर, धर्म्मशाला बनाकर धर्म्मात्मा पुरुष बनता ही मिलेगा। परन्तु "स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते" कोने कोने में धर्म्म की दुहाई लगने पर भी आज कोई भी समय पर स्वल्प जैसा आवश्यक धर्म्म भी तो नहीं करता। इसीप्रकार हिन्दुत्व की दुर्दशा का नग्न चित्र हमारे सामने है। सर्वत्र हिन्दुत्व का आर्त्तनाद व्याप्त है। यही क्यों आज तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्रादि नामों का स्थान भी तो इसी हिन्दुत्वने छीन लिया है। इसप्रकार विकास सिद्धान्त के अनुसार आदि और अन्त दोनों एक ही बृहद्बिन्दु पर प्रतिष्ठित हुआ है। 'स एवादि स एवान्तः'।

६१–'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः'—

बहुत गई, अभिनिवेश समान परन्तु फल में बड़ा अन्तर। ऐसा क्यों ? उत्तर उसी सोमसाया स पूर्ति। धर्म्मानुयायी (विशुद्ध ब्राह्मणत्व की सजीव प्रतिमा) महानुभाव केवल 'आदर्शवाद' में पड़कर प्राप्त मायानुरूपी व्यवहारिक से भी हाथ धोबैठे। न इधर के रहे, न उधर के। "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः"।

६७-विभिन्न मार्गों की पारस्परिक-अहमहमिका, और तद्द्वारा राष्ट्रपतन का अभिनय—

उधर योगमाया के ही अनन्य भक्त हिन्दुत्वानुयायी महानुभाव परमार्थद्वार से अन्य पथ का अनुगमन करते हुए भी लोकवैभवसंग्रह में पाछे मार खोगए। कुछ महयोग कालपुरुष का मिला कुछ नैमित्तिक सहयोग कुछ मानुष्य और सबसे बड़ा सहयोग लोकवैभव की अधिष्ठात्री योगमाया का। फिर क्या था। उन्हें यहाँ पेट भर भी अन्न न मिला यहाँ इन्होंने अधिक खाते खाते बातियाँ करना आरम्भ कर दिया। एक वर्ग अधिक कृश होने से आचारधर्म में असमर्थ है तो दूसरा वर्ग अधिक स्थूल होने से असमर्थ बना रहता हुआ—'अशुभं कृत्स्नं अर्थानि' को चरितार्थ कर रहा है। इन दो ठेकेदारों के बीच में ये दो वर्ग—एक महानु दूसरे अन्तर्व्याख्याता वादिः योगाः। आगे चलकर दोनों में कौन किस ठेकेदार का अनुयायी बन गया? यह भी स्पष्ट कर लीजिए। 'समानशीलव्यसनेषु मैत्री' प्रसिद्ध है। भक्तानुयायों का झुकाव धर्माभिनिविष्टों की ओर होना आवश्यक था। नाम के भक्तानुयायी, किन्तु घोर अभक्तानुयायी झुकाव हिन्दुत्व के पक्षपातियों के साथ हुआ। हाँ कुछ एक भक्तानु ऐसे भी रहे, जो अभक्तसहवास बन कर उधर न रहकर इधर ही रहे। परन्तु इनका आत्मा उधर ही रहा। इसप्रकार सम्पूर्ण भारतीय मानवधर्म ६ मार्गों में विभक्त माना जासकता है। इधर वेदानुयायियों में से अधिक वर्ग तो उन राष्ट्रवादियों के अनुगामी रहे और कुछ आत्माभिमानी धर्माभिनिविष्टों के पक्षपाती रहे। हम किसी विशेष प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही उक्त वर्गीकरण की साथ लेकर पाठकों के समक्ष उपस्थित हुए हैं। अतः हम अनुरोध करेंगे कि, उक्त ६ ओं विभागों को ध्यान में रखते हुए ही पाठक आगे के प्रकरण पर दृष्टि डालेंगे—

१—(१) १—सिद्धयोगिनः—भाक्ताः——योगभ्रष्टाः

२—(२) २—सम्प्रयोगिनः—भाक्तस्व —पुरस्त्वनुगामिनः

—•—

३—(१) १—धर्माभिनिविष्टा —धर्मशून्या—विशुद्धसिद्धान्तवादिनः (आत्मभक्ता—ज्ञानभक्ता वा)

४—(२) २—भक्ताभासाः——धर्मादि——अस्वधर्मस्वरूपेण महत्ता धार्मिका—उभयवादिनः उभयनिष्ठा

—•—

५—(३) १—अभक्ताभासाः——भक्ताभासाः—धर्मशून्या—उभयवादिनः—निष्ठाविच्युताः

६—(४) २—हिन्दुत्वाभिनिविष्टाः—धर्मशून्या—राष्ट्रवादिनः—(राष्ट्रभक्ता—धर्मभक्ता वा)

—•—

६८-धर्मभीरु युधिष्ठिर की यथार्थ धर्मभीरुता भगवान् के द्वारा तद्भर्त्सन, एवं अभिनिविष्ट पाण्डवों का उद्बोधन—

गीता की आवश्यकता क्यों हुई?, एवं गीता ने वह कौनसा उपाय बतलाया जिससे उक्त चारों वर्गों का अभ्युदय सम्भव है?, इसके लिए महाभारतकालीन मानवसमाज पर दृष्टि डालिए, समाधान हो-

जायगा। उस युग के अन्वेषण से पाठक इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि, उस युग में मानवसमाज की प्रायः यही अवस्था थी जिस अवस्था का कि पर्व में दिग्दर्शन कराया गया है। सिद्धयोगियों की भी उस युग में कमी न थी। पराशर–व्यास–परशुराम–आदि सब इसी कोटि में माने जासकते हैं। और सबसे बड़े योगी साक्षात् योगेश्वर भगवान् कृष्ण भी उस युग का महत्त्व बढ़ा रहे थे। विदुर–उद्धव–बलराम–आदि अन्य–योगियों की भी उस युग में कमी न थी। अब शेष चारों दलों का विचार कीजिए। धर्म्माभिनिविष्ट पाण्डु–पुत्र पैत्रिक–सम्पत्ति से क्यों वञ्चित रहे ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है–धर्म्माभिनिवेश। इन्होंने स्वधर्म का वास्तविक मर्म्म न समझते हुए— 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस नीति का तिर–स्कार किया। युधिष्ठिर जानते थे कि, कौरव द्यूत के बहाने मेरा सर्वस्व अपहरण करना चाहते हैं। फिर भी अपनी धर्म्मभीरुता से कौरवों के निमन्त्रण को स्वीकार कर ही लिया। और फिर प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए जो न करना चाहिए था मातृवर्ग की उपेक्षा कर वह सब कुछ कर डाला। स्वयं भगवान् कृष्णने युधिष्ठिर के इस कर्म्म की कैसी भर्त्सना की है वह भी पैत्रिक–तथ्यवेत्ताओं से छिपा नहीं है। हमें मानना पड़ेगा कि युधिष्ठिर में धर्म्म का पूर्ण अभिनिवेश था। वे संसारयात्रा से अपरिचित थे। इसी दोष से उन्हें कष्ट सहने पड़े। यदि भगवान् कृष्ण मध्यस्थ बन कर इन्हें न संभाल लेते तो पाण्डवों को आजन्मजीवन ही कष्ट सहने पड़ते।

६४ धर्म्माभिनिविष्ट युधिष्ठिर एवं राज्यलिप्सासक्त–दुर्योधन, दोनों वर्गों का उत्पथ गमन–एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् का महान् उद्बोधनसूत्र—

दूसरा वर्ग कौरवों का था। इसके अधिनायक दुर्योधन की मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण की कोई आव–श्यकता नहीं है। राज्यलिप्सा ही इसका परमधर्म्म था। अपनी इस राज्यलिप्सा के लिए दुर्योधन नीच से नीच कर्म्म करने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करता था। धर्म्माभिनिविष्ट पाण्डुपुत्रों पर इस दुर्बुद्धि ने कैसे कैसे अत्याचार किए, यह सर्वविदित है। इन दोनों अत्यन्त के वर्गों के अनन्तर दोनों मध्यस्थ वर्ग हमारे सामने आते हैं। भीष्म द्रोण कृपादि धर्म्मरहस्यवेत्ता थे पूर्ण मध्यस्थ थे। परन्तु अन्नमद से इनका शरीर दुर्यो–धन के ही साथ था। अन्तरात्मा से ये दुर्योधन की पापवृत्ति के घोर विरोधी थे। परन्तु परिस्थिति ने इन्हें विवश कर रक्खा था। शकुनि–कर्ण–दुःशासनादि इनके बड़े कुत्सित थे। वे प्रत्यक्षरूप से दुर्योधन की पापनीति का समर्थन कर रहे थे। उस समय स्वदेशी विदेशी राजाओं में से अधिक भाग दुर्योधन की ही ओर था एवं स्वल्पभाग पाण्डवों की ओर था। कारण स्पष्ट है। पापप्रवृत्ति के साधन संसार में अधिक सुलभ हैं। कौरव–पाण्डव–समर न था अपितु धर्म्माभिनिविष्टों, एवं राज्याभिनिविष्टों का समर था। दोनों वर्ग युद्ध के लिए तत्पर थे परन्तु इसी धर्म्माभिनिवेश ने सहसा सब काम चौपट कर दिया। अर्जुन में कातरता दीन का आविर्भाव होगया। स्वधर्म्म का रहस्य विलीन होगया। तब इसी "विषमे समुपस्थिते भगवान् का यह उपाय अर्जुन के सामने आया। और उस उपाय का परिणाम यह निकला कि, अन्त में अर्जुन के मुख से— 'करिष्ये वचनं तव' ये अक्षर निकल पड़े। धर्म्माभिनिविष्टों का अभिनिवेश हटाया गया और उनके सामने एक सर्वोत्कृष्ट–सिद्धान्त रक्खा गया जिसके कि सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि–विश्व में शान्ति बनाए रखने के लिए गीता का यह एक सिद्धान्त ही पर्य्याप्त है। और उस सिद्धान्त का स्वरूप है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्''

६५—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्' का समन्वय 'धर्म्म' और 'नीति' का समतुलन तथा भारतीय राजनीति की धर्म्मसापेक्षता—

"तुम्हारे साथ जो जैसा बर्त्ताव करे तुम भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करो" इसी नीति के गर्भ में ही विश्वशान्ति का बीज प्रतिष्ठित है। जब जब भी भारत किंवा राष्ट्र ने इस नीति की उपेक्षा की है तब तब ही उसे आपत्ति का सामना करना पड़ा है। पाठक जानते ही होंगे कि गौवंश को अपनी सेना के आगे करते हुए विदेशी आततायियों ने भारतवर्ष की धर्म्मभीरुता से लाभ उठाया था, जिसका कि प्रतिफल आजतक भारतीय प्रजा को भोगना पड़ रहा है। इसी धर्म्माभिनिवेश ने आज भी हमें अपने बहुत अंश से वञ्चित कर रक्खा है। हम मिथ्याश्रद्धा में पड़कर शत्रु के साथ तथा नीति को भूल कर अपना सर्वनाश कर बैठते हैं। विशुद्ध धर्म्मनीति लोकवैभव की शत्रु है, जबतक कि उसके साथ राजनीति का समन्वय न कर दिया जाय। हाँ राजनीति के सम्बन्ध में हमें प्रत्येक दशा में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि इस राजनीति का लोक-अभ्युदय से ही सम्बन्ध है। किसी व्यक्तिविशेष अथवा दलविशेष के स्वार्थों की रक्षा करने वाली राजनीति कुटिल नीति ही मानी गई है। विष्णुगुप्त चाणक्य भले ही इसका समर्थन करें परन्तु धर्म्माचार्य्य उसे विशेष महत्त्व नहीं देते। समूल नन्दवंश को उखाड़ कर यदि चन्द्रगुप्त को राज्याधिकार दिला दिया गया तो इससे क्या हुआ। 'राजनीति' जिसे साधारण भाषा में हम 'चातुरी' भी कह सकते हैं* लोकप्रसादिनी ही होनी चाहिए। और यह तभी सम्भव है जबकि राजनीति के मूल में धर्म्म प्रतिष्ठित किया जाय। इतर देशों की राजनीति एवं भारतीय राजनीति में यही सबसे बड़ा अन्तर है। इतरदेशों में राज्यार्थ राजनीति का ही सञ्चालन करता है किन्तु भारतवर्ष में धर्म्मतत्त्व ही राजनीति का सञ्चालन करता है।

६६—धर्म्मसमन्विता राजनीति का ही अभ्युदय-निःश्रेयस् कारण, एवं धर्म्मभावुक पाण्डवों की धर्म्मभावना के साथ भगवान् के द्वारा नीति का समन्वय—

विचारदृष्टि से यह भी सिद्ध है कि धर्म्मनीति का विशुद्ध मोक्षनिष्ठा से सम्बन्ध है एवं राजनीति का विशुद्ध भोगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) से सम्बन्ध है। विशुद्ध धर्म्मनीतिमूला ज्ञाननिष्ठा हमें लोकवैभव से वञ्चित कर देती है एवं विशुद्ध-कर्म्मनिष्ठा हमें परमार्थसम्पत्ति से वञ्चित कर देती है। एक में विशुद्ध परमार्थ माना जाता है, दूसरी में विशुद्ध स्वार्थ है। वस्तुतः गीता की दृष्टि में दोनों ही विशुद्ध स्वार्थ हैं। हाँ अपेक्षाकृत राजनीति में अवश्य ही स्वार्थ के साथ साथ थोड़ा परमार्थ भी है। भगवान् दोनों का भेद खूब समझते हैं। गीतोपदेशकाल में भगवान् के सामने ये ही दो मार्ग उपस्थित थे। एक विशुद्ध धर्म्मनीति के अनुगामी बनते हुए राज्यवैभव से वञ्चित होते थे, दूसरा वर्ग विशुद्ध राजनीति का अनुगामी बनता हुआ विश्व-अशान्ति का कारण बन रहा था। भगवान् ने गीता के द्वारा दोनों का समन्वय किया। यद्यपि भगवान् ने विशुद्ध राजनीति-परायण दुर्य्योधन को भी समझाने में कोई न्यूनता नहीं की थी। वे चाहते थे कि दुर्य्योधन अपनी राजनीति में थोड़ा सा संशोधन करता हुआ धर्म्मनीति को उसका मूल बनाले। परन्तु स्वार्थी दुर्य्योधन पर भगवान के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः भगवान की उस दूसरे वर्ग पर दृष्टि गई जो कि—विशुद्ध धर्म्मनीति का अनुयायी था। उसके साथ भगवान् ने क्या किया? यह सर्वविदित

* या लोकप्रसादिनी तनुभृतां—सा चातुरी चातुरी।

है। उनमें राजनीति का समावेश कराया गया और उसका मूल उद्देश्य रक्खा गया लोक-अभ्युदय।

६७—आपद्धर्म्मविधया विशेष-परिस्थितियों में धर्म्मनीति की उपधा, एवं विशुद्ध राजनीति का अनुगमन, तथा तन्निबन्धना-पाप-पुण्य मीमांसा—

इसी लोक-अभ्युदय की भावना से भगवान् ने विशेष परिस्थियों में धर्म्मनीति की उपेक्षा करने में भी कोई हानि नहीं समझी। जिस धर्म्मराज ने अपने जीवन में कभी मिथ्याभाषण नहीं किया था उसे "नरो वा कुञ्जरो वा" कहने के लिए विवश करना विशुद्ध राजनीति नहीं, तो और क्या है ?। क्या युधिष्ठिर ने ऐसा कहते हुए सत्यधर्म्म को छोड़ नहीं दिया ? । दिया, और अवश्य दिया। इसी पाप के फल से भूपृष्ठ से ऊँचा चलने वाला युधिष्ठिर का रथ जमीन पर आ ठहरा। इसी पाप से युधिष्ठिर को कुछ समय के लिए नरक स्थान में भी निवास करना पड़ा। धर्म्मनीति के सर्वथा विरुद्ध भीम को दुर्य्योधन की जंघा पर गदा-प्रहार के लिए सङ्केत करना क्या भगवान् का पुण्यकर्म्म था ?। शस्त्र छोड़े हुए कर्ण पर प्रहार करने के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करना धर्म्मभीरु अर्जुन के न करने पर भी इसे उस निरस्त्र पर प्रहार करने के लिए विवश करना क्या पुण्यकर्म्म था ?। शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर भीष्मवध के लिए सुदर्शन लेकर दौड़ पड़ना कौनसा धर्म्म-कर्म्म था ? । जयद्रथ का धोखे से वध करवा डालना कौनसी धर्म्मनीति थी ?। इसप्रकार सैकड़ों उदाहरण ऐसे दिए जासकते हैं जिनमें विशुद्ध राजनीति का ही स्पष्ट उपलम्भ होता है। और धर्म्म की कसौटी पर कसने से उन्हें अधर्म्म ही मानना पड़ता है।

६८—भगवदवतार के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक प्रश्न, और तन्निराकरण—

ऐसी दशा में प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि जब भगवान् का अवतार धर्म्मग्लानि को दूर करने एवं धर्म्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ था तो फिर जान बूझ कर भगवान् ने अधर्म्मनीति का आश्रय क्यों लिया ?। कुछ एक भावुक सज्जन तो यह कहने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करते कि कृष्ण ने भारतवर्ष का कोई उपकार नहीं किया। अपितु वो शत्रुओं की सहायता कर भारत के समृद्ध वैभव का नाश ही करवा डाला।

उत्तर में कहना पड़ेगा कि, भगवान् की भौतिक-स्वरूपसत्ता में भी जब दुर्य्योधनादि आसुरजीव भगवान् की भगवत्ता समझने में असमर्थ होते हुए उनकी निन्दा से नहीं चूकते थे तो आज यदि कोई मन्दबुद्धि भगवत्ता का अणुमात्र भी रहस्य न जानता हुआ यदि उन पर किसी प्रकार का आक्षेप करता है तो इसमें उसका कोई दोष नहीं है।

६९—प्राकृतिक-द्वन्द्वात्मक-भौतिक-विश्व-की गुणदोषानुगति, एवं विश्व के सामूहिक, तथा व्यक्तिक हिताहित का तारतम्य—

हम कह चुके हैं कि, भगवान का प्रधान लक्ष्य है—विश्वशान्ति। यदि इसके लिए अधर्म्म की भी आहुति देनी पड़े तब भी श्रेय समझा ही माना जायगा। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि त्रिगुणा-

निष्ठ योगमाया के द्वारा सञ्चालित इस विश्व में शुद्ध गुणविभूति कभी नहीं पनप सकती।। उत्तम से उत्तम कार्य्य में भी दोष का अनुषङ्ग अनिवार्य्य है— सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"। इसी आधार पर यह भी सिद्ध होजाता है कि, जिस कर्म्म से अधिक मनुष्यों का उपकार हो–वह मान्य है एवं इस महोपकार के सामने अल्पसंख्यकानुगामी कर्म्म उपेक्ष्य है। युधिष्ठिर–अर्जुनादि को पाप अवश्य होगा उसका फल भी उन्हें भोगना पड़ा होगा। परन्तु विश्वहित के सामने व्यक्तिहित का कोई मूल्य नहीं है। और रही भगवान् की बात। तो उनके सम्बन्ध में हमें टीका-टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं है। भगवान् तो एक व्यक्ति के उद्धार के लिए भी अपने आपको बन्धन में डालते सुने गए हैं। वानरयुगनाथवेदि नारद के उद्धार के लिए भगवदंश को मानवरूप (दाशरथि रामरूप) धारण करना पड़ा है यह सर्वविदित है।

७०–महाभारतयुग से अनुप्राणिता प्रपञ्च-सम्पदावस्था के कतिपय उदाहरण—

फिर वह समृद्ध वैभव भी किस काम का जिसका एकमात्र उद्देश्य हो स्वार्थलिप्सा को उत्तेजना देना। वे विचित्र आविष्कार भी किस काम के जिनसे मानवसमाज की शान्तभावनाएँ कुचली जांय?। कुरु–पाण्डवों का वैभव ऐसा ही था। और उस युग में शस्त्रास्त्रों का विकास भी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। बात बात में योद्धा महायुद्धों के लिए सन्नद्ध होजाते थे। भीष्म–परशुराम–स्पर्द्धा अर्जुन–कर्ण–स्पर्द्धा विराट् नगर में होने वाली कौरव–पाण्डव-स्पर्द्धा आदि इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण हैं। "क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येत्-आक्रुष्टः कुशलं वदेत्" इत्यादि शान्तिभाव के अग्रदूत द्रोणाचार्य्य जैसे तपस्वी ब्राह्मण भी शस्त्र-बल से विरोधियों (द्रुपदराजा) को कुचलने की इच्छा रखते थे। ब्राह्मणबालक अश्वत्थामा भी अपने आपको वीरयोद्धा समझने में गौरव का अनुभव करता था। भला द्रोणाचार्य्य जैसे तपस्वी ब्राह्मण का शस्त्र-लिप्सा से क्या सम्बन्ध?। एक ब्राह्मण क्यों किसी से राग द्वेष करे जबकि मानवधर्म्मशास्त्र ने उसके लिए– "कुर्य्यादन्यं न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" यह आदेश दिया है। परन्तु हम देखते हैं कि गुरु-दक्षिणा में द्रोणाचार्य्य द्रुपद को अपने शरण में लाने की कामना अभिव्यक्त कर बैठते हैं। और उनकी वह क्षुब्ध मनोवृत्ति तबतक शान्त ही नहीं होती जबतक कि वे द्रुपदराज्य का आधा भाग छीन कर "अहिच्छत्र" को अपनी राजधानी नहीं बना लेते।

७१–विश्वशान्ति का प्रचण्ड शत्रु महाभारतकाल, एवं विप्लवात्मिका धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही अवतीर्ण भगवान् वासुदेव कृष्ण के साम्यभावापन्न उद्-गार—

सचमुच महाभारतकाल की समृद्धि विश्व के लिए, विश्व की शान्ति के लिए एक भयानक ही सन्देश था। भाई भाई का शत्रु था प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने व्यक्तित्व को ही सर्वोच्च देखना चाहता था भारतवर्ष भर में था सामन्त-राजागण स्वार्थवश अन्याय के समर्थक बन रहे थे। जो यह वैभव हमारा सर्वस्व शान्त करने के लिए मुँह बाए खड़ा था। धरित्री व्याकुल थी, देवता सशङ्क थे धर्म्मग्लानि चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। कोई मत्स्यनिष्ठा का प्रभुत्व राग अलाप रहा था तो कोई वर्ण जाति को ही उन्नति का चरम लक्ष्य मान रहा था। क्षत्रिय (अर्जुनादि) मोहवश ब्राह्मणधर्म्म को श्रेष्ठ समझने लगे थे तो ब्राह्मण (द्रोणादि) क्षात्रधर्म्म का अभिमान करने लगे थे। वर्णाश्रमधर्म्म अस्तप्राय था। कुपुत्र (कंसादि) पिताओं पर (उग्रसेनादि पर) अत्याचार करते लज्जित नहीं होते थे। निर्लज्ज योनियाँ (गन्धर्वादि) विलासलीलाओं में निमग्न थी। इस-

प्रकार उस महाभारतकालीन समृद्धवैभव के गर्भ में अत्याचार का ही दावानल प्रज्व लित होरहा था। परिणाम स्वरूप भगवान् ने अवतरित मानुषदेह में उसी अत्याचार की सीमा में (कंस के कारागार में) प्रकट होते हैं। उनके सामने भारी परिस्थिति प्रकट होती है। अब इनके लिए एकमात्र कर्त्तव्य है—शान्ति स्थापित करना। और इसके उपाय हैं-साम अथवा तो दण्ड। महाभारतवेत्ताओं को विदित है कि भगवान् कृष्ण ने सदा दण्डनीति के समतुलन में सर्वत्र सहयोग की नीति को ही उत्थापन प्रदान किया है। अवैधक्रान्ति की अपेक्षा वैध सहयोगान्दोलन को ही श्रेष्ठ माना है। और मानवता का यह आग्रह भी है कि जहाँतक सम्भव हो यदि समत्वमूलक सहयोग से ही शान्ति होजाय तो पहिले उसी के लिए पूर्ण प्रयास करना चाहिए। भगवान् समत्वयोग के आविष्कारक थे। दण्डनीति में भी समता आती है परन्तु पहिले विषमता का ही सामना करना पड़ता है। उधर साम नीति में आरम्भ से ही समता की प्रधानता है। भगवान् ने पहिले यही किया। क्या कंस को समझाने में भगवान् ने कोई कस बाकी रक्खी थी?, शिशुपाल के कितने अपराध क्षमा किए?। परन्तु जब सामनीति सफल न हुई तो अन्त में भगवान् को सुदर्शन के द्वारा दण्डनीति का ही आश्रय लेना पड़ा। यही दशा कौरवों की हुई। भगवान् दूत बनने में भी संकोच नहीं किया। वे नहीं चाहते थे कि, दो बन्धुओं में राज्यलिप्सा के कारण इसप्रकार रक्तपात हो और भारत का समृद्धवैभव केवल इतिहासज्ञों की ही कल्पना रह जाय। परन्तु वे यह भी सहन नहीं कर सकते थे कि, अत्याचारी अधिकारसिद्ध न्यायोचित स्वत्व को भी पूरा न करें। समृद्धि भी बनी रहे कोई अपनी आधिकारिक-सम्पत्ति से भी वञ्चित न रहे दोनों लक्ष्य सामने रखकर ही भगवान्ने एक बार पुनः शान्ति की इच्छा प्रकट की। युधिष्ठिर ने बतलाया कि भगवन्! अब शान्ति की चेष्टा व्यर्थ है। मुझे विश्वास है कि, आपके सदुपदेश का दुर्योधन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा *। परन्तु भगवान क्या उत्तर देते हैं सुनिए!। युधिष्ठिर! मैं धृतराष्ट्र की पापबुद्धि को भलीभांति जानता हूँ। और यह भी समझता हूँ कि-मुझे सन्धि के लिए गया सुनकर राजागण अनेक प्रकार के अपवाद उठाएँगे। कहेंगे—युधिष्ठिर अपनी निर्बलता से डर कर सहयोग की भिक्षा के लिए कृष्ण को भेज रहा है। कदाचित् तुम्हें यह आशङ्का हो कि, मुझे एकाकी पाकर कौरव मेरा कुछ अनिष्ट कर डालेंगे तो इस ओर से तुम्हें निश्चिन्त ही रहना चाहिए। अणुमात्र भी अधिकता करने पर मैं सम्पूर्ण कौरवों को वहीं भस्मसात् कर दूँगा +। राजन्! यदि वे मान गए, तो अभ्युदय है

* न ममैतन्मतं कृष्ण! यत्त्वं यायाः कुरून्-प्रति।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः
—महाभारते-उद्योगपर्वणि ७२ अध्याय ८९ श्लोक।

+ जानाम्येतां-महाभाग! धार्त्तराष्ट्रस्य पापताम्॥
अवाच्यास्तु भविष्याम सर्वलोके महीक्षिताम्॥१॥
न चापि मम पर्याप्ता सहिता सर्वपार्थिवाः॥
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं सिंहस्येवेतर मृगाः॥२॥
अथ चेत्-प्रचरन्त मपि किञ्चित् साम्प्रतम्॥
'निर्दहेयं कुरून् सर्वान्' –इति मे धीयते मतिः॥३॥
—म० उ० ७२ अ०। ८८-८९,९० श्लो०।

अतएव दोनों अवस्थाओं में समान है। मर्यादावादियों का मुख कौन रोक सकता है?। इसप्रकार युधिष्ठिर का परितोष कर लीलाधर पुरुषेश मे कौरवसभा में पहुँचते हैं और वहाँ समयोचित वाणी का प्रयोग करते हुए कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—कुरूणां पाण्डवानाञ्च शमः स्यादिति भारत ! ॥
अप्रणाशेन वीराणामेतद्–याचितुमागतः ॥१॥
राजन् ! नान्यत्–प्रवक्तव्यं तव निःश्रेयसं वचः ॥
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिन्दम ! ॥२॥
आत्मसम्भवमर्योत्सा नाकम्पत, युधिष्ठिर ॥
अहं तु तव, तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ! ॥३॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन्नीनशः प्रजाः ॥
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥४॥
लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान्–निगृह्णीष्व विशाम्पते ! ॥
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिन्दमाः ॥५॥
यत्ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परन्तप ! ॥६॥

—म० उद्यो० ६७ अ० ।

उपस्थित भगवान् महामना परम करुण नारदादि महर्षियों ने कृष्णसन्देश का पूर्ण समर्थन किया। उन्होंने दुर्योधन के सामने निम्नलिखित शिक्षा भी उपस्थित की कि—

सुहृदां हि वचस्तस्य कृत्वा प्राज्ञमीप्सितम् ।
प्रतिकूलमशक्तस्य मित्राणाम्मरणं ध्रुवम् ॥

७२–आततायीवध और तदनुयायिता अनिवार्या दण्डनीति—

तब अन्ततः शान्तिवादकी भी भी यही सम्मति रही। परन्तु * परिणाम जो कुछ हुआ वह सर्वविदित है। इसप्रकार सर्वसमर्थ भगवान् की साम्नीति जब सफल नहीं होती तो अवश्य उन्हें दण्डनीति का ही आश्रय लेना पड़ता है। भगवान् निश्चय कर लेते हैं कि ये आततायी बिना दण्ड के नहीं मानेंगे। अत–

* यद्यपि अन्तर्यामी भगवान् पहिले से ही इस परिणाम को जानते थे। परन्तु लोक–शिक्षण के लिए ही उन्होंने साम्नीति का प्रथम आश्रय लिया। यदि भगवान् ऐसी शिक्षा न देते तो "यद्यदाचरति" के अनुसार लोकपक्ष में सन्मार्ग रहता हुआ भी सामान्य जनसमाज उद्दण्डता का ही आश्रय प्रधान मान बैठता।

एवं विवश होकर विश्वशान्ति के उदात्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए भगवान् को भारत के उस समृद्ध वैभव का बलिदान ही करदेना पड़ा है। ऐतिह्य-घटनाओं का अन्वेषण किए बिना ही भगवान् कृष्ण पर कुलविनाश का कलङ्क लगाने वाले सचमुच ही महापातकी हैं!

७३ गीतानुगत आत्ममूलक साम्यवाद, तथा भूतमूलक वर्तमान साम्यवाद (कम्यूनिज्म) का समतुलन—

साम्यवाद का प्रश्न प्रसङ्गवश उपस्थित होगया। अतएव प्रसङ्गवश इस के सम्बन्ध में भी किञ्चिद् निवेदन करदेना आवश्यक होगया है। गीतोक्त साम्यवाद और वर्त्तमानयुग में प्रचलित साम्यवाद में कितना, और कैसा अन्तर है?, यह गीताभूमिका-प्रथमखण्ड में सङ्क्षेप से बतलाया जाचुका है। गीता का साम्यवाद 'आत्मसाम्य' से सम्बन्ध रखता हुआ राजतन्त्र पर प्रतिष्ठित है एवं इस का मूल धर्म-परमेश्वर है। वर्त्तमान साम्यवाद भूतसाम्यवाद (जो कि सर्वथा असम्भव है) से सम्बन्ध रखता हुआ प्रजातन्त्र पर प्रतिष्ठित है एवं इसका मूल अनीश्वरवाद है। यह साम्यवाद (कम्यूनिज्म) तो भौतिक-लिप्सा का उत्तरोत्तर समुत्तेजित ही करता रहता है। साम्यवाद किंवा सहयोग वही श्रेष्ठ है जिस के मूल में धर्मनीति प्रतिष्ठित है। हमारे राष्ट्रवादी साम्यवादमूलक नास्तिकतानिबन्धन जिस सहयोगभाव की आकांक्षा रखते हैं, वह धर्मनीति से वञ्चित रहता हुआ साथ ही धर्मनीति का विरोध करता हुआ गीता के साम्यवाद से समष्टि वर्णभेद का घोर शत्रु बनता हुआ सर्वथा हानिकर ही है।

७४—गीता का विश्वशान्ति-मूलक महान् सत्र, एवं उस का समन्वय-दिग्दर्शन—

हाँ तो अब पुनः प्रकृत का अनुसरण कीजिए। हमने बतलाया है कि, विश्वशान्ति के लिए गीता का 'जैसे के साथ वैसा' सिद्धान्त ही पर्य्याप्त है। अवश्य ही विगत शताब्दियों में हमने इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर अपना सर्वस्व ही खोदिया है। और आज भी हम अपनी अन्धश्रद्धा के कारण भावावेश में आकर उक्त आदेश की अवहेलना ही करते जारहे हैं। यह जानते हुए एवं मानते हुए भी कि अमुक व्यक्ति ने समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर अभिमान में पड़कर समाज को अशान्त बना रक्खा है हम भीत कारण वश सामान्य जनप्रवाह की हाँ में हाँ मिलाते हुए उसकी घातक प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का ही यत्न किया करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की पूजा-प्रतिष्ठा ही हमारे पतन का मुख्य कारण है। यदि हमें अपना अपने समाज का अपने राष्ट्र का एवं विश्व का अभ्युदय अभीष्ट है तो जिस अन्धश्रद्धामयी व्यक्तिपूजा ने आज प्रधान-आसन ग्रहण कर रक्खा है उसका समूल विनाश कर ही देना पड़ेगा। यदि कोई सम्प्रदायिक आचार्य्य व्यक्तिप्रतिष्ठा से अनुचित लाभ उठाने का प्रयास करेगा तो समाज पहिले प्रेमनीति से काम लेगा अन्यथा दण्डनीति को अपनाएगा। यदि कोई राष्ट्रीय नेता अर्थाभिमान यशोऽभिमान आदि में पड़कर व्यक्तिप्रतिष्ठा से प्रवाहित होता हुआ स्वच्छन्द-अनर्गल आदेश देने लगेगा तो हमें उसकी भी चिकित्सा कर ही देनी पड़ेगी। उद्दण्डता-अन्याय-अधर्म्म—की क्षणमात्र भी उपेक्षा नहीं की जायगी। प्रतिपद पर हमारी— 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' यही नीति रहेगी और इसी से हमारा अभ्युदय सम्भव तथा सुनिश्चित बन सकेगा।

भगवान् दोनों अवस्थाओं में समान हैं। सर्वान्तर्यामी का गुण कौन रोक सकता है? । तदनन्तर युधिष्ठिर का परितोष कर भीमादि पर कुरुदेश में कौरवसभा में पहुँचते हैं और वहाँ समयोचित वाणी का प्रयोग करते हुए कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—कुरूणां पाण्डवानाञ्च शमः स्यादिति भारत ! ॥
अप्रणाशेन वीराणामेतद्-याचितुमागतः ॥१॥
राजन् ! नान्यत्-प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः ॥
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिन्दम ! ॥२॥
यात्वस्मादमर्यात्मा नाकम्पत , युधिष्ठिर ॥
अहं तु तव, तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ! ॥३॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन्नीनशः प्रजाः ॥
अनर्थमर्थं मन्वानोऽर्थं चानर्थमात्मनः ॥४॥
लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान्-निगृह्णीष्व विशाम्पते ! ॥
स्थिता शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिन्दमाः ॥५॥
यत्ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परन्तप ! ॥६॥

—म० उद्या० ९५ अ०।

उपर्युक्त भाषण सम्पन्न होने पर कण्व नारदादि महर्षियों ने कृष्णसन्देश का पूर्ण समर्थन किया। उन्होंने दुर्योधन के सामने निम्नलिखित विभीषिका भी उपस्थित की कि—

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम् ।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ॥

७२—आत्मापीडन और तदनुमोदिता अनिच्छापूर्ण दण्डनीति—

तब समस्त राजसमाज की भी यही सम्मति रही। परन्तु * परिणाम जो कुछ हुआ वह सर्वविदित है। इसलिए आर्त्तप्रिय भगवान् की सामनीति का आदर नहीं होगी तब भगवान् उन्हें दण्डनीति का ही आश्रय लेना पड़ता है। भगवान् निश्चय कर लेते हैं कि ये आततायी बिना दण्ड के नहीं मानेंगे। अत

* यद्यपि अन्तर्यामी भगवान् पहिले से ही इस परिणाम को जानते थे। परन्तु लोक-शिक्षण के लिए ही उन्होंने सन्धिनीति का प्रथम आश्रय लिया। यदि भगवान् ऐसी शिक्षा न देते तो "यथायोग्यमिति" के अनुसार दण्डादि में समर्थ रहता हुआ भी सामान्य जनसमाज उद्दण्डता का ही आश्रय प्रधान मान लेता।

७९–महायन्त्रानुगत विविध क्षुद्रयन्त्र, एवं महायन्त्रानुगता महती प्रेरणा से ही क्षुद्रयन्त्रों की गतिशीलता—

बात है थोड़ी अटपटी सी परन्तु अनुभवसिद्ध। वास्तव में न हम कुछ करते एवं न कुछ करसकते। जिसप्रकार गङ्गाप्रवाह में पड़ा हुआ एक तृण गङ्गाप्रवाह के साथ साथ प्रवाहित रहता है इस प्रवाह में 'तृण पड़ा' का कोई मूल्य नहीं है एवमेव हम भी उस संसारप्रवाह में एक तृण से अधिक कोई महत्त्व नहीं रखते। जिधर संसारचक्र जारहा है विवश होकर हमें भी उसी ओर जाना पड़ता है। पञ्जिन का महायन्त्र अपने उदर में अनन्त छोटे छोटे यन्त्र प्रतिष्ठित रखता है। महायन्त्र के साथ साथ उन्हें भी घूमते रहना पड़ता है। छोटे यन्त्र महायन्त्र की भक्ति (भाग-अवयव) बने हुए विवश होकर उसके साथ घूमते रहते हैं। जब महायन्त्र अवरुद्ध (बंद) होजाता है तो तत्क्षण वे क्षुद्रयन्त्र भी अपनी गति छोड़ बैठते हैं। ठीक इसीप्रकार यह सप्तविततिस्तिक्रयात्मक महामायामय महाविश्व भी ईश्वर का महायन्त्र ही है। सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र आदि पितर-देवता-गन्धर्व-लोकपाल-दिक्पाल-मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट आदि सब इस महायन्त्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले महायन्त्र की भक्ति बने हुए छोटे छोटे यन्त्र हैं। कर्म्ममय ईश्वरात्मक महायन्त्र अनवरत घूमता रहता है। इससे सब उन क्षुद्रयन्त्रों को भी विवश होकर घूमना पड़ता है। इन क्षुद्रयन्त्रों की स्वतन्त्र इच्छा का कोई भी मूल्य नहीं है।

८०–मानवीय जीव की इन्द्रियवर्गानुगता विविध-इच्छाएँ, एवं महायन्त्रात्मक तन्त्रायी ईश्वर के द्वारा ही तदिच्छाओं का सञ्चालन—

हाथ का उठना पैर का आगे बढ़ना मुख से शब्द निकालना नासिकासे गन्धका ग्रहण होना यह सब कुछ (व्यवहारदशा) जैसे हमारी इच्छा मानी जाती है हाथ-पैर-मुख-नासिका-कर्ण आदि अपनी इच्छा से कुछ नहीं करते। ये सब हमारे ही अवयव हैं एवं इन अवयवों की इच्छा हमारी ही इच्छा है ठीक इसी प्रकार हम सब उस ईश्वरशरीर के ही अवयव हैं। ईश्वरेच्छा ही हमारी इच्छा है। भोजन-पान-शयन-जागरण-सब कुछ उसी की इच्छा से प्रक्रान्त है। प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, इच्छा को हम (जीवात्मा) कभी उत्पन्न नहीं करते। अपितु ईश्वर के द्वारा अपने आप विनिर्मित इच्छा का ही हम "हमारी इच्छा है" इन शब्दों में अभिनय करते रहते हैं। "मैं अब भोजन करूँ" इस इच्छा के लिए हम अपनी ओर से कोई व्यापार नहीं करते। इच्छा होजाती है तब हम उसे पहिचान पाते हैं। मानना पड़ेगा कि अवश्य ही हमसे (जीव से) पृथक् कोई तत्त्व अन्तर्जगत् में ऐसा प्रतिष्ठित है जिसकी प्रेरणा से ही इच्छा की अभिव्यक्ति होती रहती है और हम उस इच्छा के निमित्तमात्र ही बनते रहते हैं। प्रकृतात्मसम्बन्धिनी इसी ईश्वरेच्छा का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

८१ महायन्त्रात्मक ईश्वर की जीवानुबन्धिनी भक्ति, और 'भक्तियोग'—

जब यह सिद्ध है कि, हम हमारी इच्छा से कुछ नहीं करते हम निमित्तमात्र हैं तो परेच्छा से सञ्चालित होनेवाली कभी बन्धन का कारण नहीं बन सकती। राजा की इच्छा से यदि एक वधिक किसी अपराधी

७५–भक्तिमार्ग का कर्मबन्धन-विमोकत्व—

उक्त सिद्धान्त के साथ साथ हमें भगवदुपदिष्ट उस उपाय का भी आश्रय लेना पड़ेगा जिसके सि सम्बन्ध में—'कर्मसंबन्धं महात्स्यति' यह सूक्ति प्रसिद्ध है। धर्मनीति में राजनीति का समावेश करना पड़ेगा एवं राजनीति में धर्मनीति का समावेश करना पड़ेगा। सांख्य को योगानुगामी बनाना पड़ेगा एवं योग को सांख्य का अनुगामी बनाना पड़ेगा। ईश्वर के ज्ञानभाग में कर्म को युक्त करना पड़ेगा एवं कर्मभाग को ज्ञानपर प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। और इसी भक्तिमार्ग से हम सर्वसिद्धि में समर्थ बन सकेंगे।

७६–अभ्युदय-निःश्रेयस्-ससाधक-गीता का भक्तियोग –

प्रश्न हमारे सामने यही था कि, भद्रालु व्यक्ति शास्त्रपद्धति का इस युग में यथावत् अनुष्ठान नहीं करसकते। कुछ भद्रालु तो किसी भी शास्त्रीय ज्ञान–कर्म–भक्ति-योग का अनुष्ठान नहीं करसकते। एवं भारतेतर देशवासियों को शास्त्रीय योगत्रयी का अधिकार ही नहीं। अतएव वे भारतीय सनातनधर्म के अनुगामी नहीं। इन सब के अभ्युदय का क्या उपाय ?, उत्तर यही भक्तियोग।

७७–साक्षीसुपर्ण का अशक्त भोक्तासुपर्ण, दोनों के इच्छातन्त्र, एवं ईश्वरेच्छा के द्वारा ही जीवेच्छा की अक्रान्ति—

श्रद्धालुओं को अपनी अवैध-शास्त्रीय-योगत्रयी में यही भय है कि "हमें प्रायश्चित का भागी बनना पड़ेगा"। यह भय तभीतक है जबतक कि हमारा कर्म हमारा-ज्ञान हमारी भक्ति 'हमारे' हैं। अध्यात्मसंस्था में हमने प्रज्ञानात्मा, एवं शारीरिक आत्मा नाम के दो विवर्त बतलाए हैं। सर्वव्यापक देहस्थित परमात्मा ही प्रज्ञानात्मा है यही आध्यात्मिक हृदयस्थ ईश्वर है एवं इसी की विज्ञानमाया में साक्षीसुपर्ण कहा जाता है। देहस्थित-भावना-वासना-संस्कारों से युवासित देहाभिमानी आत्मा ही शारीरक आत्मा है एवं यही "भोक्तासुपर्ण" नाम से प्रसिद्ध है। पहिला वेदान्त-सम्मत सर्वव्यापक चैतन्य है, तो दूसरा न्यायवैशेषिक सम्मत प्रतिशरीर भिन्न चैतन्य है। इन दोनों ही आत्माओं का स्वाभाविक योग अविद्या के कारण है अयोगभाव में परिणत होजाता है। इसी अयोग से प्रज्ञानात्मा के द्वारा आनेवाली इच्छा को जीवात्मा अपनी इच्छा समझने लगता है और निश्चयेन यह इच्छास्वातन्त्र्य ही कर्मबन्धन का कारण बनता है।

७८ ईश्वरेच्छा-निबन्धना योगत्रयी का प्राधान्य, एवं तद्द्वारा 'असमत्वदोष'–विमोचन की उपशान्ति —

इसी दृष्टिबिन्दु के माध्यम से भगवान् हमें आदेश करते हैं कि जिसे तुम अपनी इच्छा समझ रहे हो, विश्वास करो ! वस्तुतः वह ईश्वरेच्छा ही है। हृदयस्थ नमस्वी जगदीश्वर की ही प्रेरणा है मेरी (कृष्ण की) ही प्रेरणा है। जिस दिन तुम इस रहस्य पर विश्वास करजाओगे, उस दिन तुम्हारी योगत्रयी प्रायश्चित्तभाव से सर्वथा ही मुक्त होजायगी। वैध हो, अथवा अवैध योग कभी अनिष्ट नहीं करता। अनिष्ट का तो एकमात्र कारण है–इच्छास्वातन्त्र्य। 'हम करते हैं' यही भावना उस योग के साथ विषम फल के साथ हमें बद्ध कर देती है। यदि ईश्वरार्पणबुद्ध्या हम श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक अवैध–विधि–से भी योगत्रयी का अनुष्ठान करते हैं तो वह योगत्रयी वैध बन जाती है और उस समय परिणाम का कभी अवसर नहीं मिलता।

३–"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन् अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥
४— प्रलपन् विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते, इति धारयन् ॥
५— ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

८४–अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने वाला विशिष्ट भावना भक्तियोग, तदनुबन्धी आत्मसमर्पण एवं गीतावचन-समन्वय प्रयास—

प्रलपन्–श्वसन् उन्मिषन् निमिषन् आदि शब्दों में बड़ा ही चमत्कार है। प्रलापी (पागल) मनुष्य जो कुछ बोलता है उसका परिग्रह से ही सम्बन्ध है। यदि कोई पागल किसी को गाली भी दे देता है तो वह अपराधी नहीं माना जाता। न्यायधीश भी उसे यह अपने वश में नहीं है कह कर छोड़ देता है। भगवान् कहते हैं—तुम अपनी वाणी को प्रलाप समझो। समझो कि मैं अपनी इच्छा से नहीं बोलता। अपितु कोई दूसरा ही मुझे बुलवा रहा है। आँखों की पलकों में उन्मेष (ऊँचा चढ़ना) निमेष (नीचे गिरना) स्वाभाविक हैं। हमें ध्यान भी नहीं रहता और यह कर्म होता रहता है। श्वास लेते हैं-श्वास छोड़ते परन्तु कितनी देर ?। "करिष्यस्यवशोऽपि तत्"। हमारे न न करने से कभी इस स्वाभाविकी इच्छा का नियन्त्रण नहीं होसकता। जो कुछ होरहा है उसे होने दो। अपनापन समाविष्ट मत होने दो। जो कुछ होरहा है उसमें अपनापन लगाना उसीप्रकार अपने आपको आपत्ति में डालदेना है जैसे कि पुलिस की तहकीकात में राय देकर अपने आपको फँसाना है। ऐसी दशा में उन श्रद्धालुओं का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि सुविधानुसार वे जिस योग का जिस रूप से भी अनुष्ठान करते हैं उस के मूल में प्रत्यगात्मभावना को ही मुख्य आधार बनालें। प्रत्यगात्मा पूर्ण है यही कल्याण है। यदि उनका कर्म्म अपूर्ण होगा तो प्रत्यगात्म भक्ति उसे पूर्ण कर देगी यदि त्रुटियुक्त होगा तो वही त्रुटि का समाधान भी कर लेगी। इसप्रकार शास्त्रीय योगत्रयी का यथावत् अनुष्ठान करने में असमर्थ रहते हुए भी वे श्रद्धालु क्रमशः सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होजांयगे— 'स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'।

८५–वर्त्तमान भक्तिवाद के भीषण अभिनिवेश अविद्या-आदि अस्मितात्मक-दोष—

'अपनी इच्छा का स्वातन्त्र्य हटा कर उसके स्थान में ईश्वरेच्छा का समावेश समझना' इस पक्ष में भी यत्किञ्चित् पतन का भय है। यत्किञ्चित् भी असावधानी से यह ईश्वरेच्छा जीवेच्छा से भी कहीं अधिक आसक्ति की जननी बन जाती है। और हमें कहना पड़ेगा कि आज हमने भक्ति का वास्तविक मर्म न समझते हुए अपने अज्ञानवश से ईश्वरेच्छा को भी आसक्ति की ही जननी बना लिया है। वर्त्तमान भक्तिवाद का निष्कर्ष है—अस्मिता अभिनिवेश अविद्या। जैसा कि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

का वध कर रहा है तो इस में उस वधिक का क्या अपराध ? । उसने तो वधन में अपना आत्मसमर्पण करते हुए 'गङ्गा की सद्गति' प्राप्त कर रक्खी है। शास्त्रीय कर्म विधिपूर्वक न हुए, तो हमारा क्या दोष ?। ईश्वरेच्छा ने जब चाहा वह कर लिया गया। इसप्रकार की 'भक्ति' मान कर योगानुष्ठान करने से कभी पतन का भय नहीं है।

८२–आध्यात्मिक–रागानुगता सहज–शान्ति का 'एकायतन' रूप ईश्वरार्पणात्मक भक्तियोग—

यदि पैर में काँटा लग जाता है तो हाथ दौड़ पड़ते हैं। यदि पैर गड्ढे की ओर बढ़ रहे हैं तो आँख सचेत होती है। उदर की बुभुक्षा हाथ के द्वारा अर्पित मुखगत अन्न शान्त कर रहा है। इसप्रकार परस्पर कोई सम्बन्ध न रखने वाले शरीरावयव एक दूसरे की सहायता करते हुए 'आध्यात्मिक राष्ट्र' की शान्ति बनाए रखते हैं। जिसप्रकार हस्तपादादि हमारे अवयव हैं, एवमेव हम सब विश्वशरीर के अवयव हैं। सब का वह एक आत्मा है–"सर्वेषामात्मनमनम"। जिसप्रकार हस्तपादादि अनेक शारीरिक अवयवों का आत्मा एक ही है तथैव अवयवात्मक सम्पूर्ण भूतों का प्रत्यगात्मा भी एक ही है। जिसप्रकार आध्यात्मिक राष्ट्र की शान्ति के लिए सम्पूर्ण शारीरिक अवयव विरोध से दूर रहते हुए एक दूसरे की सहायता में तत्पर रहते हैं, एवमेव मनुष्यमात्र को 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' सिद्धान्त को आगे रखते हुए परस्पर सहयोग की ही भावना रखनी चाहिए। अपना–कर्म अपना ज्ञान अपनी भक्ति विश्वेश्वर के महासाम्राज्य की स्थिति शान्ति में ही समर्पित कर देनी चाहिएँ।

८३–विधि–सम्मिता योगत्रयी, तद्‌नुरूपी भक्तियोग, एवं ईश्वरार्पणानुग्रह से तदुपयोगिता का समन्वय–प्रयास—

आँख का काम है–देखना, नाक का काम है–सूँघना, मुख का काम है–बोलना। इसप्रकार ईश्वर ने सब इन्द्रियों के स्वस्व–कर्म्म पहिले से ही नियत कर रक्खे हैं। क्या हमने अपनी इच्छा से इन्द्रियों का एवं इन्द्रियकर्मों का निर्माण किया है ?। नहीं। तो ऐसी दशा में हमारी इच्छा का क्या मूल्य है ?। आँख का कर्म्म जब देखना है तो वह देखती ही। इस देखने में हमारा (आत्मा का) क्या सम्बन्ध ?। न मैं देखता हूँ न सुनता हूँ न बोलता हूँ, मेरी इच्छा से होता ही क्या है ?। यदि मेरी इच्छा ही सब कुछ हो तो मैं दरिद्र क्यों रहूँ ?। क्यों रोगी बनूँ ?। क्यों दुःखी रहूँ ?। वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि मैंने उस ईश्वरेच्छा का सिर स्वार्थ कर के ही दुःखी का कम कर लिया है। शास्त्रीय कर्मों को अभिनिवेशपूर्वक करने से इस आत्मविश्वास से कैसे बचें ?, इस का एकमात्र उपाय वही भक्तियोग (सर्वभावात्मना ईश्वर में आत्मसमर्पण) ही है। इसी उपाय का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान कहते हैं—

> १–संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
> योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
> २–योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
> सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

८९–अभिमान और अतिमान,–भावों का स्वरूप–तारतम्य, उपादेय 'अभिमान,' एवं हेय 'अतिमान', तथा–श्रद्धाप्रदर्शनवचना मनोवृत्ति का स्वरूप–विश्लेषण—

'हम उसी के अंश हैं, वही हैं, अनन्य हैं उस की इच्छा ही हमारी इच्छा है हमारी इच्छा उसी की इच्छा है' इस भाव का मनन करना अभिमान है। और यही आत्माभिमान हमारी आत्मशक्ति का प्रवर्त्तक है। हमें अपने अन्तर्जगत् में अपने आपको सदा सर्वश्रेष्ठ ही समझना चाहिए। 'हम गरीब हैं, दरिद्री हैं, मूर्ख हैं, असमर्थ हैं' यह भावना हमें कालान्तर में सर्वथैव निर्वीर्य बना डालती है। उस प्रत्यगात्मा की स्थिरता के साथ शारीरक आत्मा का योग कराने के लिए, उससे इसका उद्धार कराने के लिए उस का इस पर अनुग्रह स्थापित करने के लिए सदा आत्माभिमान की ही भावना रखनी चाहिए। इस भावना से वह हमारा मित्र बन जायगा एवं दयनीय भावना से उस का इस पर अनुग्रह न होगा। फलतः वही मित्रात्मा हमारा शत्रु बन जायगा। 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति' (छान्दो० उप०)–'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गीता) एवं–"जा की रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" इत्यादि सूक्तियाँ इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रही हैं। इसी आत्माभिमान की आवश्यकता सूचित करते हुए भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मना (प्रत्यगात्मना) ऽऽत्मानं (शारीरकम्) –
नात्मानं(शारीरकं)मवसादयेत्।
आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) ह्यात्मनो (शारीरकात्मनो) बन्धु–
रात्मैव (प्रत्यगात्मैव) रिपुरात्मनः (शारीरकात्मनः) (गीता)॥

९०–अतिमानपथानुगामी आसुर–मानव तत्परामव, शब्दाभिनय से अतीत गुहानिहित श्रद्धामय आत्मदम एवं तदनुगत मन्मनाभावात्मक–'भक्तियोग'–

भावना रखना अभिमान है यही अन्तर्जगत् की वस्तु है एवं यही मन्मनाभक्ति है। परन्तु इस भावना का वाणी से अभिनय करते रहना अतिमान है। 'तेऽसुरा अतिमानेनैव पराबभूवुः' (शतपथश्रा०) के अनुसार यह अतिमान ही था मानव–समाज पराभव का मूल कारण है। 'हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं वही हैं' यह घोष देना ही अतिमान है। गुहानिहित–निगूढ–सुगुप्त ब्रह्म पर शब्द की गति अवरुद्ध है–'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'। उस शब्दातीत ब्रह्मतत्त्व को शब्दानुगामी बना देना उस श्रद्धाभाव में ही गुफा कर लेना है मन्मना को उन्मना ही बना देना है। तो क्या दयनीयभाव प्रकट किए जाँय? नहीं। आत्मतत्त्व में शब्दचर्चा करना ही व्यर्थ एवं हानिकर है। विनम्रतापूर्वक उच्चभाव का अभिनय करना बुरा है एवमेव 'हम अकिञ्चन हैं उस के सामने हम क्या हैं' इसप्रकार की दयनीय वाणी का प्रयोग भी व्यर्थ एवं हानिकर ही है। क्योंकि दोनों में ही उन्मनाभाव समाविष्ट है। समझा किन्तु कहा मत यही मन्मनाभाव किंवा आत्माभिमान है और यही वास्तविक भक्तियोग है।

८६–अव्ययात्मानुगत-'मन्मनाभाव', एवं शारीरकात्मानुगत-'उन्मनाभाव'—

ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में हमें "मन्मना–उन्मना" * इन दो प्रतिद्वन्द्वी शब्दों पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। मनोवृत्ति को बहिर्मुख रखना ही 'उन्मनाभाव' है एवं अन्तर्मुख रखना ही 'मन्मनाभाव' है। शारीरक (जीव) आत्मा "जीवभूता महाबाहो" के अनुसार अक्षरप्रधान है। अव्ययात्मा (ईश्वर) अव्ययप्रधान है एवं भौतिक विश्व क्षरप्रधान है। जीवात्मा के इस ओर अव्यय का साम्राज्य है, एवं उस ओर क्षर का वैभव है। अक्षरप्रधान जीवात्मा को क्षरानुगामी बनाने वाला इन्द्रिययुक्त मन ही है एवं अव्ययानुगामी बनाने वाली बुद्धि ही है। अव्ययात्मा–बुद्धि–जीवात्मा–मन–बहिरङ्ग भौतिक विश्व यह क्रम है। बुद्धि के द्वारा जीवात्मा अव्ययात्मा का भक्त बनता हुआ जहाँ मन्मना रहता है, वहाँ मन के द्वारा बहिरङ्ग विषयों का भक्त बनता हुआ 'उन्मना' रहता है। मन्मनावृत्ति में जीवात्मा अव्यय का भक्त है एवं उन्मनावृत्ति में क्षर का अनुयायी है।

८७–सर्वभूतनिगूढ-गुहानिहित-सुगुप्त–सर्वभूतान्तरात्मा एवं तन्निबन्धन भक्ति-योग—

अव्ययलक्षण अव्ययात्मा 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' के अनुसार निगूढ है, गुप्त है, सुगुप्त है, परोक्ष है। क्षरलक्षण विश्व "क्षरः सर्वाणि भूतानि" के अनुसार प्रकट है, प्रत्यक्ष है। यदि हमारी भक्ति प्रकट है, तो हम सुगुप्त अव्ययभक्ति से वञ्चित हैं। "सब कुछ भगवान् की इच्छा से होता है" इस वाक्य का [illegible] करना व्यक्त भक्तिभाव है। इस व्यक्तभाव से जीवात्मा ईश्वरेच्छा का गुणानुवाद करता हुआ भी व्यक्त क्षर का अनुगामी बना रहता है। फलतः अव्ययनिष्ठा से वञ्चित रह जाता है। यही इसका उन्मनाभाव है।

८८–मन्मनाभावानुगता-अव्यभिचारिणी भक्ति एवं उन्मनाभावानुगता व्यभिचारिणी-भक्ति—

इन्हीं दोनों वृत्तियों के लिए विज्ञानभाषा में क्रमशः अभिमान और अतिमान ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ईश्वरेच्छा का अभिमान करना मन्मनाभाव है एवं यही भक्तियोग की रक्षा का द्वार है। ईश्वरेच्छा का अतिमान करना उन्मनाभाव है एवं यही भक्तियोग का विघातक है। मन्मनाभक्ति अव्यभिचारिणी है, क्योंकि इसमें अव्यय से अतिरिक्त 'अन्यभाव' भी न सम्मिलित रहता है— 'भक्तिरव्यभिचारिणी'। उन्मनाभक्ति व्यभिचारिणी है, क्योंकि इसमें अव्ययपरायणता के साथ साथ सुव्यक्त-प्रत्यक्षभावरता भी बनी रहती है।

---

* इसी शब्द के स्थान में हमारी प्रान्तीय भाषा में 'अणमणा' शब्द प्रसिद्ध है।

यतलान वाला ही नहीं है' -इस ज्ञानाभाव के दो दृष्टिबिन्दु (पहलू) हैं-एक उपपत्तिज्ञान तथा दूसरा कर्म्मज्ञान। कर्म्म किस पद्धति से किया जाता है, यह जानना तो कोई कठिन बात नहीं है। केवल इसी हनु से तो कभी कम्ममार्ग से वञ्चित नहीं रहना चाहिए। यही बात उपपत्तिज्ञान (मौलिक रहस्य) की जिसके सम्बन्ध में भी यद्यपि हम मानते हैं कि— यदेव विद्यया करोति-श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार काम्यकम्मरहस्यपरिज्ञानात्मिका विद्या मनोयोगात्मिका श्रद्धा एवं मौलिकरहस्यज्ञानात्मिका उपनिषत् इन तीनों से समन्वित योगानुष्ठानविशेष ही फलप्रद बनता है। परन्तु जबतक इन तीनों का परिज्ञान न हो तबतक कर्म्म कर ही नहीं, यह भ्रान्ति है। इसके लिए तो प्रत्येक दशा में हमें केवल शास्त्रादेश पर ही विश्राम करना पड़ेगा। पाण्डित्य को छोड़कर बाल्यवृत्ति से बिना किसी ऊहापोह (नतु नच) के कर्म्म में प्रवृत्त होजाना पड़ेगा— पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।

६४-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' लक्षण शास्त्रादेश की अनन्यशरणीकरणीयता—

यदि हम मौलिक रहस्यज्ञान के अन्वेषण में ही पड़े रहे तो कभी हम कर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर सकेंगे। और फिर उपपत्तिज्ञान सभी को होजाय यह सम्भव भी नहीं है। हमें अपने लौकिक व्यवहारों में भी महाजनो येन गतः स पन्थाः इसी नियम का अनुगमन करना पड़ता है। बालक को पहिले वर्णशिक्षा मक कर्म्म में ही प्रवृत्त कर दिया जाता है। यदि यदि यह कहने लगे कि मैं पहिले शिक्षा का मौलिक रहस्य जान लूँगा, तभी शिक्षाकर्म्म का अनुष्ठान करूँगा तो यह कभी शिक्षित नहीं बन सकेगा। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'।

६५-'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्'-मूलक महान् उद्बोधनमन्त्र—

जितना भी जैसाभी बन पड़े-योगानुष्ठान अवश्य करते रहना चाहिए। कर्म्मशून्या श्रद्धा सर्वथा निरर्थक है। यदि एक तालाब पानी में सम्पूर्ण शारीरक अग्नि को शान्त करने की शक्ति है तो एक बूँद में भी अग्निपरमाणु को शान्त करने की शक्ति है। अभ्युदयकर धर्म्म का अंश भी निरर्थक नहीं जाता। फिर यह कौन सी बुद्धिमानी है कि रुपये में से बचे हुए एक आने की भी हम उपेक्षा करें!। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

> नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात ! गच्छति।
> स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

६६—कर्म्मानुगतिमूलक-श्रेय पन्था

कुछ भी न करने से कुछ तो भी करते रहना ही श्रेय पन्था है इस सार्वजनीन सिद्धान्त को सामने रखते हुए, प्रावश्चित के भय से खान पान के लिए ईश्वरानन्यता को मूलाधार बनाते हुए उन विशुद्ध श्रद्धालुओं को भी यथाशक्ति अवश्य ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त रहना चाहिए। इस उपाय से इनका भी अभ्युदय निश्चित है।

९१–शब्दाभिनय परम्परानुप्राणिता उन्मनाभाव-समन्विता भक्ति का शाब्दोद्घोष, एवं तन्मिबन्धन आत्मपतन, और तत्सम्बन्ध में –'ईश्वरानन्यता-लक्षणा' भक्ति से अनुप्राणित– मदर्पण' का स्वरूप-समन्वय—

आज क्या हो रहा है ? । ठीक इस से विपरीत । पद पद पर अन्मनाभाव का आश्रय । अपने आप को भगवान् का प्रिय भक्त कहने का अभिमान करने वाले अन्तर्यामी का लवण-तैल (नोन-तेल) बना कर बेभाव बेचने वाले कुछ एक महानुभाव शास्त्रीय मर्य्यादा से सर्वथा विरुद्ध– 'यह सब भगवान् की ही कृपा का फल है -जिससे कि हम ऐसा करने में समर्थ हुए हैं । हमारी तो शक्ति हो क्या है' इत्यादि रूप से उन्मनाभावमय वाक्यों का प्रयोग करने में ही अपना गौरव समझते हैं । सिद्ध पदार्थ का आमनन कभी अभ्युदयजनक नहीं बन सकता । फिर ऐसे अभ्युदय को हम कैसे भक्तियोग का प्रकार कहें जबकि उसकी प्रत्येक पद्धति प्रथम से इति पर्य्यन्त उन्मनाभावमूलक अभिनय से ही ओतप्रोत रहती है ? । हमें सम्मना ही बनना चाहिए, मध्याजी ही बनना चाहिए मद्भक्त ही बनना चाहिए । तभी हम उस 'माँ' को प्राप्त कर सकेंगे । अपने अन्तर्जगत् में सर्वव्यापक चैतन्य के दर्शन करते हुए मौनभाव से ही योगतत्री में प्रवृत्त रहना चाहिए । 'हम अमुक की इच्छा से करते हैं हम दोषी नहीं हैं सब ईश्वरेच्छा से ही होता है' एक कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति के लिए ऐसे वाग्डम्बर की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? । उसे अपने कर्त्तव्य के अतिरिक्त और किसी पर दृष्टि डालने का अवसर ही नहीं है । हमें तो अपने कर्त्तव्य को ही ईश्वर समझना है । कर्त्तव्यानन्यता ही उस की ईश्वरानन्यता है । मन और–स्वात्मा का भेद ही जब इस अनन्यता में मदर्पण में नहीं है तो कौन किस से क्या कहे ? और क्यों कहे ? "गुप्यनिन्दागुणिमौनी । यही वास्तविक भक्तियोग है । यही सम्मनाभाव है और यही है मदर्पण ।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

९२–श्रद्धालु भावुक भक्तों की विभीषिकाएँ—

कुछ श्रद्धालु ऐसे भी हैं -जो शास्त्रीय-योगत्रयी के अनुष्ठान में भी समर्थ हैं । जिन्हें सुविधाएँ भी प्राप्त हैं । परिस्थिति भी जिनके अनुकूल है । परन्तु केवल दार्शनिकता से दूर [illegible] [illegible] वाक्यों एवं न स्वयं हम ही इतनी क्षमता रखते कि योगत्रयी का यथाविधि अनुष्ठान करसकें । ऐसी दशा में न करना ही अच्छा है । करें तो पूरा जान कर ठीक ठीक ही करें अन्यथा सर्वथा न करें वे इस ओर से भाग खड़े ही होते रहते हैं – "अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलने स्यात् पदे पदे" इस आदर्श को उपन्यस्त करते हुए ।

९३–'पाथिवयं निविष वान्येन तिष्ठासत्'-आदर्शमूलक-उद्घोषन 'विद्या-श्रद्धा उपनिषत्' से समन्विता आचरनिष्ठा एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय-दृष्टिकोण

ऐसे अनेक महानुभावों के साथ सम्पर्क बनाए है जो उक्त उद्गार को आगे कर कर्म छोड़े हुए हैं । 'हम जानते ही नहीं कि सन्ध्या का क्या तात्पर्य्य है, फिर करने से क्या लाभ' कोई

पतलान चाला ही नहीं है -इस ज्ञानाभाव के दो दृष्टिबिन्दु (पहलू) हैं-एक उपपत्तिज्ञान तथा दूसरा कर्म्मज्ञान। कर्म्म किस पद्धति से किया जाता है यह जानना तो कोई कठिन बात नहीं है। केवल इसी हेतु से तो कभी कर्म्ममार्ग से वञ्चित नहीं रहना चाहिए। रही बात उपपत्तिज्ञान (मौलिक रहस्य) की जिसके सम्बन्ध में भी यद्यपि हम मानते हैं कि— यदेव विद्यया करोति-श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य्यकारणभावपरिज्ञानात्मिका विद्या मनोयोगात्मिका श्रद्धा एवं मौलिकरहस्यज्ञानात्मिका उपनिषत् इन तीनों से समन्वित योगानुष्ठानविशेष ही फलप्रद बनता है। परन्तु जबतक इन तीनों का परिज्ञान न हो तबतक कर्म्म करें ही नहीं, यह भ्रान्ति है। इसके लिए तो प्रत्येक दशा में हमें केवल शास्त्रादेश पर ही विश्राम करना पड़ेगा। पाण्डित्य को छोड़कर बालवृत्ति से बिना किसी ऊहापोह (नच नुच) के कर्म्म में प्रवृत्त होजाना पड़ेगा- 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'।

६४-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' लक्षण शास्त्रादेश की अनन्यशरणीकरणीयता—

यदि हम मौलिक तत्त्वज्ञान के अन्वेषण में ही पड़े रहे तो कभी हम कर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर सकेंगे। और फिर उपपत्तिज्ञान सभी को होजाय यह सम्भव भी नहीं है। हमें अपने लौकिक व्यवहारों में भी-महाजनो येन गतः स पन्था' इसी नियम का अनुगमन करना पड़ता है। बालक को पहिले वर्णशिक्षात्मक कर्म्म में ही प्रवृत्त कर दिया जाता है। वह यदि यह कहने लगे कि मैं पहिले शिक्षा का मौलिक रहस्य जान लूँगा तभी शिक्षाकर्म्म का अनुष्ठान करूँगा तो वह कभी शिक्षित नहीं बन सकेगा। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'।

६५-'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्'-मूलक महान् तपःसाधनसूत्र—

जितना भी जैसाभी बन पड़े-योगानुष्ठान अवश्य करते रहना चाहिए। कर्म्मशून्या श्रद्धा सर्वथा निरर्थक है। यदि एक ग्लास पानी में सम्पूर्ण शारीरक अग्नि को शान्त करने की शक्ति है तो एक बूँद में भी अग्निपरमाणु को शान्त करने की शक्ति है। अभ्युदयकर कर्म्म का अंश भी निरर्थक नहीं जाता। फिर यह कौन सी बुद्धिमानी है कि -रुपये में से बचे हुए एक आने की भी हम उपेक्षा करें ?। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

> नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

६६-कर्म्मानुगतिमूलक-श्रेयःपन्था

'कुछ भी न करने से कुछ तो भी करते रहना ही श्रेयःपन्था है' इस सार्वजनीन सिद्धान्त को सामने रखते हुए, प्रायश्चित्त के भय से त्राण पाने के लिए ईश्वरानन्यता को मूलाधार बनाते हुए, उन विशुद्ध महानुभावों को भी यथाशक्ति अवश्य ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त रहना चाहिए। इस उपाय से इनका भी अभ्युदय निश्चित है।

९७–श्रद्धालु, शास्त्रभक्त, किन्तु युगधर्म से पीड़ित मानवों का प्रश्न एवं तत्समाधान प्रयास, और तदुपकारक भक्तियोग का संस्मरण—

अब एक ऐसा श्रद्धालु हमारे सामने आता है जो शास्त्रों का भी पूर्ण भक्त है, एवं शास्त्रीय मान्यताओं पर भी दृढ़ विश्वास रखता है। परन्तु युगधर्म के चक्कर में पड़कर वह धर्मानुष्ठान नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए आज के बलात् स्कूलों एवं दफ्तरों, मिलों एवं कुर्सीय संस्थाओं के माध्यम, आदि सब ही इसके स्थान लिए जावेंगे। इन निर्दिष्ट कार्यों में २४ घण्टे यावज्जीवन ही आत्मसमर्पण किए रहना पड़ता है। फिर भी इनका श्रेय लोक-परलोक-धर्म सिद्ध नहीं होता। इनके अभ्युदय का क्या उपाय है? यहाँ भगवान का ईश्वरानन्यशरणलक्षण भक्तियोग। इन्हें विश्वास करना चाहिए कि हम जिन आवश्यक कर्मों में लगे हैं उनमें हमारा कोई स्वच्छन्द किया अपराध नहीं है। … सब कुछ करते हैं। अवश्य ही इस भावना से इनका यह लौकिक कर्म भी इस प्रपञ्च का … (अपवर्ग) बनता हुआ अभ्युदयकर ही बन जायगा। इस भावना से अवश्य ही इन्हें शान्ति मिल सकेगी। और कालान्तर में ये भी भक्तियोगनिष्ठा के अधिकारी बन जायेंगे।

९८–सुदुराचारी मानववर्ग के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधानचेष्टा, एवं भक्तिपथ के माध्यम से सुदुराचारी का भी सम्भावित-परित्राण—

अब उस वर्ग से सम्मुख होना है, जो कि अन्तरात्मा से शास्त्रों में कुछ विश्वास नहीं रखता। और इसीलिए जो शास्त्र एवं तदनुगत लोक की निन्दा ही किया करता है। शास्त्रीय-आचार-व्यवहार (खान-पान) आदि की मर्यादा का इसकी दृष्टि में किञ्चित् भी महत्त्व नहीं है। भगवान कहते हैं—दुराचारियों का भी अभ्युदय सम्भव है। दुराचारी अपने जीवन में सदा दुराचार करता रहे, यह ठीक नहीं। यह अपने दुराचार के साथ केवल धर्मनिष्ठा का, उसी प्रकार भगवन्निष्ठा का आश्रय ले, आत्मसमर्पण करे। यह यह अनुभव करने लगे कि "मैं यह दुराचार अपनी इच्छा से नहीं करता। अपितु ईश्वरीय प्रेरणा से ही यह सब कुछ हो रहा है।" भक्तिनिष्ठा के लिए केवल बुद्धि का व्यवसायात्मिका बनना ही अपेक्षित है। यह ईश्वरशरणागति से भी सम्भव है। एकान्त-भावना दुराचारी की व्यवसायात्मिका बुद्धि को भी कालान्तर में … परिणत कर देगी। … 'सदाचारी' भी बना देगी। इस प्रकार एक दुराचारी भी अनन्यशरणनिष्ठा से सुदुराचारी बनता हुआ भक्तियोग के द्वारा अपना अभ्युदय कर सकेगा। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

९९–सुदुराचारी मानववर्ग और लोकभक्ति का समन्वय-प्रयास—

"भगवान का यह वचन भी एक विचित्र समस्या है। आजकल के कुछ लोग इस श्लोक का यही अर्थ लगाते हैं कि दुराचारी को चाहिए कि वह माला लेकर अथवा कण्ठी बांधकर हर राम-हर राम किया करे। परन्तु एक ऐसा दुराचारी जो सांसारिक विषयों में लिप्त रहता है, माला लेकर जब

आरम्भ कर देगा असम्भव है। यहाँ तो वही वैसी ही भक्ति बन सकेगी जो इसके दुराचार में बाधा न डाले। दुराचरण के अतिरिक्त नामस्मरणात्मिका भक्ति के लिए ही यदि इसके जीवन में समय होता यदि वह यह जानता कि नामस्मरण दुराचार को दूर कर देगा दूसरे शब्दों में यदि यह दुराचार को समझने की योग्यता रखता तो वह दुराचार में प्रवृत्त ही नहीं होता। प्रश्न तो यह है कि, जिसे दुराचार के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता वह क्या करे? । उसकी भक्ति का स्वरूप एकमात्र यही हो सकता है कि, वह अपने दुराचार को अपना न समझकर ईश्वरीय प्रेरणा समझने लगे। उन दुराचार-कर्मों को अलक्ष्य नियति की महिमा ही समझे। इस अभ्यास से अपनापन हटाता हुआ यह दुराचारी अवश्य ही 'साधु' कहलावेगा एवं कालान्तर में तो यह वास्तव में साधु बन ही जायगा। यही सरल भक्तिमार्ग इस का श्रेयः पन्था है।

१००–भारतीय हिन्दू-मानवातिरिक्त एतद्देशीय, तथा इतर-देशीय मानववर्गों का भी परित्राता गीता का भक्तियोग, एवं स्व स्व-कर्त्तव्य-के आधारभूत भक्तियोग से मानवमात्र का सम्मानित आत्मत्राण—

न केवल भारतवासी ही अपितु दूसरे देशों के मनुष्य भी इसी उपाय से शान्ति-लाभ कर सकते हैं। एक मुसलमान का यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह सर्वस्व मुहम्मद साहिब को अपना अनन्य देवता मानता हुआ कर्त्तव्य में प्रवृत्त रहे। यह अनन्यनिष्ठा ही इसकी बुद्धि को भी कालान्तर में व्यवसायधर्म्म से से युक्त कर देगी। इसीप्रकार ईसाई-पारसी-यहूदी आदि इतर सभी व्यक्ति अपनी अपनी निष्ठा के अनुकूल अपने अपने इष्टदेवता में अनन्यनिष्ठा रखते हुए यदि कर्म में प्रवृत्त रहेंगे तो वे साधु ही माने जायँगे। एवं गीतासिद्धान्त के अनुसार वे भी अवश्य ही कालान्तर में परशान्ति के अधिकारी बन जायँगे।

१०१–धर्म्म-कर्म्म-आचार-श्रद्धा-शास्त्र-आदि की सन्निष्ठाओं के प्रबलतमविरोधी पुरुषपुङ्गवों का संस्मरण—

अब वे पुरुषपुङ्गव ! शेष रह जाते हैं जो उक्त उपायों में से किसी एक का भी अनुगमन करने के लिए सन्नद्ध नहीं हैं। उनका क्या मन्तव्य रहता है? एवं वे किस पथ के अनुगामी बने रहते हैं? इस प्रश्न का स्पष्ट गीताने ही स्पष्टीकरण कर दिया है।

१०२–आसुर, दैव-भेद भिन्न द्विविध मानववर्ग, आसुर मानववर्गानुगता काल्पनिक-मान्यताएँ, तदनुप्राणित सत्य, और इस सत्य का दुराग्रहात्मक-आग्रह—

अर्जुन! इस (मायामय) विश्व में आसुर और दैव नामक दो प्रकार की सृष्टियाँ हैं। इनमें से दैवसर्ग, का हमने विस्तार से निरूपण कर दिया है। अब आसुरसर्ग का स्वरूप सुन ?। शास्त्रने जिन कर्मों में प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है उनका एवं शास्त्रने जिन कर्मों से बचने का आदेश दिया है–उनका इन आसुर-मनुष्यों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। शास्त्रोक्त विधि एवं निषेध दोनों ही इन की दृष्टि में निरर्थक हैं। अपने इच्छानुकूल कर्मों में ही ये प्रवृत्त होते हैं एवं इच्छा का ही निवृत्ति में मुख्य स्थान

न्न हैं। इनमें आभ्यन्तर एवं बाह्य * दोनों प्रकार की पवित्रताओं का अभाव है। शास्त्रोक्त आचार तो भी इनमें अभाव है। सत्य क्या वस्तु है इसका तो इन्हें भान भी नहीं है। जिसे ये अपनी तामसनिष्ठ युगधर्मलगता कल्पना से सत्य मान लेते हैं, वही इनका सत्य है। और बहुनुमापिता दुराग्रह ही इनका सत्याग्रह है। (गीता १६।७)।

१०३ अनीश्वरवाद, कामभोगमात्र-परायण-कामकामी-नराधमों का प्रकृतिवाद-व्यामोहन एवं तत्प्रवर्तक-कामभाव—

इन्द्रिय-संयम-शौच-विधि नियम से रहित ये आसुर मनुष्य सदा असत्य में रत रहते हुए जगत् को भी असत्य ही मानते रहते हैं। इनकी दृष्टि में ईश्वरसत्ता का भी कोई मूल्य नहीं है। ये विशुद्ध नश्वरवादी (नियतिवादी किंवा प्रकृतिवादी) ही हैं। धर्म्म अधर्म्म को ये सुख दुःख का कारण नहीं मानते। अपितु स्त्रीपुरुषभाव को ही सुख दुःख का कारण मानते हैं। "प्राणोत्पत्ति का एकमात्र कारण 'काम'" (स्त्री पुरुष की इच्छा) ही है। ईश्वर का प्राणसृष्टि में कोई सम्बन्ध नहीं है। (गी० १६।८)।

इस पूर्वोक्त नास्तिक दृष्टि को प्रधान मानते हुए आत्मा (प्रत्यगात्मा) और बुद्धि दोनों के वास्तविक विकास (अन्तर्मुखीनिवृत्तिलक्षण विद्याविकास) से वञ्चित रहते हुए ये आसुर मनुष्य संसार के नाश के लिए (अपनी निन्द्य) उग्र कर्मों में ही प्रवृत्त रहते हैं। (गी० १६।९)।

१०४ दम्भ-मान-मद-से उन्मत्त प्रमत्त आसुर-मानवों की निकृष्टकर्म्म प्रवृत्ति—

कभी पूर्ण न होने वाली कामना का आश्रय लेकर बहिर्धर्म्मप्रतिकार-लक्षण दम्भ, स्वात्माभिव्यञ्जनाभ्मीतिरूप-लक्षण मान, लोकैषणा-स्वस्वरूपलक्षण मद से नित्य युक्त रहते हुए अर्थात् परधर्मों को ही श्रेष्ठ मानते हुए अपनी बुद्धि के सामने सब को तुच्छ समझते हुए मोहोत्पादकवश मान और सम्पत्ति का अभिमान करते हुए, सर्वथा अपवित्र ये आसुर मनुष्य सर्वथा निकृष्ट कर्मों में ही प्रवृत्त रहते हैं। (गी० १६।१०)।

१०५-आशापाशबद्ध काम-क्रोध परायण अर्थ-सञ्चयलिप्सु नराधम—

उस चिन्ता के, जिस का कि अन्त प्रलय काल में ही होता, अनुगामी बनते हुए ये पामर काम-भोग को ही परमपुरुषार्थ मानते हुए काम-क्रोध में नित्य प्रवृत्त विविध प्रकार की आशाओं से बद्ध अपनी काम भोगकामना को शान्त करने के लिए अन्याय से ही धनसञ्चय की चेष्टा किया करते हैं। (१६।१२)।

१०६-विविध मानसोल्लास-समाविष्ट काल्पनिक नामयशः प्राप्ति में आसक्त-व्यामक्त नरकपथानुगामी आसुरमानव—

आज मैंने यह प्राप्त कर लिया, कल मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध हो जायगा, यह तो मेरा है ही, कल यह और हो जायगा, कुछ समय में मैं धनवान् बन जाऊँगा, मैंने उस शत्रु को मार दिया

यद्यपि [illegible] के लिए व बाह्य पवित्रता का [illegible] है। वस्तु के बाह्य रूप (लाघुन मैल [illegible]) में [illegible] ही [illegible] हैं।

है दूसरों को भी इसीप्रकार चुन चुन कर मारूँगा। मैं सम्पत्तिशाली हूँ मुझमें भोगसामर्थ्य है मैं सिद्ध हूँ, बलवान हूँ सुखी हूँ वैभव से युक्त हूँ, मेरा परिवार बहुत बड़ा है मुझ जैसा आज दूसरा कौन सुखी है, मैं याग (अवैध) करूँगा दान करूँ ।। बड़ा आनन्द मनाऊँगा इसप्रकार की भावनाओं से विमोहित अनेक विषयों की ओर अपने चित्त को भ्रमित रखने वाले महामोहजाल से घिरे हुए कामभोगों में आसक्त ये आसुर मनुष्य घोरनरक में ही गिरते हैं (१३ १४ १५ १६)।

१०७–व्यक्तिविमोहनमूला भद्रता के दम्भ से मदोन्मत्त नराधमों की लोकैषणा—

सांसारिक वैभव अभिमान मद से युक्त अपने मन से ही अपने आप को उत्तम समझने वाले ये पामर (वैदिक यज्ञों की उपेक्षा कर लोकप्रसिद्धि की प्राप्ति के लिए) दम्भ से शास्त्रविरुद्ध वैराग्य ज्ञान-शून्य नाम-यज्ञों का ही बड़े दम्भ से अनुष्ठान करते रहते हैं। (१७)।

१०८–प्रत्यगात्मस्वरूप-अव्ययेश्वर के अत्यन्त प्रतिद्वन्द्वी नराधम—

मैं कुलशील सम्पन्न हूँ सर्वशास्त्रपारङ्गत हूँ, सर्वज्ञ हूँ, धर्मिष्ठ हूँ, सर्वोत्तम हूँ–इसप्रकार अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को सर्वश्रेष्ठ समझने का अहङ्कार करते हुए बल-दर्प-काम-क्रोध के प्रवाह में प्रवाहित होतेहुए ये अधम मनुष्य मुझ सर्वव्यापक अव्यय की व्याप्ति से द्वेष ही किया करते हैं। अपना व्यक्तित्व ही अपना स्वार्थ ही इन का मूलमन्त्र है। सर्वव्यापक प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययेश्वर के तो ये नास्तिक घोर शत्रु ही बने रहते हैं। (१८)।

१०९–आसुरी-योनियों के चक्र से चक्रायित नराधमों का आत्यन्तिक पतन

आत्मा-परमात्मा से शत्रुता रखने वाले इन क्रूर कुटिल नरपिशाचों को मैं (अव्यय) पुनः पुनः आसुरी योनियों का ही अनुगामी बनाता रहता हूँ। अनेक जन्मों पर्य्यन्त आसुरीयोनियों के चक्र में फँसे हुए ये मूढ़ मुझे प्राप्त न होकर अशुभगति के ही पात्र बनते हैं। (१९)।

११०–सर्वज्ञानविमूढ अतएव स्वरूप विमूढ, दर्पभूत नराधमों का विनष्टप्राय इतिवृत्त—

इसप्रकार भगवदुपदिष्ट किसी भी मार्ग का आदर न करने वाले ऐसे स्वेच्छाचारी मनुष्यों का अभ्युदय सर्वथा ही असम्भव है। एक स्थान पर तो भगवान् ने बड़े आवेश के साथ इन उत्पथगामियों के लिए यह सम्मति दे दी है कि–"इन सर्वज्ञानशून्य जड़ मनुष्यों का सर्वनाश ही निश्चित है" "सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"। इन अभिनिविष्ट जीवों के अतिरिक्त गीताशास्त्र आज सब श्रेणियों के मनुष्यों के लिए अभ्युदय का मार्ग बतला रहा है। गीताप्रतिपादित निष्ठाओं में मनुष्यमात्र अपना अभ्युदय साधन कर सकते हैं। अतएव गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की भाँति सीमित न रह कर विश्वशास्त्र ही बन गया है। इतर शास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र की यही सब से बड़ी अपूर्वता है। और इस अपूर्वता का प्रधान स्तम्भ है–गीता की वाग्मयी उस में भी सम्यग् भक्तियोग। और यही इस निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

१११–'भक्ति', और 'उपासना' शब्दों के वाच्यार्थों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास

यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि में भक्ति और उपासना दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, परन्तु विज्ञानदृष्टि से कोई शब्द किसी शब्द का पर्याय नहीं बन सकता। इस सामान्य-वैज्ञानिक-परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि भक्ति-और उपासना शब्द भी समान अर्थ के वाचक नहीं होसकते। अवश्य ही भक्ति शब्द किसी अन्य अर्थ का वाचक है, एवं उपासना शब्द किसी दूसरे ही अर्थ का वाचक है। और अब हमें संक्षेप से इसी तारतम्य का विचार कर लेना है।

सेवार्थक भज धातु से ही भक्तिशब्द निष्पन्न हुआ है। सेवाभाव का अर्थ है 'स्ववृत्ति' (सेवा-स्ववृत्ति अमर २।६।२०)। जिसप्रकार श्वान (कुत्ता) अन्नप्रदाता स्वामी के पीछे पीछे अनुधावन करता रहता है, एवमेव सेवक भी अन्नप्रदाता स्वामी के पीछे पीछे ही अनुधावन करता रहता है। स्वामी के प्रति सेवक की इस अनुधावनवृत्ति का ही नाम सेवाभाव है। इसी सेवाभाव का नाम 'भक्ति' है। एवं इस भक्तिभाव का अनुगामी मनुष्य ही 'भक्त' है।

११२–'भक्ति' शब्दानुगता सेवावृत्ति का स्वरूप दिग्दर्शन—

भक्ति शब्द कामना को ही अपने उदर में रखता है। श्ववृत्ति में श्वान की अन्न पर ही दृष्टि है। अन्नकामना से ही श्वान स्वामी का भक्त बना रहता है। ठीक इसीप्रकार ईश्वरानुग्रहाकांक्षा से आकर्षित मनुष्य ही ईश्वर का किंवा ईश्वरविभूतिरूप तत्तद्देवस्वामी का भक्त बना रहता है। भक्तिभाव में भक्त स्वामी के अनुग्रह की ही अभिलाषा रखता है। यही इसकी मे सामभक्ति है, जो दृष्टि आगे के प्रकरणों में विस्तार से स्पष्ट होजाने वाला है।

११३–'भक्ति' शब्दानुगता 'भाग' 'अंश' मर्य्यादा एवं तन्निबन्धना ज्ञानात्मिका भक्त्यात्मिका, कर्म्मात्मिका-भक्ति-त्रयी का स्वरूप दिग्दर्शन—

भक्ति का मुख्य अर्थ है भाग, किंवा अंश। किसी भी उपाय से जीवात्मा ईश्वरांशाभिव्यक्ति का अधिकारी बन जाय, यह उपाय ही भक्ति है। प्रत्यगात्मा की शारीरिकसंस्था के भेद से भागात्मिका इस भक्ति के ज्ञानात्मिका भक्ति, कर्म्मात्मिका भक्ति, उपासनात्मिका भक्ति, ये तीन रूप होजाते हैं। गीताप्रतिपादित ज्ञानबुद्धियोग-लक्षणा सांख्यनिष्ठा भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। कर्म्मबुद्धियोग-लक्षणा योगनिष्ठा भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। एवं ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-लक्षणा भक्तिनिष्ठा भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। तीनों ही गीता के द्वारा समर्थित योग हैं। तीनों में ज्ञान-कर्म दोनों का समन्वय है, अतएव तीनों ही समत्वलक्षण वैराग्यबुद्धियोग की परिभाषा से अनुगृहीत हैं। क्योंकि-तीनों में दोनों हैं, अतएव तीनों को तीनों नामों से व्यवहृत किया जासकता है। ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश है, इसलिए यह कर्म्मयोग भी है। ईश्वरार्पणभावना है, इसलिए यह भक्तियोग भी है। कर्म्मयोग में निष्काम भाव का समावेश है, इसलिए यह ज्ञानयोग भी है। ईश्वरार्पणभाव भी "मामनुस्मर" इत्यादि निर्देश के द्वारा समन्वित है, इसलिए यह भक्तियोग भी है। भक्तियोग में ज्ञान का समावेश है, इसलिए यह ज्ञानयोग भी है। कर्म्म के समावेश से कर्म्मयोग भी है। इस दृष्टि से ज्ञान-कर्म-भक्ति तीनों के ही निम्न लिखित तीन तीन रूप होजाते हैं।

११४-ज्ञानात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यह ज्ञानयोग (१)—ज्ञानात्मक ज्ञानयोग कहलाएगा जिसमें केवल अध्यात्मलक्षण निवृत्त-कर्म का ग्रहण होगा एवं धारणा ध्यान-समाधि-लक्षणा ईश्वरगर्भसमूला अव्यक्तप्रधाना ईश्वरचिन्ता रहेगी। इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग का अधिकारी कोई विरला ही बन सकेगा। कारण, यहाँ का कर्म भी निर्गुणभाव से ही सम्बन्ध रखता है एवं यहाँ की उपासना भी निर्गुणभावात्मिका ही है। इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह का आत्यन्तिक अभाव रहेगा।

११५-कर्म्मात्मक-ज्ञानयोग की स्वरूप-दिशा का समन्वय —

यह ज्ञानयोग (२)—कर्म्मात्मक ज्ञानयोग कहलाएगा जिसमें प्रधानता तो निवृत्ति-लक्षण अध्यात्म कर्म की ही रहेगी परन्तु आंशिकरूप से लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों पर भी दृष्टि रहेगी। साथ ही उपासना भी रहेगी तो अव्यक्तमूला निर्गुणात्मिका ही परन्तु आंशिकरूप से सगुणप्रधानपरक की ओर भी झुकाव रहेगा। इस कर्म्मात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह का आंशिकरूप से समावेश रहेगा।

११६-भक्त्यात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-समन्वय—

यह ज्ञानयोग (३)—भक्त्यात्मक ज्ञानयोग कहलाएगा जिसमें अध्यात्म ज्ञानचर्य्या के साथ साथ निवृत्तिमूलक निगुणोंरसिक अध्यात्म कर्म्मों के साथ साथ निष्कामबुद्ध्या सहकृत लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों का भी विशेषरूप से समावेश रहेगा। उपासना रहेगी निर्गुण प्रधाना ही परन्तु सगुण का भी साधनरूप से समावेश रहेगा। इन तीनों ज्ञानयोगों में—ज्ञान-कर्म्मात्मक भक्तियोगमय ज्ञानयोग सर्वश्रेष्ठ माना जायगा कर्म्मात्मक ज्ञानयोग इससे अवरकक्षा का माना जायगा एवं ज्ञानात्मक ज्ञानयोग सबसे नीची श्रेणि का माना जायगा। कारण-भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह पर विशेष दृष्टि है अतएव स्वार्थ के साथ साथ यह परमार्थभाव से भी युक्त है। कर्म्मात्मक ज्ञानयोग भी आंशिक लोकसंग्रह के कारण आंशिक रूप से परमार्थ की ओर ही झुका हुआ है। परन्तु ज्ञानात्मक ज्ञानयोग लोकसंग्रह की उपेक्षा करता हुआ विशुद्ध स्वार्थ का ही अनुमापक बन रहा है।

११७-ज्ञानात्मक-कर्म्मयोग कर्म्मात्मक-कर्म्मयोग, एवं भक्त्यात्मक-कर्म्मयोग का स्वरूपविश्लेषण—

दूसरा है कर्म्मयोग। वह कर्म्मयोग (१)—ज्ञानात्मक कर्म्मयोग कहलाएगा जिसमें अध्यात्म ज्ञानोपबृंह नैष्कर्म्य-कर्म्मों की प्रधानता रहेगी एवं सगुणब्रह्मगर्भसमूला ईश्वरचिन्तन-लक्षणा अव्यक्ता उपासना का समावेश रहेगा। इसमें लोकसंग्रह पर आंशिकरूप से दृष्टि रहेगी। यह कर्म्मयोग (२)—कर्म्मात्मक कर्म्मयोग कहलाएगा जिसमें लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों की ही प्रधानता रहेगी एवं उपासना का यही रूप रहेगा। यह कर्म्मयोग (३)—भक्त्यात्मक कर्म्मयोग कहलाएगा जिसमें ईश्वरतन्मयता को प्रधान बना कर लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्म प्रधान रहेंगे। इन तीनों कर्म्मयोगों में भी भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग सर्वश्रेष्ठ माना जायगा कर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोग इससे अवरकक्षा का माना जायगा एवं ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग इससे भी नीची श्रेणि का माना जायगा। कारण यही है कि भक्तियोग एवं कर्म्मयोग

में लोकसंग्रह के साथ साथ ईश्वरानन्यता का भी विकास है। कर्मात्मक कर्मयोग में लोकसंग्रह की ही प्रधानता है परन्तु अनन्यतालक्षणा भक्ति गौण बन रही है। परन्तु ज्ञानात्मक कर्मयोग में लोकसंग्रह भी व्याप्त है एवं अनन्यता भी सुरक्षित है।

११८–ज्ञानात्मक-भक्तियोग, कर्मात्मक-भक्तियोग एवं भक्त्यात्मक भक्तियोग का विश्लेषण—

तीसरा है भक्तियोग। वह भक्तियोग (१)—ज्ञानात्मक भक्तियोग कहलाएगा जिसमें प्रधानदृष्टि ईश्वरानन्यता-सम्पादक ज्ञान कर्मों की रहेगी एवं तदनुकूल ही भक्त्यनुकूला ज्ञानचर्या रहेगी। लोकसंग्रह रहेगा परन्तु लोकसंग्रहदृष्टि से नहीं अपितु ज्ञानदृष्टि से। वह भक्तियोग (२)—कर्मात्मक भक्तियोग कहलाएगा जिसमें भक्त्यनुकूल-ज्ञानचर्या के साथ साथ लोकसंग्राहक स्मार्त कर्मों पर प्रधानदृष्टि रहेगी। एवं वह भक्तियोग (३)—भक्त्यात्मक भक्तियोग कहलाएगा जिसमें भक्तिमूलक ज्ञान एवं भक्तिमूलक लोकसंग्राहक स्मार्तकर्मों पर समान दृष्टि रहेगी। इन तीनों भक्तियोगों में भक्त्यात्मक भक्तियोग का सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। ज्ञानात्मक भक्तियोग को अवरकक्षा का कहा जायगा एवं कर्मात्मक भक्तियोग को मध्यम श्रेणि का माना जायगा। कारण यही है कि भक्त्यात्मक भक्तियोग में भक्तियोग निर्बाध है लोकसंग्रह भी पूर्ण रक्षित है। कर्मात्मक भक्तियोग में अनन्यता गौण है। एवं ज्ञानात्मक भक्तियोग में लोकसंग्रह गौण है।

११९–ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या एवं धर्मबुद्धियोगानुगता आर्षविद्या से अनुप्राणिता गीता के द्वारा समर्थिता ज्ञान-भक्ति-कर्मयोगत्रयी का स्वरूप-समन्वय—

पाठकों को विदित है कि उक्त तीनों संश्राचित योगों का गीता की सिद्धविद्या, राजविद्या आर्षविद्या इन तीन विद्याओं में निरूपण हुआ है। ७-८ अध्यायात्मिका सिद्धविद्या में ज्ञानबुद्धियोग-लक्षण संश्राचित ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है। ९-१०-११-१२-अध्यायात्मिका राजविद्या में ऐश्वर्यबुद्धियोग-लक्षण संश्राचित भक्तियोग का निरूपण हुआ है। एवं १३-१४-१५-१६-१७-१८ अध्यायात्मिका आर्षविद्या में धर्मबुद्धियोग-लक्षण संश्राचित कर्मयोग का निरूपण हुआ है। पाठकों को यह भी स्मरण रहे कि ज्ञानयोग का आत्मा की सत्ता से सम्बन्ध है भक्तियोग का प्राणरूपता से सम्बन्ध है एवं कर्मयोग का वाक्कला से सम्बन्ध है। योगत्रयी के इसी मौलिक स्वरूप-लक्षण में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा की ये तीनों कलाएँ नित्ययुक्त होने के कारण तीनों योगों में युक्त हैं। इसी नित्ययुक्तभाव से (तीनों योगों में प्रत्येक में) तीनों योगों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। प्रधानता किसी एक की तीनों में गुण-भाव की ही रहती है अतएव एक साथ इतर दोनों नामों से समन्वित न होकर एक ही प्रधान योग-नाम से ही व्यवहृत होते हैं।

१२०–त्रिपुरुषानुबन्धिनी योगत्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

इसी समन्वयभाव के कारण गीताप्रतिपादित तीनों विद्याओं में यद्यपि क्रमशः प्रधानरूप से ज्ञान भक्ति-कर्म-योगों का ही निरूपण हुआ है। परन्तु विद्यात्रय के माध्यम से पाठकों को इस निष्कर्ष

पर भी पहुँचना पड़ेगा कि भगवान् ने तत्वद्विद्यात्मा में प्रधानयोग निरूपण के साथ साथ त्रिवृद्भाव-सिद्ध अतएव मुख्ययोग से अभिन्नाभूत उन इतर दोनों गौण योगों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। विशेष विस्तार तो मूलभाष्य में ही देखना चाहिए। यहाँ केवल प्रकरण-सङ्गति के लिए उन योगों के समर्थक कुछ एक वचन मात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं —

१२१–ज्ञानात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानयोग (सिद्धविद्यात्मक –७-८ अध्यायानुगत)—

(त्रिवृन्मनोयोग)

१—ज्ञानात्मको ज्ञानयोग —

१–अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ (८।८)
२–यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवीमि ॥ (८।११)
३–सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ (८।१२)।



१२२–कर्म्मात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

२—कर्म्मात्मको ज्ञानयोग —

१–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८)।
२–जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥ (७।२९)।
३–साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ (७।३०)।



१२३–भक्त्यात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

३—भक्त्यात्मका ज्ञानयोग —

१–तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७) ।

२–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९) ।

३–येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८) ।

— ● —

— १ —

२–भक्तियोग (राजविद्यात्मक –९–१०–११–१२–अध्यायानुगत)

(त्रिगुणप्राणयोग)

१२४–ज्ञानात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानात्मका भक्तियोग –

१–महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ।

२–सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)

३–ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ (९।१५) ।

१२५–भक्त्यात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

२—भक्त्यात्मका भक्तियोग –

–समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् । (९।२९)

२–मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)
३ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ (१२।८) ।



१२६–कर्म्मात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

३—कर्म्मयोगात्मको भक्तियोग –

१–पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (९।२६) ।
२ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (९।२७) ।
३–शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (९।२८) ।



— २ —

३–कर्म्मयोग [आर्पविद्यात्मक –१३ १४ १५ १६ १७-१८अध्यायानुगत]

(त्रिवृत्कर्मयोग)

१२७–ज्ञानात्मक कर्म्मयोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानात्मक कर्म्मयोग –

१ अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥ (१३।७) ।
२–इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (१३।८) ।
३–अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (१३।११)



१२८-भक्त्यात्मक कर्मयोग के समर्थक वचन—

२—भक्त्यात्मक कर्मयोग –

१-मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ (१३।१०)।

२-इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ (१३।१८)।

३-भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (१८।५५)।



१२९-कर्मात्मक कर्मयोग के समर्थक वचन—

३—कर्मात्मक कर्मयोग –

१-यज्ञ-दान-तपः-कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५)

१-एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६)।

३ न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ (१८।१०)।


— ३ —



१३०-ज्ञानबुद्धियोगलक्षण सम्बन्धित-ज्ञानयोग—

१-ज्ञानबुद्धियोगलक्षणा-ज्ञानयोग (सिद्धविद्यारहस्यम्)।

१-भक्त्यात्मक ज्ञानयोग –भक्तेश्वरसंप्रदायः–उत्तमः

२-कर्मात्मक ज्ञानयोग –कर्मसम्प्रदायोऽपि–मध्यम

३-ज्ञानात्मक ज्ञानयोग –ज्ञानसंप्रदायः प्रथम

— •—

१३१–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण संशोधित–भक्तियोग—
२–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणो भक्तियोग (राजविद्यारहस्यम्)।

१–भक्त्यात्मको ज्ञानयोग –ज्ञानकर्म्मसमच्चलक्षण –उत्तम

२–कर्म्मात्मको भक्तियोग –लोकसंग्रहप्रधान ——मध्यम

३–ज्ञानात्मको भक्तियोगः–आंशिकलोकसंग्रहात्मक–प्रथम

—•—

१३२– धर्म्मबुद्धियोगलक्षण संशोधित कर्म्मयोग—
३–धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग (आर्षविद्यारहस्यम्)।

१–भक्त्यात्मक कर्म्मयोग –लोकेश्वरसमच्चलक्षण –उत्तमः

२–कर्म्मात्मक कर्म्मयोग –लोकसंग्रहप्रधान ——मध्यम

३–ज्ञानात्मक कर्म्मयोग –लोकसंग्रहविच्युतः–प्रथम

—•—

१३३–उपासनात्मक–भक्तियोग की श्रेष्ठता का समन्वय, तदाधारभूत प्रत्यगात्मा, एवं शारीरक–आत्मानुगत–भक्त्यात्मक भक्तियोग—

उक्त तीनों योग वे शास्त्रीय योग हैं जिनका संशोधन करते हुए भगवान्ने गीताशास्त्र में (लोकनिष्ठा की रक्षा के लिए) संग्रह कर लिया है। इन संशोधित तीनों योगों का जो भक्तियोग है उसे हम उपासनात्मक भक्तियोग होने से 'भक्ति न कह कर 'उपासना' ही कहेंगे। यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो त्रिविध भक्तियोगों में से भी केवल भक्त्यात्मक भक्तियोग को ही 'उपासना' कहा जायगा। ज्ञानात्मिका भक्ति भी भक्ति है एवं कर्म्मात्मिका भक्ति भी भक्ति है। परन्तु भक्त्यात्मिका भक्ति ही उपासना है। यही योगात्मिका भक्ति है। तीनों भक्तियों में से इस योगात्मिका भक्ति का ही प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है। इसी भक्तितत्त्व के लिए भगवान्ने "तेऽतीव मे प्रिया" यह कहा है। शेष दोनों भक्तियाँ एवं त्रिविध–ज्ञानयोग और त्रिविध कर्म्मयोग इन सब का शारीरक–आत्मा से ही सम्बन्ध है।

१३४–ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–योगानुबन्धी–श्रेणिविभाग एवं तारतम्य का स्वरूप–समन्वय एवं उपासना, तथा भक्ति–निरूपन–तथ्य का समन्वय—

यद्यपि यह ठीक है कि त्रिविध ज्ञानयोगों में भक्त्यात्मक ज्ञानयोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मा का अनुगामी बना हुआ है त्रिविध कर्म्मयोगों से से भक्त्यात्मक कर्म्मयोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मानुगामी बना

हुआ है। इन त्रिविध भक्तियोगों में से ज्ञानात्मक भक्तियोग तथा कर्म्मात्मक भक्तियोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मा का सहचारी बना हुआ है। और इसी विशेषता के कारण हमनें त्रिविध ज्ञानयोगों में से प्रत्यगात्मानुयायी भक्त्यात्मक ज्ञानयोग को एवं त्रिविध कर्म्मयोगों में से प्रत्यगात्मानुयायी भक्त्यात्मक कर्म्मयोग को, इन दोनों की अपेक्षा त्रिविध भक्तियोग को श्रेष्ठ बतलाया है। तथापि प्रत्यगात्मा का वास्तविक अनुग्रह त्रिविध भक्तियोगों में से भक्त्यात्मक भक्तियोग पर ही है, अत: इसे ही हम सर्वश्रेष्ठ कहेंगे। माना ही क्या वो मान भक्ति है। भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में ज्ञान की भक्ति प्राप्त होती है तो भी शारीरक प्रज्ञान की भक्ति, अव्यक्तज्ञान की भक्ति। भक्त्यात्मक कर्म्मयोग में कर्म की भक्ति प्राप्त होती है तो भी शारीरक कर्म्म की भक्ति, व्यक्तकर्म्म की भक्ति। ज्ञानात्मक भक्तियोग में अव्ययज्ञानभक्ति अवश्य ही प्राप्त होती है परन्तु इस में अव्यय का ज्ञानभाग प्रधान बना हुआ है। एवमेव कर्म्मात्मक भक्तियोग में अव्यय की कर्म्मभक्ति ही प्राप्त होती परन्तु इसमें अव्यय का कर्म्मभाग प्रधान बना हुआ है। इधर भक्त्यात्मक भक्तियोग में अव्यय की ज्ञानभक्ति भी प्राप्त है एवं अव्यय की कर्म्मभक्ति भी प्राप्त है। अव्यय न केवल ज्ञानमूर्ति है न कर्म्ममूर्त्ति। अपितु उभयमूर्त्ति है। ज्ञान एवं कर्म्म दोनों ही अव्यय के भाग हैं। अतएव दोनों भागों के संग्रह के बिना भक्तिभाव अपूर्ण ही रहता है। अतएव एक एक भाग की अनुगामिनी ज्ञानात्मिका भक्ति, एवं कर्म्मात्मिका भक्ति सर्वथा अपूर्ण है। इसीलिए हम इसे उपासना न कहकर 'भक्ति' शब्द से ही व्यवहृत करते हैं।

१२५–उपासना, और भक्ति से अनुप्राणित–तारतम्य–दिग्दर्शन—

उपासना का अर्थ है– उप–आसन (समीप बैठना)। ज्ञानात्मिका भक्ति का अनुगामी भक्त ज्ञानद्वारा अवश्य ही अव्ययात्मा के समीप बैठा हुआ है परन्तु कर्म्मभाग से अभी यह वञ्चित है। अतएव भाग–सम्पत्ति–प्राप्त करता हुआ भी यह "उप–आसन" से वञ्चित है। एवमेव कर्म्मात्मिका भक्ति का अनुगामी ज्ञान के उप–आसन से वञ्चित है। भक्त्योपासनात्मक भक्तियोग में ज्ञान के भी यह "उप" (समीप) है, कर्म्म के भी उप है। अत यहां 'उपासनभाव' सम्यक्–रूपेण प्राप्त होजाता है। उपासना, और भक्ति में यही तारतम्य है।

१२६–प्रत्यगात्मनिबन्धना सर्वश्रेष्ठा बुद्धियोगात्मिका भक्ति का संस्मरण—

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि गीता में जहां जहां 'भक्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहां वहां यह शब्द (१) शारीरक–ज्ञानभक्ति–लक्षण ज्ञानात्मक भक्तियोग। (२) शारीरक–कर्म्मभक्तिलक्षण कर्म्मात्मक भक्तियोग (३) प्रत्यगात्मज्ञानभक्तिलक्षण ज्ञानात्मक भक्तियोग एवं प्रत्यगात्म–कर्म्मभक्तिलक्षण कर्म्मात्मक भक्तियोग इन चारों 'अपूर्ण–भक्तियों' में से किसी एक भक्तियोग का ही सूचक है। एवं जहां-जहां "यथाक्रम प्रपद्युपासते" इत्यादिरूप से 'उपासना' शब्द प्रयुक्त हुआ है वहां-वहां वह शब्द प्रत्यगात्मज्ञानकर्म्मभक्तिलक्षण भक्त्यात्मक (ज्ञानकर्म्मात्मक) भक्तियोग का ही सूचक है। और यही गीता की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठा योगात्मिका भक्ति है *।

---

* इस भक्तियोग की श्रेष्ठता दूसरे योगों की अपेक्षा ही समझनी चाहिए। इसकी श्रेष्ठता का मूल कारण यही है कि यह भक्तिनिष्ठा भगवत्तत्त्वमयी वैराग्यनिष्ठा से मिलती जुलती है। परन्तु जब हम इस

१३७–अक्षरनिबन्धना 'परा विद्या', क्षरनिबन्धना 'अपरा विद्या' का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना शास्त्रीय-योगनिष्ठाएँ—

इसके अतिरिक्त पाठकों को यह भी नहीं भुला देना चाहिए कि, लोक में जो शास्त्रीय तीन निष्ठाएँ प्रचलित हैं उनका व्यक्त ज्ञान-कर्म से ही सम्बन्ध है। अव्ययात्मा ईश्वरतन्त्र है शारीरक आत्मा जीवतन्त्र है एवं भौतिक विश्व जगत्तन्त्र है। तीनों क्रमशः व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन-ज्ञान-कर्मसमत्व-लक्षण अव्यय अव्यक्त ज्ञानप्रधान अक्षर एवं व्यक्त कर्मप्रधान क्षर से अनुगृहीत हैं। क्षरात्मक कर्मप्रधान जगत्तन्त्र का अपराविद्या (वेदविद्या) से सम्बन्ध है अक्षरात्मक ज्ञानप्रधान जीवतन्त्र का पराविद्या से सम्बन्ध है एवं अव्ययात्मक ज्ञान-कर्ममय ईश्वरतन्त्र दोनों का अनुग्राहक है जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

क्षरविद्या (अविद्या-कर्म)—"तस्मै स होवाच-द्वे विद्ये वेदितव्ये-इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैव अपरा च। तत्रापरा-ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दो ज्योतिषमिति।

अक्षरविद्या—(विद्या-ज्ञानम्)—"अथ परा-यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यम-ग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।—तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

—मुण्डकोपनिषत् १।१।४।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

—श्वेता० उप० ५।१।

१३८–त्रिगुणभावानुबन्धिनी वेदवादरति, तन्निबन्धना अयोगात्मिका त्रिगुणभावापन्ना योगत्रयी, और 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का संस्मरण—

अव्ययपुरुष का ज्ञानकर्म अक्षर, एवं क्षर में अवतीर्ण होकर जीवतन्त्र एवं जगत्तन्त्र का सञ्चालन कर रहा है। इस त्रिपुरुषभेद से ज्ञानकर्म के तीन रूप हो जाते हैं। त्रिगुणभावात्मिका अपराविद्या

भगवदभिप्राय की दृष्टि से भक्तियोग की श्रेष्ठता का विचार करेंगे तो उस समय वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा यह भी अवरकक्षा में ही रह जायगी। भक्तियोग में अव्ययज्ञान भी है अव्ययकर्म भी है इसलिए तो यह वैराग्यनिष्ठा के समकक्ष है। परन्तु अव्ययकर्म के साथ इसमें आधिभौतिक व्यक्त क्षरकर्म का भी समावेश है यही इसकी आंशिक विषमता है। इसी असमता से इसे वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा नीचा आसन दे रक्खा है जैसाकि आगे के बुद्धियोगपरीक्षाप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

+ अक्षर मध्यस्थ है। अतएव यह पर अव्यय का भी अनुग्राहक है एवं अवर-भूतयोनिलक्षण क्षर का भी संग्राहक है। अतएव श्रुतिने पराविद्यात्मक अक्षर को अव्यय, और भूतयोनि भी मान लिया है जैसाकि—'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरः) एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययः)' इत्यादि अन्य श्रुतियों से भी स्पष्ट है।

का प्रतिपादक शास्त्र जिस योगत्रयी का निरूपण करता है उसमें आभिमानिक सृष्टि की ही प्रधानता है। ऐसे तीनों योग अभ्यसाधार, इन्हीं से वञ्चित होते हुए भूतसम्पत्ति के ही अनुगामी हैं। भगवान् की दृष्टि में क्षरानुगामी शास्त्रीय ज्ञान–कर्म–भक्ति, तीनों योग अयोग हैं। यही भागेश्वरप्रमत वरवासरों का त्रिगुणगुणात्मक योग है। ऐसे कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग को भगवान् न ज्ञानयोग कहते न फलाभिसन्धि कर्मयोग को कर्मयोग मानते एवं न ईश्वरानुग्रहप्राप्तिलक्षण प्रेमासक्तिरूप भक्तियोग को भक्तियोग मानते। 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'।

१३९–अपराविद्या में पराविद्या का समन्वय एवं तन्मूलक–योगसंशोधन, तथा 'उप आसन' निबन्धना 'उपासना'—

इसके अनन्तर संशोधित योगत्रयी हमारे सामने आती है। अपराविद्या में पराविद्या का समन्वय ही संशोधन है। ये ही तीनों योग ग्राह्य हैं। इनमें ज्ञानाश्रिता–कर्माश्रिता भक्ति तो 'भक्ति' भाव से सम्बन्ध रखती हुई 'भक्ति' कहलाती है एवं ज्ञान–कर्मसमन्विता भक्त्याश्रिता भक्ति 'उप–आसन' भाव के कारण 'उपासना' कहलाती है। शेष रहा विद्या–अविद्यासे अतीत अव्यय, और उससे सम्बन्ध रखने वाली भगवन्निष्ठा। इसमें और उपासना में क्या अन्तर है? इस प्रश्न की मीमांसा स्वतन्त्ररूप से अनुपद में ही की जाने वाली है। प्रकृत योगत्रयी के सम्बन्ध में जिन विभिन्न दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण हुआ है निम्न लिखित तालिकाओं से उन सबका सहज से सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है।

१४०—त्याज्या क्षरानुगता योगत्रयी—

१—ज्ञानयोग —कर्मसंन्यासलक्षण —— अज्ञानयोग
२—कर्मयोग —फलकामासक्तिलक्षण —— अकर्मयोग
३—भक्तियोग —ईश्वरानुग्रहप्राप्तिप्रेमलक्षणः अभक्तियोग
} "त्याज्या"

१४१-ग्राह्या अक्षरानुगता योगत्रयी—(१)

१—ज्ञानयोग —(अनुगमनीय)

१—ज्ञानात्मको ज्ञानयोग —शारीरकात्मज्ञानप्रधानः (अवर)
२—कर्मात्मको ज्ञानयोग —शारीरक्षरमकर्मप्रधान (मध्यम)
३—भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः—शारीरक्षरज्ञानकर्मप्रधान (उत्तम)

२—कर्म्मयोग —(ग्राह्य)

१—ज्ञानात्मक कर्म्मयोग —शारीरकज्ञानानुगत (अवर)
२—कर्म्मात्मक -कर्म्मयोग —शारीरककर्म्मानुगत (मध्यम)
३—भक्त्यात्मक -कर्म्मयोगः—शारीरकज्ञानकर्म्मानुगत (उत्तम)

३–भक्तियोग –सग्राह्य —

(भक्ति) १-ज्ञानात्मको भक्तियोग —प्रत्यगात्मानुगतशारीरकज्ञानानुगत (अवर)
(प्रपत्ति) २-कर्म्मात्मको भक्तियोग —प्रत्यगात्मानुगतशारीरककर्म्मानुगत (मध्यम)
(उपासना) ३-भक्त्यात्मको भक्तियोग –विश्वकर्म्मानुगतप्रत्यगात्मलक्षणज्ञानकर्म्मानुगत (उत्तम)

१४२–भारतीय महर्षियोंकी 'पुराणीप्रज्ञा' से प्रसूता 'योगत्रयी' का संस्मरण एवं तृतीय-प्रकरणोपराम—

पवित्र-पवित्रतम—ब्राह्मणवर्ग से समन्वित-पार्थिवग्नैर्मृतवाभिव्याप्त 'भारत' नामक 'अग्निभूव' के अन्तर्याम-सम्बन्ध से धन्यतम-पवित्रतम-वरीयस्तम बने हुए इस पावनतम भारतवर्ष के महिमामय विशाल प्राङ्गण में अवतीर्ण होने वाले प्रज्ञावतारमूर्ति महामहिमशाली प्रज्ञावतार 'भारतमहर्षियों' की सत्यानुगता पुराणीप्रज्ञा से मानव के अभ्युदय निःश्रेयस के लिए जिस स्वाभाविक एवं लोकव्यवहार्य महता-महीयान् राजपथ का आविर्भाव हुआ वही राजपथ—'भारतीय महर्षियों की योगत्रयी' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस इस वर्गीरथ के 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योग' नामक तीनों योगों का ही प्रक्रान्त तृतीय प्रकरण में अनेक दृष्टिकोणों से संस्मरण-प्रयास हुआ है। अब अग्रिम प्रकरण में इसी योगत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले सत्ययुग-त्रेतायुग-पुराणयुग-वर्तमानयुग-आदि नामों युगधर्म्मानुबन्धों से अनुप्राणित तीनों योगों के युग-धर्म्मसह परिवर्तित-स्वरूपों के समन्वय का ही प्रयास सम्भावित है।

इति–भक्तियोगपरीक्षाया–पूर्वखण्डे

'योगत्रयी और भारतीय-महर्षि'

नामक

तृतीय-प्रकरण-उपरत

३

श्री

इति—भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—
"योगत्रयी, और भारतीय-महर्षि"
नामक
तृतीय-प्रकरण-उपरत
३

श्री

अथ–भक्तियोगपरीक्षाया–पूर्वखण्डे—

"युगधर्म्मानुगता--विविध-उपासनाएँ"

नामक

चतुर्थ–प्रकरण

४



(१)–देवयुगानुगता निर्गुणोपासना स अनुप्राथित–पारिभाषिक–परिलेख—

"अव्ययोपासना" (निर्गुण --अव्यय -ईश)

ज्ञानमेव–उपासना–ज्ञानात्मिका—(अमृतम्)

निर्गुणोपासना–ईशोपासना–ज्ञानात्मिका

मनोमयी–उपासना–ज्ञानात्मिका

सोऽयं निर्गुणोऽव्यय	१–आनन्द —आनन्दमयोऽव्यय —मन एव २–विज्ञानम्—विज्ञानमयोऽव्यय —मन एव ३–मन —श्वोवस्यसमनोमयोऽव्यय–मन एव	तदिद अव्ययविवर्तम् मनोविवर्तमेव

सोऽयं–मनोमयो निर्गुणोऽव्यय एव विजिज्ञासितव्य,

सोऽनुष्यवाच्यः—उपासितव्यश्च

(सोऽय देवयुग प्रथम --सत्ययुगारम्भात्मक)

अमृतम् अव्यय ज्ञानम् मन	तदेतत्–सर्व मन एव, अव्यय एव–निर्गुण "अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्यय"

विजिज्ञासा–ज्ञातुमिच्छा ज्ञानमव

सा विजिज्ञासा–अनुष्यानलक्षणव

सेव–ज्ञानात्मिका–उपासना–'उपासना' देवयुगानुगता–प्रथमा (१)

"अनुष्यानञ्च–समानप्रत्ययप्रवाहधारणामेव"

श्री

"युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ"

नामक

चतुर्थ-प्रकरण

४

(चतुर्थप्रकरणान्तर्गत-प्रथम-अवान्तर-प्रकरण)

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

१—ऋषिदृष्टा योगत्रयी के युगधर्म्म-निबन्धन विविध-परिवर्त्तन—

'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म'—नाम से प्रसिद्ध जिस योगत्रयी का भारत के महर्षियों की 'पुराणी प्रज्ञा' से मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए देवयुगारम्भ में आविर्भाव हुआ था, योगत्रयी किंवा उस योगत्रयी के तीनों प्रकारों का स्वरूप आगे चलकर युगधर्म्मानुगत—दिग्देशकालानुबन्धी-मनः-शरीरानुप्राणित—विविध—उच्चावच परिवर्त्तनों के कारण विभिन्न—विभिन्न प्रकारों में ही परिणत होता गया।

२—परिवर्त्तित-स्वरूपानुगत अपरिवर्त्तनीय-मूलतत्त्व—

युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के समावेश से उस ऋषिसम्मता योगत्रयी का स्वरूप युगधर्म्मानुपात से बदलता रहा। जबकि येन केन रूपेण उन परिवर्त्तनों के मूल में ऋषिसम्मत मौलिक स्वरूप भी अनुपातस्वरूपेण न्यूनाधिक-मात्रया प्रतिष्ठित ही होता आरहा है। इसी मूलदृष्टि से तत्तद्—युगों के लोकसंग्राहक-मनीषी विद्वानों के द्वारा, समाजनेताओं के द्वारा तत्तत्परिवर्त्तित स्वरूपों का भी लोकसमाज की दृष्टि में समादर होता रहा और युगधर्म्मानुगता इसी मान्यता-परम्परा के कारण ऋषिदृष्टा—मौलिक—योगत्रयी के अवान्तर विभिन्न—स्वाभिमत भेद होगए, जबकि तत्त्वदृष्ट्या सब की पर्य्यवसान—भूमि वह 'एक ही मूलतत्त्व' रहा॰।

॰ रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजु—कुटिल—नानापथजुषां-
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥
—महिम्नस्तोत्रे परमशैव श्रीपुष्पदन्ताः

३–आपातरमणीय–कल्पनाओं के समाधान–प्रयास का उपक्रम—

सृष्टियुगारम्भ–देवयुग से आरम्भ कर वर्तमान युग पर्य्यन्त उस योगत्रयी के मध्यस्थ सुप्रसिद्ध 'भक्तियोग' के भिन्न–भिन्न उपासना के कितने प्रकारान्तर विभक्त हो गए हैं ! प्रस्तुत चतुर्थ–प्रकरण में संक्षेप से इसी प्रश्न–समाधान का प्रयास प्रक्रान्त हो रहा है । मङ्गलपूर्णा ऐसी आस्था है कि उपासना के विभिन्न रूपों से आधुनिकतावश हम जो यथेच्छ कल्पनाएँ करने लग पड़ते हैं प्रस्तुत प्रकरण सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही उन आपातरमणीय–कल्पनाओं का समन्वय कर सकेगा ।

४–भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में आलोचकों की युगधर्म्मानुगता भ्रान्त धारणा—

भक्तियोग के सम्बन्ध में यह विचार भी कम महत्त्व नहीं रखता कि इस भक्तिनिष्ठा का विकास किस युग में हुआ ? । कुछ समालोचकों का कहना है कि आरम्भ में ज्ञान एवं कर्म्म नाम की दो निष्ठाएँ ही प्रचलित थीं । तीसरी भक्तिनिष्ठा का विकास उस पौराणिकयुग में हुआ है जिसे कि महाभागवतकाल भी कह सकते हैं । इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए समालोचकों की ओर से अन्यान्य कई एक हेत्वाभासों के अतिरिक्त निम्नलिखित गीतावचन भी उद्धृत हुआ है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥

—गीता

५–देवयुग, वेदयुग, तथा पुराणयुग–अनुबन्धों से अनुप्राणित ज्ञान कर्म्म–भक्ति–निष्ठात्रयी का युगधर्म्मनिबन्धन काल्पनिक वाग्विलासमात्र —

उनका कहना है कि जिस समय भगवान् ने गीतोपदेश दिया था उस से पहिले लोक में सांख्यों की ज्ञानयोगनिष्ठा एवं स्वायम्भुव मनु की (कर्म्मासक्तिक) कर्म्मयोगनिष्ठा ये दो निष्ठाएँ ही प्रचलित थीं । भगवान् ने इन दोनों का संशोधन करते हुए तीसरी भक्तियोगनिष्ठा स्थापित की और यही गीता का मुख्य लक्ष्य बना जैसा कि– 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' –आदि भक्तिप्रधान वचनों से स्पष्ट है । यद्यपि उसी युग में एक तरह भक्तिमार्ग का विकास हो चुका था परन्तु वह भक्ति कामना–मयी थी । भगवान् ने इस के स्थान में निष्कामभक्ति का ही विधान किया । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि पुराणयुग से पहिले क्रमशः अपनी सत्ता रखने वाले देवयुग एवं वेदयुग में भक्तिमार्ग का सर्वथा अभाव ही था । उन युगों का मानवसमाज ज्ञानयोग एवं कर्म्मयोग का ही अनुगामी था ।

६–पौराणिक भक्तियोग का संस्मरण, तदभिनन्दन विषयप्रासाद तदनुप्राणिता विविध कल्पनाएँ, एवं निष्ठात्रयी का काल्पनिक अभिनिवेश—

समालोचकों की उक्त समालोचना से थोड़ी देर के लिए हम भी व्यामोहन में पड़ जाते हैं । ठीक तो है । यदि देवयुग एवं वेदयुग में तीसरे भक्तियोग की भी सत्ता रहती तो भगवान् कभी 'लोकेऽस्मिन्

द्विविधा निष्ठा यह न कहते। फिर पौराणिक भक्तियोग का (अवतारोपासनात्मक भक्तियोग का) जो स्वरूप आज हम देख रहे हैं उसका मूल वेद में कहीं तो उपलब्ध होता। हम देखते हैं कि देवयुगकालीन गाथा-मन्त्रों में एवं वेदयुगकालीन समस्त वैदिक साहित्य में कहीं भी भक्ति का उक्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होरहा। सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस ईश्वरतत्त्व के आधार पर पौराणिक-भक्तिवाद प्रतिष्ठित है समस्त वैदिक वाङ्मय में उस 'ईश्वर' शब्द का ही आत्यन्तिक अभाव है। 'ईश्वर' शब्द ही नहीं रामकृष्णादि अवतारों का नामोल्लेख नहीं, पत्र-पुष्प-फलं भावोपेता भक्ति का उल्लेख नहीं। फिर किस आधार पर भक्तियोग को प्राचीन मान लिया जाय ?, एवं किस आधार पर इसे वेदशास्त्र-सम्मत माना जाय ?। अतएव कहना पड़ेगा कि भक्तिमार्ग केवल कल्पना की ही वस्तु है। वस्तुतः शास्त्रसिद्ध योग तो केवल ज्ञानयोग एवं कर्मयोग ही हैं।

७-वेदादि प्राचीन शास्त्रों में भक्तिनिष्ठा की अनुपलब्धि का महान् व्यामोहन—

समालोचना को ही अपना नित्यकर्म समझने वाले उन समालोचकधुरीणों से इस सम्बन्ध में हम प्रश्न करते हैं कि उन्हें भक्तियोग के स्वरूप की अनादिता में सन्देह है ? अथवा भक्तियोग की अनादिता में सन्देह है ?। पूर्व में जो हेतु बतलाए गए हैं उन से तो स्पष्टरूप से यही सिद्ध होरहा है कि उन्हें प्राचीन वेदादि साहित्य में भक्ति का प्रचलित (पौराणिक) स्वरूप नहीं मिल रहा। अतएव वे इसे कल्पना की वस्तु समझ रहे हैं।

८-कपिलमुनि-सम्मता सांख्यनिष्ठा, हिरण्यगर्भऋषि-सम्मता योगनिष्ठा जैमिनि सम्मता कर्ममीमांसा आदि दर्शिकार्यों के माध्यम से भक्तियोगनिष्ठा का स्वरूप- समन्वय—

उत्तर में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, केवल स्वरूप के आधार पर ही किसी वस्तुतत्त्व के स्वरूप अनादित्व का निर्णय नहीं किया जासकता। क्या वे समालोचक यह सिद्ध कर सकेंगे कि ज्ञान-योग कर्मयोगों का जो स्वरूप क्रमशः देवयुग तथा वेदयुग में प्रचलित था आजतक उसका वही स्वरूप सुरक्षित है ?। हम तो देखते हैं कि सांख्यलक्षणा-कपिल-निष्ठात्मक ज्ञानयोगने आज वेदान्तलक्षणा व्यास-निष्ठा का ही परिधान (बाना) पहिन लिया है। एवमेव स्वयम्भू-निष्ठात्मक कर्मयोग जैमिनिसम्मत मीमांसा-भाव से ही युक्त होरहा है। यह तो स्थूल परिवर्त्तन की कथा है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाएगा तो उन दोनों के तत्कालीन स्वरूपों में और वर्त्तमान स्वरूपों में शाखा प्रशाखा-भेद-युक्त अहो-रात्र का अन्तर मिलेगा। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि आज के ज्ञानयोग और कर्मयोग के स्वरूपों का आप उन अनादि-शास्त्रों में अन्वेषण करने चलेंगे तो अधिकांश में आप का यह प्रयास व्यर्थ ही प्रमाणित होगा। क्या इसी आधार पर ज्ञान-कर्म-निष्ठाओं को भी कल्पना की ही वस्तु मान लिया जायगा ?।

९–भक्तियोगनिष्ठा की सनातनता, एवं परिवर्तनात्मक युगधर्मों के अनुपात से भक्ति के अनुष्ठानात्मक प्रकारों में उत्तरोत्तर-परिवर्तन—

ठीक यही स्थिति भक्तियोग के स्वरूप के सम्बन्ध में समझिए। परिवर्तनशील मानवीय मन के सम्बन्ध से भक्तियोग का बाह्य-आचारात्मक स्वरूपमात्र बदल गया है। परन्तु भक्ति का मौलिकरूप तो ज्यों का त्यों ही सुरक्षित है। स्वरूप तो बदलता ही रहेगा और बदलना ही चाहिए। क्योंकि युगधर्म के परिवर्तन के साथ साथ चित्तवृत्ति का बदलना भी अनिवार्य है। चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ योगस्वरूप-परिवर्तन भी आवश्यक है। देवयुग तथा कृतयुग काल में भी भक्तियोग का पूर्ण विकास था। परन्तु उस समय उसका स्वरूप दूसरा था, लक्ष्य दूसरा था। पौराणिकयुग में स्वरूप और लक्ष्य दोनों बदल गए। एतावता ही भक्तियोग का उन युगों में अभाव मान बैठना भ्रान्तिमात्र नहीं, तो और क्या है ?।

१०–भक्तियोग के सम्बन्ध में पुरातनयुगानुगत आवश्यक प्रश्न एवं अतिपुरातन युगात्मक साध्ययुग की योगत्रयी—

हाँ इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा अवश्य ही न्यायसंगत है कि देवयुगकालीन भक्तियोग का क्या स्वरूप था ? देवयुग में भक्ति का क्या स्वरूप रहा था ? एवं पौराणिक युग में भक्ति में क्या वैचित्र्य आ गया ?। तीनों जिज्ञासाओं में से प्रकृत प्रकरण प्रथम जिज्ञासा का ही शमन करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। 'देवयुगानुगता भक्ति किंवा उपासना का क्या स्वरूप है' इस जिज्ञासा के साथ-साथ "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" यह गीतोक्ति भी उपस्थित है और यह न्यायसंगता भी है। अवश्य ही हमें इस सम्बन्ध में भी कोई समीचीन उत्तर मिलना ही चाहिए, जिसके आधार पर ही हम यह विश्वास कर सकें कि– यद्यपि लोक में तीसरी भक्तिनिष्ठा भी पहिले से ही प्रचलित थी परन्तु अमुक कारण-विशेष से भगवान् ने तीसरी निष्ठा का नामनिर्देश करना आवश्यक नहीं समझा"।

११–भूतविज्ञाननिष्णात साध्यगणों का भूतानुबन्धी यज्ञात्मक कर्मयोग, तदनुप्राणिता भागिनी योगत्रयी एवं साध्ययुगोत्तरभावी देवयुग में उसका संशोधन—

पाठकों को यह विदित है कि, हमने देवयुग से पहिले उस साध्ययुग की चर्चा करनी भी जिसका प्रधान लक्ष्य "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" यही था। (देखिए भाष्यभूमिका प्रथमखण्डान्तर्गत कालमीमांसा)। यज्ञकर्म ही उस युग के महान् साध्यगणों का परम पुरुषार्थ था। दूसरे शब्दों में इसके लिए यह भी कहा जा सकता है कि यह साध्य-युगात्मक-प्रजापति-समाज केवल कर्मयोग का ही अनुगामी था। भौतिकी-समृद्धि के लिए जो विज्ञानात्मक (क्रियात्मक) ज्ञान अपेक्षित है, उसकी तो चरमसीमा पर ही वे साध्यगण पहुँचे हुए थे। परन्तु आत्मानुबन्धी, एकेश्वरवादमूलक ज्ञान से वे सर्वथा ही वञ्चित थे। वे अपने यज्ञकर्म से भूतात्मा (भौतिक प्रपञ्च) का ही यजन करते थे। उनका कर्मयोग कर्ममय किंवा कर्मप्रधान विश्व का ही उपासक था।

१२–देवयुग, और वेदयुग का आंशिक–पार्थक्य–समन्वय, एवं यज्ञयुगानुगता योगत्रयी का संस्मरण—

यह भी एक सिद्ध नियम है कि जब जब युगपरिवर्तन होता है तो उन परिवर्त्तित–युगों में कुछ समय के लिए पूर्वयुग के भी कुछ एक धर्मों का समावेश होजाता है। पूर्वयुगों के परिष्कृतरूप का नाम ही तो उत्तरयुग है। फलतः साध्ययुग के अनन्तर आने वाले देवयुग में (उत्तरयुग में) साध्ययुगकालीन कतिपय धर्मों का समावेश प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। यद्यपि देवयुग और वेदयुग को हम पृथक् नहीं मान सकते। क्योंकि, देवयुगप्रवर्त्तक स्वयम्भूने ही चातुर्वर्ण्य–धर्ममूलक वेदशास्त्र को सुव्यवस्थित किया है। तथापि वैदिक–साहित्य में जिस योगत्रयी का निरूपण हुआ है उसमें एवं वैदिकयुग की आरम्भकालीन देवयुगानुगता योगत्रयी में थोड़ासा अन्तर है। इसी अन्तर के कारण हम दोनों का पार्थक्य भी मान रहे हैं।

१३–बुद्ध्यातीत सर्वालम्बन–निर्गुण अव्ययात्मा का स्वयम्भू के द्वारा प्रथमाविर्भाव, तदनुप्राणित सर्वाधार ज्ञानयोग, एवं तदनुगता योगत्रयी का संस्मरण —

देवयुग की प्रवृत्ति का मूलश्रेय स्वयम्भू प्रजापति को ही है। और ये स्वयम्भू यज्ञकर्म प्रिय साध्यजाति के अनुशासन में रहने वाली साध्ययुगानुगत तुषितजाति में ही प्रकट हुए थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम साध्यजाति के सामने किंवा तत्कालीन मानव–समाज के सामने– 'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' यह सिद्धान्त उपस्थित किया था। अव्यक्त उस सर्वव्यापक ब्रह्म का आविष्कार किया जो कि सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्चों का एकमात्र आलम्बन है। आगे जाकर 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !' इस सिद्धान्त से पुष्ट होने वाले बुद्ध्यातीत सर्वालम्बन निर्गुण परमात्मस्वरूप–अव्यय* का प्रथमाविर्भाव स्वयम्भू के द्वारा ही हुआ। आगे यह अव्ययनिष्ठा ही ज्ञानयोगनिष्ठा कहलाई। साध्यों के सामने यही सिद्धान्त उपस्थित किया गया कि तुम्हारा यज्ञारम्भ तबतक सर्वथा निष्फल है जबतक कि तुम उस सर्वव्यापक ज्ञानमूर्त्ति निर्गुण ब्रह्म को अपने इस कर्म का आलम्बन नहीं बनालेते। ज्ञानयोग ही तुम्हारे कर्मयोग का मूल आधार है और यही सिद्धि का अन्यतम द्वार है– 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'।

१४–स्वयम्भू युगानुगता निर्गुण–अव्ययमूला निर्गुणभक्ति, यद्युगानुगता सगुण–प्रजापतिमूला सगुणभक्ति, एवं तदाधारभूत अभिव्यक्ता पुराणयुगानुप्राणिता 'अवतारभक्ति'—

इसप्रकार ब्रह्मनिष्ठा के साथसाथ अव्ययमूलक ज्ञानयोग का भी विकास हुआ। ये ही दोनों सिद्धान्त देवयुग की आरम्भ की दो सिद्धान्त हैं। इन्हीं सर्वप्रथम की दो सिद्धान्तों का उदय से आगे चल

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥ (गीता

भगवान् ने 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।' यह कहा गया है। अपने आपको ज्ञानात्मक निर्गुणब्रह्म (अव्यय) के प्रति अर्पित कर देना ही उस युग का तीसरा भक्तियोग माना गया। निर्गुणभक्ति ही देवयुग की भक्ति बनी। और यही निर्गुणभक्ति आगे आकर वेदयुग में सगुणरूप में परिणत हुई एवं यही सगुणभक्ति आगे आकर पौराणिकयुग में साकाररूप में परिणत हुई जैसाकि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट होजायगा।

१५–भक्तियोग का मौलिक-रहस्य, तत्र भक्तिकाण्डानुगता रहस्यपूर्णा 'अनन्यता' तथा 'अन्यता' का स्वरूप-समन्वय एवं भूताभिनिविष्ट साध्यों के मौलिक-योग-त्रिधर्मवाद—

भक्तियोग का मौलिक रहस्य है— 'कर्मसमाप्ति को पराश्रित मानना'। "हम नहीं कर रहे, अपितु कोई दूसरी ही शक्ति प्रेरणा कर रही है" इस आत्मविश्वास का नाम ही भक्ति है। अधात्म भक्ति की उपनिषत् 'अनन्यता' ही मानी गई है। परन्तु व्यवहारदृष्टि से 'अन्यता' ही भक्ति की उपनिषत् है। दूसरे शब्दों में अन्य के साथ रहने वाली अनन्यता ही भक्तियोग की उपनिषत् है। हम अपने आपको ही सब कुछ समझते हुए अपने से अन्य किसी व्यापक स्वतन्त्र तत्त्व की सत्ता स्वीकार न करते हुए अपने कर्म को अनन्य (दूसरे की प्रेरणा से कोई सम्बन्ध न रखने वाला) मानें यही साध्यों का कर्मयोग था। यही इनका ज्ञानयोग था एवं यही इनका भक्तियोग था। और इस दृष्टि से साध्य भी तीनों योगों के अनुयायी बने हुए थे।

१६–योगत्रयी का अधिष्ठाता प्रत्यगात्मा एवं योगत्रयी का साधक शारीरक-आत्मा तथा त्रिविध-योगों के प्रत्यगात्मानुबन्धी स्वरूप-लक्षण—

तीनों योग कब प्रकृतिसिद्ध हैं जो प्रकृति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले साध्य तीनों से कैसे वञ्चित रह सकते थे। स्वाभाविकी योगत्रयी का सम्बन्ध तो प्राणीमात्र के साथ है जैसाकि परीक्षारम्भ में ही विस्तार से बतलाया जाचुका है। परन्तु इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी में वैकारिक अहंभाव की ही प्रधानता है। अतएव इसमें "तत्" भाव का गन्ध भी नहीं है। केवल "मत्" की ही प्रधानता है। आत्मा योगत्रयी का अधिष्ठाता है एवं प्रज्ञानमन योग कराने वाला है। आत्मा के ज्ञानमय अमाभाग के साथ प्रज्ञानमन के द्वारा वैकारिक मानिक-प्रपञ्च के—साथ ज्ञान का सम्बन्ध होजाना ही प्राकृतिक-ज्ञानयोग है। आत्मा के क्रियामय प्राणभाग के साथ प्रज्ञान के द्वारा भूतवर्ग के, भूतानुगामी कर्म का योग होजाना ही प्राकृतिक भक्तियोग है। एवं आत्मा के अर्थमय वाक्भाग के साथ प्रज्ञान के द्वारा भूतमात्राओं का (वासनारूप से) योग होजाना ही प्राकृतिक कर्मयोग है। इसप्रकार भूतानुगत ज्ञानयोग, भूतानुबन्धी भक्तियोग एवं भूतमय कर्मयोग ये तीनों ही प्राकृतिकयोग केवल योगक्षेम के सम्पादक बनते हुए, केवल लोकवैभव के उत्तेजक बनते हुए प्रकृतिसिद्ध ही हैं।

१७-प्राणीमात्र से अनुप्राणिता प्रकृतिसिद्धा-भौतिकी-योगत्रयी, एवं उसकी त्रिगुणात्मकता, तथा तन्निबन्धना विषमता का दिग्दर्शन—

तीनों में ही प्रकृतिसिद्धाभ्युदयसाधनतामूला—ममत्वलक्षणा अनन्यता विद्यमान है। आपामर—आविद्वज्जन आबालवृद्ध सभी इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के रूप में ही अनुगामी हैं। 'मैं ही जानता हूँ'—यह अनन्य ज्ञानयोग है। 'मैं ही करता हूँ'—यह अनन्य भक्तियोग है। एवं 'मैं ही मेरी अर्थसम्पत्ति का प्रभु हूँ' यह अनन्य कर्मयोग है। इसप्रकार साम्प्रयुग में भी तीनों योगों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। परन्तु तीनों में भूतभाग की ही प्रधानता है वैकारिक प्रपञ्च का ही साम्राज्य है त्रिगुणलक्षण का ही विभ्रम है। एवं भूतभाग ही कर्म की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव भाष्यों के ये तीनों ही योग 'कर्मयोग' ही बन जाते हैं। कर्मप्रधानात्मक ये तीनों ही योग योग-क्षेम के कारण बनते हुए भी आत्मतृप्ति के विघातक बनते हुए अयोग ही हैं। कारण स्पष्ट है। आत्मा की तीनों कलाएँ पूर्ण हैं नित्य हैं। उधर प्राकृतिक योग से आने वाले ज्ञान-क्रिया अर्थ तीनों ही प्रकम गुणत्रयी के सम्बन्ध से द्वन्द्वभाव में परिणत होते हुए दूसरे शब्दों में द्वन्द्वभाव के प्रवर्तक बनते हुए विषम हैं।

१८-त्रिगुणभावापन्ना परात्मिका योगमायारूपिणी प्रकृति तदनुगता गुणात्मिका योगत्रयी, एवं इत्थंभूता योगत्रयी का बन्धनप्रवर्त्तकत्व—

पाठकों को स्मरण होगा कि, इसने प्राकृतिक-योगत्रयी का सम्बन्ध त्रिगुणात्मिका योगमाया से ही बतलाया है। साथ ही वहीं परभाव का इस योगमाया का अनुबन्धी बतलाया गया है। क्योंकि योगमाया ही त्रिगुणात्मिका अतएव द्वन्द्वमायाक्रान्त भी सब ज्ञान-क्रिया-अर्थमय विश्व की प्रतिष्ठा है। फलतः यह प्राकृतिकी-योगत्रयी कर्म-(अर्थ)-प्रधाना ही बन जाती है। कर्म की प्रधानता से विश्वानुबन्धी ज्ञान-क्रिया अर्थ-तीनों ही आत्मविरोधी बन गए हैं। इनके सम्बन्ध से प्रत्यगात्मलक्षण-सम्बन्धविभाग उत्तरोत्तर आवृत ही होता रहता है। अतएव इस प्राकृतिकी अर्थप्रधाना योगमायानुगता योगत्रयी को हम केवल 'कर्मयोग' ही कहेंगे एवं इस आत्मा के आवरक होने के कारण साथ ही विशुद्धि के अभ्यासात्मा के साथ सहज बाल स्वाभाविक योग को लुप्त करने के कारण इसे अयोग ही कहेंगे।

१९-अव्यक्त प्रवृत्तानुबन्धी शास्त्रसिद्ध तीन योग शास्त्रीय योगों का गुणात्मक वितान एवं शास्त्रसिद्ध भी गुणात्मक योगों का आत्मस्वरूपानुगत आत्यन्तिक-विषमत्व, अतएव अनुपादेयत्व—

शास्त्र ने किया क्या? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—एक ही योग से आत्मा को (शारीरक आत्मा को) ईश्वर रूपे प्रवृत्तानुगामी बनाना। शास्त्रसिद्ध ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों ही शारीरक आत्मा के उपकारक बन गए। परन्तु भगवान की दृष्टि से ये शास्त्रसिद्ध योग भी अयोग ही रहे। कारण स्पष्ट है। क्योंकि ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों ही त्रिगुणात्मक भाव से सर्वथा मुक्त न रहे। क्योंकि शास्त्रसिद्ध ज्ञान ... सर्वथा ... योग नहीं है। यम-नियम-आसन प्राणायाम आदि ... सत्ता ... प्रत्याहार ... एक कर्म ... ही विहित है। परन्तु ये सब कर्म ... के ... ही हैं। स्पष्ट है

कर्मों की या कर्मनिष्ठा की उपेक्षा करने वाले ये ज्ञाननिष्ठ निवृत्तिपरायण बनते हुए सम्यक् हैं ज्ञानानुगामी हैं। इसमें सम्यक् प्राणानुबन्धी ज्ञान प्रधान बना हुआ है एवं व्यक्त कर्मानुबन्धी कर्म नहीं के समान है। नहीं के समान इसलिए कहना पड़ता है कि सम्यक्-ज्ञानानुगामी ज्ञानयोगी को भी शरीरयात्रानुबन्धी व्यक्त कर्म (भोजन, शयन-शौचादि) तो प्रत्येक दशा में करने ही पड़ते हैं। इन कर्मों के परित्याग से तो शरीरयात्रा (जीवन) ही सम्भव नहीं है—"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः"। इसप्रकार व्यावहारिक दृष्टि से इस कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में भी व्यक्त कर्मों का संग्रह आवश्यक है। परन्तु इनका उद्देश्य केवल 'हम जीवित रहें' ('पञ्चत्वमप्रसङ्गात्'), यही है। ऐसे ज्ञानयोगी से संसार का कोई उपकार सम्भव नहीं है। अतएव भगवान् की दृष्टि में यह ज्ञानयोग एकान्ततः अनुपादेय ही है।

२०—त्रिगुणात्मिका शास्त्रसिद्धापि वेदत्रयी में भगवान् के द्वारा विशुद्धीकरणात्मक संशोधन एवं शब्दप्रमाणात्मक निर्भ्रान्त आप्तप्रमाणस्वरूप शास्त्र प्रामाण्य के सम्बन्ध में महती समस्या—

पूर्व प्रकरणों में हमने अनेक स्थानों में यह स्पष्ट किया है कि, भगवान् शास्त्रसिद्धा वेदत्रयी में संशोधन चाहते हैं। इस "संशोधन" शब्द का यही तात्पर्य निकलता है कि, शास्त्र ने कुछ भूल कर दी थी, उस भूल का ही भगवान् ने संशोधन किया है। यदि यह बात सच है तो भारतीय धर्माचार्यों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में-"आप्तोपदेशः शब्दः"-शब्दप्रमाणलक्षण, "यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" इस आस्तिकों का मानसिद्धान्त भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता। आर्यजाति का सर्वस्व तत्त्व शब्दप्रमाण पर ही निर्भर है। उन की दृष्टि में शास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त है, अतएव उसका अक्षर अक्षर उन्हें मान्य है। यदि इन्हीं में आद्योपान्त में भी भ्रान्ति होती तो भगवान् के मुख से कभी निःसन्देह भाव से 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' ये अक्षर नहीं निकलते। फिर हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि शास्त्रसिद्धा वेदत्रयी का भगवान् संशोधन चाहते हैं? अथवा शास्त्रों में जो भूल रह गई थी, उस का भगवान् उसीप्रकार संशोधन आवश्यक समझते हैं जैसेकि वार्तिककार सूत्रकार के सिद्धान्त में "परा प्रतिपन्ना वाक्य" यह संशोधन आवश्यक समझते हैं।

२१—सुप्त भय विकम्पन-भय से विकम्पित गतानुगतिक व्याख्याताओं के द्वारा शास्त्र मान्यता का संरक्षणानुरोध से गीता के १८ अध्यायों का त्रिधा वर्गीकरण प्रयास—

अवश्य ही गीताप्रतिपादित वेदत्रयी के सम्बन्ध में यह एक कठिनतमा समस्या है। समस्या ऐसी गुरु है कि प्राचीन व्याख्याताओं में से किसी ने भी इस गुत्थी को सुलझाना (छेड़ना) उचित नहीं समझा। अपितु शास्त्रमर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने यही मान लेने में कल्याण समझा कि वेदशास्त्र के जिस आद्यभाग में कर्मयोग का, मध्य ब्राह्मणभाग में भक्तियोग का एवं उपनिषद् भाग में ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है, भगवान् ने एक ही गीताशास्त्र में ६-६-६ अध्यायों के क्रम से क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों योगों का समन्वय कर दिया है और यही गीता का 'सर्वशास्त्रमयत्व' है।

२२–गीताव्याख्याताओं की परस्परात्यन्तविरुद्धा ज्ञान-कर्म्म भक्ति-प्रधाना व्याख्याओं की अहमहमिका

अधिक से अधिक व्याख्याताओंनें गीता को त्रिमार्गानुगामिनी मान कर विश्राम कर लिया। कुछ एक व्याख्याताओंनें तो यह सिद्ध किया कि गीता में यद्यपि प्रधानता ज्ञानयोग की ही है अथ से इति पर्य्यन्त गीता कर्म्मसंन्यासलक्षण उपनिषत्सिद्ध, नि भयसमापक ज्ञानयोग को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाती है। तथापि लोकमर्याद की रक्षा के लिए सामान्य अधिकारियों के लिए भगवान् ने गौणरूप से कर्म्म-मार्ग एवं भक्तिमार्ग का भी दिग्दर्शन करा दिया है। कुछ एक भागवत ज्ञानकर्म्म को गौण मानते हुए गीता को भक्तिप्रधान ग्रन्थ ही कहते हैं। एवं कुछ एक अर्वाचीन महानुभाव ज्ञान-भक्ति को गौण मानते हुए इसे कर्म्मयोगशास्त्र ही मान रहे हैं।

२३–ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-भावों में अभिनिविष्ट साम्प्रदायिक-व्याख्याता एवं समन्वय-कौशल के अनुगामी महामहिम महामाहेश्वर श्रीअभिनवगुप्ताचार्य्य—

यह स्मरण रखने की बात है कि गीता के प्रायः सभी व्याख्याता श्रीशङ्कराचार्य्य का अनुगमन करते हुए ज्ञानयोग पर ही विशेष पक्षप्रयोग कर रहे हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय के जितने भी आचार्य हैं वे सब शङ्करव्याख्या से विरुद्ध भक्तियोग की ही स्थापना कर रहे हैं। इसप्रकार शास्त्रसिद्ध सम्प्रदाय की दृष्टि से ज्ञान योग–भक्तियोग गीता के ये दो ही मुख्य सिद्धान्त बन गए हैं। केवल महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य्य ने ही गीता में ज्ञान–भक्ति कर्म्म इन तीनों का समन्वय माना है। "गीता विशुद्ध कर्म्मयोगशास्त्र है इस सिद्धान्त का प्राचीन व्याख्याओं में सर्वथा अभाव ही है। यह सिद्धान्त तो सर्वथा अर्वाचीन अतएव उपहसनीय ही है जैसाकि भूमिका-प्रथमखण्ड में नामर्मीमांसान्तर्गत उपनिषच्छब्दरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२४–शास्त्रनिष्ठासंरक्षण के लिए आतुर गीताव्याख्याता एवं गीताक्षरों के माध्यम से ही गीताव्याख्याताओं की मान्यता का शैथिल्य—

तात्पर्य्य कहने का यही है कि शास्त्रनिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए गीता के व्याख्याताओंनें नत-मस्तक होकर यही मान लेने में अभ्युदय समझा कि गीता शास्त्रसिद्ध मार्गत्रयी का अथवा तीनों में से किसी एक मार्ग का ही प्रधानरूप से निरूपण कर रही है। परन्तु जब स्वयं गीता के अक्षरों के आधार पर हम गीतासिद्धान्त का अन्वेषण करने चलते हैं तो हमें गीता के उक्त सिद्धान्त सर्वात्मना शून्य शून्य ही (निरे खोखले ही) प्रतीत होने लगते हैं जैसाकि आगे के • बुद्धियोगपरीक्षा-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है •।

• गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-गीताभूमिकान्तर्गत–भाष्यकी मुख्यमुख–बुद्धियोगपरीक्षा पुनस्वतन्त्र प्रकाशित हुआ है प्रस्तुत भक्तियोगपरीक्षा से पूर्व ही।

२५–शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठा के सम्बन्ध में भ्रममूलक धारणा, तन्निराकरण प्रयास, एवं गीता की शास्त्रनिष्ठा का समन्वय—

क्या हम शास्त्रनिष्ठा के विरोधी हैं ? क्या शास्त्र हमारी दृष्टि में भ्रान्त है ?। शिव ! शिव !! शब्द अस्त्यम् !!! शान्तम्पापम् !!!! शास्त्र के सम्बन्ध में ऐसे अक्षर निकलना भी अपने आप को प्रायश्चित्त का भागी बना लेना है। शास्त्र का अक्षर अक्षर हमारे लिए मान्य है। आप ही सांख्यनिष्ठा के प्रवर्तक कपिल भी हमारे आराध्य हैं। स्वयं भगवान् ने "सिद्धानां कपिलो मुनिः" कहते हुए कपिल के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की है। उधर विविदिषोदित भक्तिनिष्ठा के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ महर्षि भी हमारे लिए परमतुल्य ही मान्य हैं। कर्मयोगनिष्ठा के मूलप्रवर्तक स्वायम्भू मनु भी हमारी श्रद्धा के अनन्यभाजन हैं। फिर हम कैसे इनके सिद्धान्तों को भ्रान्त बतलाने का दुस्साहस कर सकते हैं। जब हम यह दुस्साहस नहीं करसकते तो फिर यह भी किस आधार पर कह सकते हैं कि "गीता ने शास्त्रसिद्ध योगत्रयी का संशोधन किया है"। निर्भ्रान्त शास्त्र की निर्भ्रान्ता योगत्रयी में संशोधन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?।

२६–श्रुति स्मृति–भेदसे द्विधा विभक्त शास्त्र, शास्त्र की स्वतःप्रमाण परतःप्रमाण–भेदभिन्ना द्विविधा प्रवृत्ति, निर्भ्रान्त वेदशास्त्र और स्मृतिशास्त्र की पुरुषधर्म–निबन्धना–भ्रान्ति—

यही वह विप्रतिपत्ति है जिसकी विभीषिका से ही व्याख्याता आज पर्यन्त तटस्थ ही बनते आरहे हैं। एवं जिस तटस्थता से ही गीता का वास्तविक मर्म अवश्य सर्वात्मना तिरोहित हो रहा है। "शास्त्र" को हम सबसे पहिले दो भागों में विभक्त करते हैं। पहिला विभाग "श्रुतिशास्त्र" है एवं दूसरा विभाग 'स्मृतिशास्त्र' है। वेदशास्त्र श्रुतिशास्त्र है एवं वेदातिरिक्त, किन्तु वेदार्थानुगामी अतएव वेद से अविरुद्ध इतर सम्पूर्ण शास्त्रों का समूह स्मृतिशास्त्र है। वेदशास्त्र अपौरुषेय होने से एवं ऋषियों की प्रत्यक्षदृष्टि होने से स्वतःप्रमाण है। एवं स्मृतिशास्त्र पौरुषेय होने से एवं ऋषियों की अनुमानदृष्टि होने से परतःप्रमाण है। अनुमानप्रमाण प्रधान स्मृतिशास्त्रों में यदि कोई वाक्य वेदशास्त्र का विरोधी है तो वह सर्वथा त्याज्य है। साथ ही यह भी निश्चित है कि मानवज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्मृतिशास्त्र कदापि एकान्ततः निर्भ्रान्त नहीं बन सकता। अवश्य ही उसमें कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जाती है। सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान ही सर्वात्मना निर्भ्रान्त होसकता है। वेदशास्त्र सर्वज्ञ ईश्वर की वाणी है, अतएव केवल वेदशास्त्र ही निर्भ्रान्त होसकता है। वेदशास्त्र के आधार पर निर्मित मानवज्ञान–सम्बन्धी स्मृतिशास्त्र तो सामयिक परिस्थिति का अनुगामी बनता हुआ सदा के लिए कदापि निर्भ्रान्त नहीं माना जा–सकता।

२७–सामान्य धर्म्म–प्रतिपादक वेदशास्त्र एवं विशेषधर्म्म–प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र, तथा वेदमूलक स्मृतिशास्त्र का प्रामाण्य और वेदविरुद्ध स्मृतियों का अप्रामाण्य—

वेदशास्त्र जहाँ सामान्यधर्म्म का प्रतिपादक है, वहाँ स्मृतिशास्त्र विशेषधर्म्मों का प्रचारक है। अवश्य ही वेदानुगत स्मृतिशास्त्र की स्वप्रतिपाद्य विशेषधर्म्मों के साथ साथ वेदप्रतिपाद्य सामान्यधर्म्म

का भी आदर करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में—इसे अपने विशेषधर्म की प्रामाणिकता के लिए सामान्यधर्म की भी प्रमाणिकता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिए स्मृतिशास्त्र का यह भी एक आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि देश—काल—पात्र—द्रव्य—श्रद्धा के तारतम्य से विशेषधर्मों के परिवर्त्तन के विधान के साथ साथ इसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं वेदसिद्ध सामान्यधर्म (चातुर्वर्ण्यमूलक वर्णाश्रमधर्म) पर तो कोई आघात नहीं होरहा। यदि कोई स्मृतिशास्त्र वेद के इस सामान्यधर्म की उपेक्षा कर विशुद्ध सामयिक प्रवाह में पड़कर धर्म के आत्यन्तिक परिवर्त्तन की कुचेष्टा करता है तो आर्षसाहित्य उसका सर्वात्मना बहिष्कार ही कर देता है जैसाकि निम्न लिखित स्मार्त्त वचन से स्पष्ट है—

> या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय ॥
> सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥१॥
> उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ॥
> तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥२॥
>
> —मनुः १२।९४।९५।

२८ स्मृतियों का अनुगमनीय सुचरित एवं बुद्धिवादात्मक-त्याज्य—दृष्टिकोण तथा तत्सम्बन्ध में तत्त्वसमन्वय—

उक्त शास्त्रदृष्टि के आधार पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि वेदशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त शास्त्र है* एवं मानवज्ञान-सम्बन्धी स्मृतिशास्त्र आंशिकरूप से भ्रान्त बन सकता है। स्मृतिशास्त्र का जो आदेश वेदसम्मत है वह बिना किसी संशोधन के हमें मान्य है। परन्तु मानवसुलभ सहज भ्रमप्रमादमूलक जो सिद्धान्त वेद विरुद्ध है प्रत्येक दशा में वह स्मार्त्त सिद्धान्त तो संशोधन की ही अपेक्षा रखता है। यदि स्मृतिशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त ही होता तो आचरणमूलक उसके लिए वेद हमें कभी यह आदेश न देता कि-'जो हमारे (स्मृतिशास्त्र के वेदशास्त्रसम्मत सुचरित हैं, तुम उन्हीं का अनुगमन करना अन्यों का नहीं' +।

---

* पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षु सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थिति ॥ (मनु १२।९४)।

+ यान्यस्माकं सुचरितानि-तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।
यान्यनवद्यानि कर्म्माणि, तानि त्वया सेवितव्यानि नो इतराणि ॥ (उपनिषत्)

यह भी एक रहस्य की बात है कि यद्यपि विद्याशास्त्र है, एवं स्मृति धर्म्मशास्त्र है। धर्म्म का मौलिक रहस्य विद्या है एवं इस का वेद में प्रतिपादन हुआ है। मौलिकरहस्यानुगत आचरण ही धर्म्म है एवं इस का स्मृति में निरूपण हुआ है। दूसरे शब्दों में भी समझिए कि धर्म्म का धर्म्मत्व बतलाना वेदशास्त्र का काम है, एवं धर्म्म की प्रतिकर्त्तव्यता बतलाना स्मृतिशास्त्र का काम है।

२६–स्मार्त ग्रन्थों की भ्रान्ति के निमित्त दो दृष्टिकोण एवं स्मृतिग्रन्थों के व्याख्याताओं की कल्पना से अनुप्राणित विविध भ्रान्तियाँ—

स्मृतिशास्त्रों की भ्रान्ति के दो स्वरूप हैं। जिन महापुरुषों ने स्मृतिग्रन्थों का निर्माण किया है वे स्वयं भी ज्ञान की सीमा से भ्रान्त हो सकते हैं अथवा 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः' के अनुसार उन से भी त्रुटि हो सकती है। अथवा स्मृतिशास्त्रों के अनुयायी स्मार्त वचनों के वास्तविक तात्पर्य को न समझकर इस प्रकार बुद्धिदोष से भी उन स्मार्त सिद्धान्तों को भ्रान्त बना डालते हैं। उदाहरण के लिए गीताशास्त्र को ही लीजिए। गीताजी ने आत्मसाम्यरूपता की भावना के अभ्यास के लिए 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' यह आदेश दिया है। अब यदि कोई गड्डरी मीमांसक इस वचन का यह तात्पर्य समझने की भूल कर बैठता है कि—'समझदार आदमी के लिए कुत्ते और चाण्डाल में कोई अन्तर नहीं है, उस के लिए तो दोनों समान हैं" इस आदेश से भगवान यही बतलाना चाहते हैं कि, संसार के सार्वभौम एक धरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। परस्पर स्पृश्यास्पृश्य की भावना करने लग पड़ना ढोंग तथा समझना गीता के विरुद्ध है' तो इस से भी सामान्य मनुष्य भ्रान्ति कर बैठते हैं। इस प्रकार स्वयं ग्रन्थकर्त्ता के सहजसिद्ध भ्रमशील-मानवस्वभाव से भी ग्रन्थ में भ्रान्ति सम्भव है एवं तत्सिद्धान्तानुयायी अल्पज्ञ मनुष्यों के द्वारा से (वास्तव में निर्भ्रान्त रहता हुआ भी वह सिद्धान्त) भ्रान्त बन जाता है।

'क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए' इस आचरणमात्र का प्रतिपादक शास्त्र स्मृतिशास्त्र है। 'किस पद्धति से किस उपनिषत् से करना चाहिए' इस मौलिकभाव का प्रतिपादक शास्त्र [illegible] है। गीता यद्यपि सामान्य-परिभाषा के आधार पर स्मृतिशास्त्र ही माना गया है। परन्तु गीता का प्रधान लक्ष्य कर्मेतिकर्तव्यता बतलाना नहीं है। क्या 'करना चाहिए' क्या नहीं करना चाहिए' यह लक्ष्य नहीं है। अपितु वेदशास्त्रोक्त कर्मकलाप का मौलिक रहस्य बतलाते हुए उस की रहस्याभिधा उपनिषत् (मौलिक-उपपत्ति) बतलाना ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अपने इसी मौलिक विचार के कारण गीता स्मृति होती हुई भी 'उपनिषत्' (पद) कहलाती है एवं अपनी इसी अपूर्वता के कारण यह ईश्वरविज्ञानशास्त्र–आर्षेयत्व वेदशास्त्र के समकक्ष मान लिया गया है। इस प्रसङ्ग में प्रकृत में हमें यही कहना है कि 'यान्यस्माकं सुचरितानि' इत्यादि श्रुति का 'सुचरितानि' पद स्मृतिशास्त्र की ओर ही संकेत कर रहा है। ऐसा मानने के दो कारण हैं। आचरण ही सुचरित से अभिप्रेत है। एवं आचरण ही कर्मेतिकर्तव्यता है। यह इतिकर्तव्यता स्मृतिशास्त्र में ही प्रधान लक्ष्य रखती है। दूसरा कारण यह है कि, वेदशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त है। उस की भाषा में—"यह मान्य, यह अमान्य" इस द्वैधीभाव का समावेश असम्भव है। इसीलिए महर्षियों का यह निर्णय युक्तिसङ्गत है कि 'जहाँ श्रुतियों में परस्पर विरोध आवे वहाँ दोनों ही प्रमाण हैं"। यह निर्णय तभी मान्य बन सकता है जब कि श्रुति को सब प्रकार से निर्भ्रान्त ही मान लिया जाय। ऐसी दशा में 'नो इतराणि' वाक्य का स्मृतिशास्त्र पर ही पर्यवसान मानना शास्त्र, एवं युक्तिसम्मत सिद्ध होता है। इसीलिए हमने इन वचनों को स्मृतिशास्त्रपरक ही माना है।

३०—वेदाभिमता योगत्रयी के सम्बन्ध में स्मृतिग्रन्थ, एवं स्मृत्यनुगता योगत्रयी के भ्रान्त दृष्टिकोण का दिग्दर्शन—

अब हमें विचार यह करना है कि स्मार्त ग्रन्थों में वेदाभिमता जिस योगत्रयी का निरूपण हुआ है उस का कौनसा अंश भ्रान्त है ? एवं भगवान् ने उस का किस रूप से संशोधन किया है ? । सब से पहिले तो उस योगत्रयी का ही विचार अपेक्षित है जिस का कि स्वत:प्रमाणभूत अतएव निर्भ्रान्त वेदशास्त्र से सम्बन्ध है । वेदशास्त्र जब निर्भ्रान्त है तो तत्सम्मता योगत्रयी भी निर्भ्रान्ता ही होनी चाहिए, और वास्तव में ऐसा है भी । तदनुगामिनी भक्तिभाग का स्वरूप है ?, इस प्रश्न का समाधान तो अगले प्रकरणों में होगा । अभी तो केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि वेद का ब्राह्मणभाग कर्म्मनिष्ठा का प्रतिपादक है, वेद का आरण्यक भाग भक्तिनिष्ठा का समर्थक है एवं उपनिषद्भाग ज्ञाननिष्ठा का अनुमोदक है ।

३१—वेद के ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मयोग के सम्बन्ध में मानव की त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति, तथा त्रिगुणातीता निवृत्ति का स्वरूप समन्वय एवं प्रवृत्ति निवृत्ति भावद्वयात्मक ब्राह्मणवेद—

तीनों में से पहिले ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मकाण्ड का ही विचार कीजिए । वेद एक प्रकृतिसिद्ध सनातन-शास्त्र है । योगमाया के गर्भ में रहने वाले त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त मानवसमाज के अभ्युदय के लिए प्रवृत्त वेदशास्त्र स्वाभाविक प्रवृत्ति की एकान्ततः उपेक्षा नहीं कर सकता । संसार में रहने वाले योगमाया-परवश मनुष्य स्वभाव से ही वैभवों की ओर आकर्षित बने रहते हैं—'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' । पुत्र-लोक-वित्त-एषणाओं में किस मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है ? । स्वर्गादि सुख कौन नहीं चाहता ? । जो व्यक्ति अहरहः लोकसम्पत्ति की ओर मुग्ध रहता है उसे यदि सहसा यह कह दिया जाय कि 'तुम किसी फल की कामना न रखते हुए कर्म्म करो' तो असम्भव है इस आदेश का अनुगामी सहस्रों में से कोई सा ही व्यक्ति बन सकेगा । जबतक सिद्धान्त व्यवहार में न आवे तबतक उसका मूल्य ही क्या है ? । और ऐसे अव्यवहार्य्य अथवा क्वाचित्क सिद्धान्त का उपदेश देने वाले उस शास्त्र का महत्त्व ही क्या है ? । वेद जब स्थिरीय ज्ञान है तो उस में वैसी शक्ति होनी ही चाहिए कि वह प्रकृतिसम्पत्ति की, मानव-समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रश्रय देता हुआ ही क्रमशः उसे अभ्युदय निःश्रेयस् की ओर ले जाय । एकमात्र इसी लक्ष्यसिद्धि के लिए वेद ने अपने कर्म्मकाण्ड को प्रवृत्ति-निवृत्ति के भेद से दो भागों में विभक्त किया । कामनामय कर्म्मों का भी विधान किया एवं निष्कामकर्म्मों का भी स्पष्टीकरण किया ।

३२—वेद के उपनिषद्भाग के सम्बन्ध में वेदान्ताभिनिविष्टों की मान्यता, तदनुगामिनी विडम्बना एवं 'बृहदारण्यकोपनिषत्' आदि व्यवहारमूलक-तथ्य का समन्वय प्रयास—

वेदान्त-शास्त्राभिनिविष्टों ने समझ रक्खा है कि वेद का उपनिषद्-भाग ही निवृत्तिमार्ग का उपदेश देता है ब्राह्मणभाग तो केवल प्रवृत्ति-प्रधान ही है । परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि कर्म्मकाण्ड के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण के जिस काण्ड में प्रवृत्तिमार्ग का निरूपण करते हैं वहीं कर्म्मप्रतिपादक इसी ब्राह्मण

का चौथा भाग निवृत्तिमार्ग का ही विधान कर रहा है। सब से बड़ा चमत्कार तो यह है कि शतपथ का यह अन्तिम भाग ही आरण्यक में आकर उसी वेदान्तसम्प्रदाय में 'बृहदारण्यकोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। कर्म भक्ति-ज्ञान का पार्थक्य वहाँ है ही नहीं। जब की दृष्टि से जो कर्म है, वही भक्ति है। वही ज्ञान है, वही योग है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए महर्षि ने केवल शतपथ ब्राह्मण में ही तीनों का समन्वय कर दिया है।

३८—सम्पुगानुगता भक्ति का उपनिषद् के ज्ञानभाग में अन्तर्भाव, अतएव भक्तियोग के स्वतन्त्र व्यवहार का अनवसर—

इस सम्बन्ध में भी कुछ वक्तव्य है। भक्तिमार्ग ज्ञान कर्म से पृथक् नहीं बनता। इसीलिए भक्तिप्रतिपादक आरण्यक, एवं ज्ञानप्रतिपादक उपनिषत् दोनों का एकत्र ग्रहण कर लिया गया है क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषत् आदि इस व्यवहार से सिद्ध है। यही कारण है कि सम्प्रदायविनी निष्ठायें आगे जाकर दो ही निष्ठाओं में परिणत हो गई है। तीसरी भक्तिनिष्ठा का ज्ञानयोग में ही अन्तर्भाव हो गया है।

३९—आगमसमारोक्त-प्रकृतिनिबन्धन-गुणात्मक-प्रवृत्तिमूलक कर्म्मों की उपयोगिता का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं श्रीमद्‌भगवद्गीता के द्वारा तत्कर्म्म माध्यम से असुर-पराभव—

इसप्रकार कर्मप्रतिपादक आगमशास्त्रों में प्रवृत्तिकर्म्म-निवृत्तिकर्म्म (जिसे कि गीतापरिभाषा में निष्कामकर्म्म कहा जाता है) दोनों का ही निरूपण हुआ है। प्रवृत्तिकर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि जब प्रवृत्ति स्वाभाविकी है तो उस का विधान करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? उत्तर स्पष्ट है। प्रवृत्ति का भाव नियत नियमनसूत्र है नियत व्यवस्था है। यही सूत्र 'प्रवृत्ति' है। यदि प्रकृतिमूलक मनुष्य प्रकृति के अनुसार कर्म्म करेगा तो उस की प्रवृत्ति सरल होगी एवं प्रकृत्यनुकूला वैसी स्थिति विरुद्ध अशान्ति का भी कारण नहीं बनेगी। उधर प्रकृति-विरुद्ध कर्मों में प्रवृत्त रहने वाले व्यक्ति के कर्म्म में सफलता भी अनिश्चित होगी, यदि सफलता हो भी जायगी, तो यह प्रकृति से विरुद्ध जाती हुई दैवासिक विरुद्ध के लिए अशान्ति का भी कारण सिद्ध होगी। परमार्थ न सही स्वार्थ तो कम से कम इतना होना हो, जिस में दूसरों की हानि न पहुँचे। इसी प्रयोजन के लिए वेदने प्रवृत्तिकर्म्मों को सुव्यवस्थित करना आवश्यक समझा। और निगुणभावमयी प्रवृत्ति आगमनिर्दिष्ट सद्भाव की व्यवस्थिता न करती हुई भी लोकरक्षा के लिए अवश्य ही अपेक्षित हुई। प्रवृत्तिमूलक इन्हीं यज्ञकर्म्मों से भौमदेवताओंने समय समय पर आसुर बल को परास्त कर विश्व की सुव्यवस्था में सहायता दी यह सर्वविदित ही है।

३५ लोकप्रवृत्ति के समतुलन में शास्त्रप्रवृत्ति का श्रेष्ठत्व एवं आगमसमारोक्त कर्म्मकाण्ड का निर्विरोध-समन्वय—

प्रवृत्तिकर्म्म के साथ साथ ही निवृत्तिकर्म्म का उद्‌घोष करते हुए वेदने यह भी सिद्ध कर दिया कि लोकप्रवृत्ति में जहाँ यह शास्त्रप्रवृत्ति नहीं आती है। परन्तु यहीं तक विश्राम न कर होगा-'आमूलाग्र

रय तु-भाष्यास्ति विद्येन (गत०क्षा)। परम नि श्रेयस तो निवृत्तिभाव पर ही निर्भर है। इसप्रकार सामान्य अधिकारियों के बुद्धिवाद को सुरक्षित रखने से लिए पहिले वेद ने कामनामय अतएव त्रिगुणभावमय कर्म्म-काण्ड का समर्थन किया एवं आगे चाकर औपनिषद् काण्ड में त्रिगुणातीत निवृत्तिप्रधान कर्म्ममार्ग का आदेश दिया। स्वभावस्थतीन्याय से वेद को जो कुछ कहना था कह दिया। यही वेद के ब्राह्मणभाग से सम्मत कर्म्मयोग कहलाया जो कि सर्वथा निर्भ्रान्त है।

३६—कर्म्मानन्तरभावी भक्तिपथ, तथा ज्ञानपथ, एवं औपनिषद्-ज्ञानयोग से अनुप्राणित कर्म्म का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कर्म्म के अनन्तर वेद के सामने भक्तिकाण्ड और ज्ञानकाण्ड आए। इनके लिए इसे आरण्यक एवं उपनिषत् रूप में परिणत होना पड़ा। वेद का भक्तिमार्ग क्योंकि निवृत्तिप्रधान था अतएव पूर्वकथनानुसार आगे चाकर निवृत्तिमूलक औपनिषद् ज्ञानयोग में ही इस का अन्तर्भाव होगया। वेद को आशङ्का थी कि कहीं ज्ञानयोग का अर्थ कर्म्मसंन्यास न समझ लिया जाय। अतएव ज्ञानयोग की प्रतिपादिका पहिली ईशोपनिषत् में ही उसने—'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि'—'न लिप्यते नरे' यह स्पष्ट करते हुए ज्ञानमार्ग में भी कर्म्म की आवश्यकता सूचित करदी।

३७—कर्म्मत्यागाभिमानी ज्ञानवादी वेदान्तियों का कर्म्मोपदेश के सम्बन्ध में अनर्गल प्रवाद एवं तत्सम्बन्ध में कर्म्म की अनिवार्य्यता का उद्घोष —

कर्म्म त्यागाभिमानी कहा करते हैं कि 'यह श्रुति सामान्य अधिकारियों से ही सम्बन्ध रखती है। जो ज्ञानयोग की योग्यता नहीं रखते उन्हें ही कर्म्म का उपदेश दिया गया है। अभिमानी व्याख्याता यह भूल जाते हैं कि वेद का यह कर्त्तव्य तो ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ होरहा है। जो निवृत्तिकर्म्ममूलक ज्ञानयोग की उच्च भूमिका के अधिकारी नहीं हैं उन्हीं के लिए आरण्यक और ब्राह्मण भाग नियत हैं। जब यह लक्ष्य पूर्वभागों से गतार्थ है तो फिर उपनिषत्-सम्बन्धी कर्म्मवचन को उधर खींचना कैसे सङ्गत होसकता है?'। अवश्य ही औपनिषद् ज्ञानयोग का यही तात्पर्य्य मानना पड़ेगा कि ज्ञानयोग में भी कर्म्म का अनुष्ठान किया जाय परन्तु बल कर्त्तृत्व बुद्धि से फलकामासक्ति छोड़ कर।

३८—उपनिषदों की आवश्यकता के सम्बन्ध में एक प्रश्न, एवं तन्निराकरण-प्रयास —

पाठक यह प्रश्न करेंगे कि जब ज्ञानयोग का यही तात्पर्य्य है—कि निष्कामबुद्ध्या कर्म्म करना तो उपनिषत् की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि पूर्वकथनानुसार यह काम तो वेदोक्त ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ है। जब ब्राह्मणभागने प्रवृत्ति के साथ साथ निवृत्तिकर्म्म का भी उपदेश दे दिया एवं निवृत्तिकर्म्म ही का नाम जब ज्ञानयोग है तो उस अवस्था में उपनिषत्'भाग तो सर्वथा निरर्थक ही होजाता है।

३९ ब्राह्मणभागोक्ता कर्म्म-भक्ति-ज्ञान त्रयी का स्वरूप-समन्वय, तन्मूला त्रिविधा निष्ठा, एवं सर्वात्म एवं तदन्त्र अभ्यर्थेश्वरसम्मत 'बुद्धियोग' —

यही विप्रतिपत्ति उस रहस्यात्मक बीज बुद्धियोग का स्पष्टीकरण कर रही है जिसका कि हम आरम्भ में ही यशोगान करते आरहे हैं। ब्राह्मणभागागत प्रवृत्तिमूलक कर्म्म कर्म्मयोग है, ब्राह्मणभागात निवृत्तिमूलक

निष्प्रपञ्चकर्म ज्ञानयोग है, अव्ययकर्मात्मा उपासना भक्तियोग है एवं उपनिषद्युक्त, कर्म-परिग्रहलक्षण रागद्वेषवियुक्त ज्ञानयोग अथवा बुद्धियोग है। लेप का रागद्वेष से सम्बन्ध है। यद्यपि बुद्धियोगलक्षण औपनिषद ज्ञानयोग में किंवा ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग में रागद्वेष का अभाव है, वैराग्य का समावेश है, अतएव यह बुद्धियोगलक्षण 'योग' ही कर्मों में (ज्ञानयोग प्रवृत्तिमूलक कर्मों में) वैराग्य समन्वय हुआ स्वयं सम्पन्न है। उपनिषत् की निम्न लिखित श्रुति इसी रहस्यमय बुद्धियोग का विश्लेषण कर रही है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
—ईशोपनिषत्

४०—तत्सम्मत वैराग्यबुद्धियोग का संस्मरण—

'यन्मतिः सा गतिः' इस सिद्धान्त के अनुसार कर्म का अन्तिम भागरूप, अतएव 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध उपनिषच्छास्त्र प्रत्येक बुद्धिमान् को यही शिक्षण करता है कि तुम प्रवृत्तिमूलक आत्मकर्मात्मक कर्मयोग का यदि बुद्धियोग के समावेश से अनुष्ठान करोगे तो तुम्हारा यह कर्मयोग 'कर्मबुद्धियोग' बन जायगा। निवृत्तिलक्षण कर्मयोग (जिसे कि हम ज्ञानयोग कहेंगे) में बुद्धियोग के समावेश से यह "ज्ञानबुद्धियोग" बन जायगा। एवं आत्मनिष्ठ-सम्बन्ध भक्तियोग में बुद्धियोग के समावेश से यह 'ऐश्वर्यबुद्धियोग' बन जायगा। इसप्रकार तीनों का किंवा दोनों निष्ठाओं का पार्थक्य हट जायगा एवं समान रह जायगा केवल समसमत्व-बुद्धियोगनिष्ठा का किंवा वैराग्यबुद्धियोग का।

४१—क्षरानुगत कर्मयोग, अक्षरानुगत ज्ञानयोग, ऐश्वर्यानुगत भक्तियोग, एवं अव्ययानुगत बुद्धियोग तथा शास्त्रसिद्ध-योगानुगता कर्म-ज्ञान-भक्ति-बुद्धि-भेद भिन्ना योगचतुष्टयी का संस्मरण—

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, वैदिक इन चारों निष्ठाओं में कर्मबुद्धियोगनिष्ठा में (कर्मयोग में) क्षरात्मक विश्व की, दूसरे शब्दों में क्षरप्रपञ्च की ही प्रधानता है, अतएव इसे हम 'क्षरयोग' (क्षरात्मा) कहलाते हैं। ज्ञानबुद्धियोगनिष्ठा में (ज्ञानयोग में) निराकारप्रभाविष्ठाता अक्षर की प्रधानता है, अत एव इसे हम अक्षरयोग (अव्यक्तयोग) कह सकते हैं। ऐश्वर्यबुद्धियोगनिष्ठा में क्षराक्षर, एवं अव्ययेश्वर का समन्वय है, अतएव इसे हम ऐश्वर्ययोग कह सकते हैं। यद्यपि भक्तिमें स्वाभाविकरूप से अव्ययलक्षणा भक्तिनिष्ठा भी का सम्बन्ध है, अतएव तीनों की अपेक्षा इसे उत्कृष्ट भी माना गया है, अतएव इस का उपनिषत् में समन्वय भी माना गया है, तथापि क्षरकर्म के समन्वय से यह विशुद्ध भक्तिनिष्ठा नहीं है। उधर उपनिषत् से सम्मिश्र चौथे वैराग्ययोग में कर्म भी अव्ययानुगत है, तथा ज्ञान भी अव्ययानुवर्ती ही है। गीताशास्त्रानुसार "अहं" शब्द अव्यय का ही वाचक है, अतएव इस चौथे योग को हम 'अहंनिष्ठा' (अव्ययनिष्ठा—"मे मतम्" (अव्ययमतम्) कह सकते हैं। इसप्रकार चारों दृष्टियों से विचार करने पर निष्कर्षतः वेदशास्त्र में उसीप्रकार चार योगों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसे कि निरूपित गीता अनुसार हो चुकी हुई है।

४२-वेदसम्मता योगचतुष्टयी, वैराग्यबुद्धियोगगर्भिता संशोधिता निर्भ्रान्ता योगत्रयी एवं प्रामाणिक-शास्त्रों का संस्मरण—

वेदसम्मता यह योगचतुष्टयी किंवा दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोगगर्भिता योगत्रयी ही निर्भ्रान्ता योगत्रयी है। इस में संशोधन अणुमात्र भी अपेक्षित नहीं है एवं इस दृष्टि से गीताशास्त्र किसी अपूर्वयोग का निरूपण नहीं कर रहा। इसी दृष्टि को लक्ष्य बना कर भगवान् ने 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' कहा है। गीता का शास्त्र शब्द प्रधानरूप से वेदशास्त्र का संग्राहक बनता हुआ वेदसम्मत वेदान्तशास्त्र (शारीरकशास्त्र) मनुस्मृति एवं आगे आगे भी वेदाविरोधी नियम्यादि शास्त्रों का अनुमोदक बन रहा है।

४३-श्रुतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी चतुष्काण्डा—

१—प्रवर्त्त वैदिक कर्म्म——आत्मपरयोग——कर्म्मयोग	—१	बुद्धियोग
२—निवृत्त वैदिक कर्म्म——अव्यक्तापरयोग——ज्ञानयोगः		
३—अव्ययानुगता भक्ति——व्यक्त अतीतयोग——भक्तियोगः	—२	
४ अव्ययानुगते ज्ञानकर्म्मणी-पुरुषोत्तमयोग——बुद्धियोगः	—३	

४४-प्रकारान्तरेणश्रुतिशास्त्रसिद्धा योगचतुष्टयी, योगत्रयी वा

१—कर्म्मयोग—धर्म्मबुद्धियोगः—ब्राह्मणभागसिद्ध	ब्राह्मणयोग	१
२—ज्ञानयोग—ज्ञानबुद्धियोग——आरण्यकभागसिद्धः		
३—भक्तियोग—ऐश्वर्य्यबुद्धियोग— ब्राह्मणभागसिद्ध	आरण्यकयोग	२
४—बुद्धियोगः—वैराग्यबुद्धियोग—उपनिषद्भागसिद्ध	उपनिषद्योग	३

४५–'शतपथ' के आधार पर प्रतिष्ठित 'कर्त्तव्यवेद' के सुप्रसिद्ध तीन ग्रन्थ-संस्थान एवं तीनों संस्थानों के द्वारा कर्म्म-उपासना-ज्ञान का स्वरूप-उपवर्णन—

उक्त विभाग-चतुष्टयी के सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि वेदशास्त्र की दृष्टि से तीन के स्थान में चार योग थे तो उसका यह कर्त्तव्यात्मक भाग चार भागों में विभक्त क्यों नहीं माना गया ?। कर्त्तव्यवेद के ब्राह्मण–आरण्यक उपनिषत् ये तीन भाग ही प्रसिद्ध हैं। एवं सामान्य प्रश्न के अनुसार भी तीनों क्रमशः कर्म्म–उपासना–ज्ञान के ही प्रतिपादक माने गये हैं। फिर यह चौथा 'बुद्धियोग' कहाँ से आ गया ? और आ भी गया तो इसके लिए वेद का एक स्वतन्त्र काण्ड और क्यों न हुआ ?।

४६–बुद्धियोग-निबन्धन स्वतन्त्र काण्ड के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। पञ्चम के 'ज्ञानयोग परीक्षाप्रकरण' में भी प्रकारान्तर से इस विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन कर दिया गया है एवं साथ ही रूपान्तर से वहीं समाधान भी कर दिया गया है। यहाँ एक दूसरी दृष्टि से यह विप्रतिपत्ति हमारे सामने आई है। बात वास्तव में यह है कि कर्त्तव्यभागात्मक वेदशास्त्र जीवात्मा का ईश्वरात्मा के साथ योग कराना चाहता है। यह परमात्मा (ईश्वर) एवं शारीरक आत्मा (जीव) दोनों ही सत्य एव आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय के अनुसार त्रिकल हैं। इन्हीं तीनों कलाओं का उन की तीनों कलाओं के साथ योग करा देना ही वेदशास्त्र का मूल उद्देश्य है। वाक्कला का वाक्कला के साथ योग करा देना ही कर्म्मयोग है। प्राण का प्राण के साथ योग करा देना ही भक्तियोग है। एवं मनका मन के साथ योग करा देना ही ज्ञानयोग है। एवं इस दृष्टि से तीन ही योग बनते हैं। इसी प्रकृतिसिद्धा विश्वमर्य्यादा की रक्षा के लिए वेद को ब्राह्मण आरण्यक उपनिषत् इन तीन ही भागों में परिणत होना पड़ा है। इसीलिए कर्त्तव्यवेद के भाग 'त्रिकाण्ड' नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

४७–बुद्धियुक्त मन की विज्ञानघनता, तन्निबन्धना योगत्रयी की बुद्धियोगरूपता, एवं विप्रतिपत्ति का आत्यन्तिक-निराकरण—

ये तीनों ही योग यदि सकामभाव से किए जाते हैं तो ये परमात्मा सम्योग से वञ्चित रह जाते हैं। इसके लिए तीसरे उपनिषत्-भागने 'बुद्धियोग' कर्म्माख्यि रूपानिरूप से तीनों के साथ निष्कामभाव का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा। उपनिषत् ने बतलाया कि कर्म्म-ज्ञान भक्ति–तीनों ही विषय आरण्यक–उपनिषत् से किए जाने पर ही सीर्म्मेश्वर बनाते हुए उपयोग बन सकते हैं। कामभाव मन की वृत्ति है एवं निष्कामभाव व्यवसायबुद्धि का व्यापार है। यदि व्यवसायबुद्धि का प्रधान बनाते हुए दूसरे शब्दों में–बुद्धि का मन के साथ योग कराते हुए योगत्रयी का अनुष्ठान किया जायगा तो जीवात्मा संसार समुद्र का तरण करता हुआ लक्ष्यस्थान पर पहुँच जायगा। इसप्रकार उपनिषत्ने स्पष्ट शब्दों में बुद्धियोग की घोषणा की और आदेश दिया कि, तुम्हारा कर्म्म तुम्हारी भक्ति एवं तुम्हारा ज्ञान तभी सफल है जब कि तुम विज्ञानवान (बुद्धियोगी) बन जाओ।

४८–रथ-रथी प्रग्रह मार्ग-यात्रा आदि से समन्वित कर्त्तव्यपथ का संस्मरण, एवं तत्-सम्बन्ध में महर्षि कठ के उद्गार—

शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित 'रथी' आत्मा (शारीरक आत्मा) को प्रत्यगात्मा पर पहुँचना है। इन्द्रियाश्व का प्रग्रह (लगाम) मन है। 'सारथी' बुद्धि है। यदि सारथी के हाथ में बागडोर है तो घोड़े ठीक मार्ग पर चलते हुए लक्ष्यस्थान पर पहुँचा देते हैं। यदि सारथी प्रमादी रहा तो लगाम (मन) ढीली पड़ जायगी घोड़े बिगड़ जायँगे रथ टूट जायगा रथी घायल होजायगा और यों सबकुछ नष्ट भ्रष्ट ही होजायगा। ऐसी दशा में सारथी का योग (बुद्धियोग) नितान्त अपेक्षित होजाता है। इसी बुद्धियोग का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

य सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ १ ॥
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ २ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ३ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ४ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत् पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ६ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ७ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ८ ॥'

—कठोपनिषत्

४९–प्रत्यगात्मा, तथा शारीरकात्मा की मध्यस्था बुद्धि शारीरकात्म-निबन्धना योगत्रयी एवं प्रत्यगात्मानुबन्धी बुद्धियोग तथा इसके स्वतन्त्र-व्यवहार की अनुपयुक्तता का समन्वय-

प्रत्यगात्मा और शारीरक-आत्मा के मध्य में बुद्धि प्रतिष्ठित है। इसी अवस्था में आत्मा मन के साथ जबतक बुद्धि को न लगाले तबतक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं होसकती। एवं जबतक योगत्रयी सरल नहीं हो-

सकती। उपनिषत् कोई स्वतन्त्र विभाग नहीं है। बुद्धियोग का प्रतिपादक वेदभाग ही उपनिषत् है। योगत्रयी तो ब्राह्मण एवं आरण्यक भाग से ही गतार्थ है। उसके साथ बुद्धि का योग कराने के लिए ही उपनिषत् का प्रवृत्त हुआ है। उपनिषत् को ज्ञानयोग का प्रतिपादक मानना तो सर्वथा भ्रान्ति ही है। निष्कामकर्म ही का नाम जब ज्ञानयोग है और वह जब ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ है तो फिर उसके लिए उपनिषत् की क्या आवश्यकता रह जाती है?। मानना पड़ेगा कि, उपनिषत् तो एक ऐसा विभाग है जिसका तीनों योगों से सम्बन्ध है। इसीलिए ब्राह्मणभाग में भी उपनिषत् का सम्बन्ध देखा जाता है एवं आरण्यक भाग में भी सम्बन्ध पाया जाता है। यद्यपि औपनिषद-बुद्धियोग है तीनों से पृथक् परन्तु तीनों का मूलाधार बना हुआ है। अतएव चतुर्थ काण्ड के स्वतन्त्र व्यवहार का अवसर नहीं आया—इति सर्वं सुस्थम्।

५०—धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य-नामक-योगों की अभिधाओं के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति एवं औपनिषद-बुद्धियोग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र की अपूर्वता, तथा विलक्षणता का समन्वय—

एक विप्रतिपत्ति और। विधायकात्मक उक्त वेदभाग में स्पष्टरूप से धर्म-ज्ञान-ऐश्वर्य-वैराग्य नामक बुद्धियोगों का उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि उपनिषत् में अवश्य ही बुद्धियोग का आभास मिलता है परन्तु स्वरूप से वहां भी स्पष्टीकरण (स्फुट) नहीं हुआ है। इसका क्या कारण?। और किस आधार पर इस विभागचतुष्टयी को प्रामाणिक मान लिया जाय?। इस विप्रतिपत्ति का उत्तर यही हमारा गीताशास्त्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपनिषत् में प्रतिपादित बुद्धियोग एवं अध्यात्मविद्या सर्वथा संकुचित ही रहे। वहां रहस्यभाषा में सूत्ररूप से बड़े ही मधुर से बुद्धियोग एवं अध्यात्मविद्या का निरूपण हुआ है। उसी संक्षेप का विस्तार किया है गीताशास्त्र में गीताशास्त्री भगवान् श्रीकृष्ण ने। हमें तो इस सम्बन्ध में यह भी कह देने में कोई संकोच नहीं होता कि यदि गीता न होती तो वेद का रहस्यपूर्ण बुद्धियोग, एवं अध्यात्मविद्या अविज्ञात ही बने रह जाते। यही कारण है कि वेदनिष्ठ इस मत के लिए भगवान् ने "मम मतम्" कहने में भी कोई संकोच नहीं किया। संक्षिप्त, गुप्ततम, रहस्यपूर्ण राजर्षिसम्प्रदाय में ही परम्परया प्रतिष्ठित वेदयुग के आरम्भ में भगवान् ने ही इसका विस्तार किया। एवं महाभारतकाल में भी भगवान् ने ही इसका पुनरुद्धार किया। इसीलिए यह भगवद्वाणी 'गीता' कहलाई। अनुचित पद का विस्तार हो तो गया है जैसाकि प्रथमखण्डान्तर्गत नाममीमांसाप्रकरण की गीतापद-निरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तथापि यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि आज पुनः गीता का यह रहस्यपूर्ण बुद्धियोग विलुप्त होगया है। क्यों विलुप्त हुआ? इसका कारण पाठक अनुपद में ही सुनेंगे।

५१—योगचतुष्टयी का तत्त्वतः योगत्रयीरूपा निष्ठात्रयी में ही अन्तर्भाव—

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। आत्मा का [illegible] इन चार है यही [illegible] (बुद्धितत्त्व) का अधिष्ठाता है। [illegible] उस [illegible] है यही [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] में भक्तियोग में ज्ञान [illegible] बुद्धि का प्रभाव है। [illegible] आगे [illegible] चार विभागों का [illegible] में ही

ही निष्ठाओं में पर्य्यवसान होगया। व्यक्त-क्षरमूलक प्रावृत्तिकर्म्मात्मक कर्म्मयोग अव्यक्ताक्षरमूलक निवृत्ति-कर्म्मात्मक ज्ञानयोग इन दोनों का कर्म्मत्वेन एक विभाग मान लिया गया। निर्गुण (अव्यय)-मूलक भक्तियोग अव्ययमूलक औपनिषद ज्ञानयोग (बुद्धियोग) दोनों का एक विभाग मान लिया गया।

५८–योगत्रयी के क्षेत्र में संशोधन के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त देवयुगानुगत गीताशास्त्र का संस्मरण—

देवयुगानुगत भक्तिमार्ग में आरम्भकमूला सगुणोपासना का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। अपितु उस आरम्भ की परिस्थिति में 'यस्मात्परम्पराः परः किञ्चनास' इस स्वायम्भुव सिद्धान्त के आधार पर समान प्रसमप्रवाहरूपा निर्गुणोपासना ही प्रचलित थी। यह उपासना निर्गुण अव्ययमलक बुद्धियोग से स्वतन्त्र न थी। अतएव उस युग में भक्तियोग के स्वतन्त्र व्यवहार का अवसर ही नहीं आया। उस पुरायुग में लोक में दो ही निष्ठाएँ प्रचलित थी। अवश्य ही कुछ समय पर्य्यन्त दोनों निष्ठाओं का स्वरूप सुरक्षित रहा। परन्तु कुछ ही समय पीछे दोनों का पार्थक्य कर डाला गया। उसी के संशोधन के लिए उसी देवयुग में गीतोपदेश प्रवृत्त हुआ।

५९–सुप्रसिद्ध धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नाम की चतुर्विधा योगनिष्ठाएँ एवं उन का सुप्रसिद्ध दो निष्ठाओं से ही समतुलन-समन्वय—

इस परिस्थिति को न जानकर यदि कोई मन्दबुद्धि यह कहने का दुस्साहस करें कि-"देवयुगारम्भ में केवल कर्म्म-ज्ञान-निष्ठाएँ ही प्रचलित थी भक्तिनिष्ठा का आरम्भ में अभाव था। पौराणिक समय में ही भक्तिमार्ग का आविर्भाव हुआ है। इसीलिए भगवान् ने पुराकाल में दो ही निष्ठाओं का उल्लेख किया है" तो उसका कोई भी महत्व नहीं है। अवश्य ही ज्ञान-कर्म्मवत् भक्तिनिष्ठा भी प्राचीन ही है। तीनों का आविर्भाव भी समकालिक ही है। केवल निर्गुणोपासना का स्वतन्त्ररूप से व्यवहार करना अनावश्यक समझा गया है। और इसी आधार पर 'लोकेऽस्मिन द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता' यह कहा गया है।

१—	१—प्रवृत्त कर्म्म	(कर्म्मयोगः)—कर्म्म —ब्राह्मणभाग		—कर्म्मनिष्ठा
	२—निवृत्त कर्म्म	(ज्ञानयोगः)—कर्म्म —ब्राह्मणभागः		
२—	३—निर्गुणभक्ति	(भक्तियोगः)—ज्ञानम् —आरण्यकभागः		—बुद्धिनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा)
	४—बुद्धियोगः	(बुद्धियोगः)—ज्ञानम्-उपनिषद्भागः		

५४–वेदसिद्धा काण्डचतुष्टयी, तथा गीतासिद्धा योगचतुष्टयी का सह-समतुलन, वेदोक्ता सविषया योगविभूति का गीता के द्वारा विस्तार एवं प्रवृत्तिमूलक अभ्युदय का संशोधन—

वेदसिद्धा निष्ठाचतुष्टयी एवं गीतासिद्धा निष्ठाचतुष्टयी में कोई अन्तर नहीं है। केवल दो अंशों में गीताशास्त्र वेदशास्त्र की अपेक्षा अपूर्व बना हुआ है। पहिली बात तो यही है कि, वेद के उपनिषद्-भाग में बुद्धियोगात्मिका जिस अध्यात्मनिष्ठा का जहां कहीं ही रहस्यभाषा में बड़े ही संक्षेप से निरूपण हुआ है वहां गीता ने उसे विस्तृतरूप दे दिया है। दूसरी बात ब्राह्मणभागोक्त प्रवृत्तिमूलक कामनामय कर्मयोग से सम्बन्ध रखती है। वेद के ब्राह्मणभागने लोक की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने के लिए जिस प्रवृत्तिमार्ग का आदर किया है भगवान् ने उसे स्वीकार नहीं किया। यह बहुत सम्भव है कि सत्य-त्रेता-युगों में (जब कि मानव समाज की बुद्धि परमार्थ की ओर ही विशेषरूप से झुकी हुई थी) प्रवृत्तिमूलक कर्मकलाप परमार्थभावना को मुख्य मानता हुआ विशेषरूप से अभ्युदय का ही कारण बनता होगा। उस समय के यज्ञ यागादि लोकोपकार की भावना से ही किए जाते होंगे। इसी दृष्टि से वेद का यह आदेश उन युगों के लिए अवश्य ही उपादेय रहा होगा। परन्तु इस कलियुग में जिसमें कि मानवसमाज अत्यन्तस्वार्थपरायण बना रहता है प्रवृत्तिमूलक कर्ममार्ग विशुद्ध स्वार्थमूलक बनता हुआ विश्व की अशान्ति का एवं आत्मपतन का ही कारण बन जाता है। केवल इसी हेतु को मूल मान कर भगवान् ने त्रैगुण्यभावमूलक प्रवृत्तिकर्म्म को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया।

५५–कलियुगानुगता व्यक्तिक-स्वार्थमूला पापात्मिका वृत्ति के मूलोच्छेद पूर्वक ही वेदवादरति का संशोधन एवं लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा निर्योगक्षेम का आदेश—

भगवान का अवतार द्वापर के अन्त में एवं कलि के आरम्भ में हुआ था। तत्कालीन की परिस्थिति महास्वार्थपूर्णा थी। सब अपनी अपनी वैयक्तिकी स्वार्थसिद्धि के प्रयास में ही संलग्न थे। ऐसी दशा में यदि भगवान् उस त्रिगुणभावमय वेदोक्त काम्य कर्म्मों को उपादेय बतला देते तो तत्कालीन मानवसमाज की स्वार्थवृत्ति को अवश्य ही अधिक प्रोत्साहन प्राप्त होजाता। इसलिए भगवान् ने यह आवश्यक समझा कि अब मानव समाज में यह योग्यता नहीं है कि वह लोकोपकार की भावना से प्रवृत्तिकर्म्मानुष्ठान में समर्थ होसके। इसी लोकसंरक्षा के लिए भगवान् को विवश होकर वेदोक्त त्रिगुणकर्म्म के सम्बन्ध में यह कह ही देना पड़ा कि—

> यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
> तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
> त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
> निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

५६–भावुक मानवों की वेदानुगता भ्रान्ति, एवं गीता के ही शब्दों में भ्रान्ति का आमूलचूड़ निराकरण, तथा वैदिक यज्ञ-तपो-दान त्रयी का निष्ठापूर्वक समर्थन—

कितने ही महानुभाव उक्त वचनों के आधार पर यह तात्पर्य्य लगाते हैं कि भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दों में वेद की विधा वेदसम्मत यज्ञ-तपो-दान कर्म्मों की निन्दा ही की है। कहना पड़ेगा कि भ्रमवश वे गीता के तात्पर्य्य से सर्वथा ही वञ्चित हैं। भगवान् शत्रु थे केवल सकामविभाग के, न कि वैदिक कर्म्ममार्ग के। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्रैकनिष्ठ भगवान् वेद की निन्दा करें, यह असम्भव है। सम्भवतः भगवान् को भी उक्त वचन श्रीमुख से निकालते हुए यह विचार हुआ होगा कि कहीं इनका यह तात्पर्य्य न समझ लिया जाय कि वैदिक कर्म्ममार्ग निन्द्य है, मोक्ष का प्रतिबन्धक है (जैसा कि आजकल के अद्वैतवादी समझ रहे हैं)। इसीलिए भगवान् को आगे आकर स्पष्ट कर ही देना पड़ा कि—

यज्ञ-दान तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१॥
एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ॥
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥२॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥३॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ-तपः क्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥४॥
यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ॥
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥५॥

५७–वेदोक्त कर्म्ममार्ग की मोक्षोपयोगिता का समन्वय, वर्णोक्त प्राजापत्य यज्ञकर्म्म का गीता के द्वारा यशःस्थापन, एवं निष्कामभावानुबन्धी वैदिक-कर्म्मयोग का उन्मुक्तहृदय से समादर—

उक्त वचनों को देखते हुए ऐसा कौन मूर्ख होगा जो कि वेदोक्त कर्म्ममार्ग को मोक्षमार्ग का प्रतिबन्धक बतलाने की मूर्खता करेगा। वेदशास्त्र के ही भगवान् विरोधी हैं, स्वाभाविकी भोगैश्वर्य्यप्रवृत्ति के ही शत्रु हैं। गीतादृष्टिकोण से हमें तो यह मान लेने में भी कोई संकोच नहीं होगा कि यदि हमारा प्रवृत्तिकर्म्म हमारे स्वार्थ का कारण नहीं है, परमार्थकामना से यदि हम कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होते हैं, संसार के मानव-समाज को सुख-शान्ति मिलती रहे, इस कामना से यदि हम सकाम भी कर्म्म करते हैं, तो भगवान् की दृष्टि में वे भी आदरणीय ही हैं। भगवान् केवल उस कामना के विरोधी हैं जो कि केवल आत्मस्वार्थ का ही कारण बनी-रही है। परमार्थकामनामय तो प्रवृत्तिकर्म्म भी भगवत्सम्मत ही है। और वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म का यही मूल उद्देश्य

भी है। क्योंकि स्वार्थमूलक कृषि में ऐसा होना कठिन है। इसलिए भगवान्‌ने कामना का निरोध करना आवश्यक समझा। यदि कोई भक्त पुरुष इस युग में भी परमार्थकामना से काम्य कर्म करता है तो भगवान् उसे आदर ही देते हैं। देखिए।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।१।।
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।२।।
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।३।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।४।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।५।।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ।।६।।

४८—कतिपय कलिवर्ज्य शास्त्रीय विधान एवं गीताशास्त्र-सम्मत संशोधन का तात्त्विक समन्वय

नियोगविधि शास्त्र-सम्मत है, पशुपुरोडाश शास्त्रविहित है परन्तु यह कलिवर्ज्य माना गया है। कारण इसका यही है कि कलियुग में मनुष्य स्वभावतः एव इन्द्रियपरायण होते हैं। ऐसी दशा में उन्हें नियोग की आज्ञा देना 'अनाचार' का ही प्रोत्साहन देना है। यही अवस्था पशुपुरोडाश की है। मांस में अवश्य ही मोहपरिपाक होना चाहिए। परन्तु उसके स्थान में जो माष (उर्द) का विधान हुआ है इसका भी यही रहस्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कलियुग में ऐसा करना पाप है। यदि कोई शास्त्रोक्त इन्द्रिय-संयमपूर्वक ऐसा कर सकता है तो बहुत ही उत्तम है। स्वयं याज्ञवल्क्यने वनस्पति के सम्बन्ध में इसी भाव को श्रेष्ठ माना है। पवन म पुरुष अश्व भी यदि अज इन पाँच पशुओं का आलम्भन कर इन के मांस से युक्त मिठाई से इसका निर्माण होता है। अवश्य ही यह कर्म अनिवार्य है। परन्तु कोई करे, तो अवश्य ही यह उत्तम भी है (देखिए! शत. ब्रा. १ का.)। ऐसी दशा में युगधर्म की मर्यादा को लक्ष्य में रखकर यदि भगवान् ने सकाम प्रवृत्तिकर्म का निरोध कर दिया तो एतावता ही गीता को वेदविरोधिनी मान बैठना सर्वथा अज्ञानमूलक ही तो माना जायगा।

५९–श्रुतिशास्त्रसिद्ध वे योगत्रयी का गीताशास्त्र के द्वारा उपबृंहण—

तात्पर्य्य उक्त निवेदन का यही हुआ कि श्रुतिशास्त्र ने जिस योगत्रयी का दूसरे शब्दों में औपनिषद् बुद्धियोगगर्भिता अतएव बुद्धियोगात्मिका जिस योगत्रयी का संक्षेप से निरूपण किया है बिना किसी संशोधन के (नाममात्र का संशोधन करते हुए) भगवान्ने गीता में उसका विस्तार के साथ ज्यों का त्यों संग्रह कर लिया है। वेदशास्त्रसम्मत, अतएव सर्वथा निर्भ्रान्त इसी शास्त्रीया-योगत्रयी के सम्बन्ध में भगवान्ने—"त—स्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" कहा है।

६०–स्मृतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी का गीता के द्वारा यत्किञ्चित-संशोधनपूर्वक संग्रह—

अब दूसरा स्मृतिशास्त्र हमारे सामने आता है। इसके सम्बन्ध में अवश्य ही गीता ने संशोधन किया है। और इसी स्मार्त-संशोधन को लक्ष्य में रखकर हमने कहा है कि— गीताशास्त्रसिद्ध योगत्रयी का संशोधन करके ही उन का संग्रह कर रही है।

६१–वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर स्वयम्भूमनु अपान्तरतमा, तथा कपिल के द्वारा कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी का स्वरूपोद्भव, एवं तत्संशोधन के लिए ही प्रवृत्त गीताशास्त्र—

वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर उसी देवयुग में तीन आचार्य्यों के द्वारा तीन स्वतन्त्र शास्त्रों का जन्म हुआ। क्योंकि ये तीनों ही शास्त्र श्रुत्यर्थानुगामी थे, अतएव इन्हें 'स्मृति' कहना अन्वर्थ माना गया। ब्राह्मणमार्गोक्ता कर्म्मनिष्ठा के आधार पर स्वयम्भूमनु के द्वारा मानवधर्मसंहिता का जन्म हुआ, जिसका कि रूपान्तर आज 'मानवधर्म्मशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर हम स्मृतिशास्त्र से सिद्ध कर्मयोग को "स्वयम्भूनिष्ठा" भी कह सकते हैं। आगे जाकर वेदाचार्य्य प्राचीनबर्हि (अपान्तरतमा) नामक भारतीय महर्षि के द्वारा यह निष्ठा लोक में प्रचलित हुई। आरण्यकमार्गोक्ता भक्तिनिष्ठा के आधार पर हिरण्यगर्भ के द्वारा भक्तियोगात्मिका भक्तिनिष्ठा का विकास हुआ। अतएव इसे हम "हिरण्यगर्भनिष्ठा" भी कह सकते हैं। अवश्य ही मानवधर्मशास्त्र की भाँति हिरण्यगर्भ का भी योगात्मिकोपासना का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ रहा होगा। परन्तु आज वह अनुपलब्ध है। सुप्रसिद्ध पातञ्जलयोगदर्शन इसी निष्ठाग्रन्थ का रूपान्तर है। उपनिषद् मार्गोक्ता ज्ञाननिष्ठा के आधार पर कपिल के द्वारा कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञाननिष्ठा का जन्म हुआ। यही निष्ठा आगे जाकर प्राकृतिक अव्यक्तज्ञान के सम्बन्ध से साख्यनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध हुई। क्योंकि प्रधानवादी कपिल न अव्यक्तसिद्ध प्राकृत ज्ञान को ही सांख्य कहा है। सुप्रसिद्ध सांख्यदर्शन इसी निष्ठा का समर्थक है। इसप्रकार श्रुति के आधार पर इन तीन आचार्य्यों ने तीन स्वतन्त्र निष्ठाओं का जन्म दिया।

६२–निष्ठात्रयी की अन्ततोगत्वा निष्ठाद्वयी में ही परिणति—

ये तीनों निष्ठाएँ भी पुनः दो भागों में ही बँटी, दो में ही परिणत हुईं। हिरण्यगर्भ-सम्मता योगनिष्ठा सांख्यानुगामिनी बनती हुई सांख्यनिष्ठा में ही परिणत हुई। क्योंकि इस योग में गुणातीत आत्मभाव का ही प्राधान्य था, उधर सांख्य भी गुणविवेक का ही पक्षपाती था। इसीप्रकार स्मृतिशास्त्रसिद्धा

तीनों निष्ठाओं में से कर्म ज्ञान ये दो ही निष्ठाएँ शेष रह गई। कर्मनिष्ठा 'योगनिष्ठा' नाम से प्रसिद्ध हुई एवं ज्ञाननिष्ठा 'सांख्यनिष्ठा' नाम से प्रसिद्ध हुई।

१—कर्मनिष्ठा—स्वायम्भुवनिष्ठा (कर्मयोग स्मार्तः)—ब्राह्मणमूलक

२—भक्तिनिष्ठा—हिरण्यगर्भनिष्ठा (भक्तियोग स्मार्तः)—आरण्यकमूलक

३—ज्ञाननिष्ठा—कपिलनिष्ठा (ज्ञानयोग स्मार्तः)—उपनिषन्मूलक

१—कर्मयोग—योगिनाम्]—योगनिष्ठा १ (कर्ममार्ग)

२—भक्तियोग—सांख्यानाम्

३—ज्ञानयोग—सांख्यानाम् } —सांख्यनिष्ठा २ (ज्ञानमार्ग)

---

६३ ग्रन्थकर्त्ता की भ्रान्ति, एवं ग्रन्थव्याख्याता की भ्रान्ति रूपा भ्रान्ति के दो विवर्त, एवं गीता के द्वारा संशोधित-तथ्य की स्वरूप-जिज्ञासा—

प्रकरणारम्भ में यह बतलाया जा चुका है कि स्मार्तग्रन्थों के सम्बन्ध में दो प्रकार से भ्रान्ति सम्भव है। स्वयं ग्रन्थकर्त्ता भी भ्रान्ति कर सकता है एवं ग्रन्थ का वास्तविक मर्म्म न समझने वाले तदनुयायी भी ग्रन्थ के सिद्धान्त को भ्रान्त बना सकते हैं। अब हमें यह विचार करना चाहिए कि उक्त तीनों स्मार्तनिष्ठाओं में से अथवा तीनों स्मार्तनिष्ठाओं में से ग्रन्थकारोंने भ्रान्ति की है, अथवा तदनुयायियों ने उनके सिद्धान्तों को भ्रान्त बनाया है? और उस भ्रान्ति का क्या स्वरूप है, जिसके कि संशोधन की (भगवान् को) आवश्यकता हुई।

६४—परमाराध्य त्रिविध आचार्य्य, तथैव सर्वथैव मान्य उन के त्रिविध-शास्त्रीय योग, एवं तदाधारेण संशोधन-विचार-विमर्श तथा गीता का तत्सम्बन्ध में लोकसंग्राहक विशाल-दृष्टिकोण—

सब से पहले तो इस समालोचना-कर्म्म से हमें अपना मस्तक हटाना पड़ेगा। हमारे लिए तीनों ही स्मार्तनिष्ठाएँ एवं स्मार्तनिष्ठाओं के प्रवर्त्तक आचार्य्य आराध्य हैं। हम उनकी बातों की समालोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते। ऐसी दशा में इस कर्म्म के लिए हमें भगवत्सिद्धान्त का ही आश्रय लेना पड़ेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि भगवान् ने भी त्रिविधप्रवर्त्तक आचार्य्यों में अपनी पूर्ण श्रद्धा प्रकट की है। उदाहरण के लिए, सांख्यप्रवर्त्तक कपिल को ही लीजिए। "सिद्धानां कपिलो मुनिः" कहते हुए भगवान ने कपिल को अपनी विभूति बतलाया है। यही नहीं, कपिल के प्रकृतिवाद का भगवान ने स्थान स्थान पर पूर्ण समर्थन किया है। सांख्य यदि सम्पूर्ण विश्व को प्रकृतिमूलक बतलाता है तो भगवान भी उसे प्रकृतिमूलक ही मान रहे हैं (देखिए गीता ८।१८)। सांख्य के अनुसार यदि कोई पुरुष निर्लेप है निर्गुण

तो भगवान् भी 'न करोति न लिप्यते' कहते हुए इसका समर्थन ही कर रहे हैं। इन सब समताओं को देखते हुए तो यही मानना पड़ता है कि, भगवान् सांख्यनिष्ठा के पूर्ण समर्थक हैं। फिर भी एक स्थान ऐसा रह जाता है जिसके लिए संशोधन आवश्यक होजाता है और वह स्थान है 'अव्ययपुरुष'।

६५–'सांख्यज्ञान-प्रधान-गीताशास्त्र'-लक्षणा मान्यता की सर्वथैव आपातर-मणीयता—

कितने ही महानुभाव गीता को सांख्यशास्त्र की प्रतिच्छाया ही सिद्ध करते हुए यह कहा करते हैं कि भगवान् ने गीता में प्रधानरूप से सांख्यज्ञान का ही निरूपण किया है। कर्मत्यागलक्षण सांख्य ही इस का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। एवं सांख्य वही सुप्रसिद्ध 'कपिलनिष्ठा' है। यदि भगवान् सांख्यनिष्ठा के विरोधी होते तो तत्प्रवर्त्तक कपिल को 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' यह उच्चासन कदापि प्रदान नहीं करते।

६६–विविध विभूति-स्मरणात्मक कपिलादि का यशःस्थापनमात्र, एवं तदनुबन्धेनैव गीता में कापिल-सांख्य का समादर—

केवल उक्त युक्ति से कभी गीता को सांख्यनिष्ठा-परक नहीं माना जासकता। विभूतिगणना में तो भगवान् ने द्यूत कर्म को भी अपनी विभूति बतलाया है। क्या इससे यह माना जावगा कि गीता द्यूत-कर्म का भी समर्थन करती है?। 'पाण्डवानां धनञ्जयः' वाला अर्जुन क्यों मोहग्रस्त बना?। यदि भगवान् की विभूति अर्जुन भ्रान्ति कर सकता है तो भगवद्विभूतिरूप कपिल में भी भ्रान्ति सम्भव है। वक्तव्यांश यही है कि, उक्त तीनों निष्ठाओं में से दो निष्ठाएँ अवश्य ही संशोधन की अपेक्षा रखती हैं।

६७–मानवधर्म्मशास्त्रात्मिका स्वयम्भू निष्ठा का गीता के द्वारा सर्वात्मना समर्थन—

स्वयम्भूनिष्ठा ही कर्म्मयोग है। इसका निरूपक मानवधर्म्मशास्त्र है। यह सर्वथा वेदसम्मत है। 'मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद्भेषजं भेषजताया' इत्यादि रूप से स्वयं वेद ने इसकी प्रामाणिकता दृढ़ की है। अतएव 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते' से जैसे वेदशास्त्र गृहीत है एवमेव मानवधर्म्मशास्त्र भी गृहीत है। और यह वेदवत् सर्वथा निर्भ्रान्त ही है। यही कारण है कि, जिसप्रकार वेदशाखा स्मृतियाँ अप्रमाण मानी गई हैं एवमेव मनुस्मृति के विपरीत जाने वाली स्मृतियाँ भी अप्रमाण ही मानी गई हैं।

६८–आचार्य्यसम्मता भक्तिनिष्ठा, तथा सांख्यनिष्ठा का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं गीता के द्वारा दोनों निष्ठाओं का सद्विनियोग-माध्यम से संशोधन—

अब शेष रहती है भक्तिनिष्ठा एवं ज्ञाननिष्ठा। इन भक्ति का रूप है ईश्वरप्रणिधानपूर्वक व्यवसायलेशशून्य इन्द्रियसंयम शारीरिक कर्मों से अरति। एवं इस ज्ञान का स्वरूप है कर्मत्याग तथा विशुद्ध ज्ञानानुगमन। कर्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा एवं योगात्मिका भक्तिनिष्ठा इन दोनों का मूलभाष्य के "सोऽकामयत" इत्यादि श्लोकभाष्य में विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः यहाँ इस सम्बन्ध में विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिनिष्ठा किंवा हिरण्यगर्भनिष्ठा सांख्यज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) की अनुगामिनी बनी। अतएव दोनों मिलकर एक सांख्यनिष्ठा ही रह गई। एवं इसके संशोधन से ही उसका भी संशोधन गतार्थ बन गया।

६९–हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति, एवं गीता के द्वारा तत्संशोधन-प्रयास—

हिरण्यगर्भ ने भ्रान्ति यह की कि, वेदसम्मत ईश्वरोपासना की उपेक्षा कर उसने आत्मसंयम—लक्षण समाधियोग को ही प्रधानता दे डाली। ईश्वर का स्थान (भगवान् का स्थान) योगसमाधि ने छीन लिया। योगसमाधि के आकर्षण से यह भक्तियोगाश्रम—सिद्धियों की अनुगामिनी बनती हुई ईश्वरमार्ग से वञ्चित हो गई। आत्मनिर्भरता का स्थान योगसिद्धियोंने छीन लिया। फलतः इसका संशोधन आवश्यक हुआ।

७०–कपिलनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति एवं भगवान् के द्वारा तत्संशोधन—

कपिल ने यह भ्रान्ति की कि उपनिषत्–सम्मत बुद्धियोग का अर्थ उन्होंने निवृत्तिमार्ग समझ लिया। उनका लक्ष्य बना प्रकृतिशरीर से भिन्न देहाभिमानी जीवात्मा। और उनका कपिल ने निष्कर्ष समझा कर्मसंन्यास में। सांख्यशास्त्र निवृत्तिधर्म एवं उपनिषदुक्त बुद्धियोग दोनों को एक समझ लिया गया। एवं इस भ्रम के कारण बने "त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"—"नास्त्यकृतः कृतेन — 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' *'नानृतस्य सत्यमासीत् किञ्चन'* इत्यादि औपनिषद—वचन। इसप्रकार बुद्धियोग का स्थान उपनिषदुक्त ज्ञानयोग ने छीन लिया। फलतः इसका भी संशोधन आवश्यक होगया।

७१–ग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध से ही निष्ठात्रयी में भ्रान्ति—

तात्पर्य यह निकला कि तीनों स्वतन्त्र–निष्ठाओं में से ब्राह्मण–भागसम्मता कर्मयोगनिष्ठा ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध से निर्भ्रान्त रही एवं उपनिषद्भाग-सम्मता ज्ञानयोगनिष्ठा एवं आरण्यकभाग–सम्मता भक्तिनिष्ठा ग्रन्थकर्त्ता के ही सम्बन्ध से भ्रान्त बन गई। गीता ने इन्हीं दोनों का विशेषरूप से संशोधन किया।

७२–ब्राह्मण-आरण्यक उपनिषत्–सिद्ध निष्ठात्रयी का स्वरूप–संस्मरण—

श्रौत-स्मार्त निष्ठाओं की निर्भ्रान्त-भ्रान्त-निष्ठाओं की तुलना के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि, श्रौती निष्ठात्रयी का क्या स्वरूप था?। संसार के अभ्युदय के लिए परमार्थ–कामना से काम्यकर्मों में प्रवृत्त होना ही ब्राह्मणभागसिद्धा कर्मनिष्ठा थी। आत्माभ्युदय के लिए (लोकसंग्रह पर दृष्टि रखते हुए) निवृत्तिकर्मों में प्रवृत्त रहना ही उपनिषद्भागसिद्धा ज्ञाननिष्ठा थी। आत्मनिःश्रेयस के लिए (लोकसंग्रह पर दृष्टि रखते हुए) ईश्वरप्रणिधान–लक्षणा निर्गुण–ब्रह्मोपासना ही आरण्यकभागसिद्धा भक्तिनिष्ठा थी।

७३ स्वतन्त्रता सुरक्षिता स्वयम्भू–निष्ठा एवं हिरण्यगर्भनिष्ठा, तथा कपिलनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा यथाप्राप्त–संशोधन—

इन तीनों मान-निष्ठाओंमें से स्वयम्भू ने तो कर्मनिष्ठा का स्वरूप ज्यों का त्यों सुरक्षित रक्खा। परन्तु हिरण्यगर्भ ने भक्तिनिष्ठा का एवं कपिल ने ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप विकृत कर दिया। जैसा कि पूर्व में कहा गया है हिरण्यगर्भ एवं कपिल के सम्बन्ध में भ्रान्ति बतलाने का साहस अस्मदादि भी नहीं है। हम तो उक्त

निर्भ्रान्त ही कहेंगे। और स्वयं भगवान् ने भी यह अधिकार केवल अपने ही हाथ में रक्खा है—जैसाकि—"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इत्यादि से सिद्ध है। महापुरुषों के उच्च सिद्धान्त की समालोचना का अधिकार भी महापुरुष ही रखते हैं। हमारे लिए तो गुरु और गोविन्द, दोनों समानधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं।

७४–सर्वविदित–'लोके वेदे च' सूत्र, तद्भिन्न पना–लोकनिष्ठा तथा वेदनिष्ठा एवं दोनों की हेयोपादेयता का दिग्दर्शन—

'लोके वेदे च' यह वाक्य सर्वविदित है। शास्त्रसम्मत मार्ग को 'वैदिकमार्ग' कहा जाता है एवं लोकसम्मत मार्ग को 'लौकिकमार्ग' कहा जाता है। यदि शास्त्रनिष्ठा वेदानुगता है तो वह 'वेदनिष्ठा' है एवं मानवस्वभाव ने उसका विरुद्ध तात्पर्य लगाते हुए यदि लौकिक बना डाला है तो वह 'लोकनिष्ठा' है। दोनों में वेदनिष्ठा ग्राह्य है एवं लोकनिष्ठा त्याज्य है। लोकनिष्ठा भी वही ग्राह्य है जिसका वेदनिष्ठ प्रामाणिक पुरुषों के द्वारा संशोधन होजाय।

७५–हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता योगनिष्ठा की उपादेयता, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा मान्यता प्रदान—

कम से कम हमें तो बिना किसी ननुनच के नतमस्तक होकर यह मान ही लेना चाहिए कि वेदनिष्ठात्मक स्मार्तनिष्ठा भी सर्वथा निर्भ्रान्त ही है। कर्मनिष्ठा की निर्भ्रान्तता के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। अब रह जाती है–हिरण्यगर्भनिष्ठा एवं कपिलनिष्ठा। यह ठीक है कि हिरण्यगर्भ का प्रधान लक्ष्य चित्तशुद्धि ही रहा ईश्वरानन्यता नहीं। परन्तु जबतक चित्तशुद्धि नहीं होजाती तबतक ईश्वरानन्यता प्राप्त भी तो नहीं होसकती। फिर भगवान् ने भी तो कायक्लेशात्मक इस ध्यानात्मक भक्तिमार्ग का (योगमार्ग का) समर्थन ही किया है जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

> योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
> एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १ ॥
> तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
> उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ २ ॥
> यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
> निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ३ ॥
> यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
> यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ४ ॥
> स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
> प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ५ ॥
> यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ ६ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ७ ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ८ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ९ ॥

---

७६ अव्यक्तभावापन्ना हिरण्यगर्भनिष्ठात्मिका भक्तिनिष्ठा के योगात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय वचन-दिग्दर्शन—

हिरण्यगर्भ-सम्मत कायक्लेशात्मक इन्द्रियसंयम-लक्षण योगात्मक भक्तिमार्ग का मात्र यही स्वरूप है जो कि उक्त गीतासिद्धान्त से स्पष्ट हुआ है। उन्होंने भक्तिनिष्ठाप्राप्ति के लिए चित्तनिरोधक हठी मार्ग का समर्थन किया है जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि ।
योगकृत्यं महाराज ! पृथगेव शृणुष्व मे ॥ १ ॥
विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥ २ ॥
स्थाणुवच्चाप्यकम्पः स्याद् गिरिवच्चापि निश्चलः ।
बुधा विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥ ३ ॥
निर्वाते यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते ।
निर्लिङ्गो विचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग्गतिमाप्नुयात् ॥ ४ ॥
एवं पश्यन् प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ।
योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ॥ ५ ॥

७७-योगात्मिका स्मार्ता-उपासना को वेदशास्त्र के द्वारा मान्यता-प्रदान—

कहना न होगा कि उक्त लक्षणा हिरण्यगर्भनिष्ठा का गीता में सर्वात्मना समादर ही हुआ है। और होना भी चाहिए जब कि यह योगोपासना आत्मविशुद्धि का कारण बनती हुई ईश्वरसान्निध्य की प्राप्ति का

कारण बन जाती है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि, यह योगात्मिका स्मार्त्त उपासना वैराग्यानुगता बनती हुई अवश्य ही निर्भ्रान्ता है।

७८ कपिलानुगता-स्मार्त्ता-सांख्यनिष्ठा का सर्वात्मना समर्थन, एवं तत्र शास्त्रसम्मति—

यही दशा सांख्यनिष्ठा की समझिए। सांख्य ने कर्मत्याग का आदेश अवश्य दिया है परन्तु उनका लक्ष्य क्या था यह देखना चाहिए। मनुष्य की स्वाभाविक निर्बलता कपिल भलीभाँति जानते हैं। गुणान्वित-कर्मप्रपञ्च का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इनसे उत्पन्न होने वाले संस्कारलेप से बचा रहे यह कठिन है। इसके लिए कपिल ने सांसारिक कर्मों का परित्याग ही आवश्यक समझा। सांख्यशास्त्र ने यह आवश्यक समझा कि जीवात्मा बन्धन से मुक्त होने के लिए तत्त्वविवेक का आश्रय लेता हुआ प्रकृति-पुरुष का विवेक करे। और यह विश्वास करे कि यह कर्मजाल योगमायामयी त्रिगुण अव्यक्त-प्रकृति का ही विस्तार है। पुरुष सर्वथा निर्लेप है। इस विरक्तात्मिका-भावना से मनुष्य की अहन्ता छूट जायगी फलतः संन्यासनिष्ठा का उदय होजायगा। निम्नलिखित श्लोक इसी सांख्यसिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं——

अव्यक्त क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ॥
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥ १ ॥
सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ॥
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥ २ ॥
पञ्चविंशः प्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः ॥
यदा तु बुध्यतेऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ३ ॥
सम्यग्दर्शनमेतावद्भाषितं तव तत्त्वतः ॥
एवमेतद्विजानन्तः साम्यतां प्रतियान्त्युत ॥ ४ ॥

७९—श्रीमगवद्गीता के द्वारा कपिल की सांख्यनिष्ठा को मान्यता-प्रदान—

भगवान् ने भी उक्त सिद्धान्त का रूपान्तर से समर्थन ही किया है। अहंभाव को भगवान् भी बुरा ही समझते हैं। यदि यह भी कहा जाय कि गीता ने अहंभाव के विनाश के लिए ही अवतार लिया है तब भी कोई अत्युक्ति न होगी। अर्जुन कहता था मैं कर रहा हूँ भगवान् कहते थे—तू तो निमित्त है। प्रकृति ही सबकुछ कर रही है। जिस दिन तू तत्त्वविवेक कर लेगा उस दिन तेरी अहन्ता छूट जायगी। देखिए निम्नलिखित गीतावचन इसी सांख्य-सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं——

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ॥
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ १ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्म्मविभागयोः ॥
गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते, इति मत्वा न सज्जते ॥ २ ॥

८०–वेदसम्मता गीतासम्मता अतएव सर्वथा निर्भ्रान्ता हिरण्यगर्भ कपिल निष्ठाओं की लोकसंग्रहात्मिका मान्यता का समन्वय-प्रयास–

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि हिरण्यगर्भ की योगात्मिका कर्मनिष्ठा, एवं कपिल की सांख्यनिष्ठा, दोनों ही वेदसम्मत, अतएव निर्भ्रान्त हैं। अवश्य ही इनमें भी आत्मनिर्भरोक्त सम्भव है। इसीलिए गीता ने इन्हें आदर प्रदान किया है। इसी कथा में एकदेशता यह मान बैठना कि, गीता ने इनका खण्डन किया है सर्वथा अनुचित है। हाँ, भगवान ने गीता का संशोधन अवश्य ही किया है। परन्तु वह संशोधन भी मूल सिद्धान्त पर कोई प्रहार नहीं कर रहा। *संशोधन क्या किया? संशोधन की आवश्यकता क्यों हुई?* उत्तर स्पष्ट है।

८१–हिरण्यगर्भसम्मत 'योगमार्ग' की उपादेयता का समर्थन, अभिव्यञ्जना क्लिष्टता, एवं तत्स्थान में संशोधनात्मक 'ऐश्वर्यबुद्धियोग' का संस्थापन—

हिरण्यगर्भ का योगमार्ग भी अवश्य ही आत्मनिर्भरता का साधक है। परन्तु योगप्रक्रियाएँ आवश्यकता से अधिक कठिन हैं। न इनमें सर्वसाधारण प्रवृत्त हो सकता, न प्रवृत्त होने वालों में से सभी को सफलता ही मिल सकती। कोई विरला जितेन्द्रिय ही इसका अधिकारी बन सकता है। लोकसंग्रह का भी इसमें आत्यन्तिक अभाव है। योगारूढ़ योगी मनस्वी भी असावधानी से गिर सकता है। इसप्रकार का कष्टसाध्य यह योग अनेक जन्मों के अभ्यास से ही बन्धन-विमोक का कारण बनता है। जो ऐसा ही करना चाहते हैं वे करें, कोई हानि नहीं है। परन्तु इस मार्ग में सर्वसाधारण का निर्वाह सम्भव नहीं है। इसी कमी को ध्यान में रखते हुए भगवान ने इस योगमार्ग की अनुपादेयता सिद्ध करते हुए इसके स्थान में ऐश्वर्यबुद्धियोग-लक्षण भक्तिमार्ग स्थापित किया, जो कि योगात्मिका भक्ति का ही यथोचित रूप है।

८२–कपिल-सम्मत 'सांख्यमार्ग' की उपादेयता का अभिनन्दन, अभिव्यञ्जना अक्लिष्टता, एवं तत्स्थान में संशोधनात्मक 'ज्ञानबुद्धियोग' का संस्थापन—

यही दशा कर्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा की है। "संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः" 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' इत्यादि रूप से भगवान् ने यह बतलाया कि, संसारी मनुष्य कर्म छोड़ दे यह बड़ा कठिन है। यदि कर्म छोड़ दिया और संन्यस्त बना रहा, तो उसका सर्वनाश है—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"। माना कि कपिल ने आध्यात्मिक कर्मों की आवश्यकता स्वीकार की है और यदि कोई इस निष्ठा में सफल हो सके तो हानि नहीं है। परन्तु ऐसे स्थान सर्वथा सीमित ही हैं। यही सम्प्रदाय की विभीषिका उसका उत्तर सम्प्रयुक्त है। प्रकृति में पड़ रहने वाले उसे सूक्ष्म बना लेने में यह मन भी थका रहता है। इसी कारण को सामने रखते हुए भगवान्‌ने कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की भी अनुपादेयता सिद्ध कर इसके स्थान में 'ज्ञानबुद्धियोग' लक्षण ज्ञानमार्ग स्थापित किया, जो कि ज्ञानयोग का ही यथोचित रूप है। निष्ठाओं के मूल तत्त्व में यही संशोधन पर्याप्त था। यह संशोधन वैसा ही है, जैसा कि कलियुग में नियोगविधि का निषेध करना।

सर्वदैव तथाकथित अव्यक्त योग एवं अव्यक्त ज्ञान (सांख्य) निष्ठाओं के अनुगमन की सभी में क्षमता नहीं रहती। यही कारण इन दोनों लोकनिष्ठाओं के संयोजन का प्रमुख कारण बना। एवं इसी तथ्य-समन्वय के आधार पर हमें यह भी मान लेना पड़ा कि श्रौती (वेदाभिमता) निष्ठात्रयी की भांति स्मार्ती निष्ठात्रयी भी सर्वथैव निर्भ्रान्ता अतएव 'कथाचित्करूपेण' अनुगमनीया भी है।

८३—लोकनिष्ठाओं के व्याख्याताओं की लोक-मान्यताओं पर भगवान् के द्वारा प्रहार—

सर्वमेव सुगमम्। परन्तु हम देखते हैं कि, भगवान् ने सांख्यनिष्ठा पर भी पर्याप्त प्रहार किया है। एवं कर्म्ममार्ग की भी निन्दा की है। इसी आधार पर हमें यह निश्चय करना पड़ता है कि यह निन्दा मूलनिष्ठाओं की निन्दा नहीं है अपितु निष्ठानुयायी मनुष्यों की लोकनिष्ठाओं की ही निन्दा है। उन्होंने अपने बुद्धिदोष से मूलनिष्ठाओं का स्वरूप बिगाड़ कर उन्हें भ्रान्त बना दिया है। मनुष्योंने क्या भ्रान्ति कर डाली! वेद निष्ठाओं को कैसे लोकनिष्ठा बना डाला? इसका उत्तर भी गीता से ही गतार्थ है।

८४—वेद के ब्राह्मणभाग से अनुप्राणिता कर्म्मनिष्ठा की गुणात्मकता पर गीता का प्रचण्ड प्रहार—

वेद के ब्राह्मणभाग से विहिता एवं स्वयम्भू मनु के द्वारा उपबृंहिता यज्ञ-तपो-दान-लक्षणा कर्म्मनिष्ठा का स्वरूप कुछ समय पर्य्यन्त तो यथारूप बना रहा। इन का एकमात्र लक्ष्य लोकाभ्युदय ही बना रहा। परन्तु आगे जाकर तदनुयायियोंने इसे स्वार्थ की ही वस्तु बना डाला। विविध वैय्यक्तिक भोगैश्वर्य्यों के लिए यज्ञकर्म्मों का अनुष्ठान होने लगा। इसी क्षणिक प्रलोभन में पड़कर निष्ठानुयायी भ्रान्त वर्गने अभिनिवेशपूर्वक यह घोषणा करदी कि केवल यह कर्म्मभाग ही हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्य्याप्त है। हमें अभ्युदय के लिए किसी अन्य मार्ग की कोई अपेक्षा नहीं है। आम्नायिक यह ज्ञानयोग निरर्थक है जिससे कि भोगैश्वर्य्य से हमें वञ्चित होना पड़ता है। इसप्रकार इन लोकबुद्धियों की कृपा से वेदोक्ता कर्म्मनिष्ठा आत्म-निष्ठारूप से दूषित हो गई। इसी दूषित निष्ठा को लक्ष्य में रखकर 'कर्म्मयोगेन योगिनाम्' यह कहा गया है। भगवान् ने इसी कल्पितनिष्ठा की निम्नलिखित शब्दों में प्रबलतर भर्त्सना निन्दा की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥१॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्म्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥२॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥३॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ॥
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।५।।

८५—गुणात्मक कर्म्मयोग की निर्गुणता-सम्पादन के लिए गीता के द्वारा महान् संशोधन —

संशोधन भगवान ने यही किया कि, वेदोक्त कर्म्ममार्ग सर्वोत्तम है, अवश्य ही इसका अनुष्ठान करना चाहिए, परन्तु साम्यबुद्धि रखकर । फलकामनासक्ति का परित्याग कर । बुद्धियोग से युक्त यही वेदोक्त कर्म्ममार्ग मोक्षप्रमुक भी बन जायगा और बन्धन भी न होगा । यही संशोधितरूप 'कर्म्मबुद्धियोग' कहलाया । निम्नलिखित वचन इसीके समर्थक हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ।।१।।
कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ।।२।।
योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।३।।
कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।।
जन्म बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।४।।

८६ आरण्यक-आगमानुगता उपासना के व्याख्याताओं के काल्पनिक भक्तियोग पर गीता का प्रचण्ड प्रहार—

वेद के आरण्यकभाग से संश्लिष्ट एवं हिरण्यगर्भ के द्वारा उपदिष्ट चित्तविशोधनलक्षणा भक्तिनिष्ठा का स्वरूप भी कुछ समय पर्य्यन्त तो यथापूर्व बना रहा । आत्मविशोधन-द्वारा ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य बना था । परन्तु आगे जाकर तदनुयायी भगवने इसे भी स्वार्थभावना से रंग डाला । विविध प्रकार की अणिमा महिमादि सिद्धियों के लिए, इन सिद्धियों से स्वार्थसिद्धि करने के लिए ही इस मार्ग का उपयोग होने लगा । सात्त्विक योगमार्ग ने तामस आसुरभाव का आश्रय ग्रहण कर लिया । सिद्धियों के प्रलोभन में पड़कर इन स्वार्थी योगियोंने शास्त्रविरुद्ध घोर तमोमार्ग का ही आविष्कार कर डाला । ईश्वरार्चन का स्थान भूतप्रेतार्चनने छीन लिया । इसप्रकार कर्म्मकाण्डवत् यह योगात्मक भक्तियोग भी आगे जाकर भूतसम्प्रदाय का ही अनुगामी बन गया । इसी दूषित निष्ठा की निन्दा करते हुए भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ १ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ २ ॥

८७–कामभयी भक्ति का लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा संशोधन—

संशोधन भगवान् ने यह किया कि सिद्धि के द्वारा जिस ऐश्वर्य्य के लिए तुम योगाश्रित भक्ति को भयक्लेशाश्रित बना रहे हो, वह ऐश्वर्य्य तो आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। चित्तनिरोधानन्तर वह तो स्वतः ही सिद्ध है। उस शाश्वत संसिद्धि की उपेक्षा कर इन क्षणिक सिद्धियों में ही रह जाना तो पुरुषार्थ नहीं है। तुम्हें सदा आत्मनिरोधक योग के द्वारा ईश्वरानन्यता-लक्षणा ऐश्वर्य्यविभूति-सम्पन्ना बुद्धियोगसम्मता भक्ति का ही अनुगमन करना चाहिए। इससे तुम्हें ऐश्वर्य्य भी मिल जायगा और बन्धन भी न होगा। यही संशोधित रूप 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' कहलाया। निम्न लिखित वचन इसी संशोधन का समर्थन कर रहे हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १ ॥
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २ ॥
ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि सन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ३ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ४ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ५ ॥

८८–आरण्यकोपनिषद्–भागानुगता सांख्यनिष्ठा के व्याख्याताओं की काल्पनिक-सांख्यनिष्ठा पर गीता का प्रचण्ड-प्रहार—

आरण्यकोपनिषदात्मक ब्राह्मण के अन्तिम भाग से मिला (किन्तु कपिलमतानुसार उपनिषद्भाग से मिला) कपिल के द्वारा उपदिष्ट, शारीरक मोक्षकाम-लक्षणा लौकिककर्मनिवृत्तियुता ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप भी कुछ समय पर्य्यन्त तो उपादेय बना रहा। परन्तु आगे जाकर यह निष्ठा भी लोकसंग्रह की महाविरोधिनी बन गई क्योंकि इसमें व्यक्त सांसारिक कर्मों का आत्यन्तिक परित्याग था। यही नहीं, इस निष्ठा के व्याज से लोगों ने आगे जाकर संसार को धोखे में डालना आरम्भ कर दिया। ढोंगी कर्म्माभिमानी अपने आपको तो धोखा दिया ही, किन्तु साथ ही अपने अकर्म्मप्रचार से संसार को भी कर्म्मशून्य बनाना आरम्भ कर दिया।

संन्यासमार्ग को मूल में रखने वाला यह कर्म्मसंन्यास आगे जाकर संन्यासाभास से मोहित होता हुआ भक्ति-मार्ग से भी निकृष्ट बना डाला गया। छुड़-छिड़कर कर्म्म का भी परित्याग होने लगा। इसप्रकार स्वाभाविक संन्यासनिष्ठा को सर्वथा ही दूषित बना डाला। इसी कर्म्मत्याग-लक्षणा-दूषित-संन्यासनिष्ठा के लिए भगवान् ने— 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' यह कहा है। इसी के लिए अरुचि प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ १ ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ २ ॥
कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

८९—कर्म्मत्यागात्मिका सांख्यनिष्ठा का भगवान् के द्वारा संशोधन —

संशोधन भगवान् ने यही किया कि जिस हेयभाव से तुम कर्म्म छोड़ना चाहते हो, वह भाव निष्काम-कर्म्म के समावेश से भी दूर हो सकता है। ऐसा करने से तुम्हारा जो अभ्युदय निश्चय है, हो, साथ ही तुम्हारे सद्योग में लोकसंग्रह की भी रक्षा हो जायगी। बुद्धियोगयुक्त कर्म्मसंन्यास तुम्हारा यह ज्ञानयोग सभी दृष्टियों से सामान्य ही सिद्ध होगा। यही संशोधित ज्ञानयोग 'ज्ञानबुद्धियोग' कहलाया। इसी का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १ ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ २ ॥
अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥३॥

९० संशोधन का मूलाधारभूत वैराग्यबुद्धियोग —

तीनों योगनिष्ठाओं का संशोधन तीनों को बुद्धियोग का स्वरूप प्रदान करने वाला वह संशोधन उपनिषत्-सम्मत यही गीता "वैराग्यबुद्धियोग" है जिसका कि उपक्रम इस प्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ही हुआ है। एवं जिसके सम्बन्ध से ही 'गीताशास्त्र—बुद्धियोगशास्त्र' कहलाया है जैसा कि पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

६१-देवयुगानुगता निर्गुणोपासना का संस्मरण—

भगवान् ने किन जिज्ञासाओं का संशोधन किया ? शास्त्रसिद्ध निष्ठाएँ जब निर्भ्रान्त थीं तो उनका संशोधन करने की क्या आवश्यकता हुई ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही यह अवान्तर प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया। इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य था— 'देवयुगानुगता उपासना का स्वरूप प्रदर्शन'। यह लक्ष्य भी उक्त प्रकरण के साथ ही गतार्थ है।

६२-युगभेदनिबन्धना-उपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं चतुर्थ प्रकरणान्तर्गत प्रथम अवान्तर प्रकरण की उपरति—

यद्यपि देवयुग और वेदयुग का पार्थक्य नहीं है। कारण—वेदयुग के प्रवर्त्तक ब्रह्मा ने वेद के आधार पर ही देवव्यवस्था व्यवस्थित की थी। फिर भी उपासना के सम्बन्ध से हमें उस एक ही युग के दो भेद मान लेने पड़े हैं। आरम्भ में कुछ समय पर्य्यन्त समानप्रत्ययप्रवाहरूपा निर्गुणोपासना का ही आविष्कार हुआ था। मानस-ध्यान ही उस युग की मौलिक उपासना थी। किन्तु कुछ ही समय पीछे निर्गुणोपासना का स्थान सगुणोपासना ने किंवा प्रतीकोपासना ने ग्रहण कर लिया जैसा कि आगे के प्रकरण में विस्तार से बतलाया जानेवाला है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ही देवयुगानुगता उपासना का मूल धरातल था। दूसरे शब्दों में-यह भी कहने में कोई आपत्ति न होगी कि, उस युगारम्भकाल में 'ईश' नामक व्यापक निर्गुणब्रह्म की ज्ञानात्मिका उपासना ही प्रचलित थी। आगे जाकर इसी 'ईश' ने 'ईश्वर' का आसन ग्रहण कर लिया। निर्गुण ही उपासना की सिद्धि के लिए सगुण बन गया। और यह सगुणोपासना ही आरण्यकोपासना (वेदयुगानुगता-उपासना) कहलाई।

इति—"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"देवयुगानुगता-निर्गुणोपासना"

नामक

प्रथम-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

१

श्रीः

(२) वेदयुगानुगता-सगुणोपासना स मनुप्राणित पारिभाषिक-परिलेख—

"अक्षरोपासना" (षोडशी-प्रजापति-ईश्वर)

ज्ञानानुगत कर्म्म-एव-उपासना-प्राणात्मिका (ब्रह्म)

सगुणोपासना-ईश्वरोपासना-कर्म्मात्मिका

प्राणमयी-उपासना-क्रियात्मिका

सोऽयं सगुणोऽक्षरः —

- पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः—'मन'-प्राण एव
- पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः—'प्राण'—प्राण एव
- पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः—'वाक्'-प्राण एव
- सर्वाधारो निराधारस्तुरीयः — 'तत्'-सर्वमेव

— तदिदमक्षरविज्ञानम् प्राणविज्ञानमेव

स एव-कर्म्मणा-उपासितव्यः

वेदस्य-स्वरूपम्

'उपासनं नाम-ज्ञान-कर्म्मणोः समीप-मागम्य-मवस्थानम्'

सा-क्रियाभिमता उपासना-भक्तिरम्यभिधारिणी

निष्ठाया

२

(गौण वेदयुग द्वितीय-सत्ययुगात्मक)

ब्रह्म अक्षर क्रिया प्राण	तत्त्वतः-प्राण एव अक्षर एव सगुण "गुणाभाँ ज्ञान-सिद्धि प्रकृति-सम्भरान" (प्रकृति-अक्षर)

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग
(चतुर्थप्रकरणान्तर्गत-द्वितीय-अवान्तर-प्रकरण)

२

६३-व्यवच्छेदात्मक पाण्डित्य तदनुप्राणित निश्चित निर्णय, एवं भारतीय उपासनाकाण्ड—

'व्यवच्छेदो हि पाण्डित्यम्' इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक विषय को विज्ञानदृष्टि से विभक्त कर उसे सुव्यवस्थित कर देना ही पाण्डित्य है। इधर कुछ शताब्दियों से हम यह देख रहे हैं कि पण्डितसमाज उक्त पाण्डित्य से प्रायः वञ्चित ही होरहा है। व्यवच्छेददृष्टि के अभाव से आज का विद्वत्-समाज "इदमित्थमेव" निर्णय करने में सर्वथा ही असमर्थ है। यही दशा हमारे इस उपासनाकाण्ड की है। उपासना का मौलिक स्वरूप क्या है? उपासना के विविध स्वरूप क्यों बन गए? किस उपासना का कौनसा शास्त्र मूल है? उपासना का कौनसा अंश दूषित है? इन सब प्रश्नों का वास्तविक समाधान तबतक असम्भव है जबतक कि मूलसम्यता से आरम्भ कर अबतक की परिस्थिति का व्यवच्छेददृष्टि से समन्वय न कर लिया जाय।

६४-निर्गुण-सगुणोपासना का तारतम्य-समन्वय, एवं शास्त्राधार की उपेक्षा से सम्भावित महान् स्खलन—

प्रक्रान्त चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत पूर्व के प्रथम अवान्तर-प्रकरण में यह बतलाया गया है कि 'देवयुग में निर्गुणोपासना की ही प्रधानता थी। आगे जाकर इसका स्थान सगुणोपासना' ने ग्रहण कर लिया एवं यही देवयुगानुगत उपासनामार्ग कहलाया। इसी के आधार पर आगे जाकर 'पौराणिक भक्तिवाद' का आविर्भाव हुआ। एवं पुराणसमकालिक दर्शनयुग ने शास्त्ररूप से भक्तिमार्ग की व्यवस्था की। सर्वान्त में उक्त आगे ही प्रकारों के वास्तविक उपासना तत्त्व का स्थान प्रचलित भक्तिमार्ग ने अपहृत कर लिया। यद्यपि यह ठीक है कि- 'रीझ भजो या खीज' इस लोकसूक्ति के अनुसार भक्ति का यह विकृतरूप भी आगे जाकर रुचिकर ही सिद्ध होता है तथापि शास्त्रीय निकष (कसौटी) पर परीक्षित करने से ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों से वञ्चिता प्रचलित माता भक्ति एक अवैध भक्ति ही का ठहरती है। भोजनपान अनुशासन के सुव्यवस्थित रखने से ही जब उपकारक सिद्ध होता है। अव्यवस्थित तो भोजन भी कभी कभी हानिप्रद ही बन जाता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अविव्यवस्थित अशास्त्रीय भक्तिमार्ग भी अभ्युदय के स्थान में पतन का ही कारण बन जाय।

६५-विविध भेदभिन्न असंख्य-अगणित भक्तिवादों का युगधर्मानुबन्ध से पञ्चधा वर्गीकरण—

जब से भारतीयसभ्यता का मूलस्रोत प्रवाहित हुआ तब से आरम्भ कर आज की बीसवीं शताब्दी-पर्यन्त भक्तिमार्ग में कितने परिवर्तन हुए? शैव शाक्त स्मार्तासिक गाणपत्य वैष्णव आदि आदि सम्प्र-

शास्त्रों के भेद से भक्ति के जितने रूप आविर्भूत एवं तिरोभूत हुए हैं, इन सब विवादों को यदि छोड़कर भक्ति मार्ग पर दृष्टि डाली जाती है तो स्थूलरूप से इस सम्बन्ध में हमारे सामने पाँच ही मार्ग उपस्थित होते हैं। एवं इन पाँचों मार्गों को हम क्रमशः निम्नलिखित नामों से व्यवहृत करसकते हैं—

१—देवयुगानुगत–भक्तिमार्ग
२—वेदयुगानुगत–भक्तिमार्ग
३—पुराणयुगानुगत–भक्तिमार्ग
४—दर्शनयुगानुगत–भक्तिमार्ग
५—वर्त्तमानयुगानुगत-भक्तिमार्ग



९६–महारम्भ-शास्त्र से अनुप्राणित भक्तिमार्ग में शास्त्रैकशरणता की ही अनन्यता—

चूंकि शास्त्रनिष्ठा ही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है, तो उक्त पाँचों भक्तिमार्गों के लिए भी हमें शास्त्र का ही आश्रय लेना पड़ेगा। महारम्भशास्त्र से प्रतिपादित भक्तिमार्ग का समन्वय करते हुए ही पाँचों मार्गों की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ेगी। बिना ऐसा किए पाँचों ही मार्ग केवल कल्पना की ही वस्तु रह जायगी और उस दशा में इस भक्तिव्यवस्था का वही मूल्य रह जायगा, जो कि मूल्य वर्त्तमानयुग में उत्पन्न होने वाले धर्म-कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि के निर्णय के सम्बन्ध में केवल अपनी बुद्धि को ही प्रमाण मानने वाले सनातनशास्त्रों में परिवर्त्तन चाहने वाले शास्त्रविरोधी व्यक्तियों के द्वारा निर्णीत कल्पित मार्ग का है।

९७ भक्ति-मार्गानुबन्धी उपास्य–उपासक, एवं उपासना–साधन–त्रयी का संस्मरण—

भक्ति के सम्बन्ध में यह विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि, इस मार्ग में द्वैतभाव की ही प्रधानता है। "उपास्य–उपासक–उपासनासाधन" इन तीन पर्वों के समन्वय से ही "भक्ति" का स्वरूप निष्पन्न होता है। शास्त्रों का परम अव्यक्त अक्षर अद्वय निर्गुण निराकार निरञ्जन सर्वव्यापक आत्मतत्त्व उक्त तीनों पर्वों से अभिभूत होता हुआ सर्वथा अनुपास्य ही है। व्यापक आत्मदृष्टि में उपास्य-उपासक का भेद सर्वथा अनुपपन्न है। फलतः उस व्यापक आत्मदृष्टि से न कोई उपास्य है न कोई उपासक है एवं न उपासना का साधन ही है।

९८–द्वैतभावनिबन्धन भक्तिमार्ग—

'मनोयोग की उपासना कीजिए, अथवा अङ्गुष्ठपरिमाणानुसार समानप्रत्ययप्रवाहरूप 'ध्यानयोग' की उपासना कीजिए, उभयथा इस योग के लिए द्वैतभाव को ही आधार बनाना पड़ेगा। यही कारण है कि,

ज्ञानयोगदृष्टि को प्रधान मानने वाले भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य्य ने ज्ञानदृष्टि से जहाँ 'अहं और असौ' (जीव और ईश्वर) का अभेद माना है वहाँ भक्तिमार्ग की दृष्टि से उन्होंने भी इन दोनों का भेद ही भाव रक्षक समझा है जैसाकि उनकी इस सूक्ति से स्पष्ट है—

यद्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं, न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

९९–भक्तिमार्ग–निबन्धन द्वैतभाव की स्वरूप-मीमांसा तत् प्राणप्रतिष्ठारूपा अद्वैत-निष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में आर्ष-वचनों का संस्मरण—

भक्तिमार्गानुबन्धी इस भेदवाद का मूल रहस्य यही है कि, हमारा मन एवं बुद्धि दोनों ही परिच्छिन्न हैं ससीम हैं परिमित हैं। इनका योग किसी परिच्छिन्न ससीम एवं परिमित तत्त्व के साथ ही सम्भव है। उधर वह मायातीत परब्रह्म अपरिच्छिन्न असीम एवं अपरिमित है। अतएव वहाँ न हमारा सीमित मन पहुँच सकता एवं न सीमित बुद्धि का ही वहाँ गमन सम्भव। हम हमारे मानस ज्ञान से विज्ञानज्ञान से एवं वाणी से जिस आत्मा के ज्ञान एवं यशोगान का अभिमान करते हैं वह सगुण–साकार–सावच्छिन्न ससीम एवं परिमित आत्मा ही है। निर्गुण–निराकार–अनवच्छिन्न तत्त्व तो हमारे विज्ञानज्ञान प्रज्ञानज्ञान–श्रोत्र–वाक् आदि सब परिग्रहों से बहिर्भूत ही है। उसी की अनुपास्यता एवं अनिर्वचनीयता बतलाते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१ "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति, नो मनः न विद्मः, न विजानीम, यथैतदनु-शिष्यात्। अन्यदेव तद्विदितात्, अथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये न स्तद्व्याचचक्षिरे"।

२–यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

३–यस्यामतं–तस्य मतं, मतं यस्य–न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥

४–नविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

१००–निराकार–साकार–भेद भिन्ना–आपातसिद्धी तत्त्वसमन्वय अनुपास्य निराकार एवं उपास्य सगुणप्रजापति का संस्मरण—

'नेदं यदिदमुपासते' इस वचन ने 'ज्ञेय (तटस्थ लक्षण से ज्ञेय किन्तु स्वरूपत सर्वथा अविज्ञेय) एवं 'उपास्य' दोनों का सर्वथा पार्थक्य ही सिद्ध किया है। यही वचन यह सिद्ध करने के लिए भी पर्याप्त

प्रमाण है कि निराकार सर्वथा अनुपास्य ही है। हम जिस की उपासना करते हैं, वह उस व्यापक निराकार से सर्वथा भिन्न ही तत्त्व है। फलतः जो महानुभाव द्वैतमूला सगुणोपासना की उपेक्षा करते हुए निराकार की उपासना का अभिमान करते हैं, पद पद पर निरञ्जन–निराकार का यशोगान करते हुए शास्त्रसिद्ध–सगुणोपासना पर आक्षेप करते हैं वे वास्तव में अवश्य ही दया के पात्र हैं।

१०१–आत्मा–प्राण–पशु–समष्ट्यात्मक उपास्य सगुणेश्वर का संस्मरण—

कहना यही है कि उपासना व्यापक निर्गुण की नहीं होती। होती है एकमात्र सगुण ब्रह्म की द्वैतमूलक संसारप्रवर्त्तक विश्वेश्वर प्रजापति की। आगे जाकर तो पाठक यह भी देखेंगे कि, वस्तुतः उपासना ईश्वर (सगुणब्रह्म) की भी नहीं होसकती। ईश्वरप्रजापति के आत्मा (सगुणात्मा)–प्राण–पशु ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों में आत्मा 'ईश्वर' है। प्राण 'ईश्वर की विभूति' है यही 'देवता' है। एवं पशु 'भौतिक संसार' है। पशुरूप भौतिक संसार अर्थप्रधान है, कर्मप्रधान है। आत्मरूप ईश्वर ज्ञानप्रधान है। एवं प्राणरूप देवता उभयरूप है।

१०२–अध्यात्म–अधिदैवत–अधिभूत–निबन्धन उपासक–उपास्य–उपासना–साधन–सामग्री का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय —

यह बतलाया जाचुका है कि ज्ञानयोग ज्ञानप्रधान है, कर्मयोग कर्मप्रधान है एवं मध्यस्थ भक्तियोग में ज्ञान कर्म दोनों का समन्वय है। फलतः सिद्ध होजाता है कि ज्ञानयोग की आलम्बनभूमि आत्मेश्वर है, कर्मयोग की प्रतिष्ठा भौतिक विश्व है। एवं भक्तिनिष्ठा का अन्यतम आधार प्राणदेवता है। ज्ञान ईश्वर का ही द्योता है, कर्म संसार से ही सम्बन्ध रखता है, एवं उपासना किंवा भक्ति सम्बन्ध देवता की ही होती है। इसी विषय का आगे के प्रकरणों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि आत्मतत्त्व के विश्व विश्वातीत ये दो विवर्त्त हैं। इन में विश्वातीत सर्वथा अनुपास्य है, अविज्ञेय है, एवं विश्वमय ही सगुणब्रह्म बनता हुआ उपास्य बनता है। तथा सगुणब्रह्मोपासनाप्रकरण में न केवल भगवत्पाद शाङ्कराचार्य सम्मत द्वैतवाद ही अपितु भगवत्पाद रामानुजाचार्य-सम्मत 'ईश्वर–जीव–जगत्' इस त्रितत्त्ववाद की ही प्रधानता है। ईश्वर आधिदैविक तत्त्व है, जगत् आधिभौतिक तत्त्व है एवं जीव आध्यात्मिक तत्त्व है। आधिभौतिक जगत् उपासनासाधन है, आधिदैविक ईश्वर उपास्य है, एवं आध्यात्मिक जीव उपासक है। इस के द्वारा यह यहाँ स्पष्ट होजाता है कि यही उपासना रहस्य है। ज्ञानयोग साध्य–साधनापेक्षया उभयथा यहाँ आधिदैविक है, कर्मयोग साध्य–साधनापेक्षया उभयथा यहाँ आधिभौतिक है वहाँ हमारे इस उपासनाप्रकरण में साध्य आधिदैविक है, साधन आधिभौतिक है एवं साधक आध्यात्मिक (जीव) है। अध्यात्म (जीव) अधिभूत-(जगत्)-साधनों से अधिदैवत (ईश्वर) का भागी बन जाय यही भक्तिनिष्ठा का निष्कर्ष है, जैसा कि आगे के परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

१०३–देवयुगानुगता निर्गुणोपासना की अनेकप्रकारता, एवं तत्सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति परम्पराएं—

पूर्वप्रतिपादित देवयुगानुगत भक्तिमार्ग-परिच्छेदों में हमने यह कहा है कि, उस युग की उपासना "निर्गुणोपासना" ही थी। परन्तु इन परिच्छेदों में यह कहा जाता है कि–निर्गुण की उपासना बन ही नहीं सकती। यह पूर्वापर-विरोध कैसा? एक विप्रतिपत्ति। एक ही शास्त्रमें म.तत्त्व के सम्बन्ध में अनेक मार्ग किस आधार पर बतलाए जब कि सनातन सत्यमार्ग सदा एक ही होता है? दूसरी विप्रतिपत्ति। मौलिक भक्तिमार्ग किन कारणों से अनेक रूपों में परिणत होगया?, तीसरी विप्रतिपत्ति। इन्हीं कतिपय विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए निम्नलिखित सन्दर्भ उपक्रान्त होरहा है। अवधानपूर्वक दृष्टि-निक्षेपानुग्रह से किसी भी विप्रतिपत्ति का महत्त्व शेष नहीं रह जाता। फलतः शास्त्रविरोध का यथापूर्व समन्वय होजाता है, संशयात्मक सभी भ्रान्तजाल विच्छिन्न होजाते हैं।

१०४ उपास्यतत्त्व का पावन सस्मरण, तदनुप्राणिता भक्तनिष्ठा, एवं तत्समर्थक-श्रुतिसन्दर्भ—

उपासनाकाण्ड के पाँच मार्गों के समन्वय से पहिले हमें उपास्यतत्त्व का ही विचार करना पड़ेगा। उपास्य का स्वरूप ही इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का मूलाधार माना जायगा। ईश्वर-आत्मा-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-वरुण-अग्नि-मातरिश्वा-महेश-दुर्गा-गणेश-सूर्य-चन्द्रमा-ओङ्कार-राम-कृष्ण-इत्यादि रूप से उपास्य देवताओं के अनेक नाम सुने जाते हैं एवं इस नाम-भेद से ही उपासनामार्ग विभिन्न भी बन रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि "एक वा इदं वि बभूव सर्वम्" * इत्यादि श्रुति मन्त्र के अनुसार उक्त सभी उपास्य उस एक ही तत्त्व के अनेक विवर्त हैं। अतएव यह भी निःसंदिग्ध है कि इन उपास्यों में से किसी एक रूप की उपासना करता हुआ भी उपासक परम्परया उसी तत्त्व की उपासना कर रहा है जैसा कि निम्नलिखित श्रौत-स्मार्त-वचनों से स्पष्ट है—

१–स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषपरायणाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति" (प्रश्नोपनिषत्)

२—येऽप्यन्यदेवतामक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ (गीतोपनिषत्)

---

*–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति–"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"॥
—ऋक्संहितायाम्

१०५–उपास्यदेवता के विभिन्न विवर्त—

अब हमारे सामने प्रमुख प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि, वह एक तत्त्व कौन है एवं कैसा है जिसके लिए अनेक उपास्य-विवर्त बन जाते हैं। इन सब प्रश्नों का सम्यक् दर्शन-सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्र्य भूमिका द्वितीय खण्डान्तर्गत "आत्मपरीक्षाप्रकरण" से गतार्थ है। अतः यहाँ उस विषय के विश्लेषण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रकरणसङ्गति के लिए दो शब्दों में उस आत्म-स्वरूप का सिंहावलोकनमात्र ही कर लिया जाता है।

१०६–निर्गुण ब्रह्म की परिग्रहानुगता सगुणता का समन्वय—

सत्यमनविशिष्ट (सत्यम्मनविशिष्ट) सत्मूर्ति (मनमूर्ति) तत्त्व ही "परात्पर" "परमसत्" "निरवालीन" "अनुपाख्यब्रह्म" "निर्गुणब्रह्म" "निराकार" "निरञ्जन" "अद्वय" "अक्षर" "प्रविविक्त" इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। यही निर्गुण निरवालीन ब्रह्म परिग्रहों से युक्त होकर (सगुण रूप में) सगुण बन जाता है।

१०७–सगुणताप्रवर्त्तक षड्विध (६) परिग्रहों का नाम-स्मरण—

परिग्रह ही उस निर्धर्मक को सधर्म्मोपेत प्रमाणित कर देते हैं। वे परिग्रह पाञ्चभौतिक से परिगणित (गिन गिनाए) हैं एवं वे ६ परिग्रह क्रमशः १–माया २–कला, ३–गुण ४–विकार ५–अञ्जन ६–आवरण इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन ६ परिग्रहों के सम्बन्ध से उस एक ही निरवालीन के षड्विध (६) विवर्त्त होजाते हैं। माया से युक्त मायी तत्त्व ही "अव्यय" कहलाता है। कला से युक्त मायी अव्यय ही "षोडशीप्रजापति" (षोडशीपुरुष) कहलाता है। गुण से युक्त षोडशीप्रजापति ही "सत्य प्रजापति" [ब्रह्मसत्यात्मक] कहलाता है। विकार से युक्त सत्यप्रजापति ही "यज्ञप्रजापति" [शुक्रात्मक] कहलाता है। अञ्जन से युक्त यज्ञप्रजापति ही "विराट्प्रजापति" [विश्वसत्यात्मक] कहलाता है। एवं आवरण से युक्त विराट्प्रजापति ही "विश्व" [पाञ्चभौतिक, सप्तविधविश्वरूप प्रजात्मक-त्रिलोकीरूप विश्व] कहलाता है।

१०८–षट्परिग्रहमयी सगुणप्रजापति के विभिन्न ६ स्वरूप—

विश्वदृष्टि से यही सत्य अव्यय–षोडशी–सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व इन ६ रूपों के समन्वय से सम्पन्न है। विराट्दृष्टि से यही अव्यय–षोडशी–सत्य–यज्ञ–विराट् इन पाँच रूपों के समन्वय से पञ्चात्मक है। यज्ञदृष्टि से यही अव्यय–षोडशी–सत्य–यज्ञ इन चार रूपों के समन्वय से चतुरात्मक है। सत्यदृष्टि से यही अव्यय–षोडशी–सत्य इन रूपों के समन्वय से त्रिरूप है। षोडशीदृष्टि से यही अव्यय षोडशी इन दो रूपों के समन्वय से द्विरूप है। निर्गुण अव्ययदृष्टि से [illegible] है। एवं परात्परदृष्टि से यही सब कुछ है भी सब कुछ नहीं भी है।

१०९–षट्पर्व्व त्रिलक्षण-परिग्रहविशिष्ट प्रजापति का भावात्मक-समन्वय प्रयास—

वे। [illegible] है वैसा ही अनिर्वचनीय सम्बन्ध है जिसके सम्बन्ध में सब कुछ कह सकते हैं एवं कुछ भी नहीं कह सकते। भाव भी कह सकते हैं एवं अभाव भी। क्या कहें कुछ कहते भी नहीं बनता बिना कहे भी रहा नहीं जाता। यह कहें कि यह इस रूप से मान रूप अथवा [illegible] सब कुछ है सब कुछ अव्यक्त है यह भी नहीं है तो यह भी नहीं है। न यह यह है न वह यह है "ना" भी नहीं है "हाँ" भी नहीं है। न यह "ना" है न यह "हाँ" ही है यह "ना" भी है

तो हाँ भी है। आत्मब्रह्म के इस अनिर्वचनीय विवर्त्त के सम्बन्ध में मानवीय मन इदमित्थंभूता अलम्पता अस्त व्यस्त वाणी के प्रयोग के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है ?। सब से अच्छा तो यही होगा कि, तत्स्वरूप से लीलाधर की लीला पर आश्चर्य ही करते रहें हम निरन्तर आश्चर्यवत् और तत्सम्बन्ध में कहें कुछ भी नहीं। यदि मानव मन के स्वाभाविक आग्रह से कुछ तो भी कहने की आकुलता ही हो, तो अधिक से अधिक 'नेति-नेति' मात्र ही कहें—"नेति नेति कहि वेद पुकारा" (देखिए। गीताभूमिका-'आत्मपरीक्षात्मक' द्वितीयखण्ड के 'क' विभाग का-'दार्शनिक-दृष्टि से आत्मपरीक्षा' नामक अवान्तर प्रकरण)।

११०-सगुणात्मविवर्त्त-समन्वय (परिलेखात्मक)—

निर्गुणात्मा—परात्परः
निरुपाधीतः सर्वातीतः सर्वस्थः

	१ १ अव्ययः					
	१ २—अव्ययः	२ षोडशी				
[illegible]	१ ३—अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः			
[illegible]	१ ४—अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः		
	१ ५—अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः	५ विराट्प्रजापतिः	
	१ ६—अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः	५ विराट्प्रजापतिः	६ विश्वम्
विश्वम्	१—अव्ययः	२—षोडशी	३—सत्यप्रजापतिः	४—यज्ञप्रजापतिः	५—विराट्प्रजापतिः	६ विश्वम्

स गु णा त्म वि व र्त्त म्

१११-षड्विध-परिग्रह-समन्वय (परिलेखात्मक)—

षट्परिग्रहमुक्तः —अमायी— निर्गुण परात्पर —ब्रह्म

१ १-माया						मायी-अव्ययः १
१ २-माया	२ कला					सकल षोडशी २
१ ३ माया	२ कला	३ गुणा				सगुणः सत्यप्रजापतिः ३
१ ४ माया	२ कला	३ गुणा	४ विकाराः			सविकारो यज्ञप्रजापतिः ४
१ ५ माया	२ कलाः	३ गुणाः	४ विकाराः	५ अञ्जनानि		साञ्जनो विराट्प्रजापतिः ५
१ ६-माया	२ कला	३ गुणा	४ विकाराः	५ अञ्जनानि	६ आवरणानि	सावरणं विश्वम्-६

षट्परिग्रहयुक्त—सर्वधर्मोपपन्न आत्मन्वी ईश्वर उपाधते

११२-अभिन्न-विद्युद्यन्त्र से सञ्चालित भिन्न भिन्न तन्त्र एवं अभिन्न-आत्मतन्त्र से सञ्चालित नानाभेद-भिन्न प्राकृतिक विवर्त—

एक ही विद्युत्-यन्त्र परन्तु उससे सञ्चालन असंख्य कार्यों का। रेल तार टेलीफोन वायरलेस-टेलीग्राफी रेडियो वायुयान जलयान फोनोग्राफ, पुतलीघर, जलाकर्षण लाइट, प्रेस प्रभृति आदि आदि सभी तो उस एक ही विद्युत्-यन्त्र से सञ्चालित हैं। इन सभी विविध कर्मों का एकमात्र विद्युत्-यन्त्र ही तो मूलाधार है। उस एक ही पर तो वे नाना कर्म प्रतिष्ठित हैं। अतः किसी कर्म का यदि वास्तविक रहस्य जानने की इच्छा होती है तो उसकी सम्यक् पूर्ति के लिए पहिले उस विद्युत्-यन्त्र का रहस्य जान लेना आवश्यक हो जाता है। कारण—सभी कर्मों का यही विद्युत्-यन्त्र मूलस्रोत बना हुआ है।

११३–सर्वाधारात्मक स्वाधारभूत निराधार आत्मतन्त्र की सर्वव्याप्ति, एवं तदनुगता सर्वतन्त्रानुप्राणिता जिज्ञासा—

ठीक यही स्थिति विद्युद्-यन्त्र-स्थानीय उस सर्वाधार (किन्तु स्वयं स्वाधार अतएव निराधार) एक आत्मा के, एवं इतर आविष्कार-स्थानीय इतर विवर्त्तों के सम्बन्ध में समझिए। 'सर्वेषामकायतनम्' इस सिद्धान्त के अनुसार यही उक्त ५ ओं विवर्त्तों का मूलाधार है। न केवल इन्हीं का अपितु—ज्ञान-कर्म्म-यज्ञ-तप-दान इष्ट-आपूर्त्त-व्रत-इत्यादि जितने भी वैदिक-लौकिक-शास्त्रीय अशास्त्रीय प्रपञ्च हैं सब का मूल आधार यही एक तत्त्व है। फलतः इन सबमें से जिसकी भी स्वरूप-जिज्ञासा होगी प्रत्येक के आरम्भ में उसका विचार आवश्यकरूपेणैव समरणीय होगा।

११४–प्रकान्त उपासनात्मक-भक्तियोग के अनुबन्ध से सर्वाधारभूत आत्मतन्त्र का अनिवार्य्य संस्मरण, एवं कल्पनिकों के काल्पनिक आपेक्ष का निरसन—

जब यह सबके मूल में प्रतिष्ठित है, तो हमारा उपासनाकाण्ड भी उससे कैसे वञ्चित रहसकता है?। फलतः उपासना के पाँचों विवर्त्तों के मौलिक रहस्य के परिज्ञान के लिए भी उसी मूलतत्त्व के विस्तार का परिज्ञान आवश्यक बन जाता है। ऐसी दशा में यदि कोई यह आक्षेप करे कि—निबन्ध-निबन्धा (लेखक) 'पद पद पर इसी अव्यय-अक्षर-की गाथा गाकर समय नष्ट कर रहा है' तो इस आक्षेप का कोई मूल्य नहीं रह जाता। आप तो उपासना के लिए कहते हैं। हमारा तो यह भी विश्वास है कि यदि कोई यह जिज्ञासा करे कि-"सूर्य्योदय से पहिले क्यों उठना चाहिए? यज्ञोपवीत क्यों धारण करना चाहिए? सन्ध्या क्यों करनी चाहिए'! तो इन प्रश्नों के समाधान के लिए भी उसी मूलात्मा के स्वरूप को आगे रखना पड़ेगा। यही कारण है कि पूर्वप्रकरणों में प्रत्येक विषय के साथ हमें भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से उसी मूलतत्त्व का स्वरूप बतलाना पड़ रहा है और आगे भी आवश्यकतानुसार उसका अवश्य ही आश्रय लिया जायगा। वही मर्य्यादा प्रस्तुत उपासनाकाण्ड में भी उसीके स्वरूपोपवृंहण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

११५–एतत्' रूप विश्व के आधारभूत तत्' रूप विश्वात्मा की मन प्राण-वाग निबन्धना ज्ञान क्रिया अर्थ-शक्तित्रयी का पावन संस्मरण—

'उसे पहिचानने के लिए 'इसे पहिचानना पड़ेगा एवं 'इसे पहिचानने के लिए 'उसे ध्यान में रखना पड़ेगा। 'इसका अर्थ है "विश्व" एवं 'उसका अर्थ है 'आत्मा'। यह कार्य्य है तो 'वह' कारण है। कार्य्यस्वरूप से कारणस्वरूप का अनुमान लगा लेना दार्शनिक-सम्प्रदाय का भी सवसम्मत सिद्धान्त है। कार्य्यरूप विश्व में हम ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीन विवर्त्तों का साक्षाद्रूप से अनुभव एवं प्रत्यक्ष कर रहे हैं। ज्ञान क्रिया का तो अनुभव होता है एवं अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। कार्य्यविश्व के इन्हीं अनुभूत इन-तीनों भावों के आधार पर हमें यह अनुमान लगा लेना पड़ता है कि अवश्य ही कारणरूप तत्त्व में ऐसी कोई तीन शक्तियाँ होंगी, जिनसे कि कार्य्यरूप विश्व में इन तीन शक्तियों की अभिव्यक्ति हुई। 'विश्वज्ञान' का आधार वही कारणतत्त्व 'मन' नाम से प्रसिद्ध है। 'विश्वक्रिया' का आधार वही

कारणवर्ग 'प्राण' नाम से एवं 'विश्वाय' का आधार वही कारणवर्ग 'वाक्' नाम से प्रसिद्ध है। मनःप्राणवाङ्मय कारणवर्ग ही ज्ञान-क्रिया-अर्थमय अव्ययविश्व की आधारभूमि है। यही इस विश्व का आत्मा है जैसाकि- स वा अय आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त से स्पष्ट है।

११६-विश्वातीत-निष्कल 'परात्परात्मा' की पर्परिग्रह-निबन्धना-मायानुगता 'सकलता', एवं निष्कलता का संस्मरण—

जैसाकि आरम्भ में कहा गया है विश्वातीत आत्मा निष्कल है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, वह निष्कल सकल कैसे बन गया ?। उत्तर ये ही माया-कला-गुण-आदि ५ परिग्रह हैं। इन परिग्रहों में 'माया' नाम का परिग्रह ही सर्वाति सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ है। इसके उदय से ही वह असीम अव्यय ससीम बन कर 'अव्ययपुरुष' कहलाने लगता है। केवल मायामय, अतएव मित' (परिमित) यही तत्त्व सर्वथा 'अकल-किंवा निष्कल अव्ययपुरुष' है।

११७-मायापरिग्रह-युक्त मायी अव्यय की सगुणरूपता का दिग्दर्शन, एवं तत्त्वदृष्ट्या मायी अव्यय की अनादित्वनिबन्धना निर्गुणता का समन्वय—

यदि माया को भी एकप्रकार का 'गुण' ही मान लिया जाता है तब तो वह 'मायी अव्यय' भी 'सगुण आत्मा' कहला सकता है। अन्तु वस्तुतः 'गुण' तीसरा परिग्रह है एवं इसका उदय 'योगमाया मय' तीसरे 'सत्यप्रजापति' में ही होता है। 'वागत्रयी का मौलिक रहस्य' नामक द्वितीय प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि 'महामाया' का अक्षर से सम्बन्ध है एवं योगमाया का क्षर से सम्बन्ध है। अव्यय का स्वरूप-सम्पादन करने वाली महामाया गुणातीता (विशुद्ध सत्त्वमिता-जिसके कि आधार पर ही आगमों का गुणाभावसम्बन्ध प्रतिष्ठित है) है। एवं क्षरात्मिका योगमाया ही त्रिगुणभाव की जननी बनती हुई 'यज्ञ-विराट' के द्वारा विश्वस्वरूप की सम्पादिका बनती है। इस दृष्टि से हम केवल महामायावच्छिन्न अव्ययपुरुष को (सीमाभाव से सगुण होते हुए भी) गुणत्रय से बहिर्भूत बने रहने के कारण निर्गुण ही कहेंगे जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
>
> —गीता

११८-मन्वन्तरतम श्वोवसीयस-मनोमूर्ति निर्गुण अव्ययात्मा की अक्षरप्रकृति निबन्धना मन प्राणवाङ्मयता का संस्मरण—

मायावच्छिन्न सीमाभाव के उदयकाल में ही सीमाभाव का नियमतः त्यागी 'हृदयभाव' उद्बुद्ध होजाता है। हृदयावच्छिन्न मायामय वही अव्यय "मन" (श्वोवसीयस् मनः, किंवा 'अव्ययमन' मन्वन्तरतममन) कहलाने लगता है। आगे जाकर हृदयगत या बहुधा 'अक्षरप्रकृति' के व्यापार से वही मन प्राणवाङ्मय

नता हुआ त्रिकल बन जाता है। इसप्रकार केवल मायाबल ही अक्षर-क्षर के सहयोग से अकल मनोमय रूप 'अव्यय' को मन -प्राण-वाङ् मय-बना डालता है।

११६ प्रकृतिनिबन्धन अक्षरभाव के अनुबन्ध से अव्ययात्मा की ही अव्यय अक्षर क्षर भेदनिबन्धना संस्थात्रयी का क्रमानुगत-समन्वय—

इन तीनों में-प्रत्येक के तीन तीन विवर्त होजाते हैं स्वयं अव्ययमन के वे तीनों विवर्त आनन्द 'विज्ञान-' मन (अन्तर्मन) इन नामों से प्रसिद्ध है। यही मौलिक 'अव्ययात्मसंस्था है', वे तीनों 'मनोमय अव्यय' के ही तीन विवर्त हैं अतएव इसे हम- 'मनःसंस्था' भी कहसकते हैं। हृदयबलात्मक पञ्चकल अमृता-प्रकृतिरूप अक्षर का प्राणविवर्त्त से सम्बन्ध है। इस 'अक्षरप्राण' के तीनों विवर्त 'मन (बहिर्मन)-प्राण-वाक्' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही दूसरी 'अक्षरात्मसंस्था' है। ये तीनो प्राणमय अक्षर के ही तीन विवर्त हैं अतएव इसे हम 'प्राणसंस्था' कहसकते हैं। हृदयबलात्मक पञ्चकल मर्त्या-प्रकृतिरूप आत्मक्षर का वाग्विवर्त्त से सम्बन्ध है। इस 'क्षरप्राण' के तीनों विवर्त "वाक्-आपः-अग्निः" इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही तीसरी 'क्षरात्मसंस्था' है। तीनों वाङ्मय क्षर के ही तीन विवर्त हैं अतएव इसे हम 'वाक्संस्था' कहसकते हैं।

१२०-कामरेतोमय मनोमूर्त्ति अव्ययात्मा के त्रिवृद्भावापन्न-मन-प्राण-वाग्-विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय, एवं निष्कल-मायी की पञ्चकलोपततता का दिग्दर्शन—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, मायामय 'अव्ययमन' आरम्भ में अक्षर के सम्बन्ध से होने वाली चिति से प्राणमय बनता हुआ 'द्विकल' बना एवं क्षर के सम्बन्ध से होने वाली चिति से वाङ्मय बनता हुआ त्रिकल बना। आगे जाकर प्रकृतिबन्ध त्रिवृद्भाव के कारण इसकी तीनों कलाएँ मन प्राण-वाक् इन तीन तीन भावों से युक्त बनती हुई ६ संख्या में परिणत होगईं। इनमें त्रिवृन्मन स्वयं अव्ययपुरुष रहा त्रिवृत्प्राण अक्षर रहा एवं त्रिवृत्-वाक् क्षर रही। त्रिवृन्मनोमय अव्यय का मनोभाग आनन्द प्राणभाग विज्ञान एवं वाग्भाग मन कहलाया। इस वाङ्मय मन के गर्भ में कामना का प्रादुर्भाव रहा जैसाकि 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि * मन्त्रवचन से स्पष्ट है। इसी कामना से वाङ्मय मन ने (अव्ययमन ने) अपने ऊपर 'बल' की 'बहिश्चिति' की। यह चिति प्राण वाक् इन दो भागों में विभक्त हुई। इसप्रकार आनन्द-विज्ञान-गर्भित कामनामय वाग्रूप मन ही मन प्राण-वाग्रूप में परिणत होता हुआ तीन के स्थान में 'पञ्चकल' बन गया।

---

*-कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
—ऋक्संहिता।

१२१ आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्-भेदेन पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा, तदभिन्नमना मुमुक्षा-सिसृक्षा, तदनुप्राणिता निवृत्ति-प्रवृत्ति, एवं सृष्टिसाक्षी, तथा मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा का संस्मरण—

यही पञ्चकल अव्यय उपनिषदों में पञ्चकोशात्मक (आनन्दमय-विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय-वाङ्मय-अन्नमय)-ब्रह्म कहलाया। इसके पांच कोश निवृत्तिकमना-प्रवृत्तिकमना के भेद से दो रूपों में परिणत होगए। आनन्दमय मन का निवृत्तिभाव 'सृष्टिनिवृत्ति' (बन्धनविमुक्ति) का कारण बना एवं प्राणमय मन का प्रवृत्तिभाव 'सृष्टिप्रवृत्ति' [बन्धनप्रवृत्ति] का कारण बना। आनन्द विज्ञान-मनोमय यही अव्यय मुक्तिसाक्षी बनता हुआ मुमुक्षा का आलम्बन बना, एवं मनःप्राणवाङ्मय यही अव्यय सृष्टिसाक्षी बनता हुआ 'सिसृक्षा' का अधिष्ठान कहलाया। मुक्तिसाक्षी अव्यय 'विद्यामूर्त्ति' कहलाया, एवं सृष्टिसाक्षी अव्यय 'कर्म्ममूर्त्ति अव्यय' कहलाया। सर्वथा यह स्मरण रखने की बात है कि, अव्यय के ये पांचों रूप मनोमय बनते हुए ज्ञानप्रधान ही हैं। एवं इसके मन-प्राण-वाक् ये तीनों तत्त्वसर्वरूप वाङ्मय मन के ही तीन विवर्त्त हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

१२२—अव्ययात्मसंस्थान-समन्वय-परिलेखात्मक —

१—१-मनोमयं मन —आनन्दः (ज्योतिर्मयः)]—मनोमयं मन (आनन्द) (मनः)
२—२-मनोमय प्राण —विज्ञानम् (विज्ञानमयम्)]—मनोमय प्राण (विज्ञानम्) (मन)
३—{ ३-मनोमयी वाक्—मन (निवृत्तिकमनमयम्) / ४ वाङ्मयं मन—मनः (प्रवृत्तिकमनमयम्) }
४—४-वाङ्मयः प्राणः—(तपोमय)
५—५-वाङ्मयी वाक्—(अन्नमयी)
(३, ४, ५) }—मनोमयी वाक् (मन) (मनः)
(सर्व) }—"मन" (ज्ञानम्)

———•———

१२३—अव्ययात्मसंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मक.—

यह हो गया मनः-प्राण-वाग्रूप (आनन्द-विज्ञान-मनोमय) मनोमय अव्ययात्मा का संक्षिप्त निदर्शन। अब क्रमप्राप्त मायामय अक्षर पर दृष्टि डालिए। अक्षर पर अव्यय के चित्-प्राण का अनुग्रह होता है। इन में प्राणमय मन अमृत-ब्रह्माक्षर का अनुग्राहक बनता है, प्राणमय प्राण अमृत-इन्द्राग्नि-अक्षरों का अनुग्राहक बनता है, एवं प्राणमयी वाक् अमृत अग्नि-सोमाक्षरों की अनुग्राहिका बनती है। इस प्रकार पञ्चकल अक्षर में चित्प्राण का उपभोग सिद्ध होजाता है।

१–आनन्दे प्रतिष्ठित —ब्रह्माक्षरः]	—प्राणमय मनः (प्राणः) प्राणः	"प्राण" (क्रिया)
२–विज्ञाने प्रतिष्ठितः–विष्णुरक्षर	—प्राणमयः प्राणः (प्राणः) प्राण	
३–मनसि प्रतिष्ठितः—इन्द्राक्षरः		
४–प्राणे प्रतिष्ठितः—सोमाक्षरः	—प्राणमयी वाक् (प्राणः) प्राणः	
५–वाचि प्रतिष्ठितः—अग्न्यक्षरः		

१२४–क्षरात्मस्थान-समन्वय-परिलेखात्मक—

अक्षर के अनन्तर है वाङ्मय क्षर। इस आत्मक्षर पर अव्यय की त्रिवृता वाक् का अनुग्रह होता है। इन में वाङ्मय मन मर्त्य ब्रह्माक्षर का अनुग्राहक बनता है यही वाक्छुक्र है। वाङ्मय प्राण मर्त्य इन्द्राविष्णुक्षरों का अनुग्राहक बनता है यही आपःशुक्र है। वाङ्मयी वाक् मर्त्य अग्नि-सोमक्षरों की अनुग्राहिका बनती है। यही अग्निशुक्र है। इसप्रकार पञ्चकल आत्मक्षर में त्रिवृता वाक् का उपभोग सिद्ध होजाता है।

१–आनन्दगर्भिते ब्रह्माक्षरे प्रतिष्ठित —ब्रह्मा क्षरः]	—वाङ्मयं मनः (वाक्) वाक्	"वाक्" (अर्थः)
२–विज्ञानगर्भिते-विष्ण्वक्षरे प्रतिष्ठितः —विष्णुः क्षरः	—वाङ्मयः प्राणः (आप) वाक्	
३–मनोगर्भिते इन्द्राक्षरे प्रतिष्ठित —इन्द्रः क्षरः		
४–प्राणगर्भिते-सोमाक्षरे प्रतिष्ठित —सोमः क्षरः	—वाङ्मयी वाक् (अग्निः) वाक्	
५–वाग्गर्भिते-अग्न्यक्षरे प्रतिष्ठित —अग्निः क्षरः		

---

१२५ अव्यय अक्षर क्षरानुगामी-कला-गुण विकार-परिग्रह-समन्वय, एवं अव्ययपुरुष की स्वाभाविकी निष्कलता निर्विकारता तथा निर्गुणता का संस्मरण—

मायापरिग्रह अव्ययानुगामी है, कलापरिग्रह अक्षरानुगामी है, एवं गुणपरिग्रह आत्म क्षरानुगामी है। यह विशुद्ध मायामय अव्यय कलामयस्य अक्षर एवं गुणमयात्म क्षर के समन्वय से आगे जाकर षोडशीकल बन जाता है। यही दूसरा षोडशीविवर्त कहलाता है। क्षर गुणमय एवं विकारमय है परन्तु इस का प्रभुत्व स्वयं षोडशीपुरुष पर नहीं होने पाता। प्रभुत्व होता है इस का आगे के विकारक्षर पर जिस से कि तीनों स मयप्रवर्तित का स्वरूप निष्पन्न होता है एवं जिसे कि हम प्रकृत्या में ही सगुण

प्रजापति कहने वाले हैं। इस दृष्टि से जहाँ विशुद्ध अव्यय को हम निर्गुणात्मा कहते हैं वहाँ दूसरे षोडशी को भी निर्गुण (किन्तु परम्परया गुणप्रवर्तक एवं विकारप्रवर्तक) ही कहेंगे। विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार अव्यय जहाँ भावसृष्टि (मानसी सृष्टि) का प्रवर्तक है वहाँ अक्षर, और आत्मक्षर-रूपा परा-अपरा-प्रकृतियाँ क्रमशः गुण एवं विकारसृष्टि की प्रवर्तिकाएँ कहलाती हैं। गुण तथा विकार की प्राप्ति यद्यपि षोडशी से ही होती है। परन्तु यह स्वतःशुद्ध अव्ययवत् निर्गुण एवं निर्विकार ही है।

१२६–'न करोति न लिप्यते' सूचक विशुद्ध निर्गुण अव्यय एवं—'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः', सूचक सगुणाव्ययमूर्ति षोडशीप्रजापति—

कारण स्पष्ट है। गुण एवं विकार-भावों का विश्वसृष्टि से ही सम्बन्ध है। विश्वसृष्टि का मूलोपादान सगुण-अव्ययप्रजापति (मनोमय) एवं सविकार-अक्षप्रजापति ही है। षोडशी तो निर्गुणात्मक-अविकार विश्वात्मा निर्गुण-निर्विकार आत्मा है। इसी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि विशुद्ध निर्गुण-निष्कल अव्ययात्मा न करता है न लिप्त होता है। षोडशीप्रजापति कर्त्ता अवश्य है परन्तु लिप्त नहीं होता। 'न करोति न लिप्यते' ये अक्षर जहाँ विशुद्ध अव्यय के सूचक हैं वहाँ–'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन' ये अक्षर षोडशीप्रजापति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

१२७–अव्यय निर्वचन 'आत्मा' शब्द एवं षोडशीप्रजापति निर्वचन 'आत्मन्वी' शब्द तथा आत्मा-प्राण-पशु-समष्ट्यात्मक 'प्रजापति' का स्वरूप समन्वय—

एक बात और। अव्यय केवल 'आत्मा' शब्द के-सम्बोधन का ही अधिकारी है। इसे 'ईश्वर' नहीं कहा जा सकता। 'ईश्वर' शब्द आत्मन्वी का वाचक है और यही 'प्रजापति' है। प्रजापति में आत्मा-प्राण-पशु ये तीन विवर्त होने चाहिएँ। निष्कल अव्यय में विश्वका अभाव है। अतएव न वह 'ईश्वर' कहला सकता न 'प्रजापति'। प्रजापतियों में पहिला प्रजापति यही षोडशीपुरुष है। इसका पञ्चकल अव्ययभाग आत्मा है, पञ्चकल अक्षरभाग प्राण है एवं पञ्चकल क्षरभाग पशु है। इन्हीं तीनों के समन्वय से यह 'प्रजापति' सम्बोधन से युक्त है।

१२८–विशुद्ध अव्यय की 'तत्' रूपता, एवं षोडशीप्रजापति की अमृत-ब्रह्म-शुक्र' रूपता का समन्वय—

विशुद्ध अव्यय 'तत्' है एवं षोडशीपुरुष "अमृत-ब्रह्म-शुक्र" है। 'तत्' ही "अमृत" (पञ्चकल-अव्ययपुरुष) बना है "तत्" ही 'ब्रह्म' (पञ्चकल अक्षरपुरुष किंवा अपराप्रकृति) बना है एवं "तत्" ही 'शुक्र' (पञ्चकल क्षरपुरुष किंवा अपराप्रकृति) बना है जैसाकि—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त से स्पष्ट है।

१२९–अर्द्धमात्रात्मक निष्कल अव्यय, अकारात्मक पञ्चकल अव्यय उकारात्मक पञ्चकल अक्षर मकारात्मक पञ्चकल क्षर, एवं प्रणवमूर्ति–षोडशी प्रजापति–लक्षण–'ईश्वर'—

'तत्'तत्त्व (विशुद्ध अव्यय) अकर्त्ता एवं निर्लेप है। 'अमृत' तत्त्व (सकल अव्यय) विश्व का आलम्बन है 'ब्रह्म' तत्त्व (अक्षर) विश्वकर्त्ता है एवं 'शुक्र' तत्त्व (क्षर) विश्व का उपादान है। विश्वोपादानरूप शुक्र

(चर) मर्त्य सूक्ष्मपञ्च (विश्व) रूपा विश्वासक्ति से युक्त रहता हुआ 'मकार' है। विश्वालम्बनरूप अमृत (सकलअव्यय) निर्लेप रहता हुआ 'अकार' है एवं विश्वनिमित्तकारणरूप ब्रह्म (अक्षर) मध्य य बनता हुआ उकार' है। चौथा बचता है—वही विशुद्ध अव्यय निष्कल अव्यय। उसका भी इसमें समावेश इसी से इसकी सोलहवी कला की पूर्ति होती है। वही तुरीय पद अर्द्धमात्रा बिना 'अमात्रा', कहा 'मवमात्रा' है। समष्टि ही ओङ्कार है। प्रणव ही इस षोडशी-ईश्वर का वाचक माना गया है— 'तस्य वाचकः प्रणवः (पातञ्जलयोगसूत्र)।

१३०—चतुष्पाद् ब्रह्म के ऊर्ध्वभावानुगत तीन पाद, एवं चतुर्थ पाद की विश्वरूपता का समन्वय, तथा अमृत ब्रह्म-शुक्रात्मक-अणोरणीयान्-महतोमहीयान् 'पूर्णपुरुष' रूप अश्वत्थप्रजापति का माङ्गलिक-संस्मरण

यही प्रजापमूर्ति षोडशी विश्वात्मा विश्व का (व्यापक) एक आत्मा है। इसे ही उपनिषदों ने 'अश्वत्थ' कहा है। विशुद्ध अव्यय सकल अव्यय अक्षर ये तीन पाद अतीत हैं। चौथा चरपाद से ही यह विश्व में (विश्वाभिमानरूप से) प्रविष्ट रहता है — 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहा-भवत्पुनः'। विश्व में महतोमहीयान भी यही अश्वत्थपुरुष है एवं अणोरणीयान् भी यही है। इसी षोडशीपुरुष का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

यस्मात् पर नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।९।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे
तदु नात्येति कश्चन
"एतद्वै तत्"

कठोपनिषत् २।६।

१३१—परात्परमूर्ति, अक्षरमूर्ति, एवं परावरावरमूर्ति अतएव सर्वमूर्ति—मध्यस्थ अक्षरप्रजापति की प्रणवोङ्कारता का स्वरूप-समन्वय—

ध्यान रहे वह विशुद्ध अव्यय इस षोडशीपुरुषसे सर्वथा भिन्न तत्त्व है। वहां केवल माया का वेष्टन है षोडशी में कलाभाव का विकास है और इस कलाभाव का प्रवर्तक एकमात्र अक्षर स्वयं भी 'कलाचिति' से पञ्चकल बना हुआ है। एवं अव्यय-चर को भी इसी ने पञ्चकल बना रक्खा है। इसीलिए हम इस षोडशी

को 'सकलप्रजापति' कहते हैं। एवं इसी रहस्य के आधार पर इस दूसरी संस्था को हम 'अक्षरसंस्था' कहते हैं। इसीलिए ओमित्येकाक्षरम् इत्यादिरूप से ईश्वरवाचक (षोडशीवाचक) ओङ्कार को "अक्षर' माना गया है। मध्यस्थ अक्षर उस ओर की 'परसम्पत्ति (अव्ययसम्पत्ति)" से युक्त होता हुआ 'पर" (अव्यय) भी बन रहा है इस ओर की ब्रह्मसम्पत्ति (क्षरसम्पत्ति) से युक्त होता 'ब्रह्म" भी बन रहा है एवं स्वस्वरूप से 'अक्षर' भी बन रहा है। षोडशीपुरुष के स्वरूप-समर्पक इसी अक्षरतत्त्व की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ १ ॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरः), एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययम्)।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" ॥

—कठोपनिषत् १।२।१५,१६।

१३२—अमृत ब्रह्म-शुक्र-मूर्ति-अश्वत्थलक्षण षोडशीप्रजापति के त्रिवृद्भावापन्न तात्त्विक स्वरूप का समन्वय प्रयास—

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि, परात्पर का प्रदेश मायापरिग्रह से युक्त बनकर 'अव्ययपुरुष' कहलाया। यह असीम होता हुआ भी निर्गुण अतएव अकर्त्ता निर्लेप कहलाया। मन ही इसका प्रातिस्विक रूप हुआ। आगे जाकर कलापरिग्रह से यही मनोमय [ज्ञानमय] अव्यय-मन-प्राण-वाग्रूप में परिणत होकर मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से क्रमशः त्रिरूप बनता हुआ षोडशकल बन गया। यही 'षोडशीप्रजापति' कहलाया। इस षोडशी का त्रिवृन्मनोमय अव्ययभाग ज्ञान-अमृत-मन-पुरुष-आलम्बन-अक्षर आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। त्रिवृत्प्राणमय अक्षरभाग क्रिया-ब्रह्म-सत्य-परा-प्रकृति-निमित्त-'अक्षर' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुआ। त्रिवृद्वाङ्मय क्षरभाग-अर्थ-शुक्र-वाक्-अपराप्रकृति-उपादान- 'अक्षर' आदि नामों से व्यवहृत हुआ। एवं अधिष्ठानात्मक अव्ययाक्षरक्षरात्मक विशुद्ध अव्यय अव्यक्त-परात्पर-अरूप-सर्वरूप-अमाय-असन-शुभ-ज्योतिषां ज्योतिः-ब्रह्म-आत्म-भगवान्-सर्वभगवान् तुरीय आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। विशुद्ध अव्ययगर्भित आनन्द-विज्ञान-मनोमय 'मन' मन-प्राण-वाङ्मय 'प्राण' वाङ्मयः अग्निमी 'वाक्' में ही तीनों क्रमशः अव्यय-अक्षर क्षर अवस्थाओं के स्वरूप समर्पक बनते हुए षोडशीप्रजापति के स्वरूप-समर्पक बने। कलापरिग्रहयुक्त यह षोडशी-प्रजापति का यही संक्षिप्त निदर्शन है। आगे की तालिकाओं से उक्त स्वरूप सर्वात्मना यथार्थ बन जाता है।

• निष्कलोऽव्ययः–तुरीयः–छत्——(मनः) • • • • अर्धमात्रा
१–पञ्चकलोपेत —अव्यय–अमृतम् (आनन्द विज्ञानम्–मन) अकार
२–पञ्चकलोपेत — अक्षर–ब्रह्म (मनः—प्राण—वाक्) उकार
३–पञ्चकलोपेत—क्षरः—शुक्रम् (वाक्—आप—अग्नि) मकार

—ईश्वरप्रजापति (षोडशी) विश्वात्मा



स एष षोडशीप्रजापतिः—अक्षरः—विश्वात्मा

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः

१–आनन्द
२–विज्ञानम्
३–मनः
—१ मनः–ज्ञानम्–अमृतम्–अव्ययः

१–मन
२–प्राणः
३–वाक्
—२ प्राणः–क्रिया–ब्रह्म–अक्षर

१–वाक्
२–आपः
३–अग्नि
—३ वाक्–अर्थ–शुक्रम्–क्षर

छत्—मनोमयोऽव्यय

'तस्य वाचकः प्रणवः"

५-मरजनिशिरमपूर्तिः -परात्पर

१-महामायाशक्तिमयो मायी, निर्गुणः, अक्लः, परमात्मायं अव्ययः-(अमनाः)

२—रसबली—अवाक्ति—अव्ययमनोमय

१- [illegible] (मन -ज्ञानम्)

-आन [illegible] (मन -मनोमयम्—ज्ञानम्)] —मनोमय मनः -ज्ञानम्-१ आनन्दः मनः ज्ञानम्)

३ [illegible] विज्ञानम् (प्राण -मनोमय —क्रिया)] —मनोमयः प्राण -क्रिया-२-विज्ञानम् (मनः-ज्ञानम्)

४- १-मन (प्राण—मनोमयी—[illegible])
२-मन (मन —वाङ्मयम् अर्थ)

५- १ प्राण (प्राणः—वाङ्मय अर्थ) — मनोमयी वाक्-प्राण -१ मनः (मन -ज्ञानम्) —रसमलोपेतस्त्रिवृन्मनोमयः अव्ययपुरुषः मनः

६- १-वाक् (वाक्—वाङ्मयी-अर्थ)

७ १ ब्रह्मा पुरः]—(मनः -प्राणमयम्-ज्ञानम्)—१-मनः (प्राणः -क्रिया)

८- २-विष्णुपुरः
९- ३ इन्द्रपुरः } —(प्राणः -प्राणमयः -क्रिया)—२-प्राणः (प्राणः -क्रिया) —पञ्चकलोपेतस्त्रिवृत्प्राणमय —अक्षरपुरुषः "प्राणः" (२)

१०- ४-सोमापुरः
११- ५-अग्न्यक्षरः } —वाक्—प्राणमयी—अर्थः)—१-वाक् (प्राण— क्रिया)

१२- १-ब्रह्मा पुरः]—(मनः -वाङ्मयं -ज्ञानम्)—१-वाक् (वाक्— अर्थः)

१३ २-विष्णु पुरः
१४ ३-इन्द्र पुरः } —(प्राण -वाङ्मय -क्रिया)—२-प्राणः (वाक् अर्थ)

१५- ४ सोमः पुरः
१६- ५-अग्निः पुरः } —(वाक्-वाङ्मयी-अर्थ)—१-अग्नि (वाक्— अर्थ) —पञ्चकलोपेतस्त्रिवृद्वाङ्मय -क्षरपुरुषः "वाक्" (३)

१३३–'सत्यप्रजापति' का स्वरूप–संस्मरण, सभिमन्थन परिग्रहों का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं अक्षरानुबन्धी गुणभाव की सगुणरूपता का स्वरूपोपबृंहण—

मूलतत्त्व के ६ विवर्तों में से निष्कल किन्तु मायी 'अव्यय' एवं षोडशकल षोडशीप्रजापति इन दो विवर्तों का दिग्दर्शन करा दिया गया। अब क्रमप्राप्त तीसरा "सत्यप्रजापति" नामक तीसरा विवर्त हमारे सामने आता है। पूर्व में यह कहा गया है कि माया–कला–गुण–विकार, इन चारों परिग्रहों का क्रमशः निष्कल अव्यय पञ्चकल अव्यय अक्षर, आत्मक्षर से सम्बन्ध है। क्योंकि षोडशी में अव्ययानुबन्धी मायाभाव अक्षरानुबन्धी कलाभाव आत्मक्षरानुबन्धी गुणभाव एवं विकारक्षरानुबन्धी विकारभाव इन चारों का समन्वय है। अतएव इस दृष्टि से हमें पूर्व षोडशीप्रजापति को 'सकल' के साथ-साथ सगुण एवं सविकार भी कहना चाहिए था। परन्तु जैसा कि पूर्व स्पष्ट कर दिया गया है षोडशी के अक्षरभाग से अवश्य ही गुणप्रवृत्ति एवं आत्मक्षरभाग से अवश्य ही विकारप्रवृत्ति होती है परन्तु स्वयं अक्षर और क्षर में गुण विकारों का लोपरूप विकास नहीं होता। गुण का विकास होता है विकारक्षरप्रपञ्च में एवं विकार का विकास होता है वैकारिक क्षरप्रपञ्च में। अतएव षोडशी को हम निर्विकार ही कहेंगे। हाँ अक्षरानुबन्धिनी गुणविभूति से यह अवश्य ही युक्त रहता है। एवं इसी दृष्टि से इसे हम अवश्य ही सगुण कह सकते हैं। विशुद्ध अव्यय जहाँ केवल मायानुबन्ध से निर्गुण है षोडशी का अव्यय वहाँ कलासम्बन्ध से सकल है वहाँ स्वयं षोडशी अक्षरानुबन्धी गुणभाव से सगुण भी माना जा सकता है।

१३४–पञ्चविध–विकारक्षरों का संस्मरण, सभिमन्थन परिग्रहों का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं आत्मक्षरानुबन्धी विकारभावों की सविकाररूपता का स्वरूपोपबृंहण और तदनुग्राहिता–सत्य–यज्ञात्मिका त्रयीविद्या —

अव्ययालम्बन पर प्रतिष्ठित अक्षर से क्षर के द्वारा सर्वप्रथम प्राण–आपः–वाक्–अन्न–अन्नाद ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। विज्ञानभाषा में तो इन्हें विकार कहा जाता है परन्तु आध्यात्मिक-परिभाषा के अनुसार ये ही "गुणभूत" हैं। इन पाँचों में प्राण प्रधान है। प्राण ही वेदतत्त्व (ऋक् यजुः साम) है। वेद ही सत्य है। षोडशीब्रह्म के निःश्वासभूत इस सत्यवेद से युक्त होकर वही षोडशी 'सत्यप्रजापति' बन जाता है। यह ही साक्षात् गुणविभूति है जैसा कि "त्रैगुण्यविषया वेदाः" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। वेदात्मक गुणभाव ही "तद्यत्तत् सत्य-त्रयी सा विद्या" इस श्रुति के अनुसार सत्य है। गुणात्मक वेदसत्य से युक्त वही षोडशी सत्यप्रजापति है। "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" इस मानवसिद्धान्त के अनुसार षोडशी ईश्वर वेद के द्वारा ही विश्वनिर्माण में समर्थ होता है। अतएव ईश्वर को वेदमूर्ति कहा गया है।

१३५–'यज्ञ' के द्वारा 'सत्य' का महिमात्मक वितान, एवं प्रजापति का चतुर्थ–विवर्त—

"यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" इस सिद्धान्त के अनुसार इसी सत्यवेद के आधार पर आगे जाकर यज्ञवितान होता है। यज्ञात्मक अग्नीषोम का समन्वय ही यज्ञ है। अग्नि की प्रतिष्ठा त्रयीवेद है एवं सोम की प्रतिष्ठा अथर्ववेद है। 'सैषा त्रयीविद्यायज्ञः' के अनुसार अथर्व-गर्भिता त्रयीविद्या का ही वितानरूप ही 'यज्ञ' है। विकारक्षर की पञ्चीकरणावस्था ही यज्ञ है। गुण का विकारभाव ही यज्ञ है। इस यज्ञ से युक्त वही सत्यप्रजापति यज्ञप्रजापति कहलाने लगता है और यही उसका चौथा विवर्त है।

१३६–अङ्गिरामय अग्नि एवं भृगुमय सोम की अवस्था-निबन्धन षड्विध महिमा विवर्त तदनुबन्धी षट्कल 'सुब्रह्म', तदनुप्राणित कलाचतुष्टयात्मक–'ब्रह्म', एवं ब्रह्म-सुब्रह्म–समष्ट्यात्मक दशकल–विराट्प्रजापति—

अग्नि अङ्गिरा है (ऋक् सं० १।११।१०) एवं सोम भृगु है। अङ्गिरोऽग्नि की अग्नि-यम-आदित्य ये तीन अवस्था हैं, भृगुसोम की आपः-वायु-सोमः ये तीन अवस्था हैं। यही षड्ब्रह्मात्मक सुब्रह्म है। ऋक्-साम-यजुः-... चार की समष्टि तत्त्वात्मक (वेदात्मक) ब्रह्म है। ब्रह्म चतुष्कल है, सुब्रह्म षट्कल है। चतुष्कल ब्रह्म ब्रह्मप्रजापति है एवं षट्कल सुब्रह्म यज्ञप्रजापति है। दोनों का समन्वित रूप ही दशकल 'विराट्प्रजापति' है। ब्रह्म और यज्ञ से युक्त होकर यही तत्त्व 'विराट्प्रजापति' बन जाता है। विराट् में ब्रह्म-यज्ञ दोनों का समन्वय है। यज्ञ का ब्रह्म के साथ मथन होने से ही ब्रह्मयज्ञमूर्ति विराट्पुरुष का प्रादुर्भाव होता है, जैसाकि–'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यह उसका पाँचवाँ विवर्त है। यज्ञपुरुष (महात्मा) ही इस का स्वरूप-सम्पादक बनता है। अतएव इसे हम साक्षात्-प्रजापति मान सकते हैं।

१३७–आत्मसन्तान की विश्रामभूमि सावरणभाव–निबन्धन षष्ठ–प्राजापत्य–विवर्त—

यही प्रजापतिभाव आगे जाकर ब्रह्म के आवरण से विश्व का स्वरूप-समर्पक बनता है। यहीं पुर-पिण्डात्मा का (आवरण के समावेश से) पूर्ण विकास होता है। सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ ही प्रकृत में 'विश्व' शब्द से गृहीत हैं। विश्वप्रजापति ही इस चतुर्दशविध भूतसर्ग का उपादान बनता है, जैसाकि— 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' इत्यादि से स्पष्ट है। यही उसकी ६ ठी अवस्था है। और यही आत्म-सन्तान की विश्रामभूमि है।

१३८–सत्य–यज्ञ विराट्–विश्व–भावानुबन्धी प्राजापत्य–विवर्तों का समष्ट्यात्मक–संस्मरण—

सत्य यज्ञ-विराट्-विश्व इन चारों विवर्तों का जो स्वरूप बतलाया गया, वह सन्तोषप्रद नहीं माना जा सकता। अतएव ये चारों ही विवर्त कुछ विशद स्पष्टीकरण की अपेक्षा रख रहे हैं। "आरम्भ में नेति नेति कहने वाला आगे जाकर ज्ञानाग्निमय से मनोमय बनने वाला, कर्माग्निमय से मन–प्राण–वाङ्मय बनने वाला सोऽयमात्मपुरुष ही विश्व का आत्मा है, यही ईश्वरप्रजापति है।" यहाँ तक का स्पष्टीकरण तो सन्तोषप्रद है। विश्व-मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले आगे के सत्य-यज्ञादि चारों विवर्त अवश्य ही स्पष्ट मीमांसा की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। अतः संक्षेप से इनकी मीमांसा पाठकों के सम्मुख उपस्थित की जाती है।

---

० त्वमग्ने ! प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥
—ऋक्संहिता

१३९–महिमामय प्रजापति से अनुप्राणित अविकृत परिणामवाद, एवं ब्रह्म' के नित्य–महिमाभाव का स्वरूप समन्वय—

षोडशीपुरुष का मनोमय (विद्यन्मनोमय) अव्ययरूप अमृतभाग विश्वसृष्टि का आलम्बन बनता है प्राणमय (विद्युत्प्राणमय) अक्षररूप ब्रह्मभाग निमित्तकारण बनता है एवं वाङ्मय (विद्युद्वाङ्मय) क्षररूप शुक्रभाग उपादानकारण बनता है यह पूर्व में कहा जाचुका है । इस स्पष्टीकरण से यह भी स्पष्ट होजाता है कि षोडशीपुरुष के अव्यय–अक्षरभाग (विश्व में रहते हुए भी) विश्व के उस ओर (विश्वातीत से बहिर्भूत) हैं क्षरभाग मध्य में है एवं विश्व इस ओर है । क्योंकि मध्यस्थ क्षर उपादान है एवं उपादानकारण की सत्ता ही कार्य्य की सत्ता बनती है इसी सत्ता–अभेद से कार्य्य कारण से नित्य युक्त रहता है अतएव इस उपादानकारणात्मक वाङ्मय क्षर को हम विश्वमर्य्यादा में अन्तर्भूत मानते हुए विश्व–कोटि में भी मान सकते हैं । साथ ही क्षर का उपादानभाव अविकृतपरिणामवादात्मक है । क्षर से अनन्त विकार अवश्य ही उत्पन्न होते रहते हैं । परन्तु क्षर अपने उसी रूप से सुरक्षित रहता है जैसेकि विकारोत्पत्ति से पहिले । यही इस क्षरब्रह्म की अपूर्वमहिमा है जैसाकि–'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से स्पष्ट है ।

१४०–क्षर की आत्मरूपता, तथा विश्वरूपता का समन्वय एवं तन्निबन्धन अविकृत परिणामभाव—

आत्मा का यही स्वरूप है । वह न स्वस्वरूप से कम होता न अधिक अपितु सदा एकरस ही रहता है । अविकृतपरिणामभाव के कारण क्षर क्षरणशील होता हुआ भी अक्षरवत् अक्षीण 'आत्मक्षर' कहा जाता है । अतएव यह षोडशी–विश्वात्मा का ही एक अन्तिम अवयव माना लिया गया है । इसप्रकार अविकृतपरिणाम–भाव से आत्मकोटि में प्रविष्ट होता हुआ आत्मक्षर विश्व का भी बन रहा है एवं कार्य्यकारणसत्तैक्य–सिद्धान्तानुकम्पीभाव के कारण विश्व में प्रविष्ट (आसक्त) होता हुआ विश्वमर्य्यादा से भी आक्रान्त हो–रहा है ।

१४१–विश्वोद्देश्येन प्राजापत्यात्मसंस्थाओं का विचार–समन्वय, एवं त्रिपुरुषात्मक–प्रजापति की कारणताप्रयी का दिग्दर्शन—

यदि विश्व को उद्देश्य मान कर आत्मसंस्थाओं का विचार किया जायगा तो हमें अव्यय–अक्षर का एक विभाग मानना पड़ेगा एवं क्षर, तथा क्षरात्मक विश्व का एक विभाग मानना पड़ेगा । मनोमय अव्यय तथ प्राणमय अक्षर, दोनों की समष्टि को विश्वात्मा कहना पड़ेगा एवं वाङ्मय क्षर, वा क्षरात्मक भौतिक प्रपञ्च दोनों के समुच्चय को विश्व कहना पड़ेगा । विश्वात्मा क्योंकि क्षर से अविनाभूत है । अतएव उसे हम षोडशी कहते हुए भी सङ्कोच नहीं करेंगे । विश्व में भी पञ्चकल क्षर प्रविष्ट है अतः विश्व को भी पञ्चकलात्मक कहने में कोई आपत्ति नहीं करेंगे । क्षर की इसी विश्वरूपता को अक्षर की इसी निमित्तता को एवं अव्यय की इसी पारमार्थिक आलम्बनता को लक्ष्य में रखकर भगवानने कहा है—

क्षरः सर्वाणि भूतानि (क्षरः)
कूटस्थोऽक्षर उच्यते (अक्षरः) } 'षोडशी'
विमर्त्यव्यय ईश्वरः (अव्ययः)

१४२–विश्वात्मा के क्षरात्मक एकांश से विश्वोदय, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति—

यद्यपि यह ठीक है कि षोडशीपुरुष इस क्षरात्मक पाञ्चभौतिक विश्व का आत्मा है, यह इसका शरीर है, यह उसका आत्मा बनता हुआ विश्वात्मा है, और इसीलिए दोनों के स्वरूप में आकाश-पाताल का अन्तर भी है, तथापि क्षरद्वारा हम उस विश्व के साथ अभिन्न मानने के लिए समर्थ हैं। उस विश्वात्मा का क्षररूप एकांश (क्षरांश) ही तो विश्व बना हुआ है "एकांशेन जगत् सर्वम्"। यही कारण है कि श्रुति ने विश्वात्म-रूप प्रजापति और उसकी विश्वसृष्टि को अभिन्न मानते हुए यह कहा है कि—प्रजापति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

> प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
> यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
>
> —यजुःसं २३।६५।

१४३–विश्वानुबन्धी 'आत्मा', एवं आत्मप्रतिष्ठ–'विश्व', तथा तदभिन्न 'प्रभुभाव' का संस्मरण—

यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी दूसरे शब्दों में षोडशी को विश्वात्मा मानते हुए भी विश्व को क्षरप्रधान मानते हुए भी विशेषतया हम अव्यय-अक्षर को ही आत्मा कहेंगे, एवं क्षरयुक्त भौतिक प्रपञ्च को ही 'विश्व' कहेंगे। अब एक सर्वथा स्वतन्त्र दृष्टि से विचार कीजिए। अव्यय को हमने मनोमूर्त्ति, अक्षर को प्राणमूर्त्ति, क्षर को वाङ्मूर्त्ति कहा है। एवं तीनों के त्रिपुरुषभाव से समन्वित त्रिपुरुष षोडशीप्रजापति का स्वरूप निष्पन्न बतलाया है। इन में अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म, एवं क्षर को शुक्र कहा गया है। तीनों की समष्टि को सत्य षोडशी प्रजापति कहा गया है। अब इस क्रम को थोड़ी देर के लिए सर्वथा विस्मृत कर एक नवीन क्रम पर दृष्टि डालिए।

१४४–निर्गुण-षोडशी-सगुण-सविकार-मायानुगत सत्य, यज्ञ का स्वरूप-समन्वय, एवं सम्प्रसाम्यमय सर्वशक्ति अक्षर, सर्ववित् क्षर का स्वरूप दिग्दर्शन—

केवल अव्यय मायोपाधिक निर्गुण अव्यय है, केवल अक्षर सगुण षोडशी है, एवं केवल क्षर सगुण सविकार सत्य-यज्ञ प्रजापति है। विकारक्षर विराट्प्रजापति है, एवं वैकारिक भूतप्रपञ्च विश्व है। केवल अव्यय से तात्पर्य है—आनन्द विज्ञान-मनोमूर्त्ति अव्यय, जिसे कि पूर्वदृष्टि में हमने परात्पर अव्यय कहा था। पूर्वदृष्टि में निर्गुण अव्यय केवल मनोमय था, किन्तु इस दृष्टि का निर्गुण अव्यय आनन्द-विज्ञान-मनोमय है। केवल सत्य का तात्पर्य है—मन-प्राण-वाङ्मय अक्षर। मनोमय अक्षर अव्यय है, प्राणमय अक्षर अक्षर है, एवं वाङ्मय अक्षर क्षर है। निर्गुण आनन्द-विज्ञान मनोमय अव्यय षोडशी है। इस प्रकार निर्गुण आनन्दादिभिन्न मनोऽवच्छिन्न यही अक्षर षोडश अव्यय बनता हुआ (सर्वात्मक बन कर) विश्व

का आलम्बन बना हुआ है। प्राणावच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल अक्षर बनता हुआ (सर्वशक्तिमान् बनकर) विश्व का निमित्तकारण है एवं वागवच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल क्षर बनता हुआ (सर्ववित्—सर्वार्थमय बनकर) विश्व का उपादान बन रहा है।

१४५—माया–कला–आदि परिग्रहों का सृष्ट्यनुबन्धी तारतम्य–समन्वय, विभिन्न दृष्टियों से सपरिग्रह–प्रजापति के त्रिविध–विवर्त एवं तालिका–माध्यम से विवर्त–भावों का स्वरूप–समन्वय—

सम्भवतः पाठक अभी न भूले होंगे कि, पूर्वदृष्टि में हमने अक्षर को ही कलाप्रवर्तक बतलाया था। वह चेतनरूप अक्षर ही चिदव्यय को एवं अचित् क्षर को ५–५ कलाओं में विभक्त कर स्वयं भी पाँच कलाओं में परिणत होजाता है। तो हम कह सकते हैं कि, षोडशकल विश्वात्मा का विश्वात्मत्व केवल अक्षर ही है। स्वयं अव्यय पुरुष यह स्वीकार करते हैं कि—यद्यपि मैं अपने प्रातिस्विक अव्ययरूप से "अज (अजन्मा) हूँ"। फिर भी अक्षर के द्वारा मुझे विश्वसम्भूति में आकर विश्वात्मा बनना पड़ता है जैसाकि 'अजोऽपि सन्' * इत्यादि से स्पष्ट है। अक्षर उस अपने रंग में रंजित कर विश्वात्मा बना डालता है। ऐसी दशा में विश्वात्मा के अव्यय–अक्षर–क्षर इन तीनों विवर्तों को हम अक्षरमय मानते हुए षोडशी–प्रजापति को 'अक्षरप्रजापति' ही कह सकते हैं। इसप्रकार पूर्वदृष्टि का षोडशीगर्भित अव्यय तो इस दृष्टि में निर्गुण अव्यय बन जाता है एवं केवल षोडशी का अक्षरभाग अपने चित्प्राणात्मक मनः–प्राण–वाक् से षोडशीपुरुष बन जाता है। यही दूसरी अक्षरसंस्था है। वहाँ षोडशी में ही अव्यय–अक्षर–क्षर–ये तीन संस्थाएँ थीं, यहाँ केवल अक्षर में ही मनोमया अव्ययसंस्था, प्राणमयी अक्षरसंस्था एवं वाङ्मयी क्षरसंस्था का भोग होरहा है। यही इस पञ्चकल आक्षर–प्रजापति की सर्वज्ञता (अव्ययवत्ता) सर्वशक्तिमत्ता (अक्षरवत्ता) एवं सर्वविता (क्षरवत्ता) है। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' + वाला ब्रह्म यही अक्षरब्रह्म है जो कि मध्यस्थ होने से उस ओर के मनोमय अव्यय को लेकर अव्ययमूर्त्ति इस ओर के वाङ्मय क्षर को लेकर क्षरमूर्त्ति एवं स्वात्मसंस्थ प्राण के सम्बन्ध से अक्षरमूर्त्ति अतएव षोडशकल बनता हुआ सर्वज्ञ–सर्वशक्तिमान्–सर्ववित् बन कर विश्व का आलम्बन–निमित्त एवं उपादान बन रहा है। यदि इसी दृष्टि से प्राधानिक सांख्य विशुद्ध पुरुष (अव्यय) को निर्लेप एवं अव्यक्त प्रकृति (अक्षर) को ही विश्वजननी मानता है तो सांख्यसिद्धान्त में क्या विप्रतिपत्ति है ?—"नूनमेकाङ्गे गम्य" । पूर्वदृष्टि से समन्वय

---

*—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वां (अक्षर) अधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
—गीता ४।६।

+— यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्-ब्रह्म, नामरूप-मन्नञ्च जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।९।

रखने वाली तालिकाओं को लक्ष्य में रखते हुए निम्न लिखित तालिकाओं पर दृष्टि डालिए, दोनों का निर्विरोधात्मक पार्थक्य भलीभांति चरितार्थ होजायगा।

१—आनन्दः (मनोमयः)	मनः—ज्ञानम्—मायोपाधिको निर्गुणः—अव्ययः
२—विज्ञानम् (मनोमयम्)	
३—मन (मनोमयम्)	



१—(१) निर्गुण अव्ययः—मायोपाधिक (मनः)	अक्षरः (षोडशी)
२—(५) आनन्द विज्ञान मनः प्राण वाङ्मय पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरात्मकः—प्राणमयं—मनः	
३—(५) ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममयः पञ्चकलोऽक्षरोऽक्षरात्मकः—प्राणमयः—प्राणः	
४—(५) ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममयः पञ्चकलः क्षरोऽक्षरात्मकः—वाङ्मयी—वाक्	



(१) १—आनन्द—विज्ञान—मनोमूर्तिर्मनोमयः—निर्गुण अव्ययः (एकलः)—मायी

(५) २—प्राणमूर्तिरक्षरो मनोमयः—पञ्चकलात्मिकोऽव्ययात्मकः—अक्षरः (अव्ययमूर्तिः)

(५) ३—प्राणमूर्तिरक्षरः प्राणमयः—पञ्चकलात्मिकोऽक्षरात्मकः—अक्षरः (अक्षरमूर्तिः)

(५) ४ प्राणमूर्तिरक्षरो वाङ्मयः—पञ्चकलात्मिकः क्षरात्मकः—अक्षरः (क्षरमूर्तिः)



स एष षोडशीप्रजापतिः सकलः



१४६–तालिका-प्रदर्शित विवर्तभावों का यथापूर्व समन्वय–प्रयास—

पूर्व-तालिकाओं से यह सिद्ध होजाता है कि षोडशीप्रजापति के अव्ययभागने (पञ्चकल–अथवा त्रिकल अव्ययभागने) यहाँ आकर निर्गुण–मायिक अव्यय का आसन ग्रहण करलिया एवं षोडशी के त्रिवृत्–प्राकमूर्ति अतएव मनः–प्राण–वाङ्मूर्ति अक्षरने षोडशी का आसन ग्रहण करलिया। अब बच गया षोडशी का त्रिवृद्वाङ्मय आत्मक्षरभाग। यही क्षरभाग अपने विकारभाव को लेकर आगे जाकर सत्य एवं ऋतरूप में परिणत होता है।

१४७–पञ्चविध 'गुणभूतों' का स्वरूप-विस्तार एवं तदाधारेण वाक्–आप –अग्नि–रूपा शुक्रत्रयी की अभिव्यक्ति—

क्षरतत्त्व वाङ्मय है यह कहा जाचुका है। यही वाङ्मयक्षर अक्षर की पाँच कलाओं के समन्वय से व्यक्त में (पञ्चकलक्षर में) परिणत होता हुआ क्रमशः प्राण–आप–वाक् अन्न–अन्नाद इन पाँच 'गुणभूतों' का जनक बनता है। वाङ्मय मर्त्य क्षरब्रह्म से प्राण का, वाङ्मय मर्त्य क्षरविष्णुसे आप का, वाङ्मय मर्त्य क्षरइन्द्र से वाक् का, वाङ्मय मर्त्य क्षर सोम से अन्न का, एवं वाङ्मय मर्त्य क्षर अग्नि से अन्नाद का विकास होता है। ये पाँचों ही 'विकारक्षर' वाङ्मय क्षर में अन्तर्भूत होते हुए त्रयात्मक ही कहलाते हैं। जिसप्रकार अव्यय का मन त्रिवृत् है, अक्षर का प्राण त्रिवृत् है एवमेव यह क्षररश्मिरूप वाक् भी त्रिवृता ही मानी गई है। वाङ्मय मन, वाङ्मय प्राण, वाङ्मयी वाक्, ये तीनों क्रमशः वाक्–आपः– अग्निः इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

१४८ शुक्रत्रयी का पञ्चविध क्षरों के साथ सम्बन्ध–समन्वय—

वाक्–तत्त्व वाङ्मय मन है, इस का क्षरमूर्ति ब्रह्मयुक्त प्राण–विकार के साथ सम्बन्ध है। आप तत्त्व वाङ्मय प्राण है, इस का क्षरमूर्ति–विष्णु–इन्द्रयुक्त आप–वाक् के साथ सम्बन्ध है। अग्नि–तत्त्व वाङ्मयी वाक् है (वागेवोपनिषत्) एवं इस का क्षरमूर्ति सोमाग्नियुक्त अन्न–अन्नाद के साथ सम्बन्ध है। इसप्रकार तीनों का पाँचों क्षरों में उपभोग होरहा है जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट है—

१–प्राण (ब्राह्मः)	—वाङ्मयं मनः (वाग्गर्भिता— 'वाक्')	— 'क्षरः'
२–आप (वैष्णवम्)	—वाङ्मयः प्राणः (वाग्गर्भिता– 'आपः')	
३–वाक् (ऐन्द्री)		
४–अन्नम् (सौम्यम्)	—वाङ्मयी वाक् (वाग्गर्भिता 'अग्निः')	
५–अन्नादः (आग्नेयः)		

१४९ मन–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव का तात्त्विक रहस्य, एवं त्रिवृद्भाव के विविध प्रक्रम–प्रतिक्रम—

[illegible]

१५०–त्रिवृद्भावानुगामी विस्तार से अनुप्राणिता प्राजापत्यसंस्थाओं के १–३–९ संख्यानुगत विस्तार—

[illegible]

१५१–त्रिवृद्भावनिबन्धन अव्यय अक्षर, क्षर पुरुषों के तात्त्विक महिमाभाव—

[illegible]

तीनों भाव ज्ञानप्रधान हैं, मनःप्रधान हैं। अक्षर के तीनों भाव क्रियाप्रधान हैं, प्राणप्रधान हैं। एवं क्षर के तीनों भाव अर्थप्रधान हैं, वाक्प्रधान हैं। इसी से यह भी मान लेना पड़ा कि, ज्ञानप्रधान अव्ययकृत्स्न के गर्भमें रहने वाले तीनों अव्ययरूप हैं। क्रियाप्रधान अक्षरकृत्स्न के गर्भ में रहनेवाले तीनों अक्षररूप हैं। एवं अर्थप्रधान क्षरकृत्स्न के गर्भमें रहने वाले तीनों क्षररूप हैं।

१५२–अव्यय की अक्षररूपता, एवं अक्षर की क्षररूपता का समन्वय—

साथ ही यह भी स्मरण रखिए कि आरम्भमें केवल मनोमय रहने वाला अव्यय ही त्रिवृत्–प्राणात्मक अक्षररूप में परिणत हुआ। एवं त्रिवृत्–अक्षर का वाग्भाग ही त्रिवृत्–क्षररूप में परिणत होगया। अब यह भी देख लीजिए कि, वे त्रिवृद्रूप किन किन नामों से व्यवहृत हुए।

१५३–मायापरिग्रहात्मक त्रिवृद्भावापन्न मनोमय अव्ययात्मा, एवं तन्निबन्धना 'अव्ययसंस्था'—

मनोमय अव्यय का मनोमय मन आनन्द कहलाया मनोमय प्राण विज्ञान' कहलाया एवं मनोमयी वाक् 'मन कहलाया। यही पहिली निर्गुण–अव्ययात्म–संस्था कहलाई। परिग्रहों में यहाँ केवल कलादिमूल मायापरिग्रह का विकास हुआ।

१५४–त्रिवृद्भावापन्न प्राणमय अक्षरात्मा—

मनोमयी वाक् जिसे कि अब अव्ययमन कहा जायगा आगे जाकर अक्षरविवर्त के विकास का कारण बनी। मन ही प्राणात्मक क्रियाभाव में परिणत होता हुआ अक्षर का अनुग्राहक बना। इसी से अक्षर प्राणमय कहलाया। प्राणमय अक्षर का प्राणमय मन मन कहलाया प्राणमय अक्षर का प्राणमय प्राण प्राण कहलाया एवं प्राणमय अक्षर की प्राणमयी वाक् 'वाक्' कहलाई। इसप्रकार केवल त्रिवृत्–प्राणमूर्ति अक्षर मन–प्राण–वाक्–इन तीन रूपों में परिणत होगया।

१५५–कलापरिग्रहात्मिका–'अक्षरसंस्था'—

यही प्राणात्मक अक्षरमन किंवा मनोमय अक्षर पञ्चकल अव्यय बना यही प्राणात्मक अक्षरप्राण किंवा प्राणमय अक्षर पञ्चकल अक्षर बना एवं यही प्राणात्मिका अक्षरवाक् किंवा वाङ्मय अक्षर पञ्चकल क्षर बना। त्रिवृत्–प्राणमूर्ति अक्षर की इन्हीं १५ कलाओंने उस मनोमय निर्गुण–अव्यय की मूलाधार बनाते हुए षोडशीप्रजापति नाम धारण किया। यही दूसरी सकल–अक्षरसंस्था कहलाई। परिग्रहों में यहां 'कलापरिग्रह' की प्रधानता रहती। कलाविकास से ही अक्षर 'षोडशी' बन गया।

१५६–त्रिवृद्भावापन्न वाङ्मय क्षरात्मा—

अक्षर के तीनों विवर्तों में से तीसरा वाग् विवर्त हमारे सामने आया। प्राणमयी यह वाक् जिसे कि अब हम अक्षरप्राण कहेंगे आगे जाकर क्षरविवर्त के विकास का कारण बनी। इसी के सम्बन्ध से क्षर–

वाङ्मय प्राण वागात्मक प्रथमभाव में परिणत होता हुआ उसका अनुग्राहक बना। इसी से वह वाङ्मय कहलाया। वाङ्मय वह का वाङ्मय मन वाक् कहलाया वाङ्मय वह का वाङ्मय प्राण आप कहलाया एवं वाङ्मय वह का वाक् भाग अग्नि कहलाया। इसप्रकार केवल विशुद्धाक्षरमूर्ति वह वाक् तत्त्व वाक्-आप-अग्नि—इन तीन रूपोंमें परिणत होगया।

१५७-प्रकृतिभावनिबन्धन-परिग्रहों का त्रिविध-समन्वय, एवं त्रिपुरुषपुरुषानुबन्धी तीन विवर्तों का आविर्भाव—

यही वागात्मक वाङ्मय (मनोमय) वह प्राण से [अक्षरप्रकृतिवाली पहिली प्राण कला से] संयोग कर वेदत्रयीरूप में परिणत हुआ जैसाकि—"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" "वागेव विश्वा भुवना" इत्यादि से स्पष्ट है। वाक् का यही गुणात्मक रूप "सत्य" कहलाया जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। आगे जाकर यही वागात्मक आपोमय (प्राणमय) वह आप से [अक्षरप्रकृति वाली दूसरी आप कला से] संयोग कर आकृतिब्रह्म (सोम) बना एवं यही वागात्मक अग्निमय (वाङ्मय) वह वाक् से (अक्षरप्रकृतिवाली तीसरी वाक्कला से) संयोग प्राप्त कर आकृतिग्राहक (अग्नि) रूप में परिणत हुआ। इन तीनों के समन्वय से यज्ञतत्त्व का विकास हुआ। इसप्रकार अक्षर के वाक् आप-अग्नि (मन-प्राण-वाक्) इन तीनों से क्रमशः प्राण-आप-वाक् इन तीनों के क्रमिक संयोग से क्रमशः 'वाङ्मयवेदा मतम्' 'आपोमय—(सोममय) आकृतिब्रह्मम्' —'अग्निमय—आकृतिग्राहक—(वेद—सोम—अग्नि) नामक तीन विवर्त भाव अभिव्यक्त हुए।

१५८-विवर्तत्रयी की समष्टिरूप सम्वेवद्, एवं त्रिपुरुभावापन्ना 'परात्परसंस्था' का स्वरूप समन्वय—

उक्त तीनों की समष्टिरूप 'सम्वत्' का स्वतन्त्र विभाग रहा यही परिग्रहों में से 'गुणपरिग्रह' की स्वरूपभूमि बना। इसी के आधार पर [ऋग्वेद के आधार पर] आपोमय दाह्य सोम एवं दाहक अग्नि इन दोनों का समन्वय हुआ। यही दोनों का समन्वितरूप 'यज्ञ' कहलाया। यहीं आकर परिग्रहों में से 'विकार' नाम के चौथे परिग्रह का विकास हुआ। इसप्रकार परतत्त्व ही वाक्-आप:-अग्नि' के तारतम्य से गुण-विकार परिग्रहों से युक्त होता हुआ पहिले सत्य-प्रजापति बना यही सगुणप्रजापति कहलाया, एवं पीछे यज्ञ से युक्त होकर स्वपविकार परिग्रह के अनुग्रह से 'यज्ञ-प्रजापति' बन गया यही सविकारप्रजापति कहलाया। इन दोनों संस्थाओं का मूलाधार केवल 'परतत्त्व [वाङ्मय परतत्त्व] ही बना अतएव इन दोनों प्रजापति-संस्थाओं को हम 'परमेसंस्था' नाम की एक ही संस्था कहेंगे।

१५९-अमृत-ब्रह्म-शुक्र-भावों का दृष्टिकोणभेदनिबन्धन विभिन्न समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्वप्रकरण में हमने षोडशी के विकास किया वाक्कल अव्यय को 'अमृत' कहा था अक्षर को 'ब्रह्म' कहा था, एवं क्षर को 'शुक्र' कहा था। परन्तु आज यह क्रम भी बदल गया है। अब निर्गुण विकास अव्यय अमृत कहलाएगा सगुण [पादरूपक] अक्षर ब्रह्म कहलाएगा,

एवं पञ्चकल किंवा त्रिकल क्षर शुक्र कहलाएगा। वहाँ के अमृत में पञ्चकल अव्यय था यहाँ के अमृत में त्रिकल किंवा निष्कल अव्यय है। वहाँ के ब्रह्म में पञ्चकल अक्षर था यहाँ के ब्रह्म में पञ्चकल अमृताव्यय–पञ्चकल ब्रह्माक्षर–पञ्चकल शुक्रक्षर, इन तीनों का समन्वय है। वहाँ के तीनों यहाँ केवल ब्रह्म बन रहे हैं। वहाँ के शुक्र में पञ्चकल षोडशी वाला शुक्र क्षर था एवं यहाँ के शुक्र में गुण विकार-युक्त त्रिकल क्षर है।

१६०–ज्ञान क्रिया अर्थ-प्रधाना क्रमसिद्धा पुरुषसंस्थात्रयी, एवं विभिन्न-तालिकाओं के माध्यम से तत्स्वरूप–समन्वय—

इसप्रकार केवल चिद्भाग की कृपा से वह एक ही तत्त्व माया-कला-गुण-विकार इन चार परिग्रहों के क्रमिक सम्बन्ध से निर्गुण-षोडशी-सत्य-यज्ञ इन चार स्वरूपों में परिणत होजाता है। चारों में निर्गुण मनोमय अव्यय है, षोडशी प्राणमय अक्षर है, सत्य-यज्ञ की समष्टि वाङ्मय क्षर है। इसप्रकार सत्ययज्ञ के समन्वय से चार के तीन ही वर्ग शेष रह जाते हैं। अव्ययात्मसंस्था ज्ञानप्रधाना है, अक्षरात्मसंस्था क्रियाप्रधाना है, एवं क्षरात्मसंस्था अर्थप्रधाना है। अव्यय आत्मा है, अक्षर षोडशी आत्मन्वी है, एवं क्षर सत्य-यज्ञात्मक आत्मन्वी है। विषय थोड़ा दुरूह है, अतः आगे की तालिकाओं से इस दुरूहता का यथावत् यथाक्रम समन्वय कर लेना चाहिए।

*–'मनः' – ज्ञानम्' –'तत्रैव सर्वं परिसमाप्यते'
('सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते')

१ (*'मनः' –) मनः–प्राण–वाचां त्रिवृद्भाव

- १–मनः
  - १-मन (१ आनन्द –मन)
  - २-प्राणः (२ विज्ञानम्–मन)
  - ३-वाक् (३ मन –मन)
- २–प्राणः … … … …
  - १–मन (१ मन –प्राण)
  - २–प्राण (२ प्राणः प्राण)
  - ३–वाक् (३ वाक्–प्राण)
- ३–वाक् … …
  - १-मन (१ वाक्-वाक्)
  - २ प्राण (२ आप वाक्)
  - ३-वाक् (३ अग्नि वाक्)

१- ज्ञानम्' – मन '– 'ज्ञानम्' – पवित्रतममिदम्
('न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते')

२–(ज्ञानम्) ज्ञान क्रिया-र्थभावानां त्रिवृद्भाव

- १–ज्ञानम्
  - १ ज्ञानम् (ज्ञान ¹ –ज्ञानम्)
  - २–क्रिया (विज्ञानम् ² ज्ञानम्)
  - ३–अर्थः (मन ³ –ज्ञानम्)
- २–क्रिया
  - १–ज्ञानम् (मनः ¹ –क्रिया)
  - २–क्रिया (प्राण ² –क्रिया)
  - ३–अर्थ (वाक् ³ –क्रिया)
- ३–अर्थ
  - १–ज्ञानम् (वाक् ¹ –अर्थ)
  - २–क्रिया (आपः ² –अर्थः)
  - ३–अर्थ (अग्निः ³ अर्थः)

---

१ —प्रकारान्तरम्—

- १ मन — [१–मनः, २–प्राण, ३–वाक्] —वाक्प्राणगर्भितं–मनःप्रधानं–मनःप्राणवाङ्मयं त्रिवृत्– 'मनः'
- २ प्राण — [१–मनः, २–प्राण, ३–वाक्] —मनोवाग्गर्भितः प्राणप्रधानः–मनःप्राणवाङ्मयः त्रिवृत्–"प्राण"
- ३–वाक— [१–मन, २–प्राण, ३–वाक्] — मनःप्राणगर्भिता–वाक्प्रधाना–मनःप्राणवाङ्मयी त्रिवृता "वाक्"

७—प्रकारान्तरेण—

१ ज्ञानम्— [१—ज्ञानम् / २—क्रिया / ३—अर्थः] —क्रियार्थगर्भितं—ज्ञानप्रधानं—ज्ञानक्रियार्थमयं—त्रिवृतं— 'ज्ञानम्'

२—क्रिया— [१—ज्ञानम् / २—क्रिया / ३—अर्थः] —ज्ञानार्थगर्भिता—क्रियाप्रधाना—ज्ञानक्रियार्थमयी—त्रिवृता— 'क्रिया'

३—अर्थ— [१—ज्ञानम् / २—क्रिया / ३—अर्थः] —ज्ञानक्रियागर्भितः—अर्थप्रधानः—ज्ञानक्रियार्थमयः—त्रिवृतः— 'अर्थः'

—•—

२
१—मनोमयः—अव्यय—अमृतम्
२—प्राणमयः—अक्षर—ब्रह्म
३—वाङ्मयः—क्षर शुक्रम्
—"सदिदं—सर्वम्"

——

७
१—ज्ञानमयः—अव्यय—अमृतम्
२—क्रियामय—अक्षर—ब्रह्म
३—अर्थमय—क्षरः—शुक्रम्
—'सदिदं—सर्वम्

——

१–अव्ययाक्षरक्षराणां–मनःप्राणवाङ्मयानां त्रिवृद्भावः—

- १–अव्ययः
  - १—अव्ययः (अव्ययात्मकः)
  - २—अक्षरः (अव्ययात्मकः)
  - ३—क्षरः (अव्ययात्मकः)
- २–अक्षरः
  - १—अव्ययः (अक्षरात्मकः)
  - २—अक्षरः (अक्षरात्मकः)
  - ३—क्षरः (अक्षरात्मकः)
- ३–क्षरः
  - १—अव्ययः (क्षरात्मकः)
  - २—अक्षरः (क्षरात्मकः)
  - ३—क्षरः (क्षरात्मकः)

२–अमृत-ब्रह्म-शुक्राणां–अव्ययाक्षरक्षरमयानां त्रिवृद्भावः—

- १–अमृतम्
  - १—अमृतम् (अव्ययात्मकम्)
  - २—ब्रह्म (अव्ययात्मकम्)
  - ३—शुक्रम् (अव्ययात्मकम्)
- २–ब्रह्म
  - १—अमृतम् (अक्षरात्मकम्)
  - २—ब्रह्म (अक्षरात्मकम्)
  - ३—शुक्रम् (अक्षरात्मकम्)
- ३–शुक्रम्
  - १—अमृतम् (क्षरात्मकम्)
  - २—ब्रह्म (क्षरात्मकम्)
  - ३—शुक्रम् (क्षरात्मकम्)

१-निर्गुणाव्ययात्मसंस्था-'मायापरिग्रहोपेता'—'अव्यय' अमृतात्मा—

१ आनन्दः[१] [मनोमयं मन -ज्ञानम्-अव्ययः अमृतम्]-[मनः ज्ञानं अव्ययः अमृतम्]

१* २-विज्ञानम्[२] [मनोमयः प्राणः क्रिया-अक्षरः ब्रह्म]-[मनः ज्ञानं अव्ययः अमृतम्] —आत्मा

३—मनः[३] [मनोमयी-वाक्-अर्थः क्षरः शुक्रम्]-[मनः -ज्ञानं-अव्ययः अमृतम्]

२-अक्षरात्मसंस्था-'कलापरिग्रहोपेता'-'अक्षर षोडशी' ब्रह्मात्मा—

१*मायोपेत -मनोमयो-ज्ञानमयोऽमृतमय -अव्ययः (निर्गुणः,-तुरीयः)

१ षोडशीप्रजापतिः

२—आनन्द-विज्ञान-मनः -प्राण-वाङ्मयः पञ्चकलोऽव्ययः —मन[१] [अमृतम्]

३—ब्रह्म—इन्द्र—विष्णु—अग्नि-सोममय पञ्चकलोऽक्षरः —प्राण[२] [ब्रह्म] —ब्रह्म

४—ब्रह्म—इन्द्र—विष्णु—अग्नि-सोममय पञ्चकलः क्षरः —वाक्[३] [शुक्रम्]

(२) १ प्रकारान्तरेण—(अक्षरात्मसंस्था-'षोडशीप्रजापतिः ब्रह्मात्मा' अक्षरात्मकः)

१*मनोमयोऽव्यय [तत्]

(२) षोडशी प्रजापतिः

१—मन [प्राणमयं -मन -ज्ञानं-अव्ययः -अमृतम्]-[प्राणः -क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]

२—प्राण [मायामयः -प्राणः क्रिया-अक्षर -ब्रह्म]-[प्राणः -क्रिया-अक्षर -ब्रह्म] —ब्रह्म

३—वाक् [प्राणमयी-वाक्-अर्थः -क्षरः -शुक्रम्]-[प्राणः -क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]

(३)–प्रकारान्तरेण–(अक्षरात्मसंस्था–षोडशीप्रजापति अव्ययात्मा अक्षरात्मक)।

(१) १❀ मनोमयोऽव्यय (तत्)

[२] १–आनन्द }–[मनोमयं मनः]–ज्ञान–अव्यय–अमृत [मन –ज्ञान–अव्यय–अमृतम्]
[३] २–विज्ञानम् }–[मनोमय प्राण]–क्रिया–अक्षर–ब्रह्म [मन –ज्ञान–अव्यय–अमृतम्]
[४] ३–मन
[५] ४–प्राण }–[मनोमयी वाक्]–अर्थ–क्षर–शुक्रम् [मन –ज्ञान–अव्यय–अमृतम्]
[६] ५–वाक्
— मनोमय

---

[७] १–ब्रह्मा]–[प्राणमयं मन]–ज्ञान–अव्यय–अमृत [प्राण–क्रिया–अक्षर–ब्रह्म]
[८] २–विष्णु
[९] ३–इन्द्र }–[प्राणमय प्राण]–क्रिया अक्षर–ब्रह्म [प्राण –क्रिया–अक्षर–ब्रह्म]
[१०] ४–सोम
[११] ५–अग्नि }–[प्राणमयी वाक्]–अर्थ–क्षर–शुक्रम् [प्राण–क्रिया अक्षर–ब्रह्म]
— प्राण

---

[१२] १ ब्रह्मा]–[वाङ्मयं मन]–ज्ञान–अव्यय–अमृत [वाक्–अर्थ–क्षर–शुक्रम्]
[१३] २–विष्णु
[१४] ३–इन्द्र }–[वाङ्मय प्राण]–क्रिया–अक्षर–ब्रह्म [वाक्–अर्थ–क्षर–शुक्रम्]

---

[१५] ४–सोम
[१६] ५–अग्नि }–[वाङ्मयी वाक्]–अर्थ–क्षर शुक्रम् [वाक्–अर्थ–क्षर–शुक्रम्]
— वाङ्मय

३–क्षरात्मसंस्था "गुण–विकारपरिग्रहापता"–"क्षर" (सत्य–यज्ञप्रजापति शुक्रात्मा)

–प्राण [ब्रह्मविकार]
२–आप [विष्णुविकार]
३–वाक् [इन्द्रविकार]
४ अन्नम् [सोमविकार]
५–अन्नाद [अग्निविकार]

}–वाक् अमीनेन्द्रिगुणमूर्ति }–सत्यप्रजापति
}–आप आहुतिमय [सोम]
}–अग्नि आहुतिग्राहक [अग्नि] }–यज्ञप्रजापति
—शुक्रात्मा

(३) प्रकारान्तरेण–गुणविकार-परिग्रहोपेता–क्षरासर्गसंस्था–"सत्यमहाप्रजापतिः"–"शुक्रात्मा"–क्षरात्मक.—

अमृत—	—ब्रह्म—		—गर्भित—	—शुक्रम्			
१–आनन्द (निगु णानन्द)—	ब्रह्माक्षरानन्द—	ब्रह्माक्षरब्रह्म—	ब्रह्म-क्षरब्रह्मगर्भित–	प्राण	–वाक्–वेद	सत्य	शुक्रमा
२–विज्ञान (निगु णविज्ञान)—	विष्ण्वक्षरविज्ञान	विष्ण्वक्षरविष्णु–	विष्णुक्षरविष्णुगर्भित–	आप	–आप–सोम	यज्ञ	
३–मन * (निगु णमन)—	इन्द्राक्षरमन —	इन्द्राक्षरेन्द्र—	इन्द्रक्षरेन्द्रगर्भित—	वाक्			
४–मन * (निगु णमन)—	सोमाक्षरप्राण—	सोमाक्षरसोम—	सोमक्षरसोमगर्भित—	अन्नम्	अग्नि–अग्निः		
५–मन * (निगु णमन)—	अग्न्यक्षरवाक्—	अग्न्यक्षरोऽग्नि—	अग्निक्षरोऽग्निगर्भित—	अन्नादः			
१–आनन्द (निगु णानन्द)	१–आनन्द	१–ब्रह्माक्षर	१–ब्रह्म–क्षर.–तद्गर्भित–	४–प्राण	–१–वाक्–वेदा	सत्य	शुक्रात्मा
२–विज्ञानम् (निगु णविज्ञानम्)	२–विज्ञानम्	२ विष्ण्वक्षर.	२–विष्णु क्षरः–तद्गर्भित–	२–आप	२ आपः–सोम	यज्ञ	
३–मन * (निगु णमनः)	३–मन	३–इन्द्राक्षर.	३–इन्द्र क्षर–तद्गर्भित–	३–वाक्			
४–मन (निगु णमन)	४–प्राण	४–सोमाक्षर.	४–सोम क्षर.–तद्गर्भित–	४–अन्नम्	अग्नि–अग्नि		
५–मन (निगु णमन)	५–वाक्	५–अग्न्यक्षर	५–अग्नि क्षर.–तद्गर्भित–	५–अन्नाद			
निगु ण–अव्यय (मन)	अक्षरात्मक–अव्यय (मन)	अक्षरात्मक–अक्षर प्राण	अक्षरात्मक—क्षर वाक्	क्षर			
अ व्य य (मन)	अ	क्ष	र. (प्राण)	क्ष	र (वाक्)		
अव्यय—	—अक्षर—		—गर्भित—	—क्षर.			

४-समष्टिपरिलेखः—(परात्पर-अव्यय षोडशी-सत्य-यज्ञ- प्रदर्शक)।

* मनवलमितिशप्रमूर्ति अव्ययः निरञ्जनः निराकार नित्यनिर्गुण विश्वातीत परात्पर

(१)
* आनन्द
* विज्ञानम् } मन *
* मनः *
} निर्गुण अव्ययः

[२]

* आनन्दमय आनन्द (मन)-मन] — "आनन्द
(१) * विज्ञानमयं विज्ञानम् (प्राणः)-मनः] — विज्ञानम्"
* मनोमयं मनः * (वाक्-मन *)-मनः] — 'मन *

(२) १-आनन्दगर्भितः "आनन्दः * (मन *)] — मन
(३) २-विज्ञानगर्भित "विज्ञानम * (प्राणः) } — मन
(४) ३-मनोगर्भित 'मन * (वाक् मन *)
(५) ४-मनोगर्भित 'प्राणः * (प्राणः) } — मन
(६) ५-मनोगर्भिता वाक् * (वाक् मनः *)
} 'मन *

(७) १-* आनन्दगर्भितः 'अक्षरब्रह्मा (मन *)] — प्राण
(८) २-* विज्ञानगर्भित 'अक्षरविष्णु (प्राण) } — प्राण
(९) ३-* मनोगर्भित 'अक्षरेन्द्र (वाक्-मन *)
( ) ४-* प्राणगर्भित. 'अक्षरसोम (प्राण) } — प्राण
(११) ५ * वाग्गर्भित 'अक्षराग्नि (वाक्-मन *)
} "प्राण"

(१२) १ आनन्द अक्षरब्रह्मगर्भित 'क्षरब्रह्मा (मन *)] — वाक्
(१३) २ विज्ञान अक्षरविष्णुगर्भित क्षरविष्णु (प्राण) } वाक्
( ) ३-मन—अक्षरेन्द्रगर्भित —"क्षरेन्द्र" (वाक् मन *)
( ) ४-प्राण—अक्षरसोमगर्भित – 'क्षरसोम (प्राण) } वाक्
( ) ५-वाक्-अक्षराग्नि गर्भित – क्षराग्नि (मन *)
} 'वाक्"*

(षोडशी प्रजापतिः)

[३]

[illegible]—"प्राण मन *] — विकार] वाक् *
[illegible] "आप प्राण } विकार "आप
[illegible] वाक् वाक् मन
[illegible] 'अन्नम प्राण
[illegible] वाक् } विकार "अग्नि"

(सत्य-यज्ञ प्रजापतिः)

४—समष्टिपरिलेख —

✱ सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः—"परात्परः" (विश्वातीतः) ।

✱—आनन्द
✱—विज्ञानम्   } ✱ मन
✱—मनः

✱—आनन्दमय—आनन्द मन (मन) ... ...आनन्द
✱—विज्ञानमयं विज्ञानम् प्राण (मन) ... विज्ञानम्
✱—मनोमयमन वाक् (मन✱) .... मन [3]✱

१—आनन्दगर्भित आनन्द—मन ✱]—मनः
२—विज्ञानगर्भित विज्ञानम्—प्राण]—मन
३—मनोगर्भित—मन — वाक् (मन✱)
४—मनोगर्भित—प्राण —प्राण } —मन
५—मनोगर्भिता—वाक्—वाक् (मन✱)
—मन [1]

१—आनन्दगर्भितः अक्षरब्रह्मा — मन ✱ }—प्राण
२—विज्ञानगर्भित—अक्षरविष्णुः — प्राण
३—मनोगर्भित—अक्षरेन्द्र —वाक् (मन✱) }—प्राण
४—प्राणगर्भितः—अक्षरसोम — प्राण
५—वाक्गर्भित अक्षरोऽग्नि —वाक् (मन✱) }—प्राण
—प्राण [2]

१—आनन्द—अक्षरब्रह्मगर्भित—क्षरब्रह्मा— मन ✱ }—वाक्
२—विज्ञान —अक्षरविष्णुगर्भित—क्षरविष्णु —प्राण
३—मन —अक्षरेन्द्रगर्भित—क्षरेन्द्र —वाक् (मन✱) }—वाक्
४—प्राण—अक्षरसोमगर्भित क्षरसोम — प्राण
५—वाक्—अक्षराग्निगर्भित—क्षरोऽग्नि —वाक् (मन✱) }—वाक्
—वाक् [3]

१—आनन्द—अक्षरब्रह्मा—क्षरविष्णुगर्भित—प्राण —मन ✱ }—विकार]—वाक्
२—विज्ञान—अक्षरविष्णु—क्षरविष्णुगर्भिता—आप —प्राण
३—मन — अक्षरेन्द्र — क्षरेन्द्रगर्भिता—वाक्वाक् (मन✱) }—विकार]—आपः [1]
४—प्राण — अक्षरसोम— क्षरसोमगर्भित—अन्नम्— प्राण
५—वाक् — अक्षरोऽग्नि—क्षरोऽग्निगर्भित —अन्नाद —वाक् }—विकार }—अग्निः [3]

—•—

[४] प्रकारान्तरेण—[समष्टिपरिलेख] ।

अमृतम्—१—निर्गुणात्मसंस्थामयी मायी— 'अव्यय'[१७]— अक्षरा (अव्ययात्मा[१]) ।

ब्रह्म— २—सगुणात्मसंस्थामय अक्षर:— षोडशीप्रजापति:[२] —आत्मन्वी (अक्षरात्मा[१]) ।

शुक्रम्— ३—{ *सगुणात्मसंस्थामय: सगुण— "सत्यप्रजापति"[१४]—आत्मन्वी
*सविकारसंस्थामय सविकार—"यज्ञप्रजापति"[१७]—आत्मन्वी } (क्षरात्मा[१]) ।

१६१—आत्मसंस्थात्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

उक्त तीनों आत्मसंस्थाओं में से २ के सम्बन्ध में तो अब कोई विशेष वक्तव्य नहीं रहा। हाँ, तीसरी क्षरात्मसंस्था अवश्य ही अभी और भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा रख रही है। इसी अपेक्षा की पूर्ति कर यह 'परिलेखप्रकरण' समाप्त किया जाता है।

१६२—विकारप्रपञ्चानुगता विज्ञाननिबन्धना विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन-त्रयी, एवं दर्शननिबन्धना गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-त्रयी का स्वरूप-समतुलन—

क्षरसंस्था वाङ्मयी है, एवं वाक् तत्त्व त्रिवृद्भाव के कारण वाक्-आप अग्नि- इन तीन रूपों में विभक्त है। साथ ही इन तीनों की समष्टि 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है। यह स्पष्टीकरण तो पूर्व प्रकरण से गतार्थ है। इसे लक्ष्य में रखते हुए ही आगे का विचार करना है। वाङ्मय क्षर की प्राणादि पाँच कलाओं से क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद ये पाँच विकार उत्पन्न हुए। इन पाँचों के पञ्चीकरण से इन्हीं नामों से युक्त पाँच पञ्चीकृत-प्राणादि का विकास हुआ। इन पञ्चीकृत पाँचों प्राणादि के समन्वय से पञ्च-पञ्चात्मक भावादि विकसित हुए। इसप्रकार वाङ्मयविकासात्मक इसी पञ्चीकरणभाव से आत्मक्षर की प्राणादि कलाओं से उत्पन्न प्राणादि विकारक्षरों के विशुद्ध विकारक्षर, पञ्चीकृत विकारक्षर, पञ्चपञ्चीकृत विकारक्षर, ये तीन विभाग होगए। विकारप्रपञ्च के ये ही तीनों विभाग विज्ञानभाषा में क्रमशः विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन इन नामों से व्यवहृत हुए। दर्शनभाषा में ये ही क्रमशः गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

१६३—गुणभूतात्मक 'विश्वसृट्' तथा अणुभूतात्मक 'पञ्चजन' का तात्कालिक पञ्चीकरण एवं रेणुभूतात्मक 'पुरञ्जन' की स्पष्ट अभिव्यक्ति, तथा तन्निबन्धन पुरभावात्मक विश्व का संस्मरण—

इन तीनों विवर्तों के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, विश्व में-गुणभूतरूप विश्वसृट् (विकारक्षर) एवं अणुभूतरूप पञ्चजन (पञ्चीकृत विकारक्षर) कभी स्वतन्त्र नहीं मिलेंगे। क्षर की कलाओं से जिस समय विश्वसृट् नामक विकार का विकास होता है तत्काल इनका पञ्चीकरण होजाता है

विश्वसृट् पञ्चजनरूप में परिणत होजाते हैं। पञ्चजन अन्नपरिणतिकाल में ही 'पुरञ्जन' रूप में परिणत होजाते हैं। इसप्रकार तीनों में अन्त का पुरञ्जनरूप ही शेष रह जाता है। विकार-प्राण पञ्चीकृत-प्राण बना यही आगे जाकर वेदात्मक-पुरञ्जन बना। विकार आपः पञ्चीकृत आपः बना यही आगे जाकर लोकात्मक-पुरञ्जन बना। विकार-वाक् पञ्चीकृत-वाक् बनी यही आगे जाकर देवात्मक-पुरञ्जन बना। विकार-अन्न पञ्चीकृत अन्न बना यही आगे जाकर पश्वात्मक-पुरञ्जन बना। विकार अन्नाद पञ्चीकृत-अन्नाद बना यही आगे जाकर भूतात्मक-पुरञ्जन बना। तात्पर्य्य इसका यह निकला कि प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद ये पांच विकारक्षर पञ्चीकृत 'सार्व्य' प्राणादि रूप में परिणत होते हुए अन्त में वेद-लोक-देव-पशु-भूत इन रूपों में परिणत होगए। इनमें वेदपुरञ्जन वाक्शुक्र कहलाया लोक-देव-पुरञ्जन आपःशुक्र कहलाया एवं पशु भूत पुरञ्जन 'अग्निशुक्र' कहलाया। २११ वें पृष्ठ की समष्टिप्रदर्शनात्मिका तालिका के पर्यन्त की विकारक्षरात्मिका तालिका का इस दृष्टि से निम्नलिखित स्वरूप हमारे सामने आया—

(३)–परात्मसंस्था-परिलेखः-(शुक्रात्मा)–"सत्य यज्ञ प्रजापतिरूपः"—

१–मनन–मक्षरमा–परविष्णु–विकारयान–पञ्चीकृतसार्म्याभागर्भिता—	वेदाः	(पुरञ्जनम्)–मन ∗	१ विकारः वाक्	शुक्रम्
२–विज्ञान–मक्षरविष्णु–परविष्णु–विकारपा–पञ्चीकृतसम्मीसोगर्भिता—	सोमः	(पुरञ्जनम्)–प्राण	२ विकारः आपः	
३ मन–मक्षरेन्द्र–परेन्द्र–विकारवाक्–पञ्चीकृतवार्म्यवाग्गर्भिता—	देवाः	(पुरञ्जनम्)–वाक्(मन∗)		
४–प्राण–मक्षरसोम–परसोम–विकारान्न–पञ्चीकृतसार्म्यानगर्भिताः—	पशवः	(पुरञ्जनम्)–प्राण	३ विकारः अग्निः	
५–वाक्–मक्षराग्नि–पराग्नि–विकारपमान–पञ्चीकृतसार्म्यामारगर्भितानि—	भूतानि	(पुरञ्जनम्)–वाक्		

विधृता विकारस्था	पञ्चीकृता विकारस्था	पञ्चपञ्चीकृता विकारस्था
विभक्तः	पञ्चजना	पुरञ्जना
गुणभूतानि	अणुभूतानि	रेणुभूतानि

१–	प्राणाः	—	१–	सर्वप्राणः	—	१–	वेदाः	—	प्राणमया सर्वे वेदाः	—वाक्	शुक्रम्
२–	आपः	—	२–	सर्वाप	—	२–	लोकाः	—	आपोमया सर्वे लोकाः	—आपः	
३–	वाक्	—	३–	सर्ववाक्	—	३–	देवाः	—	वाङ्मया सर्वे देवाः		
४–	अन्नम्	—	४–	सर्वान्नम्	—	४–	पशवः	—	अन्नमया सर्वे पशवः	—अग्निः	
५–	अन्नादः	—	५–	सर्वान्नादः	—	५–	भूतानि	—	अन्नादमयानि सर्वाणि भूतानि		

१६४—विश्वातीत 'परात्परप्रजा' युगल रस-बल के अनुग्रह से षड्विध-प्राजापत्य—विवर्तों में 'अमृत' 'मृत्यु' भावों का अपवादभेद—निबन्धन-समन्वय—

अमृत-ब्रह्म-शुक्र इन उक्त तीनों संस्थाओं के अनेक विवर्त बतला गए। इन सब विवर्तों का पर्यवसान उसी 'रस-बल' तत्त्व पर माना गया है। रस अमृत है, बल मृत्यु है। दोनों के सम्बन्ध-तारतम्य से उस एक ही के अनेक रूप होजाते हैं। जिसमें अमृत की प्रधानता रहती है वह अमृतसंस्था कहलाती है। एवं जिसमें मृत्यु की प्रधानता रहती है वह मर्त्यसंस्था कहलाती है। पूर्व पूर्व के आत्मविवर्तों में उत्तर उत्तर के आत्मविवर्तों की अपेक्षा अमृत (रस) की प्रधानता है एवं पूर्वसंस्थापेक्षया उत्तरसंस्था में मृत्यु (बल) की प्रधानता है। इस दृष्टि से विश्व-सम्बन्धी ६ विवर्तों में से आद्यन्त के विवर्त (निर्गुण अव्ययविवर्त एवं त्रिगुणभावमय विश्व) तो अमृत एवं मृत्यु प्रधान ही है। शेष मध्य के चार विवर्त (षोडशी-सत्य-यज्ञ विराट्) अपेक्षया अमृत भी हैं मर्त्य भी हैं।

१६५—'अव्ययसंस्था' की निष्कैवल्या-'अमृतरूपता', तथा 'विश्वसंस्था' की विशुद्धा-'मत्युरूपता' का समन्वय—

इसी दृष्टि से हम यह कहते हैं कि अव्ययसंस्था अमृत है एवं अक्षरसंस्था अव्यय की दृष्टि से मर्त्या है। क्षर की दृष्टि से अक्षरसंस्था अमृता है एवं अक्षर की दृष्टि से पूर्वतालिका प्रदर्शित वाक्-आप-अग्नि-मयी क्षरसंस्था मर्त्या है। परन्तु आगे की विराटसंस्था की अपेक्षा यही क्षरसंस्था अमृता बनी हुई है एवं इस सत्य-यज्ञात्मिका क्षरसंस्था की अपेक्षा वह विराट्संस्था मर्त्या बनी हुई है। विश्वापेक्षया यही विराट्संस्था अमृता बनी हुई है एवं विराडपेक्षया विश्वसंस्था मर्त्य बन रही है।

१६६—अमृतनिबन्धन अव्यय, और-'आत्मा', अमृत-मृत्यु-निबन्धन-षोडशी सत्य, यज्ञ विराट और आत्मन्वी', तथा मत्युनिबन्धन विश्व—

निष्कर्ष यही निकला कि आत्मलक्षण अव्यय विशुद्ध अमृतरूप है आवरणलक्षण विश्व विशुद्ध मृत्युमय है एवं मध्यस्थ षोडशीप्रजापति सत्यप्रजापति यज्ञप्रजापति विराट्प्रजापति ये चारों प्रजापति (जिन्हें कि हमने 'आत्मन्वी' कहा है) अपेक्षया अमृत-मृत्युमय बनते हुए उभयात्मक बने हुए हैं।

१६७—'प्रजापतिः प्रजया सरराणः' मूलक 'प्रजापति' रूप 'आत्मा' तथा प्रजा रूप 'विश्व' का स्वरूप-समन्वय एवं आत्म-विश्व-समष्ट्यात्मक—'आत्मन्वी'—

यही कारण है कि प्रजापति का स्वरूप बतलाते हुए श्रुति ने इस प्रजापतिवर्ग को ही उभयात्मक बतलाया है जैसा कि—"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" (शतपथब्रा० १ अ० ६) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। न आत्मा प्रजापति है न विश्व प्रजापति है। अपितु विश्व और आत्मा दोनों का समुच्चय ही प्रजापति है। और यह उभयभाव न अव्ययात्मा में विकसित है न विश्व में विकसित है। अपितु मध्य के चार आत्मविवर्तों में ही विकसित है। षोडशीप्रजापति का प्रधानक अव्यय

[illegible] है । [illegible] अमृत है [illegible] भी है । [illegible] है [illegible] है । [illegible] है [illegible] है । [illegible] है [illegible] है । [illegible] है । [illegible] माना गया है ।

१—निर्गुण ब्रह्म	अमृतम् (अमृतम्)	आत्मा
१—[illegible]	मृत्यु (अमृतम्)	[illegible]
१—[illegible]	मृत्यु (अमृतम्)	[illegible]
१—[illegible]	मृत्यु (अमृतम्)	[illegible]
६—[illegible]	मृत्यु (अमृतम्)	[illegible]
१—[illegible]	मृत्यु (मृत्यु)	शरीरम्



(१)—१—निर्गुणमव्ययः (आत्मा अमृतम्)   आत्मा (अमृतम्)

(२)—१—षोडशीप्रजापति —

१—पञ्चकलोऽव्ययः आत्मा (अमृतम्)
२—पञ्चाक्षरः पञ्चकलः शरीरम् (मृत्युः)
}—षोडशीप्रजापतिः (आत्मन्वी)

(३)—२—सत्यप्रजापति —

१—सत्यवेदत्रयी आत्मा (अमृतम्)
२—यज्ञोऽग्निषोमः शरीरम् (मृत्युः)
}—सत्यप्रजापतिः (आत्मन्वी)

—•—

(४)—३—यज्ञप्रजापति —

१—यज्ञोऽग्निषोममयः आत्मा (अमृतम्)
२—विराट्सावरणः शरीरम् (मृत्युः)
}—यज्ञप्रजापतिः (आत्मन्वी)

—•—

[४]—४—विराट्-प्रजापति —

१—विराट्-साञ्जनम्—आत्मा (अमृतम्)
२—विश्वं-सावरणम्—शरीरम् (मृत्युः)
}—विराट्प्रजापतिः (आत्मन्वी)

—•—

[६]—१—विश्व-सावरणम्—शरीरम्—(मृत्यु)।

—•—

१६८–अमृत-मृत्यु-विवेक-निबन्धना तृतीया 'शुक्रसंस्था' से अनुप्राणित पञ्चपुरञ्जनात्मक विवर्त्तमार्गों का संस्मरण, एवं शुक्रत्रयी की षट्शुक्ररूप में परिणति—

उक्त अमृतमृत्युविवेक से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, जिस वाङ्मयी तीसरी शुक्रसंस्था का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है जिसे कि सत्य-यज्ञ की समष्टि बतलाया गया है जिस के कि वाक्-आप-अग्नि ये तीनों विवर्त्त बतलाए गए हैं जिसे कि वेद-लोक-देव-पशु-भूत भेद से पञ्चपुरञ्जनात्मक सिद्ध किया गया है उस शुक्रसंस्था में भी अमृत-मृत्यु नामक दोनों भावों का समन्वय है। 'वाक्-आप-अग्नि' शुक्रसंस्था के ये तीनों ही पर्व अमृत-मृत्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त होकर तीन के स्थान में ६ रूप धारण कर लेते हैं। और यों शुक्रत्रयी शुक्रषट्करूप में परिणत होजाती है।

१६९–सत्य-यज्ञ-प्रजापति से अनुगता अमृता शुक्रत्रयी, विराट्-प्रजापत्यनुगता मर्त्या शुक्रत्रयी एवं विकार-परिग्रहात्मक 'यज्ञप्रजापति' का संस्मरण—

इन ६ शुक्रों में से ३ अमृतशुक्रों का तो स्वयं सत्य-यज्ञ-प्रजापति में ही भोग होता है। शेष तीन मर्त्यशुक्रों से विराट्-प्रजापति की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। अमृतशुक्रत्रयी सत्ययज्ञसंस्था है एवं मर्त्यशुक्रत्रयी विराट्संस्था है। सत्य को हमने गुणपरिग्रह से युक्त बतलाया है एवं यज्ञ को विकारपरिग्रह से समन्वित कहा है। अमृतशुक्रत्रयी का वाग्भाग ही गुणपरिग्रह से युक्त होकर वेदरूप में परिणत होकर सत्यप्रजापति बनता है एवं अमृत आप-अग्नि इन दो शुक्रों की समष्टि ही विकारपरिग्रह से युक्त होकर यज्ञ प्रजापति बनती है।

१७०–'अञ्जन' परिग्रहानुगत सप्तविध (७) यज्ञपाप्माओं का नाम-प्रदर्शन-समन्वय—

इस मर्त्या शुक्रत्रयी में आगे जाकर 'अञ्जन' परिग्रह का योग होता है। यह अञ्जन ही विज्ञानभाषा में 'यज्ञपाप्मा' नाम से प्रसिद्ध है एवं ये अञ्जनात्मक यज्ञपाप्मा क्रमशः १-पर्य्याय, २-ऊर्म्मि ३-आशय ४-अवस्था ५-कर्म्म ६-विपाक ७-अविद्या इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यदि इन के अवान्तर भागों का संकलन किया जाता है तो कुल ११ यज्ञपाप्मा होजाते हैं जिनका कि मूलभाष्यान्तर्गत [१]-'बुद्धियोग को कर्म्मपरित्याग नहीं करना चाहिए' प्रथमा राजर्षिविद्या की इस तीसरी उपनिषत् के (३) "यज्ञार्थकर्म्म अबन्धन है, अत इस का परित्याग नहीं करना चाहिए" इस तृतीय उपदेश में ["यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र ३।९ से आरम्भ कर 'एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्' ३।१६ पर्य्यन्त के अवान्तर प्रकरण में] विस्तार से निरूपण किया जाने वाला है। यज्ञपाप्माओं से युक्त यह यज्ञप्रजापति ही विराड्रूप में परिणत होता है।

१७१–'आवरण' परिग्रहानुगत-यज्ञपाप्माओं से समन्विता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं तद्द्वारा विश्व के स्वरूप की अभिव्यक्ति—

सर्वान्त में 'आवरण' नाम के ६ ठे परिग्रह से युक्त होकर वही प्रजापति विश्व [प्रजासृष्टि] रूप में परिणत होजाते हैं जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। कहना यही है कि

अमृताशुक्रत्रयी जहाँ मर्त्यगर्भित यज्ञप्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है वहाँ मर्त्यशुक्रत्रयी यज्ञपात्माओं से युक्त होकर विराट्प्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है।

१७२-अमृता-शुक्रत्रयी के तीन पर्वों से अमृता-देवत्रयी-का आविर्भाव, तन्निबन्धना 'एका मूर्त्ति', एवं सगुणसत्यानुगत-यज्ञप्रजापति का स्वरूप समन्वय—

अमृतशुक्रत्रयी का वेदमय वाग्भाग ही आगे जाकर 'स्वयम्भू' रूप में परिणत होता है। इस का लोकमय आपोभाग ही "परमेष्ठी" रूप में परिणत होता है एवं देवमय अग्निभाग ही 'सूर्य्य' रूप में परिणत होता है। स्वयम्भू ब्रह्मा है, परमेष्ठी विष्णु है, सूर्य्य महादेव है। तीनों मिलकर 'एकामूर्त्ति' है। तीनों का समन्वितरूप एक शुक्रसंस्था है। यही तीसरी सत्यब्रह्मात्मिका शुक्रसंस्था है। इन में ब्रह्मा सत्य-प्रजापति है, विष्णुशिव-समुच्चय यज्ञप्रजापति है। सत्यप्रजापतिमूर्त्ति ब्रह्मा सगुणप्रजापति है एवं यज्ञप्रजापतिरूप विष्णु-शिव-समष्टि यज्ञप्रजापति है। सत्य ही इन की प्रतिष्ठा है जैसाकि 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'-'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्'-'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव' इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

१७३-षोडशीपुरुषरूप के शुक्रात्मक 'क्षर' की विविध-सोपानपरम्पराएँ, तन्निबन्धन सृष्टिविवर्त्त, एवं पञ्चपर्वा शुक्रक्षरात्मा से पञ्चपर्वा विश्व की स्वरूपाभिव्यक्ति—

अब हम यह कह सकते हैं कि जो क्षर आरम्भ में प्राणादिरूप में परिणत हुआ, आगे जाकर वो पञ्चीकृत सर्वमायादिरूप में परिणत हुआ, आगे जाकर वो पाञ्चजन्यात्मक वेद-लोकादिरूप में परिणत होता हुआ वाक्-आप-अग्नि इन तीन शुक्ररूपों में परिणत हुआ, आगे जाकर यज्ञपात्माओं के समन्वय से विश्व के ये तीन रूप ब मात्रा में परिणत होगए, आगे जाकर ब में से विश्व के तीन अमृतरूप क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य रूप में परिणत हुए। यही सत्य-यज्ञप्रजापति-मूर्त्ति अमृत-वाक्-आप-अग्नि-मूर्त्ति स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्यमूर्त्ति अमृतशुक्रात्मा तीसरा क्षरात्मविवर्त्त कहलाया। इसप्रकार पूर्व की तालिकाओं में अमृत-ब्रह्म शुक्र भावों का जैसा स्वरूप-समन्वय हुआ था * वह अब यहाँ आकर आगे की तालिकाओं के रूप में परिणत होगया। किन्तु इन निर्दिष्ट-तालिकाओं को अब हम *निर्णयात्मिका-तालिका* मान सकते हैं स्व-बुद्धि-व्यामोहन की उपशान्ति-मात्र के लिए ही।

---

* देखिए पृष्ठ संख्या २ ६, २१ २११ एवं २१४ में पृष्ठों की तालिकाएँ

(३)—परात्मसत्यापरिलेख—(शुक्रात्मा)—"सत्य-पञ्च-प्रजापतिरूप"—

1-आनन्द— अपरप्राण— प्राण— विश्वप्राण— पञ्चीकृतस्वयम्भूप्राण-वेदपुरुषगर्भित प्राण—मन*
2-विज्ञान— अपरपरमेष्ठी— परमेष्ठी विश्वाप— पञ्चीकृतपारमेष्ठ्याप-लोकपुरुषगर्भित आपः—आपः
3-मन— अपरसूर्य— सूर्य— विश्ववाक्—पञ्चीकृतसौरवाक्-देवपुरुषगर्भित-वाक्—वाक् (मन*)
4-प्राण— अपरचन्द्रमा— चन्द्रमा विश्वान्न—पञ्चीकृतचान्द्रान्न-पशुपुरुषगर्भित अन्नम्—प्राण
5-वाक्— अपराग्नि— पराग्नि— विश्वान्नाद पञ्चीकृतपार्थिवान्नाद भूतपुरुषगर्भित-अन्नादः वाक्

}—अमृतवाक्शुक्रम्—स्वयम्भू-ब्रह्मा (for lines 1–5)
}—अमृताप-शुक्रम्—परमेष्ठी-विष्णुः (for lines 2–3)
}—अमृताग्निशुक्रम्—सूर्य शिव (for lines 4–5)

———•———

सत्यप्रजापति—यज्ञप्रजापति

स एष परात्मा 'शुक्रात्मा'
1-अमृतवाक् शुक्रम् [वाक्]-स्वयम्भू ब्रह्मा सत्यमूर्तिर्वेदमूर्तिः——सत्यपति [सत्यनाथ उत्पादक-अणुग]
1-अमृताप—शुक्रम् [आप]-परमेष्ठी विष्णु-यज्ञमूर्ति पशुगर्भितो-लोकमूर्ति——यज्ञपति [देवनाथ—भर्त्ता—सविकर]
2-अमृताग्नि शुक्रम् [अग्नि]-सूर्य शिव यज्ञरश्मिभास्वान्यविम् उगर्भितो देवमूर्ति भूतपति [भूतनाथ—रक्षक—सविकार]

}—सत्यप्रजापति (for the first line)
}—यज्ञप्रजापति (for the second and third lines)

———•———

१७४–क्रमसिद्धा 'विराट्प्रजापति'-रूपा पञ्चमी-संस्था, एवं विराट्प्रजापति की सुप्रसिद्धा दश-कलाओं का स्वरूप-समन्वय—

अमृतशुक्रत्रयी के साथ साथ सत्य-यज्ञप्रजापति नाम की तीसरी तथा चौथी धर्मसंस्था का निरूपण भी गतार्थ हुआ। अब क्रमप्राप्त पाँचवी विराट्प्रजापति-संस्था हमारे सामने आई। यज्ञप्रजापति के साथ अन्नन का समावेश होने से ही इस पाँचवी संस्था का आविर्भाव हुआ है। अन्नन से अमृतशुक्रत्रयी मर्त्यभाव में परिणत हुई। इस मत्यवाक्-शुक्र से सूर्य का विकास हुआ, मर्त्य आपः शुक्र से चन्द्रमा का विकास हुआ, एवं मर्त्य अग्नि शुक्र से त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा स्तोम्मा महापृथिवी का विकास हुआ। इनमें सौरवाक्-शुक्र यज्ञपरिभाषानुसार आहवनीय अग्नि कहलाया, चान्द्र (आन्तरिक्ष्य) आप शुक्र धिष्ण्याग्नि कहलाया एवं पार्थिव अग्निशुक्र गार्हपत्याग्नि कहलाया।

१७५–एककल गार्हपत्य, अष्टविध धिष्ण्य, एककल आहवनीय मंदनिब घन वैश्वानर हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्त्ति दशात्मक विराट्प्रजापति, एवं उस की 'देवमर्त्यरूपता'-का दिग्दर्शन—

इनमें आहवनीय और गार्हपत्य तो एक एक कलायुक्त ही रहा। परन्तु मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि अष्टविध नाक्षत्रिक सर्पाग्नि के सम्बन्ध से अष्टकल बन गया। इसक्रम से १ के स्थान में १ कला होगई। एककल सौरदिव्य आहवनीय 'सर्वज्ञ' कहलाया, अष्टकल आन्तरिक्ष्य धिष्ण्य 'हिरण्यगर्भ' कहलाया एवं एककल पार्थिव गार्हपत्य (नूतनगार्हपत्य) 'वैश्वानर' कहलाया। अग्निशुक्रमय एककल अर्थमूर्त्ति पार्थिव वैश्वानर, आपःशुक्रमय अष्टकल क्रियामूर्त्ति आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ, एवं वाक् शुक्रमय एककल ज्ञानमूर्त्ति दिव्यलोकस्थ सर्वज्ञ इन तीनों की समष्टि ही देवमर्त्यात्मक "विराट् प्रजापति' कहलाया। इस संस्था के सम्बन्ध से ही यह 'विराट्' नाम से सम्बन्धित हुआ। एवं यही पाँचवीं साञ्जनसंस्था कहलाई।

१७६–सूर्य्य के द्वैधीभाव के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति तन्निराकरण, और सावरण विश्व के सुप्रसिद्ध तीन 'धाम', एवं तत्र मन्त्रश्रुति का सम्मरण—

अमृतशुक्रत्रयी के तीसरे अमृताग्निशुक्र को भी हमने सूर्य्य का स्वरूप-समर्पक बतलाया है एवं मर्त्यशुक्रत्रयी के पहिले मर्त्याग्निशुक्र को भी सूर्य्य का स्वरूप-सम्पादक बतलाया है। तो क्या नास्तिकदर्शन के अनुसार तत्त्वप्रतिपादक वैदिक-विज्ञान भी दो दो सूर्य्य मानता है? नहीं। सूर्य्य तो एक ही है। इस एक ही सूर्य्य में अमृताग्नि का भी समावेश है एवं मर्त्याग्नि का भी समावेश है। मध्यस्थ सूर्य्य से ऊपर के पारमेष्ठ्य मण्डल में अमृतात्मक आपःशुक्र की परमेष्ठी से ऊपर के स्वायम्भुव मण्डल में अमृतमय वाक् शुक्र की प्रधानता है। इन्हीं दोनों अमृतधामों की समष्टि "परमधाम" कहलाती है। एवमेव सूर्य्य से नीचे के आन्तरिक्ष्य चान्द्रमण्डल में मृत्युप्रधान आपःशुक्र की प्रधानता है एवं चन्द्रमा से नीचे के पार्थिवमण्डल में मृत्युप्रधान वाक्शुक्र की प्रधानता है। इन्हीं दोनों मृत्युधामों की समष्टि 'अवमधाम' नाम से प्रसिद्ध है। मध्यस्थ सूर्य्य इस ओर के पहिले मर्त्याग्निशुक्र को लेकर मर्त्य

अध्यमधामों का भी व्यवस्थापक बन रहा है एवं उस ओर के तीसरे अमृताग्निशुक्र को लेकर अमृतधामों का भी व्यवस्थापक बन रहा है जैसाकि–"निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" * इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी धामत्रयी का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥

—यजुःसं० १७।२१।

१७७–अमृतसूर्य्य के द्वारा "धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य"-भावों का तथा मर्त्यसूर्य्य के द्वारा "अभिनिवेश-अविद्या आसक्ति अस्मिता"-भावों की क्रमिक अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन—

निष्कर्ष यही हुआ कि सूर्य्य से नीचे नीचे मर्त्य आपःशुक्र (चन्द्रमा) एवं मर्त्य वाक्शुक्र [महिमा-पृथिवी] की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में सूर्य्य से नीचे नीचे विशुद्ध मृत्यु का साम्राज्य है–"यदस्मादर्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" [शतपथ १ कां] सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृत प्राणशुक्र, एवं अमृत वाक्शुक्र की प्रधानता है एवं मध्यस्थ अमृताग्निशुक्र, एवं मर्त्याग्निशुक्र दोनों के समन्वय से सूर्य्य उभयमूर्त्ति है। अमृतरूप से यही सूर्य्य हमारी बुद्धि में धर्म्म-ज्ञान वैराग्य-ऐश्वर्य्य इन चार 'विद्याभावों' का विकास करता है एवं मृत्युरूप से यही सूर्य्य बुद्धि को अभिनिवेश अविद्या-आसक्ति-अस्मिता, इन चार 'अविद्याभावों' से युक्त करता है। तात्पर्य यही है कि एक ही सूर्य्य में दोनों अग्नि-शुक्रों का योग हो रहा है। इसी दृष्टि से हमने अमृतशुक्रत्रयी में भी सूर्य्य का समन्वय करा दिया है एवं मर्त्यशुक्रत्रयी में भी सूर्य्य का समन्वय मान लिया है।

१७८ विराट्प्रजापति की 'रुद्र' रूपता, तदभिन्न बना रुद्रपत्नी-रूपा रोदसी त्रिलोकी, एवं तालिकारूपेण विराट्प्रजापति का चतुर्था संस्मरण—

उक्त शुक्रविभूति से हम इस निश्चय पर पहुँचे कि अमृतशुक्रत्रयी तो सत्ययज्ञात्मक परमप्रजापति की स्वरूप-समर्पिका है एवं मर्त्यशुक्रत्रयी विराट्प्रजापति की स्वरूप-समर्पिका है। यही विराट् प्रजापति मृत्युप्रधान बनता हुआ 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध है। रुद्र के सम्बन्ध से सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यात्मिका त्रिलोकी 'रोदसी-त्रिलोकी' कहलाती है—"रोदसी रुद्रपत्नी"। पाँचवें विराट्प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है, जैसाकि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।

* आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजुःसं ३३।४३

१	१—मृत्युमयं	ओषधिगुणम्	अन्नपूर्व (१२)	मृत्य यज्ञ-पृथिव्यात्मको विराट्प्रजापतिः
	२—मृत्युमय	आपगुणम्	आत्मा (भूर)	
	३—मृत्युमयं	पार्थिवगुणम्	अन्नमार्गपदी (५)	

—•—

२	१—सोम-चाग्नि	आहवनीय	पवमान [१]	आहवनीय-धिष्ण्य-गार्हपत्यात्मक यज्ञात्मा विराट् प्रजापतिः
	२—सावित्र या मरुत्वान् धिष्ण्य	आवसथ [८]		
	३—पृथिवी-चाग्नि	गार्हपत्य	पवमान [१]	

—•—

३	१—आहवनीय	दिव्याकाश	(स्वाग्नि	आदित्य	ज्ञानमय	आग्नेय-यज्ञात्मक विराट्प्रजापतिः
	२—धिष्ण्य	आन्तरिक्ष	(सौराग्नि	वायु	क्रियामय	
	३—गार्हपत्य	पार्थिव	(पार्थिवाग्नि	अग्नि	अर्थमय	

—•—

४	१—ज्ञानमय	आदित्य	ज्ञानप्रधान सर्वज्ञ	सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानरात्मको विराट्प्रजापतिः
	२—क्रियामय	वायु	क्रियाप्रधान ही हिरण्यगर्भ	
	३—अर्थमय	अग्नि	अर्थप्रधान ही वैश्वानर	

—०✱०—

१७८—शुक्रमस्थानुगत चरतत्त्व के द्वारा मर्त्य-यज्ञ-विराट्-भावों की स्वरूप-शिक्षा—

यही शुक्रनिरूपण हमें यह भी शिक्षा दे रहा है कि अक्षरमित्र शुक्र से ही अमृत-मृत्यु के भेद से उत्पन्न बनती हुई क्रमशः मर्त्य-यज्ञ-विराट् इन तीन संस्थाओं के विकास का कारण बन रही है। क्षर-तत्त्व के गर्भ में ही तीनों प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। और इसी दृष्टि से इन तीनों संस्थाओं को हम क्षरसंस्था भी कह सकते हैं। यही सब कुछ समाप्त है। अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीन के अतिरिक्त और है भी क्या सकता है? । आगे के परिलेखों से क्षरानुबन्धिनी तीनों संस्थाओं का स्वरूप स्पष्टतया गतार्थ है।

१ प्राण [वेदा] वाक् [ब्रह्मा स्वयम्भू वाङ्मय]]—सत्यप्रजापतिः (३)

२ आप [लोकाः] आप [विष्णु परमेष्ठी आपोमय] } यज्ञप्रजापतिः (४)

३ वाक् [रूपा] अग्नि [शिव सूर्य अग्निमय] }

१ १ वाक् [देवा] अग्नि [वाक् सूर्य अग्निमय]

२ अन्नम् [पशव] आप [अन्नम् चन्द्रमा आपोमय] } विराट्प्रजापतिः (५)

३ अन्नाद [भूतानि] वाक् [अन्नाद पृथिवी वाङ्मयी] }

—•—

वाक् स्वयम्भू [प्राणमय]]—सत्य

आप परमेष्ठी [आपोमय] } यज्ञ

अग्नि सूर्य [वाङ्मय] }

(अमृतशुक्रत्रयी)

२ अग्नि सूर्य [वाङ्मय] } विराट्

आप चन्द्रमा [अन्नमय] }

वाक् पृथिवी [अन्नादमयी] }

(मर्त्यशुक्रत्रयी)

पुरसंस्था (ब्रह्म)

— —

अमृतस्वयम्भू —१— स्वयम्भू — सत्यप्रजापति [ब्रह्मा]

अमृतपरमेष्ठी —२— परमेष्ठी } यज्ञप्रजापति [विष्णु]

३ अमृतसूर्य

मर्त्यसूर्य —३— सूर्य — }

मार्त्यचन्द्रमा —४— चन्द्रमा } विराट्प्रजापति [महादेव]

मर्त्यपृथिवी —५— पृथिवी }

—•—

१८०–'साञ्जनविराट्प्रजापति' के आधार पर 'सावरण विश्व' की स्वरूपाभिव्यक्ति, अग्नीषोमात्मिका विश्वस्वरूप-परिभाषा, एवं अग्नि के त्रिविध-महिमा विवर्तों का वर्गीकरण—

अब क्रमप्राप्त ६ ठा विवर्त हमारे सामने सामने आया। साञ्जन–विराट्प्रजापति के साथ जब तम-प्रधान आवरणपरिग्रह का सम्बन्ध हुआ तो सावरणविश्व का प्रादुर्भाव हुआ एवं यही उस 'सत्' का ६ ठा परिग्रह कहलाया। इस विश्व के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। विश्व का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति का— अग्नीषोमात्मक जगत् यह वचन हमारे सामने आता है। अग्नि और सोम दोनों के सम्मिलितरूप का ही नाम जगत्, किंवा विश्व है। यह अग्नितत्त्व वेदाग्नि आङ्गिरोऽग्नि[१] अभ्यग्नि[२] भेद से तीन मार्गों में विभक्त है। वेदाग्नि ही सत्याग्नि वागग्नि प्राणाग्नि ब्रह्माग्नि सार्वयाजुपाग्नि इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। आङ्गिरोऽग्नि ही सावित्राग्नि वैश्वाग्नि पुरुषाग्नि यज्ञाग्नि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं तीसरा अभ्यग्नि ही गायत्राग्नि भूताग्नि पश्वाग्नि मृग्याग्नि चितेनिधेयाग्नि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है।

१८१ विश्वनिबन्धन सोम के द्विविध-महिमा विवर्तों का नाम-संस्मरण—

दूसरा सोमतत्त्व दिक्सोम भास्वरसोम भेद से दो मार्गों में विभक्त माना गया है। इन में पहिला दिक्सोम आप ब्रह्मणस्पति पवित्र इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं दूसरा भास्वरसोम सोम चन्द्रमा भरमा, सूत्र ओषधि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इसप्रकार विश्वस्वरूप-सम्पादक अग्नि एवं सोम ३-२ के क्रम से ५ मार्गों में विभक्त होरहा है।

१८२ त्रिविध अग्नि विवर्तों, तथा द्विविध सोम विवर्तों से समन्वित पञ्चात्मक-पञ्चपर्वा सावरण विश्व की स्वरूप निष्पत्ति—

इन पाँचों का जब हम अन्वयण करने चलते हैं तो पूर्वोक्त परमेष्ठी की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होजाता है। अवश्य ही परमेष्ठी का स्वयम्भू ही वेदाग्नि है, आपोमय परमेष्ठी ही दिक्सोम है जिसके लिए–"तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्" यह कहा जाता है। अग्निमय सूर्य्य ही आङ्गिरोऽग्नि है आपोमय चन्द्रमा ही भास्वरसोम है एवं यह मयी पृथिवी ही अभ्यग्नि है। यही पञ्चात्मक पञ्चपर्वा भौतिक विश्व है। विश्व ही आत्मा का धाम है। अतएव पूर्व में स्वयम्भू आदि को परम अवम-मध्यम–धाम कहना भी चरितार्थ होजाता है। इसप्रकार विश्व नामक विवर्त परमेष्ठी से कोई पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता *।

---

* समन्वयानुवादात्मक–"भारतीय हिन्दु मानव और उस की भावुकता नामक पाँच सहस्र-पृष्ठात्मक निबन्ध के विश्वस्वरूपमीमांसा नामक प्रथमखण्ड में विश्व का सुविशद वैज्ञानिक समन्वय प्रयात हुआ है।

(वाक्)—१-स्वयम्भू (ब्रह्माग्नि)-प्राणमय—आग्नि

(आप)—२-परमेष्ठी (भृगुसोम)-आपोमय—साम

(अग्नि)—३-सूर्य्य (अङ्गिराऽग्नि)-वाङ्मय—अग्नि

(आपः)—४-चन्द्रमा (भास्वरसोम)-अन्नमय—साम

(वाक्)—५-पृथिवी (अन्नादाग्नि) अन्नादमयी—अग्निः

—अग्नीषोमात्मक जगत्

१८३-अव्ययाक्षर का 'आत्मत्व', एवं क्षर का 'विश्वत्व', तदभिन्न पञ्चमहाभूतों का स्वरूप-समन्वय तथा तात्त्विक-माध्यम से पञ्चभूतात्मक-शुक्रात्मक-विश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन—

एक दूसरी दृष्टि से भी क्षरप्राण का विश्वरूपत्व सिद्ध होजाता है। पाठकों को स्मरण होगा कि हमने मनोमय निर्गुण अव्यय एवं प्राणमय सगुण अक्षर (पराक्षरी) इन दोनों को तो 'आत्मा' कहा था एवं वाङ्मय क्षर को 'विश्व' कहा था (देखिए पृष्ठसंख्या १६१)। आनन्द-विज्ञान-मनोमयी निर्गुण अव्ययसंस्था मन है, अक्षरात्मक मनोमय अव्यय, अक्षरात्मक प्राणमय अक्षर, वाङ्मय क्षर, तीनों की समष्टिरूप मन-प्राण-वाङ्मयी इनका अक्षरसंस्था माना है। मनोरूप अव्यय एवं प्राणरूप अक्षर, दोनों का समुच्चितरूप ही आत्मा है। इसी मनःप्राणमय आत्मा से (प्रज्ञात्मा के वाङ्मय क्षर भाग से) उपनिषच्छ्रुतिने क्रमशः आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी इन पाँच भूतों की उत्पत्ति मानी है जैसा कि—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" इत्यादि तैत्तिरीय-वचन से स्पष्ट है। अवश्य ही आकाश स्वयम्भू है, वायुमय परमेष्ठी है, तेजोघन सूर्य्य है, आपोमय चन्द्रमा है, सर्वान्त में वही पूर्वोक्त पृथिवी है। पञ्चमहाभूतों की समष्टि का ही नाम विश्व है, एवं यह विश्व क्षरसंस्था के स्वयम्भू आदि से पृथक् नहीं है। इस दूसरी दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक तत्त्वरूप शुक्रभाग को ही विश्व कह सकते हैं।

(वाक्) १ आकाश—स्वयम्भू—प्राणमय

(आप) २-वायु—परमेष्ठी—आपोमय

(अग्नि) ३-तेज—सूर्य्य—वाङ्मय—

(आप) ४-जल—चन्द्रमा—अन्नमय—

(वाक्) ५-पृथिवी—पृथिवी—अन्नादमयी

—पञ्चभूतात्मकं शुक्रात्मकं वा विश्वम्

१८४–भौतिक विश्व का मौलिक-उपादान-द्रव्यात्मक-'वाक्' तत्त्व, तत्प्रभव आपोमय भृग्वङ्गिरा, तदनुप्राणित मरातवायु, एवं तद्द्वारा 'सूर्य्य' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

एक तीसरी दृष्टि से भी उक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि होरही है। विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार भौतिक विश्व का उपादान वाक् तत्त्व ही माना गया है। वाक् से सर्वप्रथम पानी [अप्तत्त्व] उत्पन्न होता है– 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' । यह अप्तत्त्व 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' इस अथर्व सिद्धान्त के अनुसार भृगु एवं अङ्गिरोमय है। भृगु सोमरूप आप है एवं अङ्गिरा अग्निरूप आप है। यही भृतात्मि मरातवायु की नोदना से आगे जाकर संघातभाव में परिणत होता हुआ सूर्य्यरूप में परिणत होता है। आप के गर्भ में ही यह 'अग्नि' नामक अग्निमय सूर्य्य प्रकट हुआ है। पृथिवी इसी सूर्य्य का उपग्रह है। एवं चन्द्रमा इसी पृथिवी का अग्निप्राणात्मक उपग्रह माना गया है।

१८५–विश्वमूलभूत वाक्तत्त्व के-'सत्या-आम्भृणी-बृहती अनुष्टुप्-सुब्रह्मण्या' नामक पाँच महिमा-विवर्त्त एवं तन्निबन्धन पञ्चवागात्मक विश्व का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार यह वाक्तत्त्व ही क्रमश आप-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा इन चार रूपों में परिणत होता हुआ पञ्चात्मक विश्वरूप में परिणत होरहा है। स्वयम्भू की प्राणमयी वाक् सत्यावाक् कहलाती है परमेष्ठी की आपोमयी वाक् 'आम्भृणीवाक्' कहलाती है सूर्य्य की वाक् मयी वाक् 'बृहतीवाक्' कहलाती है इसे ही गौरिवीता किंवा गौरीवित भी कहा गया है। चन्द्रमा की अन्नमयी वाक् 'सुब्रह्मण्या' नाम से प्रसिद्ध है। एवं अन्नादमयी पार्थिवी वाक् अनुष्टुप् नाम से प्रसिद्ध है– 'अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा' । वाक् की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर– 'वाचीमा विश्वा-भुवनान्यर्पिता'– 'वाचा वागेवेदं सर्वम्' यह कहा जाता है। यह भी विज्ञ पाठकों को विदित ही है कि, वाक् मय बार ही वाक् आप–अग्नि अग्नि आप-वाक् इन शुक्रत्रयी में परिणत होता हुआ स्वयम्भू परमेष्ठी आदि [सत्य-यज्ञ-सत्यात्मा] का स्वरूप-समर्पक बना है। इस दृष्टि से भी हम वाक्संस्थात्मक सत्य-यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे।

वाक्	१	वाक्	स्वयम्भू (सत्यावाक्)	प्राणमयी	पञ्चवागात्मक शुक्रात्मकं वा विश्वम्
आप	२	भृगु	परमेष्ठी (आम्भृणीवाक्)	आपोमयी	
अग्नि	३	अङ्गिरा	सूर्य्य (बृहतीवाक्)	वाङ्मयी	
वाक्	४	पृथिवी	पृथिवी (अनुष्टुब् वाक्)	अन्नादमयी	
आप	५	चन्द्रमा	चन्द्रमा (सुब्रह्मण्यावाक्)	अन्नमयी	

१८६-स्मार्त्त-दृष्टि से अनुप्राणित विश्व की सत्य-यज्ञानुगता शुक्रात्मकता का समन्वय—

एक तीसरी स्मार्त्त दृष्टि से भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन होरहा है। भूतप्रपञ्च की समष्टि ही विश्व माना गया है। और भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' यह कहते हुए भूतात्मक विश्व को क्षरमय ही सिद्ध किया है। उधर वाङ्मय क्षर से सम्बन्ध रखने वाले शुक्राद् से ही स्वयम्भू परमेष्ठी आदि सत्यमय विश्वों का प्रादुर्भाव सिद्ध किया गया है। इस भगवद्दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्य-यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे।

१८७-सत्य-यज्ञ-विराट् त्रयी की समष्टि से अनुप्राणित विश्व, एवं तत्सम्बन्ध में षष्ठ संस्थानुगता महती विप्रतिपत्ति—

जब अनेक दृष्टियों से शुक्रभाग का ही दूसरे शब्दों में सत्य-यज्ञ-विराट्-प्रजापतियों का ही समष्टिरूप विश्व बन जाता है तो प्रश्न स्वाभाविक है कि, 'आवरण' परिग्रह से सम्बन्ध रखने वाले इस "विश्व" नाम के ६ ठे विवर्त का क्या स्वरूप है? एवं वह विश्व कौनसा है? जिसकी अपेक्षा से हमें ५ के स्थान में ६ विवर्त मानने पड़े? और फिर ऐसा कोई अन्य प्रमाण भी तो नहीं है जिसके आधार पर पञ्चमहाभूतात्मक विश्व से अतिरिक्त [जिसका कि सत्य-यज्ञ-विराट्मूर्त्ति शुक्रभाग में ही अन्तर्भाव है] "विश्व" नामक पदार्थ की सत्ता सिद्ध की जासके।

१८८-पञ्चपर्वात्मक विश्व, एवं सत्य-यज्ञ-विराट-मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर की अभिन्नता, तदभिव्यञ्जना अमृत-ब्रह्म-शुक्र-त्रयी का स्वरूपसमन्वय, तथा अश्वत्थप्रजापति से अनुप्राणित 'लोक' का संस्मरण—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही पञ्चपर्वात्मक विश्व एवं सत्य-यज्ञ-विराट् मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर दोनों एक ही वस्तु तत्त्व हैं। फिर भी हमें "विश्व" नाम की एक स्वतन्त्र ६ ठी संस्था मान ही लेनी पड़ती है। और 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' यह श्रुति ही ऐसा मानने के लिए हमें विवश कर रही है। मनोमय निर्गुण अव्ययात्मा "अमृतम्" है प्राणमय सगुण षोडशीप्रजापति [अक्षरप्रजापति] 'ब्रह्म' है। एवं पूर्वकथनानुसार वेदात्मा स्वयम्भूरूप सत्यप्रजापति [वाक्शुक्र] लोकात्मक परमेष्ठी एवं देवात्मक अमृतसूर्यरूप यज्ञप्रजापति [आप-अग्निशुक्र] तथा देवात्मक-मर्त्यसूर्यरूप सर्वज्ञ [मर्त्याग्नि शुक्र], परमात्मक मर्त्य चन्द्ररूप हिरण्यगर्भ मर्त्य आप शुक्र] भूतात्मक पृथिवीरूप वैश्वानर [मर्त्य वाक् शुक्र] इन तीनों की समष्टिरूप विराट्प्रजापति की समष्टि ही वाङ्मय अमृत-सविकार-अक्षर 'शुक्रम्' है। "अमृत"-"ब्रह्म" अव्यय-अक्षर] आत्मा है 'शुक्र' इस आत्मा का शरीर है। एवं यही शरीर भागवत-सम्प्रदायानुसार सप्तवितस्तिकायात्मक "विश्व" है। इसके अतिरिक्त उस "तत्" के विस्तार में "विश्व" नाम का कोई अन्य पदार्थ शेष नहीं रह जाता। परन्तु श्रुति कहती है कि अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक उस प्रजापति [अश्वत्थप्रजापति] में सम्पूर्ण "लोक" आश्रित रहते हैं।

'तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे

१८९–पञ्चश्रुति का 'लोक' शब्द, त्रैलोक्य निवासिनी 'प्रजा' का 'लोकभाव' एवं लोकात्मक 'विश्व' शब्द—

विचारणीय यह है कि श्रुति का यह 'लोक' क्या है ? । यह 'लोक' पदपर्याय विश्व तो हो नहीं सकता । क्योंकि विश्व तो 'तत्' के बाद सब तीसरे शुक्रविवर्त में ही गतार्थ है । ऐसी दशा में मानना पड़ेगा कि यह "लोक" किसी अन्य वस्तु का ही वाचक है और उसी अन्य वस्तु को हमने विश्वम् कहा है । 'लोकस्तु भुवने जने' के अनुसार लोकशब्द जहाँ भुवनात्मक विश्व का वाचक है वहाँ जन का भी संग्राहक है एवं प्रजा स्यात् सन्ततौ जने के अनुसार प्रजावर्ग [त्रैलोक्य में रहने वाली जीवात्मिका प्रजा] ही जन है । "प्रजा वै जनकल्पा [ऐ० ब्रा० ६।१२] इत्यादि श्रुति भी इसी पक्ष का समर्थन कर रही है । त्रैलोक्य में रहने वाली इसी प्रजा के लिए दूसरे शब्दों में इसी जीवसृष्टि के लिए हमने विश्वम् कहा है ।

१९०–यदृ विश्वं सर्वं तत्'–निगम मूलक 'विश्व' शब्द की सर्वरूपता, तदनुबन्धी–'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव', एवं 'विश्व' शब्द का स्वरूप-समन्वय—

अब प्रश्न केवल यही बच रहता है कि इसे 'प्रजा' 'जन' 'लोक' आदि शब्दों में से किसी एक शब्द से व्यवहृत न कर 'विश्व' शब्द से ही सम्बोधित क्यों किया गया ? । उत्तर यही है कि 'विश्व' शब्द केवल पञ्चदशा विश्व का ही वाचक नहीं है । अपितु विश्वातीत विश्व इन दो महतोमहीयान् विभागों के अनुसार परात्पर को 'विश्वातीत' कहा जाता है एवं आगे के सर्वपदार्थ जिस विश्व नाम से व्यवहृत किए जासकते हैं । श्रुति ने भी "यद् विश्वं सर्वं तत्" (शत० ३।१[illegible]) यह कहते हुए विश्व को सर्वपदार्थ का ही वाचक माना है । अमृत-मर्त्य गुणों सब प्रजापति की प्रजा प्रजासृष्टि पर ही निर्भर होती है । यह यही आधार सब बनता है । अतएव इस प्रजासर्ग के लिए विश्व को इस सब [illegible] । 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव' इत्यादि मन्त्र [illegible] 'सर्व' के स्थान में 'विश्व' शब्द प्रयुक्त होता देखा गया है । केवल इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए हमने इस प्रजा विवर्त को 'विश्व' कह दिया है ।

१९१–'प्रजा' रूप विश्व के सत्त्व रज स्तमो-गुण निबन्धन त्रिविध महिमा-विवर्त, एवं विश्वप्रजानुगता सत्त्वसृष्टि की विश्रान्ति —

इस प्रजारूप [illegible] की अभिव्यक्ति स[illegible] मनोवर्गमित [illegible] सब [illegible] प्रजापति से ही होती है यह बतलाया जाचुका है । [illegible] के अव्यक्त-हिरण्यगर्भ सर्वानर ये तीन [illegible] बतलाए गए हैं । इन्हीं तीनों से क्रमशः सत्त्वविशाल रजोविशाल तमोविशाल नाम के [illegible] का विकास हुआ है [illegible] पूर्व प्रकरणों में [illegible] विस्तार से बतलाया जाचुका है । समस्त चलनजीव प्राण-प्रधान बनते हुए विराट् की सप्तदशकला पर प्रतिष्ठित हैं । चलन भाव वाले चलन जीव तत्त्वप्रधान बनते हुए इसी हिरण्यगर्भकला पर प्रतिष्ठित हैं । एवं समस्त अचलनजीव पार्थिव पाषाणादि-[illegible] आवरणप्रधान बनते हुए इसी आवरणकला पर प्रतिष्ठित हैं । इन तीनों के [illegible] [illegible] उत्पत्तिपरिग्रह से हो [illegible] है । यही वैराज [illegible] है । दो भाग पूर्वनिर्माण [illegible] सृष्टि का सप्तदश [illegible] है ।

१८६–स्मार्त्त-दृष्टि से अनुप्राणित विश्व की सत्य-यज्ञा-नुगता शुक्रात्मकता का समन्वय—

एक वाणी स्मार्त्त दृष्टि से भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन होरहा है। भूतप्रपञ्च की समष्टि ही विश्व माना गया है। और भगवान ने स्पष्ट शब्दों में "क्षर सर्वाणि भूतानि" यह कहते हुए भूतात्मक विश्व को क्षरमय ही सिद्ध किया है। उधर आदृश्य क्षर से सम्बन्ध रखने वाले शुक्ररूप से ही स्वयम्भू परमेष्ठी आदि सम्भव विश्वों का प्रादुर्भाव सिद्ध किया गया है। इस मतवृद्धि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्य–यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे।

१८७–सत्य-यज्ञ-विराट् त्रयी की समष्टि से अनुप्राणित विश्व, एवं तत्सम्बन्ध में पष्ठ संस्थानुगता महती विप्रतिपत्ति—

जब अनेक दृष्टियों से शुक्रभाग का ही दूसरे शब्दों में सत्य–यज्ञ–विराट्–प्रजापतियों का ही समष्टिरूप विश्व बन जाता है तो प्रश्न स्वाभाविक है कि 'आवरण' परिग्रह से सम्बन्ध रखने वाले "उस 'विश्व' नाम के ६ ठे विवर्त का क्या स्वरूप है?, एवं वह विश्व कौनसा है! जिसकी अपेक्षा से हमें ५ के स्थान में ६ विवर्त मानने पड़ें?। और फिर ऐसा कोई श्रौत प्रमाण भी तो नहीं है जिसके आधार पर पञ्चमहाभूतात्मक विश्व से अतिरिक्त [जिसका कि सत्य-यज्ञ-विराट्मूर्ति शुक्रभाग में ही अन्तर्भाव है] "विश्व नामक पदार्थ की सत्ता सिद्ध की जासके।

१८८–पञ्चपर्वात्मक विश्व, एवं सत्य-यज्ञ विराट्-मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर की अभिन्नता, तदभिन्नतया अमृत-ब्रह्म-शुक्र–त्रयी का स्वरूप-समन्वय, तथा अश्वत्थप्रजापति से अनप्राणित 'लोक' का सम्स्मरण—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही पञ्चपर्वात्मक विश्व एवं सत्य-यज्ञ-विराट् मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर दोनों एक ही वस्तु तत्त्व हैं। फिर भी हमें "विश्व नाम की एक स्वतन्त्र ६ ठी संस्था मान ही लेनी पड़ती है। और तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे" यह श्रुति ही एसा मनने के लिए हमें विवश कर रही है। स्वयम्भू निगुण अव्ययात्मा 'अमृतम् है प्रागमय अक्षर पारमेष्ठ्यप्रजापति [अक्षरप्रजापति] "ब्रह्म' है। एवं पूर्वमतानुसार वागात्मा स्वयम्भूस्थ सत्यप्रजापति [वाक्शुक्र], आपात्मक परमेष्ठी, एवं तेजात्मक ममृतमृत्युरूप यज्ञप्रजापति [आपो-ऽग्निशुक्र] तथा तेजात्मक-मर्त्यमृत्युरूप सर्वेश [मर्त्याग्नि शुक्र] परमात्मक मत्य चन्द्ररूप हिरण्यगर्भ 'मर्त्य आप शुक्र] भूतात्मक पृथिवीरूप वैश्वानर [मर्त्य वाक् शुक्र] इन तीनों की समष्टिरूप विराट्प्रजापति की समष्टि ही वाङ्मय सम्पूर्ण-अधिकार-भाजन 'शुक्रम' है। 'अमृत –"ब्रह्म अव्यय-अक्षर] आत्मा है, 'शुक्र' इस आत्मा का शरीर है। एस यही शरीर भागवत-सम्प्रदायानुसार सप्तवितस्तिकायात्मक "विश्व' है। इसके अतिरिक्त उक्त "तत्त्व' के विस्तार में 'विश्व' नाम का कोई अन्य पदार्थ शेष नहीं रह जाता। परन्तु श्रुति कहती है कि, अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक उक्त प्रजापति [अश्वत्थप्रजापति में सम्पूर्ण 'लोक" आश्रित रहते हैं।

'तदेव शुक्रं–तद् ब्रह्म–तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे'

१-त्रय सृष्टिकल्पाः—

१ — १—स्वयम्भूविकल्पः—अव्ययकल्पः [मनोमय]—भावसृष्टिः
२—मायाकल्पः——अक्षरकल्पः [प्राणमय]—गुणविकारसृष्टिः
३—विकारकल्पः——क्षरकल्पः [वाङ्मय]—मैथुनीसृष्टिः
} तनि [illegible]



२ — १—अव्यय } स्वयम्भूविकल्प [अव्ययसृष्टि]

२—[illegible]
३—[illegible]
४—[illegible]
५—विराट्
} मायाकल्प [अक्षरसृष्टि]

६—विश्वम् } विकारकल्प [क्षरसृष्टि]

} 'तदिदं सर्वम्'



२-प्रकृति-पुरुषकल्पः—

माया—परिग्रहयोगात्-प्रकृति —महामाया-तत —अव्ययोदय ।
कला—परिग्रहयोगात्-प्रकृति —योगमाया-तत —[illegible] ।
गुण—परिग्रहयोगात्-प्रकृति —दैवीमाया-तत —त्रैगुण्योदयः ।
विकार—परिग्रहयोगात्-प्रकृति —महामाया-तत —[illegible] ।
अञ्जन—परिग्रहयोगात्-प्रकृति—आसुरीमाया-तत —पाप्मोदय ।
आवरण—परिग्रहयोगात्-प्रकृति —जीवमाया-तत —[illegible] ।



१८२–स्वायम्भुवकल्प, मायाकल्प, विकारकल्प, भेद से सृष्टिकल्पों के त्रिविध महिमा-विमर्श—

एक दूसरी दृष्टि से उक्त सृष्टिकल्प का समन्वय कीजिए। वैज्ञानिकोंने सृष्टिकल्प [सृष्टिविवर्त्तमण्डल] के तीन विभाग माने हैं। वे तीनों कल्प क्रमशः स्वायम्भुविकल्प, मायाकल्प विकारकल्प इन नामों से सब तरह इतिहास-पुराणग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। मायाबलावच्छिन्न मनोमय अव्यय 'स्वायम्भुविकल्प' है, यही 'पुरुषकल्प' है। षोडशी–सत्य-यज्ञ-विराट् ये चारों 'मायाकल्प' हैं एवं मैथुनीसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही तीसरा 'विकारकल्प' है।

१८३–महामाया योगमाया, दैवीमाया, महन्माया, आसुरीमाया, जीवमाया, भेदभिन्न प्रकृतितत्त्व के षट्परिग्रह-निबन्धन षड्विध महिमा–विमर्श

एक तीसरी दृष्टि से उक्त सर्गकल्प का समन्वय कीजिए। "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण तत्त्ववाद को 'पुरुष' 'प्रकृति' इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। 'तत् समन्वयात्' इस शारीरक-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति–पुरुष के समन्वय से ही उक्त ६ विवर्तों का विकास हुआ है। माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन आवरण इन ६ परिग्रहरूप उपाधियों से ही उस बलात्मिका प्रकृति* के ६ रूप हो जाते हैं। इन परिग्रहों से युक्त होकर यह अनादि-प्रकृति अभिमर्षों में परिणत होती हुई ६ रूप धारण कर लेती है। मायापरिग्रहोपेता वही प्रकृति 'महामाया' है, कलापरिग्रहोपेता वही प्रकृति 'योगमाया' है, गुणपरिग्रहोपेता वही प्रकृति 'दैवीमाया' है, विकारपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "महन्माया" है, अञ्जनपरिग्रहोपेता वही प्रकृति 'आसुरीमाया' है एवं आवरणपरिग्रहोपेता वही प्रकृति 'जीवमाया' है।

१८४–षड्विध-परिग्रहों से समन्वित षड्विध मायाविवर्तों के अनुबन्ध से षड्विध उपास्य-पुरुषों का स्वरूप-संस्मरण—

पुरुष के साथ महामाया के समन्वय से 'निर्गुण अव्यय' का विकास होता है। अव्यय के साथ योगमाया के समन्वय से सकल-षोडशी 'प्रजापति का प्रादुर्भाव होता है। षोडशी के साथ दैवीमाया के समन्वय से 'सगुण सत्यप्रजापति' का प्रादुर्भाव होता है। सत्य के साथ महन्माया के समन्वय से 'सविकार यज्ञप्रजापति' का प्रादुर्भाव होता है। यज्ञ के साथ आसुरीमाया के समन्वय से 'साञ्जन विराट् प्रजापति' की उत्पत्ति होती है। एवं विराट् के साथ जीवमाया के समन्वय से 'विश्वरूप चतुर्विध भूतसर्ग' की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार परिग्रहोपेता षड्भावापन्ना प्रकृति ही पुरुष के साथ समन्वित होती हुई ६ विवर्त भावों का कारण बनती है। सिद्धान्ततः पुरुष एक ही है केवल परिग्रहभेदभिन्न दृष्टि से ही भिन्न है जैसाकि परिलेखों से स्पष्ट है।

---

*–शिष्ट-समाज में प्रकृति और माया को एक वस्तु समझा जाता है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से दोनों में सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। परात्पर का रसगर्भित अनादिरस पुरुष है एवं रसगर्भित अनादि बल प्रकृति है। यही बलात्मिका प्रकृति सीमाभाव में आकर 'माया' कहलाती है। मायात्मिका प्रकृति सादि है मायामय पुरुष भी सादि है एवं मायातीत प्रकृति-पुरुष-अनादि हैं।

१६८–'उपासना' और 'भक्ति' के तारतम्य की स्वरूप-मीमांसा—

आगे चलकर जिन असंख्य मार्गों का विकास हुआ है उन सब का उक्त तीनों में से किसी एक में ही अन्तर्भाव होजाता है। ज्ञानात्मिका उपासना ज्ञानयोग-रूपा है क्रियात्मिका उपासना भक्तियोगरूपा है एवं अर्थात्मिका उपासना कर्म्मयोगरूपा है। ज्ञानयोगरूपा अव्यय की भक्ति 'उपासना' कहलाएगी। कर्म्मयोग-रूपा अक्षर की भक्ति मध्यस्थिता बनती हुई 'भक्ति' कहलाएगी एवं कर्म्मयोगरूपा क्षर की उपासना 'कर्म्म' कहलाएगी जैसा कि पूर्व के 'उपासना और भक्ति में तारतम्य' नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है।

३–१–त्रिकलभक्तिमार्ग —

---

१ १–आनन्द (मन)
२–विज्ञानम् (मन)
३–मन (मन)
—अव्ययसंस्था मायामयी (मन)

१–मन (अव्ययावच्छिन्नोऽक्षर-प्राण)
२ २–प्राण (अक्षरावच्छिन्नोऽक्षर-प्राण)
३–वाक् (क्षरावच्छिन्नोऽक्षर-प्राण)
—अक्षरसंस्था कलामयी (प्राण)

१–वाक् (सत्य स्वयम्भू) —प्रथमप्रजापतिः वाक्–अचला
२–आपः (यज्ञ परमेष्ठी)
३–अग्नि (यज्ञ [शिव-विराट् सर्वज्ञ])
—मध्यमप्रजापतिः वाक् सविकारा
३ ४–आपः (विराट् हिरण्यगर्भ)
५–वाक् (विराट् वैश्वानर)
—विराट्प्रजापतिः वाक्–अप्सना
६–वाक् (सत्वनियतानर्गा)
७–आपः (रजोनियतानर्गा)
८–अग्नि (तमोनियतानर्गा)
—विश्वम्-वाक्-आवरणा
—क्षरसंस्था (वाक्)

१६५–उपास्य-तत्त्वानुबन्धी भक्तियोग', भक्तियोगनिबन्धन उपास्यतत्त्व की परिग्रहरूपता, एवं तन्निबन्धना अनिवार्य्यरूपेण उपादेया पञ्चविध-परिग्रहमीमांसा—

यद्यपि हम यह अनुभव कर रहे हैं कि उक्त परिग्रहप्रकरण पाठकों की नीरक्षीरविवेकिनी दृष्टि में आलोच्य ही बन रहा होगा। भला 'भक्तिपरीक्षा' में इस परिग्रहाडम्बर की क्या आवश्यकता ?। यह सब कुछ अनुभव करते हुए भी हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि, बिना इस परिग्रह-परिज्ञान के भक्तिमार्ग की पूर्व शब्दों में आरम्भ में बतलाए गए 'भक्ति' के पाँच भागों की परीक्षा ही सम्भव नहीं है। परिग्रह ही एकमात्र ऐसी कसौटी है जिस को मूल में रखते हुए भक्तिमार्गों का हम समन्वय कर सकते हैं। भक्ति पाँच रूपों में परिणत होगई। आगे जाकर पाँच के पचासों रूप होगए, इसमें न भक्ति का कोई अपराध है एवं न भक्त की ही कोई त्रुटि है। अपितु जिस उपास्य की उपासक भक्ति करता है वह उपास्यतत्त्व ही स्वयं पाँच भागों में विभक्त है। और यह भी निश्चित है कि, जबतक उपास्य-देवता के परिग्रह-निबन्धन उन पाँचों रूपों का सम्यक् परिज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया जाता तबतक 'भक्तिपरीक्षा' सर्वथा अपूर्ण ही रह जाती है। एकमात्र इसी भाव को लक्ष्य में रखते हुए, पाठकों की दृष्टि में अप्रासङ्गिक बने हुए, किन्तु भक्तिमार्ग की दृष्टि से न केवल प्रासङ्गिक ही अपितु नितान्त आवश्यक बने हुए परिग्रहयुक्त पाँचों उपास्यों का स्वरूप बतलाना अनिवार्य्य मान लिया गया।

१६६–भक्तियोगानुबन्धी उपास्यतत्त्व का '३ ६ ४–५'' क्रम से चतुर्धा वर्गीकरण—

अब उक्त परिग्रहविवेक के सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य शेष रह जाता है कि, परीक्षा के द्वार स्वरूप उन पाँचों उपास्यों का स्वरूप संग्रहरूप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाय। भिन्न भिन्न दृष्टियों से सम्बन्ध रखते हुए हम उन उपास्यरूपों को–[३]–[६]–[४]–[५] इन चार भागों में विभक्त कर रहे हैं।

१६७ त्रिकल–उपास्य' से सम्बन्ध रखने वाली 'त्रिकला–भक्ति', एवं त्रिकला भक्ति के त्रिगुणभावानुबन्धी ज्ञान–भक्ति–कर्म्म भावों का विस्तार समन्वय—

[३]–पहिले त्रिकल-विभाग को ही लीजिए। निर्गुण अव्यय अव्ययसंस्था है, अक्षर-योन्यधिष्ठातृ 'अक्षरसंस्था' है, एवं सगुण-अक्षराधिष्ठाता सविकारपरमेष्ठी, भाग्यविराड्भावापन्न तथा आवरणविशिष्ट इन भावों की समष्टि क्षरसंस्था है। ये तीनों संस्थाएँ क्रमशः "आनन्द विज्ञान मनोमयी – "मन प्राण-वाङ्मयी –" "वाक्-आप-अग्निमयी —इन रूपों में परिणत होती हुई क्रमशः मनोमयी–प्राणमयी–एवं वाङ्मयी हैं। मनोमय अव्यय क्योंकि ज्ञानमय है अतएव तदात्मिका उपासना 'ज्ञानात्मिका' कहलाएगी। प्राणमय अक्षर [पौरुषी] क्योंकि क्रियामय है अतएव तदात्मिका उपासना 'क्रियात्मिका' कहलाएगी। एवं अस्य वाक्-विराट्–विश्व की समष्टिरूप वाङ्मय क्षर क्योंकि कर्म्ममय है अतएव तदात्मिका उपासना 'कर्म्ममयी' कहलाएगी। यही त्रिकल उपास्य से सम्बन्ध रखने वाली त्रिकला भक्ति है।

पञ्चधाभक्तिमार्ग —६—

(१)-[illegible] [मन] — निर्गुणब्रह्म — [illegible] उपासना
-[illegible] [मन]
३-मनः [मन]

१-मनः [illegible]-प्राण — [illegible]-हृदयात्मा-उपासना
२-प्राण [illegible]-प्राण
३-[illegible] [illegible]-प्राण

१-[illegible] [illegible]-वाक् — [illegible] — [illegible]-उपासना

१ [illegible] [illegible]-वाक्
-[illegible] [illegible]-वाक् — [illegible] — [illegible]-उपासना

१ [illegible] [illegible]-वाक्
२ [illegible] [illegible]-वाक् — [illegible] विराट्—[illegible] उपासना
३-[illegible] [illegible] वैश्वानर —वाक्

१ [illegible] [illegible] -वाक्
-[illegible] - [illegible] -वाक् — [illegible] विषय—[illegible]—उपासना
-[illegible] वैश्वानर [illegible]

(२)—[illegible]—मानवर्गविभाजन — [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

२ १–अव्ययात्मा मनोमय —ज्ञानात्मा उपास्य—ज्ञानात्मिका भक्तिः [ज्ञानयोगमयी "उपासना"
२–अक्षरात्मा प्राणमय —कर्मात्मा उपास्य—क्रियात्मिका भक्तिः [भक्तियोगमयी "भक्ति"
३ क्षरात्मा वाङ्मय —कर्मात्मा उपास्य —कर्मात्मिका भक्तिः [कर्मयोगमयी "कर्म"

३
आमित्येतत्
- परात्पर–अर्द्ध मात्रा—
- १–अव्ययः–अकार –["यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति —उपासना]
- २–अक्षर–उकार–["तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति —भक्ति"]
- ३–क्षर–मकार —["सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति —कर्म]

—तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि"

१८६–षट्कलविभागात्मक द्वितीय उपास्य-तन्त्र का संस्मरण एवं तन्निबन्धन षड्विध-उपासनापर्वों का नाम-समन्वय—

[२]–दूसरा षट्कल-विभाग है। निर्गुण-अव्यय [१]-अव्ययात्मा है उभय-षोडशीप्रजापति [२]-ईश्वरात्मा है सगुण-सप्तप्रजापति, [३]-वेदात्मा है सविकार-यज्ञप्रजापति [४]-यज्ञात्मा है यजन निरत्–प्रजापति [५]-सर्वभूतान्तरात्मा [ईश्वरीय देवरूप] है एवं सविकार विराट् [६]-भूतात्मा [जीवसम्बन्धी ब्रह्मरूप] है। इन ६ उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाली उपासना भी क्रमशः ¹ मनोमयी ²प्राणमयी ³वाङ्मयी विष्णुमयी, ब्रह्ममयी भूतमयी इन ६ भागों में ही विभक्त है। (१)–निर्गुणाव्यय का मानस चिन्तन मनोमयी उपासना है। (२)–जीवन के कर्म को ईश्वरार्पित कर देना प्राणमयी उपासना है। (३)–वेदस्वाध्याय एवं अध्यापन वाङ्मयी उपासना है। (४)–यज्ञकर्म विष्णुमयी उपासना है। अतातिरिक्त (५) प्राकृतिक प्राणदेवताओं की उपासना ब्रह्ममयी है। एवं (६) प्रतिमापूजन भूतमयी उपासना है। इन ६ भा में आदि की उपासना ज्ञानात्मिका बनती हुई ज्ञानयोग-स्थानीया "उपासना" है। अन्त की उपासना कर्मात्मिका बनती हुई कर्मयोग-स्थानीय "कर्म" है। एवं मध्य की चारों उपासनाएँ क्रियात्मिका बनती हुई भक्तियोग-स्थानीया "भक्ति" है। इस दृष्टि से उपासनाकाण्ड ६ भागों में विभक्त हो जाता है जैसाकि आगे के परिलेखों से स्पष्ट है।

पञ्चकमत्तिमार्ग —६—

(१)—[illegible] [मन] — २—विज्ञानम् [मना] — ३—[illegible] [मन] —निगु[illegible] —[illegible] उपास्य

१—मनः [[illegible]] — २—[illegible] [[illegible]] — ३—[illegible] [[illegible]] —[illegible]—[illegible]मा—उपास्य

१—[illegible] [[illegible]]—[illegible] —[illegible]मा—उपास्य

१—[illegible]—[[illegible]]—[illegible] — २—[illegible]—[[illegible]]—[illegible] —[illegible] —[illegible]मा उपास्य

१ [illegible] [[illegible] —[illegible] — २ [illegible] —[[illegible] —[illegible] — ३—[illegible] [illegible] —[illegible] —[illegible] विराट्—[illegible]मा उपास्य

१ [illegible] [illegible] —[illegible] — २—[illegible] — [illegible] —[illegible] — [illegible] वैश्वानर —[illegible] —[illegible] विश्व—भूतात्मा—उपास्य

(२)—[illegible]—मानर्षिपन्नम् — [illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible] — [illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible] — [illegible]

२००–चतुष्कलोपेता 'भक्ति' के आत्मा, पर, पुनःपर, अशीति रूप चार विवर्त, एवं तदनुप्राणिता भक्ति के चार–विभिन्न–विवर्तों का स्वरूप–समन्वय—

[१]–तीसरा चतुष्कल भक्ति–विभाग है। निर्गुण अव्यय 'आत्मा' है, उसका षोडशी "प्रजापति" है, सगुण–सविकार क्षर–पञ्चमहिम 'महिमा' है एवं साधन–साधक विराट्–विश्व की समष्टि "सर्वम्" है। आत्मा विभक्तमात्रा में [१]–आत्मा ही कहलाता है, प्रजापति को [२]–'परम्' कहा जाता है, महिमारूप [३]–'पुनःपरम्' नाम से प्रसिद्ध है एवं सर्वरूप [४]–'अशीति' नाम से प्रसिद्ध है। इन चार उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाली उपासना भी क्रमशः आत्मोपासना, प्रजापत्युपासना, महिमोपासना, सर्वोपासना इन चार भागों में विभक्त है। आत्मचिन्तन आत्मोपासना है, ईश्वरयुक्त चतुर्दशीक मान ज्ञान–क्रिया–अर्थ प्रजापत्युपासना है, स्वागतस्वरूप चतुर्दशीयमान महिमा–सम्पादक 'यज्ञकर्म' 'महिमोपासना' है। एवं साङ्कलेश्वर–प्रत्यक्ष चतुर्दशीयमान विविध भूत भूतोपासना सर्वोपासना है। चारों में आदि की उपासना ज्ञानाभिन्न बनती हुई ज्ञानयोग–स्थानीय "उपासना" है। मध्य की उपासना कर्माभिन्न बनती हुई कर्मयोग–स्थानीय "कर्म" है, एवं मध्य की दोनों उपासनाएँ क्रियाभिन्न बनती हुई भक्तियोग–स्थानीय 'भक्ति' है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है।

१

- १–आनन्द [मन]
- २–विज्ञान [मन]
- ३–मन [मन]

[उपर्युक्त तीनों] – मायी अव्यय ——— आत्मा–उपास्य

—•—

२

- १–मन [अव्ययाक्षरस्थिमाऽक्षर] [प्राण]
- २–प्राण [अक्षरात्मिकमाऽक्षरः] [प्राणः]
- ३–वाक् [क्षरात्मिकमाऽक्षरः] [प्राणः]

[उपर्युक्त तीनों] – अक्षर षोडशी } प्रजापति–उपास्य

—•—

३

- १–वाक् [भूत स्वयम्भूः] [वाक्]
- २–वाक् [परमेष्ठी] [वाक्]
- ३–अग्नि [सूर्य] [अन्न]

[१] } क्षर सगुण
[२, ३] } क्षर विकार
[उपर्युक्त सब] – महिमा–उपास्य

—•—

४

१-अग्निः [विराट्—सर्वहुतः] [वाक्]
२-आपः [विराट्-हिरण्यगर्भ] [वाक्] } विराट् साधनम्
३-वाक् [विराट्-वैश्वानरः] [वाक्]

४-वाक् [भूतमया लोकाः] [वाक्] } विश्वं सावरणम्

} सर्वम्-उपास्यः

—o—

१-आत्मा [आत्मा-हृदय]——आत्मोपासना-आत्मचिन्तनम् } "उपासना"

२-प्रजापतिः [परम्-अन्तःपृष्ठम्]—प्रजापत्युपासना—ज्ञानक्रियार्थानुष्ठानम्
३-महिमा [पुनःपरम्-बहिःपृष्ठम्]—महिमोपासना—काम्यकर्मानुष्ठानम् } 'भक्तिः'

४-सर्वम् [अखिल-साहस्री]—सर्वोपासना—अन्यदेवभूतोपासनम् } "कर्म"

३

२०१-क्रमप्राप्त चतुर्थ-भक्तिपथ से अनुप्राणित अष्टविध-महिमा-विवर्त एवं इन का पञ्चविध-महिमाभावों में अन्तर्भाव, तथा तन्निबन्धन पञ्चविध-उपास्यों का संस्मरण—

अब सर्वान्त में यह चौथा भक्ति-प्रकार हमारे सामने आता है जिस कि हम पाँच भागों में विभक्त करते हैं। सर्व जो कि हमारे इस भक्तिपरीक्षा-प्रकरण का मूलस्तम्भ है। मनः-प्राण-वाङ्-मय आत्मविवर्त को हम क्रमशः अव्यय- अक्षर-[1]आत्मक्षर- विकारक्षर-वैकारिकक्षर इन पाँच भागों में विभक्त मानते हैं। यद्यपि विकारक्षर के विशुद्ध-विकारक्षर पर्वाक्षित विकारक्षर पञ्चपर्वाक्षित विकारक्षर [विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुर] ये चार विवर्त बतलाए हैं। इस क्रम से आत्मविवर्त ८ भागों में विभक्त होजाता है। तथापि जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है विकार कभी स्वतन्त्र नहीं रहते अपितु सदा पुरञ्जन में परिणत होकर ही उपलब्ध होते हैं। अतएव विकारादि पुरान्त चारों का एक विकारक्षर-विभाग ही मान लिया जाता है। इसप्रकार ८ के स्थान में प्रधानरूप से पाँच ही विभाग शेष रह जाते हैं।

२०२–विभिन्न परिग्रहों से समन्वित परिग्रहात्मक पञ्चविध उपास्य-देवताओं का स्वरूप समन्वय —

उक्त पाँचों विभागों में पहिले अव्यय-विभाग का मन से, दूसरे अक्षर-विभाग का प्राण से, तीसरे आत्मक्षर-विभाग का अमृतमयी शुक्रवाक् से, चौथे एवं पाँचवें का विकार एवं वैकारिकक्षर मर्त्य वाक्शुक्र एवं मर्त्यवाक् से सम्बन्ध है। पहिली मनोमयी अव्ययसंस्था 'निर्गुण-अव्यय' मा है, दूसरी प्राणमयी अक्षरसंस्था सगुणप्रजापति है, तीसरी अमृतवाक्शुक्रमयी आत्मक्षरसंस्था "सर्वधर्म्मोपहित प्रजापति है, एवं चौथी मर्त्य वाक्शुक्रमयी संस्था सर्वधर्म्मविशिष्टप्रजापति है तथा पाँचवीं मर्त्यवाङ्मयी संस्था "सर्वधर्म्मोपपन्नप्रजापति है। पाँचों में क्रमशः 'माया-कला 'गुण-'विकार अञ्जन- आवरण इस क्रम से ६ भी परिग्रहों का योग होता है।

२०३–भक्तियोग-समन्वय-निबन्धन पञ्चविध–उपास्यों की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित सहपाठ्यता —

इस क्रम में यह ध्यान रखना चाहिए कि गुणपरिग्रहात्मक सगुणप्रजापति का हमने षोडशी में ही अन्तर्भाव मान लिया है। इसी आधार पर इस संस्था के षोडशी को हमने 'सगुणप्रजापति" कह दिया है। इसी गुणात्मक सम्बन्ध के कारण से षोडशी ईश्वर "विश्वमूर्त्ति"–"वैश्वेश्वर" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। एवं एकमात्र इसी आधार पर वेद को [ईश्वर से अभिन्न मानते हुए] ईश्वर का [षोडशी का] निःश्वास मान लिया गया है, जैसाकि उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-न्तर्गत वेदप्रकरण से गतार्थ है। हम पाठकों से सानुरोध निवेदन करेंगे कि, भक्ति के इन पाँच मार्गों का मौलिक रहस्य हृदयङ्गम करने के लिए वे इन पाँचों उपास्यों के भेदाभेद को सावधानी से ही लक्ष्य में आरूढ़ रखने का अनुग्रह करेंगे।

२०४–निर्गुण, सगुण सर्वधर्म्मोपहित, सर्वधर्म्मोपपन्न, सर्वधर्म्मविशिष्ट पञ्चविध–उपास्य-देवताओं का परिग्रहात्मक-समन्वय—

मायापरिग्रह से युक्त निर्गुण अव्यय निर्गुणात्मा है, यह मनोमय बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, एवं इसकी उपासना 'निर्गुणोपासना' है। कला एवं गुणपरिग्रह से युक्त कलागर्भित सगुण अक्षर "सगुण-प्रजापति" है, यह प्राणमय बनता हुआ 'क्रियाप्रधान' है एवं इसकी उपासना 'सगुणोपासना" है। विकार-परिग्रह से युक्त सविकार आत्मक्षर "सर्वधर्म्मोपहितप्रजापति' है, यह अमृतवाक्शुक्रमय बनता हुआ 'अर्थप्रधान" है एवं इसकी उपासना "विकारोपासना' है। अञ्जन-परिग्रह से युक्त साञ्जन विकार क्षर 'सर्वधर्म्मोपपन्नप्रजापति' है, यह मर्त्यवाक्शुक्रमय बनता हुआ "देवप्रधान" है एवं इस की उपासना 'देवोपासना' है। एवं आवरण-परिग्रह से युक्त आवरण-वैकारिक क्षर प्रजा 'सर्वधर्म्मविशिष्ट-प्रजापति' है, यह मूतवाङ्मय बनता हुआ "भूतप्रधान" है एवं इस की उपासना "भूतोपासना' है।

२०५–आत्मोपासना–ईश्वरोपासना–विकारोपासना, देवोपासना, भूतोपासना–भेदभिन्न उपासना पञ्चविधोपास ।—

आत्मोपासना अव्यय की उपासना है, ईश्वरोपासना (षोडशीसगुणप्रजापतिमूर्त्ति) अक्षर की उपासना है, विकारोपासना आत्मक्षर की उपासना है, देवोपासना विकारक्षर की उपासना है, एवं भूतोपासना वैकारिकक्षर की उपासना है। पहिली अव्ययोपासना है, दूसरी प्राणोपासना है, तीसरी अमृतशुक्रोपासना है, चौथी मर्त्य शुक्रोपासना है एवं पाँचवीं मूतशुक्रोपासना है। आगे के परिलेख ही स्पष्टीकरण के लिए पर्य्याप्त हैं।

(५)-[illegible] ([illegible])

[illegible]

(२)

१—निर्गुणात्मा | मनोमयः | (अव्ययः——उपास्यः)।
२—सगुणप्रजापतिः | प्राणमयः | (अक्षरः——उपास्यः)।
३—सर्वधर्मोपहितप्रजापतिः | अमृतवाक्शुक्रमयः | (आत्मक्षरः—उपास्यः)।
४—सर्वधर्मोपपन्नप्रजापतिः | मर्त्यवाक्शुक्रमयः | (विकारक्षरः—उपास्यः)।
५—सर्वधर्मविशिष्टप्रजापतिः | भूतवाक्शुक्रमयः | (वैकारिकक्षरः—उपास्यः)।

(३)

१—निर्गुणः | ज्ञानप्रधानः | (अव्ययः—साक्षी —— उपास्यः)।
२—सगुणः | क्रियाप्रधानः | (अक्षरः — स्रष्टा सगुणरूप उपास्यः।
३—सर्वधर्मोपहितः | अर्थप्रधानः | (आत्मक्षरः—सविकारः — उपास्यः)।
४—सर्वधर्मोपपन्नः | वैभवप्रधानः | (विकारक्षरः—सज्ञानः — उपास्यः)।
५—सर्वधर्मविशिष्टः | भूतप्रधानः | (वैकारिकक्षरः—सकरणः — उपास्यः)।

(४)

१—अव्ययोपासना | आत्मोपासना | (अमृतोपासना) | निर्गुणा।
२—अक्षरोपासना | ईश्वरोपासना | (ब्रह्मोपासना) | सगुणा।
३—आत्मक्षरोपासना | विकारोपासना | (अमृतशुक्रोपासना) | सविकारा।
४—विकारक्षरोपासना | देवोपासना | (मर्त्यशुक्रोपासना) | सज्ञाना।
५—वैकारिकक्षरोपासना | भूतोपासना | (भूतशुक्रोपासना) | सकरणा।

२०६–'सत्' के विवर्त्तभूत पञ्चविध उपास्य, तन्निबन्धन पञ्चविध उपासनापथ, तदनुप्राणिता उपयोगिता, एवं पञ्चोपासना विषयों का उपासनात्रयी में अन्तर्भाव—

उक्त पाँचों ही उपास्यदेव उस एक ही 'सत्' के पाँच महिमा-विवर्त्त हैं। अत: पाँचों में से किसी एक की भी उपासना करता हुआ उपासक आत्मा के अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् साधन कर सकता है। इसी लिए शास्त्रोंने अधिकारी की योग्यता के भेद से पृथक् पृथक् पाँच उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाले पाँचों ही उपासनामार्गों का समादर कर लिया है। हाँ इन पाँचों के सम्बन्ध में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि पहिला मार्ग विशुद्ध आत्मा की ओर झुका हुआ है दूसरा मार्ग मध्यस्थ बना हुआ है एवं आगे के तीन मार्ग विश्व की ओर झुके हुए हैं। अन्त के तीनों मार्ग क्योंकि 'शुक्र' से सम्बन्ध रखते हैं एवं शुक्र ही विश्व का बीज है जैसाकि ईशाभाष्यान्तर्गत 'स पर्य्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से निरूपित है। अतएव शुक्रात्मिका उपासनात्रयी को हम 'विश्वात्मिका' कह सकते हैं। विश्व कर्म्मप्रधान है आत्मा ज्ञानप्रधान है मध्यस्थ अक्षररूप षोडशी उभयमूर्त्ति है। इसी आधार पर प्रथम मार्ग ज्ञानप्रधान उपासनामार्ग कहलाया है मध्यमार्ग उभयमूर्त्ति भक्तिमार्ग कहलाया है, एवं अन्त के तीनों उपासनामार्ग कर्म्मप्रधान उपासनामार्ग कहलाए हैं जैसाकि पाँचों प्रकरणों के शीर्षकों से स्पष्ट है। इसी दृष्टि से इन पाँच मार्गों के तीन ही मार्ग शेष रह जाते हैं।

२०७–आत्मकाममूला, निष्कामभावान्विता, एवं सकामभावानुबन्धिनी उपासनात्रयी का तारतम्य, तथा उपासनानुगता उपासना-भक्ति-कर्म्म त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इन तीनों मार्गों की प्रतिष्ठा क्रमश: आत्मकाम निष्काम काम ये तीन विवर्त्त हैं। अव्ययमूला ज्ञानप्रधाना मनोमयी अमृतोपासना का 'आत्मकाम' से सम्बन्ध है। अक्षरमूला (षोडशीमूला) उभयप्रधाना प्राणमयी ब्रह्मोपासना का 'निष्कामभाव' से सम्बन्ध है। एवं आत्मक्षर-विकारक्षर-वैकारिकक्षरमूला कर्म्मप्रधाना वाङ्मयी शुक्रोपासना का 'सकामभाव' से सम्बन्ध है। काममयी शुक्रोपासना में संसारबन्धन है निष्काममयी ब्रह्मोपासना में बन्धनविमोक है एवं आत्मकाममयी अमृतोपासना में समबलप्रपञ्च विवर्त्तमात्र है। शुक्रविमोचन का एकमात्र उपाय मध्यस्था निष्काममयी अक्षरोपासना ही है जैसाकि— 'उपासते पुरुषं (षोडशीपुरुषात्मकमक्षरपुरुषं) ये ह्यकामा-स्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है। इसप्रकार निष्कर्षरूप से आगे जाकर उपासना के तीन ही मार्ग शेष रह जाते हैं जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१ अव्ययोपासना——मनोमयी]—अमृतोपासना—आत्मकामप्रधाना—"उपासना" १

२ अक्षरोपासना——प्राणमयी]—ब्रह्मोपासना——निष्कामभावप्रधाना—"भक्ति" २

३–आत्मक्षरोपासना—वाङ्मयी

४–विकारक्षरोपासना वाङ्मयी } शुक्रोपासना——सकामभावप्रधाना—"कर्म्म" ३

५–वैकारिकक्षरोपासना—वाङ्मयी

२०८–आत्मा, ईश्वर, उपेश्वर, एवं विराट्भावानुगत उपासनात्रय का स्वरूप-समन्वय–

अव्यय आत्मदेवता है, अक्षर सर्वव्यापक ईश्वर है, आत्मक्षर उपेश्वर है, विकारक्षर सर्वभूतान्तरात्मा नाम से प्रसिद्ध पंचमस्यमूर्ति विराट्पुरुष है। इन चारों की उपास्यरूपता में तो कोई सन्देह नहीं है। परन्तु पाँचवें वैकारिकस्वरूप उपास्य के सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित होता है। इस विवर्त का हमने जीवसृष्टि से सम्बन्ध बतलाया है। जीवात्मा तो उपासक बनता है न कि उपास्य। फिर जीव-विवर्तरूप वैकारिक क्षर को उपास्य कैसे बतलाया गया ?, यही उक्त सन्देह का बीज है। प्रसङ्गोपात्त इस सन्देह का भी निराकरण कर ही लेना चाहिए।

२०९–'विश्व'–भावानुबन्धी षड्विध (६) जीवसर्गों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

जीव विवर्त (१)—आधिकारिक अचेतनजीव (२)—आधिकारिक चेतनजीव (३)—आधिकारिक मनुष्यचेतनजीव (४)—आत्मस्थिक अचेतनजीव (५)—आत्मस्थिक चेतनजीव, तथा [६]—आत्मस्थिक मनुष्य चेतनजीव भेद से ६ भागों में विभक्त माने जासकते हैं। यद्यपि हमारी दृष्टि से सूर्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-ग्रह-पृथिवी आदि पिण्ड उपेश्वर हैं परन्तु विश्वव्यापक षोडशीपुरुष की दृष्टि से ये सब विश्वावयव 'जीव' ही कहलाएँगे। इन जीवों को ही हम 'आधिकारिक अचेतनजीव' कहेंगे। "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" [शारीरकसूत्र] इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार धर्मप्रधान आत्मक्षर विश्वरूपमूर्ति अतएव अचेतन [हिरण्यगर्भित] यह जीववर्ग [सूर्य चन्द्रमादि] कर्म भोगने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अपितु ईश्वरेच्छा [षोडशीपुरुष की आज्ञा] से ये जीव सृष्टिकर्म के सञ्चालन का नियत समय के लिए अधिकार प्राप्त करके ही प्रकट हुए हैं। जब सृष्टिकाल की अवधि समाप्त होजाती है तो ये आधिकारिक अचेतनजीव स्वाधिकृत कर्मों से उपरत बनते हुए उसी सर्वमय ईश्वरप्रजापति में विलीन होजाते हैं। ऐसे जीव ईश्वरीय बल से नित्ययुक्त रहते हैं। अतः इन्हें मध्यस्थ बनाकर भी उपासना के द्वारा यह बल प्राप्त किया जासकता है। इनके अतिरिक्त गङ्गा यमुना सरस्वती सरयू आदि दिव्य नदियाँ भी इसी वर्ग में अन्तर्भूत हैं।

२१०–आधिकारिक–चेतन जीवों से अनुप्राणिता उपासना का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय –

दूसरा विभाग आधिकारिक चेतन जीवों का है। धर्मग्लानि के उपशम के लिए समय समय पर ईश्वरांश (षोडशीपुरुषांश) योगमाया को आगे कर राम–कृष्ण–परशुराम–कूर्म–वराह–मत्स्य–वामन आदि शरीर धारण कर इस भूतल पर मानवशरीर से अवतीर्ण हुआ करता है। ये भी अधिकार लेकर ही प्रादुर्भूत होते हैं। इन का शारीरिक कर्म भोगार्थ प्रवृत्त नहीं होता अपितु ईश्वराज्ञाप्रिय अधिकार मात्र से युक्त बनता हुआ यह वर्ग भी तद्रूप बनता हुआ अवश्य ही उपास्य बन जाता है। धर्मग्लानि के शान्त होने पर ये 'अवतारपुरुष' अपने आधिकारिक कर्मों से उपरत होते हुए लीलासंवरण कर अपने उसी परमधाम में लीन होजाते हैं। इन्हें मध्यस्थ बना कर भी आत्मदेवता की उपासना की जा सकती है।

२११–आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवों से अनुप्राणिता उपासना का रहस्य—

तीसरा विभाग आधिकारिक अर्द्धचेतन जीवों का है। अश्वत्थ वट बिल्व तुलसी केला आदि कतिपय वनस्पतियाँ सोमवल्ली ब्राह्मी आदि कतिपय ओषधियाँ ही आधिकारिक अर्द्धचेतन-जीव हैं। इन में तत्तद्देवप्राणों की अभिव्यक्ति से प्रतिष्ठा रहती है। इनका आविर्भाव लोकोपासना के लिए ही हुआ है। इन्हें मध्यस्थ बना कर भी देवप्राणोपासना के द्वारा आत्मोपासना की जा सकती है।

२१२–आत्यन्तिक-अचेतन जीवों का स्वरूपोपेतिवृत्त-समन्वय—

चौथा वर्ग आत्यन्तिक अचेतन जीवों का है। पाषाण लोष्ठ आदि पार्थिव जड़ पदार्थ उपयोग में आने वाले और भार जड़पदार्थ अचेतन जीव हैं। कर्मवासना के अतिशय आवरण से इनका चिदंश सर्वथा अभिभूत रहता है। अतएव आत्मसत्ता रहने पर भी ये जड़ बन गए हैं। (छां॰ उपनिषत्)। ऐसे निरिन्द्रिय अचेतन जीव न ज्ञान के अधिकारी हैं न उपासना के। फलतः इन का उद्धार सर्वथा असम्भव बन जाता है। प्रतिसञ्चरक्रम की अन्तिम सीमा ही इन के उद्धार का एकमात्र उपाय है।

२१३–आत्यन्तिक त्रयोदशविध (१३) चेतन-जीवों का स्वरूपोपेतिवृत्त-समन्वय—

पाँचवाँ वर्ग आत्यन्तिक चेतन जीवों का है। ये जीव ब्रह्मा-इन्द्र प्रजापति पितर-गन्धर्व-यक्ष राक्षस-पिशाच मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-कृमि इन तेरह भागों में विभक्त हैं। कर्मतारतम्य से ही इन्हें तत्तद्योनियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें उत्तर उत्तर जीववर्ग पूर्व पूर्व की अपेक्षा अल्पशक्तियुक्त है। पूर्व पूर्व जीववर्ग उत्तर उत्तर के जीववर्ग की अपेक्षा विशेष शक्तिशाली हैं। इन तेरहों में ब्रह्मादि पिशाचान्त आठ जीववर्ग "सत्त्वविशालदेवयोनि" नाम से प्रसिद्ध हैं एवं मनुष्यादि कृम्यन्त पाँच जीववर्ग "रजोविशाल तिर्य्यग्योनि" नाम से प्रसिद्ध हैं।

२१४–आत्यन्तिक-चेतन-जीवों की उपास्यता का समर्थन—

इन पाँचों वर्गों में से पशु-पक्षी-कीट-कृमि इन चारों का तो न उपासना का अधिकार है एवं न ज्ञान का। शेष मनुष्यवर्ग ही उपासना का अधिकार रखता हुआ अभ्युदय-निःश्रेयस् प्राप्त कर सकता है। आठ देवता यद्यपि कर्मसन्तान से बद्ध बनते हुए आत्यन्तिक जीव बन रहे हैं। तथापि स्वतःसिद्ध आठ सिद्धियों एवं ९ तुष्टियों से यह वर्ग सिद्धि-तुष्टि युक्त किन्तु सिद्धि तुष्टि कामुक मनुष्य का उपास्य भी बन जाता है।

२१५–आत्यन्तिक-अर्द्धचेतन जीव वनस्पति प्राणदेवता एवं तदनुगता उपासना का रहस्यपूर्ण-समन्वय—

६ ठा वर्ग आत्यन्तिक अर्द्धचेतनजीवों का है। सम्पूर्ण वनस्पतियाँ सम्पूर्ण ओषधियाँ ही अर्द्ध चेतन जीव हैं जैसाकि— "अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता" इत्यादि स्मार्तसिद्धान्त से स्पष्ट है। ये भी ज्ञान उपासना दोनों मार्गों से वञ्चित रहते हुए 'तमसाऽऽवृतबीजाः' बन गए हैं। इसप्रकार सम्पूर्ण जीववर्ग ६ भागों में विभक्त हो जाता है।

१–१–आधिकारिक अचेतनजीव—(सूर्य-चन्द्र-अग्नि-पवन-मरुत्-नक्षत्र-गंगा-यमुना-आदि

१ २–२–आधिकारिक चेतनजीव——(राम कृष्ण कूर्म मत्स्य वराह वामन आदि)

३–३–आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव–(अश्वत्थ वट तुलसी बिल्व सोम आदि)

४–१–आस्वाभाविक अचेतनजीव—(पाषाण लोष्टादि जड भौतिक पदार्थ)

२ ५–२–आस्वाभाविक चेतनजीव—[अष्टविध देवयोनि पञ्चविध तिर्य्यग्योनि]

६–३ आस्वाभाविक अर्द्धचेतनजीव–[ओषधि-वनस्पति-वर्ग]

२१६–षड्विध (६) जीववर्गों में अनुप्राणिता उपासना से अनुप्राणित नीर-क्षीरविवेक—

अब यह विचार कीजिए कि, इन ६ वर्गों में से कौन वर्ग उपास्य है ? एवं पूर्वोक्त, उपास्य वर्गों में से किस उपास्यवर्ग में किस जीववर्ग का अन्तर्भाव है ? । यदि उपासनाप्रकरण को थोड़ी देर के लिए एक ओर रख कर उपास्य की विज्ञानदृष्टि से मीमांसा की जाती है तो ६ ओं ही वर्ग हमारे लिए उपास्य बन जाते हैं । आधिकारिक- अचेतनजीव आधिकारिक- चेतनजीव आधिकारिक- अर्द्धचेतन एवं आस्वाभाविक चेतनजीवों में अष्टविध देवसर्ग (देवयोनियों) इनकी उपास्यता में तो कोई सन्देह ही नहीं है । शेष रहते हैं—आस्वाभाविक पञ्चविध तिर्य्यग्जीव आस्वाभाविक अर्द्धचेतनजीव एवं आस्वाभाविक अचेतन जीव । पहिले आस्वाभाविक पञ्चविध वर्ग को ही लीजिए ।

२१७–'मानवोपासना का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय (मनुष्य की मनुष्य के द्वारा उपासना —

मनुष्यों में वे मनुष्य, जो वेदशास्त्र–सम्पन्न हैं शास्त्रानुसार ज्ञान भक्ति–कर्म्म का अनुष्ठान करते हैं भगवद्भक्तिपरायण हैं लोकोपकार ही जिनके जीवन का अवलम्ब है पीढ़ियों के दुःखों से जिनका हृदय पिघलता है राग-द्वेष से जो बाहिर निकल चुके हैं ऐसे ज्ञानी भक्त महात्मा, कर्म्मठ, त्यागी वीतराग, आचार्य्य सन्त गुरु उपदेशक, आदि महापुरुष अस्मदादि साधारण मनुष्यों के लिए अवश्य ही उपास्य हैं । हम इन की उपासना से इन के संगों से इनके उपदेश से अवश्य ही अपना आत्माभ्युदय साधन कर सकते हैं । और हम तो इस सम्बन्ध में यह भी आवश्यक समझते हैं कि, मनुष्य के मनुष्यत्व की अभिव्यक्ति महापुरुषोपासना मनुष्योपासना पर ही निर्भर है ।

२१८–उपासना से अनुप्राणित प्रथम–सोपान तदनुप्राणित 'लौकिकब्रह्म', एवं तदनु–बन्धिनी उपयोगिनी उपासना का स्वरूप–समन्वय—

यही उपासना का प्रथम सोपान है। बिना गुरूपदेश के हम [मानव] और पशु समानधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। आज जिस ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–रहस्य का हम यशोगान कर रहे हैं वह इस मानवोपासना का ही सुपरिणाम है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" के अनुसार श्रुति भी ब्रह्मवेत्ता इन महापुरुषों को साक्षात् 'ब्रह्म' ही कह रही है। 'ब्रह्म लौकिकम्'+ कहती हुई स्मृति भी सुसंस्कृत द्विजाति को "लौकिकब्रह्म" मान रही है। यही कारण है कि, आर्य्यसन्तान अपने उपदेशक गुरु को 'साक्षात् भगवान्' मान कर ही उनकी उपासना करने में सर्वात्मनैव अभ्युदय निःश्रेयस् की संसिद्धि मानती आरही है। सचमुच ईश्वरतत्त्वलक्षण-रूप उपासना से पहिले हमें इन महापुरुषों की ही अनन्योपासना करनी पड़ेगी, ईश्वरत् इन की ही सेवा करनी पड़ेगी–"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"। ये ही ज्ञाननिष्ठ–तत्त्ववेत्ता हमारी उपासना से सन्तुष्ट होते हुए हमें रहस्यबोध करायेंगे – 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'। भगवान् भी ज्ञानी पुरुष को अपना आत्मा बतलाते हुए उसकी उपास्यता ही सिद्ध कर रहे हैं–"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"। इन महापुरुषों की चरणरज का स्पर्श कर असंख्य पामर कितने मानवों का उद्धार होगया यह ऐतिहासिक चरित्रों से स्पष्ट है। इसप्रकार आत्यन्तिक कोटि का यह पहिला मनुष्यवर्ग (ब्रह्मवर्ग) भी हमारा उपास्य बन जाता है।

२१९–देवप्राणनिबन्धन पशुओं की उपासना का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

दूसरा विभाग पशुओं का है। पशुओं में मनुष्यों की अपेक्षा अवश्य ही ज्ञानमात्रा की न्यूनता है यह भी मानते हैं। इन्हें ज्ञान एवं उपासना का अधिकार नहीं है यह भी विज्ञान-सिद्ध है। परन्तु वैज्ञानिक महर्षियों की दृष्टि से तो ये भी उपास्य ही बने हुए हैं। रहस्य इस उपासना का है– 'प्राणदेवता'। तत्पशुओं

—१–स्वाध्यायेन व्रतै, होमै स्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च–'ब्राह्मी–यं क्रियते तनुः॥ (हारीत)।

२–गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जी–निबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (मनुः)।

३–धृति(१)–क्षमा(२)–दया(३)–शौच(४)–मनायासो(५)ऽनुसूयितम्(६)।
अस्पृहत्वा(७)–ब्रह्मचर्य्य(८)–ब्राह्मणानाममी गुणाः॥

४–संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैः रुत्तरैरपि संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो–"ब्रह्म–लौकिकम्"।
ब्राह्म पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥ (शङ्ख)।

में तत्प्राण-देवताओं की प्रधानता रहती है। "इस पशु उपासना" से पशुप्रतिष्ठित तत्प्राणदेवता का हमारे भूतात्मा के साथ सम्बन्ध होजाता है, एवं भूतात्मा देवसम्पत्ति से युक्त होकर परम्परया हमारे अभ्युदय का कारण बन जाता है।

२२० महद्भूतात्मक आराध्य गौपशु का औपासनिक समन्वय—

उदाहरण के लिए अश्वपशु को ही लीजिए। अश्व में 'रैभ्य-नाक्षत्रिकप्राण' रहता है। इस अश्वसम्पत्ति के परिग्रह के लिए भारतीय राजा विजयदशमी को अश्व का पूजन करते हैं (ध)। अश्वमेधीय अश्व को श्रुति ने अत्यन्त पवित्र एवं उपास्य माना है। गजपशु साक्षात् गणपति की प्रतिमा है। मूषकपशु साक्षात् गणपति-प्राणमय है। हमारी गौपशु-निबन्धना उपासना तो सर्वप्रधानविहिता ही है। स्वयं श्रुति ने 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः' कहते हुए गौवंश के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। सत्यकाम जाबालि ने इसी गोतत्त्वोपासना के बल पर ब्रह्म का साक्षात्कार किया था (छान्दोग्य-उपनिषत्)। सुप्रसिद्ध सूर्यवंशी सम्राट् दिलीप ने इसी उपासना से रघुवंश सुरक्षित रक्खा था।

२२१—बुद्धियोगनिष्ठा-प्रवर्तिका महती उपासना, एवं सदाधारभूत महतोमहीयान् दिव्य-प्राणमूर्ति गौपशु—

हमें तो इस महद्भूतात्मक गौपशु की उपासना के सम्बन्ध में यह कहते भी सङ्कोच नहीं होरहा कि जिसे आत्मज्ञान प्राप्त करना हो, जिसे वेद का मौलिक रहस्य जानना हो, जिसे आत्मा का आविद्यावरण हटाना हो, जिसे अपनी बुद्धि का विकास करना हो, एवं सर्वान्त में जिसे गीतोक्त बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करनी हो, उसे अनन्यभाव से गौमाता की हो सेवात्मिका उपासना करनी ही चाहिए। नित्यप्रति नियमतः गौमूत्र का पान करना ही चाहिए, गोप्रस्थान के पवित्र मलविराधक वातावरण में रहना ही चाहिए, गोस्पर्श से अपने पाञ्चभौतिक शरीर को भस्म बनाते ही रहना चाहिए, गोदर्शन से अपने आप को कृतकृत्य ही समझना चाहिए। इसी सर्वोत्कृष्टा उपासना के प्रचार के लिए हमारे चरितनायक, सर्वेश्वर (भगवान् कृष्णचन्द्र) गोचारण गोसेवावृत्ति को भी अपने जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बनाकर हमें सजग किया कि यदि तुम बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करना चाहते हो तो पहिले अपनी बुद्धि को निर्मल बनाओ, एवं इसके लिए गौपशु की ही अनन्य भाव से आराधना करो।

२२२ और दिव्य-इन्द्र-प्राणाभिषिक्त गौ एवं तदुपासना का समन्वय—

हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस पशु का विकास आत्मघन सूर्य किंवा और इन्द्रप्राण से ही हुआ है। 'आयं गौः पृश्निरक्रमीत्'। उधर "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" के अनुसार सूर्य साक्षात् आत्मस्वरूप है, एवं 'धियो यो नः प्रचोदयात्' के अनुसार यही सौर इन्द्रप्राण हमारी बुद्धि का स्वरूप-समर्पक है। इसी दशा में बुद्धिघन सूर्य-सजातीय गौपशु की उपासना के अतिरिक्त और

कोई उत्कृष्ट साधन बुद्धि को निर्मल बनाने वाला नहीं है। और यह भी निश्चित है कि, विना इस उपासना के तुम मेरी बुद्धियोगनिष्ठा के भी अधिकारी नहीं हो *।

२२३–विभिन्नप्राणात्मक विभिन्न अश्व–गज–मूषक–आदि प्राणियों की उपास्यता का संस्मरण—

इसीप्रकार संहारप्राणात्मक सिंह भी शाक्तों के लिए कम उपास्य नहीं है। 'श्वान' एवं 'शावक' नामक–'श्वानप्राणों' से कृतात्मा श्वान (कुत्ता) भी प्रेतकर्म-निवर्तन-बलि प्रयोग की दृष्टि से श्राद्धादि कर्मों में उपास्य बना हुआ है। शीतलाप्राणात्मक–कपालक्षिप्तरमप्राणात्मक रासभ (गधा) भी शीतलाशक्ति–वाहनरूपेण उपास्य बना हुआ है। निदर्शनमात्र है। मानवेतर पो मूल में रखते हुए सभी पशु हमारे उपास्य बने हुए हैं।

२२४–दिव्यप्राणनिबन्धन पक्षी, कृमि आदि की उपासना का संस्मरण—

तीसरा विभाग पक्षियों का है। रामभद्रोपास्य शिवप्राणात्मक नीलकण्ठपक्षी ब्रह्मप्राणात्मक हंस प्रेतप्राणात्मक काक, आदि पक्षी भी तत्स्थानों में उपास्य ही माने गए हैं। कृमिवर्ग की सर्पजाति की उपासना भी प्रसिद्ध ही है। नागपूजन से सम्बन्ध रखनेवाली 'नागपञ्चमी' भी लब्धप्रतिष्ठा ही है।

२२५–आरबत्यिक–अचेतन जीवानुबन्धिनी प्रतिमोपासना (मूर्तिपूजन), एवं शास्त्र सिद्धा मूर्त्योपसना के सम्बन्ध में वेदभक्तों का व्यामोहन—

इसके अतिरिक्त आरबत्यिक अचेतन जीववर्ग की प्रतिमारूप में उपासना भी लोकप्रचलिता है ही। सभी तो भगवद्रूप हैं फिर इस दृष्टि से कौन सा भाग उपासनामर्यादा से बाहिर निकल सकता है! "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" । इसी आधार पर भागवतने अणु अणु को भगवान् का अवतार बतलाया है। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' के अनुसार 'भगवत्तत्त्व' सर्वत्र समरूप से समष्टि व्यष्टिरूप से व्याप्त है। "सब में उसे देखना, सबको उसमें देखना ही" उपासना का मूलमन्त्र है। समझ में नहीं आता वेदनिष्ठ भी स्वामी दयानन्दजी ने लोकप्रचलिता प्रतिमोपासना (मूर्त्योपासना) का किस आधारपर विरोध कर आर्य्यप्रजा की सनातन श्रद्धा पर आघात करते हुए लोकसंग्राहक बुद्धिवाद का मर्म बतलाया। क्योंकि– भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति –इत्यादि श्रुति भूतोपासना का भी सर्वथैव उपादेय बतला रही है। अब निष्कर्ष यही है कि –आरबत्यिक विविध जीववर्ग भी अवश्य ही हमारा [उपासक मनुष्य वर्ग का] उपास्य बन सकता है। और इसी आधार पर हमने वैज्ञानिक स्वरूप इस पांचवें आरबत्यिक–जीववर्ग को भी उपास्य बतलाया है। फलतः सन्देहवीज को अङ्कुरित होने का कोई अवसर नहीं मिल सकता।

---

* इस गौतत्त्व का विशद वैज्ञानिक विवेचन औरध्यात्मसमन्वयान्तर्गत "मानुषगोसमकष्यरहस्य" प्रकरण में देखना चाहिए।

२२६–आधिकारिक-अचेतन-उपास्य-जीवों से अनुप्राणिता उपासना, एवं उपासनाधर्म-निबन्धन पञ्चविध विवर्त-भावों का तालिका-माध्यम से समन्वय प्रयास—

पञ्चविध जीव भावों में उपास्य कौन कौन है ? इस का समाधान हुआ । अब यह प्रश्न सामने उपस्थित हुआ कि, किस वर्ग का किस संस्था में अन्तर्भाव है ? । आधिकारिक सूर्य्य-चन्द्र-ग्रहादिलक्षण अचेतन उपास्य जीवों का विकारसंस्था में अन्तर्भाव है जोकि चौथी संस्था मानी गई है जिसे कि हमने 'गुणावतार' कहा है । अवतारलक्षण आधिकारिक जीवों का तीसरी आत्मावतारसंस्था में अन्तर्भाव है । पाठकों को स्मरण होगा कि, इसी संस्था को हमने 'सम्भवाम्यात्ममायया' कहा है । इन प्रकरणों में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि एक ही विष्णु है एवं जितने भी अवतार [२४] सुने जाते हैं वे विष्णुतत्त्व से ही सम्बन्ध रखते हैं । आधिकारिक अवतारापि अर्द्धचेतन उपास्यों का एवं आसुरभावापन्न विविध उपास्य जीवों का पाँचवीं वैकारिकावतारसंस्था में ही अन्तर्भाव है इसी को हमने "भूतोपासना" कहा है । यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेतादि की, महापुरुषों की पशु पक्षी-सर्पादि की एवं प्रतिमाओं की उपासनाओं का भी इसी पाँचवीं संस्था में अन्तर्भाव है जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है ।

१–निर्गुणात्मपरमेश्वरोपासना (आत्मोपासना)]———अव्यय–उपास्य (ज्ञानम्)

२–सगुणेश्वरोपासना (ईश्वरोपासना)]———अक्षर–उपास्य (भक्ति)

३–आधिकारिक-चेतन-अचेतन जीवोपासना (अवतारोपासना)] ——आत्मक्षर–उपास्य (सत्कर्म)

४–आधिकारिक–अचेतन-जीवोपासना (प्राणदेवतोपासना) }–(प्राणदेवोपासना)]—विकारक्षर–उपास्य (कुकर्म)

५–क–आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवोपासना–(श्री अनन्तानुपासना)
ख–आसुरभाव–चेतनजीवोपासना–(देवयोनि–विकर्मानुपासना)
ग–आसुरभावापन्न-अर्द्धचेतन-जीवोपासना–(औषधि-वनस्पत्युपासना)
घ–आसुरभावापन्न-अचेतनजीवोपासना——(प्रतिमोपासना)
]—वैकारिकक्षर–उपास्य (कर्म)

२२७–पञ्चविधोपासनामूला-ईश्वरोपासना, जीवोपासना जगदुपासना,–त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इसी उपासना-विवर्त को हम ईश्वरोपासना–जीवोपासना–जगदुपासना इन तीन दृष्टियों से भी देख सकते हैं । विशुद्ध निर्गुण अव्यय एवं सगुणेश्वर दोनों के समष्टिरूप को 'ईश्वर' माना

जानना है। सत्य के आधिकारिक समनयग (अवतार) को 'जीव' कहा जानना है। एवं आगे के ४ ५ न दोनों विश्वों को 'जगत्' कहा जा सकता है। इसप्रकार ५ उपास्य-मीमांसाओं का इन तीन उपास्यों में ही अन्तर्भाव होजाता है। ईश्वरोपासना ज्ञानयोगात्मिका है, जीवोपासना भक्तियोगात्मिका है, एवं विश्वोपासना कर्मयोगात्मिका है। उपासक जीव विश्व की उपासना का साधन बनाता हुआ जीवात्मा की उपासना करता हुआ तद्द्वारा ईश्वरभाव प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। विश्वोपासना उपासना का प्रथम सोपान है, जीवोपासना इस का द्वितीय सोपान है, एवं ईश्वरोपासना उपासना का तृतीय सोपान है, और यही उपासना की इतिकर्तव्यता है।

१ १-निर्गुणोपासना
  २-सगुणेश्वरोपासना } —————ईश्वर (शिवोपासना)—उपासना (उत्तमसोपानम्)

२ १-आधिकारिक-चेतन-जीवोपासना (१) }——जीव [जीवोपासना]—भक्ति [मध्यमसोपानम्]

३ ४ आधिकारिक-अचेतन—जीवोपासना [२]
  ५-क-आधिकारिक अर्द्धचेतन जीवोपासना [३]
  ख-आरम्भक-चेतन जीवोपासना [४] —जगत् [विश्वोपासना]—कर्म [प्रथम सोपानम्]
  ग-आरम्भक अर्द्धचेतन जीवोपासना [५]
  घ-आरम्भक अचेतन जीवोपासना [६]

२२८-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र से अनुप्राणित प्रमाण वचनों का उपक्रम—

अब ही उपास्य स्वरूप [illegible] भावों में परिणत हुआ है [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के लिए [illegible] में इस संहिता ब्राह्मण आरण्यक उपनिषत् [illegible] गीताशास्त्र [illegible] [illegible] संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक उपनिषद् [illegible] संहिता [illegible]।

२२६–[१]–"वेदसंहितामूलक–पञ्चधा–विभक्त–उपास्य-तत्त्व"—

१-निर्गुण-अव्ययात्मा (अव्यय)—

१–"परिकोश मधुश्चुत–"अव्यय" चार अर्पति ।
अभि वार्णामर्षीणां सप्त नूषत" ॥
—ऋक्सं० ९।९ ३।३।।

२–"अग्नो" न यां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रभि सत्यै ।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गा ॥"
—ऋक्सं० १।६७।३ ।

३–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूत ।
एकैवोषा सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्सं ८।५८।२ ।

४–अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूप किमपि स्विदेकम् ॥
—ऋक्सं १।१६४।६।

२-सगुण -षोडशीप्रजापति (अक्षर ❀)—

१—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम ॥"
—ऋक्सं० १ ।१२१।४।

२— 'प्रजापतिमघमवा रराणो विश्वदेवैः पितृभि संविदान ।
गिरा गर्भास्य मा गाप्मारभ्मार्यां वयं प्रजया ममदम ॥
—ऋक्सं० ०।१६ ।४।

❀–अस्या ममदा यभिविशन्ति मन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र ।
तत क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति ॥
—ऋक्सं १।१६४।४२

३—"यस्मान्न जात परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापति प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स 'षोडशी' ॥
—यजुर्सं० ८।३६।

४—"यस्माज्जातं न पुरा किंच नैव य आ बभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषी सचते स षोडशी' ॥
—यजुर्सं० ३२।५।

३-सविकारो यज्ञप्रजापति [आत्मक्षर ∸]—

१—"यज्ञो" देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्त ।
आवोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥
—ऋक्सं० १।१०७।१।

२—"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं "यज्ञो" भुवनस्य नाभि ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
ऋक्सं० १।१६४।३५

३—यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद्दूतो वि वोचति ।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्ति नूतन ॥
—ऋक्सं० १।१०५।४

४—"यज्ञेन 'यज्ञ' मयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥
यजुसं ३१।१६।

४-माञ्जनो विराट् प्रजापति [विकारक्षर ❀]—

१—तस्मा "द्विराड जायत, विराजो अधिपूरुष ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुर ॥
—ऋक्सं० १०।९०।५।

—परिषो अश्वमरथविश्वगोमदिन्द्रो हिरण्यवात् । 'घरा' महम्मिश्रीरिप ।
—ऋक्सं० ६।४५।१।

❀-ममावतर्नि विष्ठितो जिगीपुर्विश्वेषा ममभरताममभूत् ।
शश्वाँ अपो "विकृर्न' हिन्त्यागादनु व्रतं सवितुर्दैव्यस्य ॥
ऋक्सं० २।३८।६।

२—"विराट्"–मित्रावरुणयोरभि श्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्या ॥
—ऋक्सं० १०।१३ ।५।

३—ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षा सहस्रणीथ पदवी कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो "विराज" मनु राजति ष्टुप् ॥
—ऋक्सं० ९।९६।१८।

४— 'ऋषभ मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तार शत्रूणां कृधि विराजं 'गोपतिं गवाम् ॥
—ऋक्सं १०।१६६।१

५-मावरणा विश्वपूजापति, [वैकारिकचर]—

१ त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।
तनूकृद्बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु ' विश्व" मोपिषे ॥
—ऋक्सं १। ३१।९।

२–ऊर्ध्वा न पाम इसो नि केतुना "विश्वं" समत्रिणं दह ।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः ॥
—ऋक्सं १।३६ १४।

३–यज्ञो यर्य प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्ट–'द्विश्वमा' पृणाति विद्वान्येभिर्देवाँ ऋतुभि कल्पयाति ॥
—ऋक् । १० । २।४।

४-व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः ।
वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयद्वैश्वानरो 'विश्व' मघत्त वृष्ण्यम् ॥
—ऋक्सं० ६।८।३।

9

२३०–[२]–ब्राह्मण-मूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१–निर्गुण-अव्ययात्मा [अव्यय]—

१–सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥
—गो० ब्रा० पू० १।२६।

२–"सर्वं ह्ययमात्मा (अव्ययः) [शत० ब्रा० ४।२।२।१।]।

३– 'यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुष, अयमेव स –योऽयमात्मा । इदममृत, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् [शत० १४।५।५।१।]।

४– 'असङ्गो ह्यय पुरुष [शत० १४।७।१।१७।]।

२–सगुण षोडशीप्रजापति [अक्षर ❀]—

१–षोडशकलं वै ब्रह्म [गो० उ० ब्रा० १।३८।३।]

२–षोडशकलः प्रजापतिः [शत० ब्रा० ७।२।२।१७]।

३–स (प्रजापतिः) "षोडशधाऽऽत्मानं व्यकुरुत' (जै० उ० ब्रा० १।४।६।२।)।

४ त्रिवृदं (मन प्राण वाङ्मयः) ❀ षोडशी (कौ० ब्रा० १७।३।



३–सविकारो यज्ञप्रजापति [आत्मक्षर]—

१–एष वै प्रत्यक्ष यज्ञो यत् प्रजापति (शत० ब्रा० ४।३।४।३।)।

२–यज्ञ उ वै प्रजापति (कौ० ब्रा० १०।१।)।

३–स वै यज्ञ एव प्रजापतिः (शत० १।७।४।४।)।

४–विष्णुर्वै यज्ञः [ऐ० ब्रा० १।१५।]।



❀ यद्वेवाक्षरं–नाक्षीयत–तदस्मादक्षरम् । अक्षय ह वै नामैतत्–तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते ।

—जै० उ० ब्रा० १।२४।२।

४–साङ्गनो विराट् प्रजापति (विकारक्षर)—

१–विराट् सृष्टा प्रजापतः, योनिरन्न प्रतिष्ठिति [तै० ब्रा० १।८।८।४]।
२–विराड् वाऽअग्निष्टोम (अग्नि-वायव्यन्द्रष्टोम) [कौ० ब्रा० १।४]।
३ वैराजो वं पुरुष [गो० ब्रा० २।४।८]।
४–वाग्वै विराट् [शत० ३।५।१।३४]।



५–सावरणा विश्वप्रजापति (वैकारिकक्षर)—

१–यद्वै विश्वं सर्वं तत् [शत० ब्रा ३।१।८।११]।
२–इमे वं लोका विश्वा सद्भूमानि [शत ५।७।१।१०]।
३–"यावीमा विश्वा भुवनान्यपिता" [मै० ब्राह्मण २]।
४–यो मागार भुवनपु विश्वा (शत० ब्रा० ११।३।१।८ ।



२

२३१–३–श्वारययक्त्मूलक पञ्चधा विभक्त उपास्यतत्त्व—

१–निर्गुण अव्ययात्मा-(अव्यय)—

१–तस्मात् पुरुष पुरुषप्रत्यादित्यो भवति [ए० ब्रा ३।२।३),
२–आनन्दो ब्रह्मे ति व्यजानात [तै ब्रा ३।६।१]।
३ विज्ञानं ब्रह्मे ति व्यजानात् "
४–मनो ब्रह्मे ति व्यजानात् "
५–स एष पुरुष महत् [तै ब्रा ३।१।१]।



२–सगुण षाडशीपृजापति [अक्षर]—

१—अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान् ।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तः ॥
(तै ब्रा १।१)।

२—यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ॥ (तै० आ० १।१।)
३—प्रजापतिर्वा इदं पुरुषमुदकल्पयत ॥ (शां० आ० ११ अ० १)।
४—तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।
इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः ॥
(तै० आ० १०।१)।

३–सविकारो यज्ञप्रजापति (आत्मक्षर)—

१—स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरि क्रमो यत् ' यज्ञः" (ऐ० आ० २।१।२)।
२—एष वै यज्ञो यज्ञोऽन्यार्देवेषु देवोऽभ्युद्धो यदेतन्महदुक्थम्"
(ऐ० आ० २।३।४।)।
३—मखाय त्वा, मखस्य शीर्ष्णे (तै० आ० ४।२।)।
४—प्रसतेन वै यज्ञेन देवा स्वर्गं लोकमायन् (तै० आ० २१।१।)।

४–माञ्जनो विराट् प्रजापति [विकारक्षर]—

१—अथातो विश्वस्ता विराजो भवन्ति तस्मात्पुरुष' (ऐ० आ० १।४।१।)
२—विराज ग्रामति । अन्नं वै विराजः (ऐ० आ० १।४।२।)।
३—तत्सर्वश्रियो विराजमाप्नोति (शा० आ० २।१६)।
४—विराड्म्यां पुरुष प्रतिष्ठितः (ऐ० आ० १।४।२।)।

५–सावरणो विश्वप्रजापति [वैकारिकक्षर]—

१—विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम (शां० आ० २।४।)।
२—देवानां जनिमानि विश्वा (ऐ० आ० २।३।१।)
३—विश्वतो दावन्–विश्वतो न आभर (ऐ० आ० ४।२।२)।
४—स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे (ऐ० आ० ३।१।४।)।

३

४–माश्रना विराट् प्रजापति (विकारक्षर)—

१-विराट् सृष्ट्वा प्रजापन, योनिरग्न प्रतिष्ठिति [तै० ब्रा १।२।२।२८]।
२-विराड् वाऽग्निष्टोम (अग्नि-वाय्वन्त्र्यष्टोम) [कौ० ब्रा० १९।५]।
३ वैराजो वै पुरुषः [तां० ब्रा २।७।८]।
४-वाग्वै विराट् [शत० ३।५।१।३४]।

———•———

५–मावरणो विश्वप्रजापति (वैकारिकक्षर)—

१-यद्वै विश्वं सर्वं तत् [शत ब्रा० ३।१।२।११]।
२-इमे वै लोका विश्वा सप्तमानि [शत ३।७।१।१]।
३-"वाषीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" [मै० ब्राह्मण ३]।
४-यो जागार भुवनपु विश्वा (शत० ब्रा ११।३।१।८ ।

२

———•———

२३१–३–भारण्यकमूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्यतत्त्व—

१–निर्गुण अव्ययात्मा-(अव्यय)—

१ तस्मात् पुरुषं पुरुषमस्यादित्यो मवति [प० ब्रा ३।८।३),
२-मानन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् [तै ब्रा ३।१।६]।
३-विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् ,,
४-मनो ब्रह्मेति व्यजानात् ,,
५-स एष पुरुष समुद्र [तै ब्रा ३।१।१]।

———••———

२–सगुण षोडशीप्रजापति [अक्षर]—

१—यस्यस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान् ।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तः ॥
(तै ब्रा १।१)।

३-सविकारो यज्ञप्रजापति [आत्मक्षर]—

१-अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
—ईशोपनिषत् ४।

२-स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य ॥
—ईशोपनिषत् ८।

३-य सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तप
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नञ्च जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

४-यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

४-माञ्जनो विराट्प्रजापति (विकारक्षर)—

१-एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मि क्षेत्र संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्य कुरुते महात्मा (महानात्मा पारमेष्ठ्य) ।
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।३।

२-गुणान्वयो य फलकर्म्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव न चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप संचरति स्वकर्म्मभिः ॥
—श्वेता ५।७।

३-अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
—श्वे उप० ५।१३।

४-एको देव सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्म्माध्यक्ष सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
—श्वेता० ६।११।

२३२-४—उपनिषन्मूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्य तत्त्व—

१—निर्गुण-अव्ययात्मा [अव्यय]—

१—दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।२।

२—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

३—एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

—कठोपनिषत् १।२।१७।

४—यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।२।८।

---

२ सगुण षोडशीप्रजापति (अक्षर)—

१—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि-"ओम्" इत्येतत् ॥

— कठोपनिषत् १।२।१५।

२ ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते ॥

—कठोपनिषत् २।३।१।

३—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि (शरीरे) तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

—कठोपनिषत् २।४।१२।

४—यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत्, स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः, स उ लोक एव ॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।१३।

४–त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् (गुणातीतम्) ॥
—गीता ७।१३।

२–सगुण षोडशीप्रजापति —

१–मत्तः परतरं नान्यत्-किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
—गीता ७।७।

२–ये चैव सात्त्विका भावा, राजसा, स्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥
—गीता ७।१२।

३–अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ! ॥
—गीता ८।४।

४–क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः (षोडशी) ॥
—गीता १५।१६ १७

३–सविकारो यज्ञप्रजापति —

१–भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
—गीता ५।२९।

२–सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता ३।१०।

३–कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
—गीता ३।१५।

५–सावरणो विश्वप्रजापति (वैकारिकत्त्वर)

१–तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥
—श्वेता० उप० ४।२।

२–त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।
—श्वेता० ४।३।

३–स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥
—श्वेता ६।१६।

४–स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥
—श्वेता ६।१७।

४



२३३ ५–गीताशास्त्रमूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१ निर्गुण–अव्ययात्मा (अव्यय)—

१–अनादित्वान्निर्गुणत्वात्–परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
—गीता १३।३१

२–ग त–र्भर्ता–प्रभु–साक्षी निवासः–शरणं–सुहृत् ।
प्रभव –प्रलय–स्थानं–निधानं–बीज–मव्ययम् ॥ (आधिदैविकः–ईश्वराव्यय
—गीता ६।१८

३–उपद्रष्टाऽ–नुमन्ता च–भर्ता–भोक्ता–महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष पर' ॥ (आध्यात्मिकः–जीवाव्यय)
—गीता १३।२२

४—मया प्रसन्नेन तवार्जुनेन रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

—गीता ११।४७।

५

२३४—'यस्मिन् प्राण पञ्चधा संविवेश' मूलक-पाञ्चक विश्वपञ्चानुबन्धी पञ्चोपास्य-उपास्य-विवर्तों का संस्मरण—

पाठक इससे यह कल्पना न करलें कि, पाँच उपास्य-विभागों को सिद्धान्त मान बैठाना लेखक की कल्पना है। यद्यपि यह ठीक है कि ३ ४-६ किंवा असंख्य उपास्य सभी शास्त्रसिद्ध हैं। परन्तु इन सबका आत्मा के अव्यय- अक्षर [षोडशी]—[२] आत्मक्षर—[यज्ञप्रजापति]; [४] विश्वेश्वर [विराट्प्रजापति —[५] वैश्वानरिकेश्वर [विश्वप्रजापति] पाँच विवर्तों में ही अन्तर्भाव है। पाँचों उस एक ही के पाँच विवर्त हैं। एवं 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना — 'यदक्षरं पञ्चविधं समेति — 'यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश' 'पाङ्क्तो वै यज्ञ' इत्यादि श्रुतियाँ भी इस पञ्चोपास्यविवर्त का ही सिद्धान्तरूप से समर्थन कर रही हैं। इसी आधार पर हम उपास्यदेव के इन पाँच विवर्तों को ही सिद्धान्तकोटि में प्रविष्ट मानते हैं।

२३५—पञ्चपर्वात्मक महारम्भ आर्षशास्त्र में उपवर्णित पञ्चोपास्य विवरण—

चूंकि पञ्चपर्वा [संहिता —ब्राह्मण[१]—आरण्यक[२]—उपनिषत् —गीता] शास्त्र-में [प्रत्येक में] पाँच पाँच उपास्यतत्त्वों का विवेचन हुआ है तो इसी आधार पर हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि अवश्य ही पाँचों शास्त्रपर्वों में [प्रत्येक में] पाँचों उपास्यतत्त्वों की उपासना का भी निरूपण हुआ होगा। विस्तारभय से शास्त्र के चार पर्वों को तो हम छोड़ते हैं केवल गीताशास्त्र में प्रतिपादित उन पाँचों उपासनामार्गों की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। पाँचों में से पहिले क्रमप्राप्त निर्गुण अव्यय की उपासना का ही गीता में अन्वेषण कीजिए।

१—निर्गुण—अव्ययोपासना—समर्थक गीतावचन—[दवयुगानुगता—उपासना]—

२३६—गीताशास्त्र की प्रत्यगात्मनिबन्धना निर्गुणाव्ययमूला निर्गुणोपासना का स्वरूप-समन्वय प्रयास —

जैसाकि पूर्व कहा गया है अव्ययोपासना का न तो निष्कामभाव से सम्बन्ध है एवं न कामभाव से। अपितु यहाँ केवल आत्मकामना से ही सम्बन्ध है। अव्ययपुरुष विद्या-कर्ममय है। जानना और करना इस अव्यय का स्वाभाविक धर्म है। यही उभयमूर्ति अव्ययपुरुष प्रत्यगात्मा [आध्यात्मिक ईश्वर] की प्रतिष्ठाभूमि बना हुआ है। जो भक्त बुद्धियोग के द्वारा इस अव्ययनिष्ठा प्राप्त कर लेता है उसके

४–यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥
—गीता ३।९।

४–माञ्जनो विराट्प्रजापति —

१–इहैकस्थं जगत्–कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥
—गीता ११।७।

२–द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥
—गीता ११।२०।

३–कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्-प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
—गीता ११।३२।

४–त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥
—गीता ११।३८।

५–सावरणो विश्वप्रजापति —

१–मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः ॥
—गीता ९।४।

२–न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
—गीता ९।५।

३–मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥
—गीता ९।१० ।

२३६-अव्ययोपासनानुगत निर्गुणभाव, एवं तत्समर्थक-गीतावचन—

अव्ययज्ञानकर्म्मात्मिका प्रत्यगात्मानुगता यही आत्मोपासना वैराग्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा है। इस के आविष्कार-प्रचार का एकमात्र श्रेय भगवान् को ही है। अतएव इसे हम 'भगवन्निष्ठा' कहते हैं। विवस्वान् इक्ष्वाकु, जनकादि राजर्षि—इसी निष्ठा का अनुगमन करते हुए विदेह कहलाए हैं साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि, इस का मूल प्रधानरूप से उपनिषत् शास्त्र ही बना हुआ है। वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययमूला इसी निर्गुणोपासना का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१- येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ (७।२८।)।

२—जरामरणमोक्षाय मा' माश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम्॥ (७।२९।)

३—साधिभूताधिदैवं 'मां' साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च "मां" ते विदुर्युक्तचेतसः॥ (७।३०।)

४—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ (७।१७।)

५—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ (१७।१८।)

६—वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९।)

७—मद्भक्ता (अव्ययभक्ता) यान्ति मामपि॥ (७।२३।)।

८—योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)।

९—पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (८।२२।)।

१०—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ (९।२९।)

सकाम एवं निष्काम दोनों भाव उच्छिन्न होजाते हैं। फलतः इसका यह उपासनामार्ग विशुद्ध ज्ञानानुगत बनता हुआ आत्मानुगामी बन जाता है। और भी यह उपासना भक्तिमूला ही बन जाती है। उपासना में तो द्वैत है ही परन्तु ईश्वरानन्यतालक्षण निष्कामभाव भी ईश्वरसम्पत्ति से पृथक् नहीं है। "मैं अपनी इच्छा से कुछ नहीं करता अपितु ईश्वर की इच्छा ही सबकुछ कर रही है" यही निष्कामभाव है। दूसरे शब्दों में 'अपनी कामना' हटा कर उसके स्थान में 'ईश्वरकामना' को प्रतिष्ठित कर देना ही निष्कामभाव है। इसमें निरपेक्षेन ईश्वरानन्य अनुगत है। हम उसकी ओर हमारी कामना पृथक् कर रहे हैं। इधर अव्ययोपासक तो ज्ञान के द्वारा वही बन जाता है। इस भक्तिस्थिति में न तो इस उपासक को "मैं करता हूँ, मैं और वह एक हूँ" यह अभिनय करने की ही कोई आवश्यकता रह जाती एवं न "मैं नहीं करता उस की इच्छा से ही सबकुछ होरहा है" यह कहने की ही कोई आवश्यकता रह जाती। यहाँ तो केवल भक्तिमूला आत्मकामना का ही साम्राज्य है जिसका कि वाणी के द्वारा अभिनय सर्वथा असम्भव है। कौन करता है किसकी प्रेरणा है किसकी इच्छा है इन इन भावों को यहाँ प्रवेश करने का भी अवसर नहीं मिल सकता। यहाँ तो अधिक से अधिक "सो ऽस्मि सो ऽस्मि यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' केवल इसी स्वरूप-आत्मस्थिता आत्मशक्ति की प्रधानता रहती है।

२१७–आत्मकामममयी अव्ययोपासना की स्वरूप-मीमांसा—

यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' कहने का भी [अब निर्गुणोपासकानाम्] अवसर नहीं मिलता। कारण स्पष्ट है। अव्यय न ज्ञानमय है न कर्म्ममय है। ज्ञानमय ज्ञानवान् कहलाता है कर्म्ममय कर्म्मवान् कहलाता है। अव्यय ज्ञान-कर्म्ममूर्ति है 'वान्' नहीं है। 'वान्' को ही यह कहने का अवसर मिलता है कि, मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ। जो स्वयं ज्ञान-कर्म्ममूर्ति बन गया उसे ज्ञान-कर्म्मानुष्ठान के अतिरिक्त इसके लिए समय ही कौनसा बच रहता है जिसमें कि यह "मैं करता हूँ" यह कहे। निष्कर्म्मज्ञान का कदापि अभिनय नहीं हुआ करता। निष्कामभाव-सम्बन्धी अक्षरानुबन्धी ज्ञानकर्म्मों का एवं सकामभाव-सम्बन्धी क्षरानुबन्धी ज्ञान-कर्म्मों का ही अभिनय सम्भव है। हम प्रतिदिन भोजन स्नानादि नित्यकर्म्म करते हैं। परन्तु देखते हैं कि इनका अभिनय नहीं होता। आत्मेच्छा से ही सब कुछ [अनायासात्मना ही] यथावत् होता रहता है। यही आत्मकाममयी अव्ययोपासना है।

२१८ निर्गुणाव्ययोपासक की व परिस्थिति का विश्लेषण—

सामान्य लौकिक जनों की दृष्टि में तो ऐसा उपासक एक प्रकार से नास्तिक ही बना रहता है। कारण न यह कभी माला लेकर जप ही करता न उच्चस्वर से कभी नामसंकीर्त्तन ही करता न ऐसे उत्सवों में यह अभिनिवेशपूर्वक कोई भाग ही लेता न उद्घोषपूर्वक ईश्वरतत्त्व का ही प्रचार करता। उसे इन कार्यों के लिए अवसर ही कहाँ है?। यह निरपेक्ष, निस्पृह योगी अनन्यभाव से अपने कर्त्तव्यकर्म्म पर ही आरूढ रहता है। संसार क्या कर रहा है? क्या कह रहा है? इसकी मीमांसा का यहाँ अधिकार भी अवसर ही नहीं है। यह सबमें रहता हुआ भी सब कुछ करता हुआ भी सबसे पृथक् है एवं कुछ नहीं कर रहा। संसार इसे नहीं जानता न यह जानना चाहता। ख्याति का यह महान् शत्रु है। जिसके कर्त्तव्य पर स्तुति से भी किसी ने अँगुली उठाई वह भी इस मार्ग से गिर गया।

२३६–अव्ययोपासनानुगत निर्गुणभाव, एवं तत्समर्थक गीतावचन—

अव्ययज्ञानकर्म्मात्मिका प्रत्यगात्मानुगता यही आत्मोपासना वैराग्यसत्त्वया बुद्धियोगनिष्ठा है। इस के आविष्कार-प्रचार का एकमात्र श्रेय भगवान् को ही है। अतएव इसे हम "भगवन्निष्ठा" कहते हैं। विवस्वान्, इक्ष्वाकु, जनकादि राजर्षि—इसी निष्ठा का अनुगमन करते हुए विदेह कहलाए हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि, इस का मूल प्रधानरूप से उपनिषत् शास्त्र ही बना हुआ है। वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययप्रमूला इसी निर्गुणोपासना का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१– येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८।)।

२—जरामरणमोक्षाय 'मां' माश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥ (७।२९।)

३—साधिभूताधिदैवं 'मां' साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च "मां" ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ (७।३०।)

४—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७)

५—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८।)

६—वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९।)

७—मद्भक्ता (अव्ययभक्ता) यान्ति मामपि ॥ (७।२३।)।

८—योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)।

९—पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (८।२२)।

१०—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (९।२९)

अव्यय के ज्ञान कर्म से ज्ञानवान् एवं कर्मवान्, बनता हुआ सब में प्रविष्ट होरहा है। इसी की इच्छा से सब का सञ्चालन होरहा है— 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'।

२४३–मुकुलितवृत्तिरूपा अस्मिता की निवर्तिका ऐश्वर्यप्रदात्री भक्ति, एवं उस की सगुणरूपता का समन्वय—

जीवात्मा इसी का अंश है। अंशी की इच्छा ही अंशेच्छा है। जीवात्मा का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह कर्म को ईश्वरेच्छा से ही नियन्त्रित समझे। अपनी कामना को हटा कर उस के स्थान में उस स्वामी की इच्छा का ही समावेश करदे। यही निष्कामभाव (ईश्वरकामभाव) मूला अक्षरोपासना कहलाएगी। 'ओङ्कार' ही इस उपासना का मूल धरातल बनेगा। इस अनुध्यान से यह उस का 'भाग' (अंश) बन जायगा फलतः भक्तियोगनिष्ठा प्राप्त होजायगी। यद्यपि 'भाग' यह भाव भी बना हुआ है परन्तु अविद्यावरण से यह उस के ऐश्वर्य्यभाव से वञ्चित होरहा है। परिणामतः यह अपने कर्म क्षेत्र–निकाय में पद पद पर कुण्ठित ही होता रहता है। सांसारिक–विभीषिकाओं से व्याकुलमना ही बना रहता है। जब प्रणवध्यान के द्वारा यह अविद्यावरण हटा देता है तो उस ईश्वर की ईश्वरता की बिना विलम्ब लक्षण ऐश्वर्य्य की इस में स्वतः ही अभिव्यक्ति होजाती है। मुकुलितवृत्ति (अस्मिता) जाती रहती है, ऐश्वर्य्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होजाती है।

२४४–काशिराज प्रतर्दनादि भारतीय-नृपतिवरों की परम्परा में प्रचलिता ऐश्वर्य्य बुद्धियोगात्मिका-भक्ति—

काशिराज प्रतर्दन केकय, अश्वपति, जनक, आदि नृपतिगण इसी भक्ति से ऐश्वर्य्यशाली होगए हैं। यही निष्काममावमूला ईश्वरानन्यता–लक्षणा गीता की (राजविद्यानुगता) 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगनिष्ठा' है। 'मैं कुछ नहीं करता वही सब कुछ करता है' यही इस की मूलप्रतिष्ठा है। यही गीता का भक्तियोग है जिस का कि, विशेषण परीक्षाप्रकरण के अन्त में होने वाला है। इस भक्तिलक्षणा उपासना से ज्ञानवान् बना हुआ यह भक्त कालान्तर में (प्रयाणकाल में) उस पूर्वोक्त 'माम्' [अव्यय] को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

२४५–राजविद्यानुगता षोडशीपुरुषनिबन्धना-ईश्वरानन्यता–लक्षणा भक्ति, एवं सगुणा षोडशीप्रजापत्युपासना–समर्थक-गीतावचन—

अव्ययभक्ति इसी क्रम में "मां" प्राप्ति का कारण बनती हुई विश्वमाव का कारण बनती है एवं षोडशीरूपा अक्षरभक्ति जन्मान्तर में यदि कुछ विघ्न आगए, तो अनेक जन्मों के पीछे [कामभाव के आत्यन्तिक निरोध होने पर] अव्ययमूलक निःश्रेयभाव प्राप्त होता है। दोनों उपासनाओं में यही अन्तर है। साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि इसका प्रधानरूप से 'आत्मयज्ञ' ही मूल बना हुआ है। इस राजविद्यानुगता षोडशी-प्रजापति-निबन्धना ओङ्कारात्मिका निष्कामभावमूला ईश्वरानन्यता लक्षणा ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोपपत्तिका भक्तिरूपा उपासना का स्पष्टीकरण करते हुए ही आगे के वचन हमारे सम्मुख आते हैं।

१—कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं — तमसः परस्तात् ॥ (८।९)।

२—प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (८।१०)।

३—यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ (८।११)।

४—ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ (८।१३)।

५—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (८।१४)।

६—महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३)।

७—सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)।

८—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०।८)।

९—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि × बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (१०।१०)।

१ —बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९)।

२

*—शास्त्रा-अक्षर-"अक्षरस्य प्रशासने गार्गि !" ।

†—आदित्य सूर्य्य है, एवं इसी में अक्षर की अभिव्यक्ति हुई है ।

× अक्षरभावस्यैव निर्गुणसाम्यरूपत्व–बुद्धियोगावाप्तिरिति सिद्धान्तित प्राग् ।

३—अविकारयज्ञप्रजापत्युपासनासमर्थक गीतावचन—

२४६-विकारानुबन्धी सत्यप्रतिष्ठ यज्ञप्रजापति, एवं तदनुगता उपासना—

यह लोकप्रत्यक्ष सेवा भक्ति-मूलक उसी कर्म्मयोग का संशोधित रूप है जिसे कि कतिपय शास्त्रार्थियों ने गीता का मुख्य विषय मानने की भ्रान्ति करली है। षोडशीपुरुष के अनन्तर अमृतवाक्-आपः-अग्नि-मय यज्ञप्रजापति का ही स्थान है। वाङ्मयस्य संस्तरण है। आप सोम है, एवं अग्नि अग्नि है और दोनों का समन्वितरूप ही यज्ञप्रजापति है एवं यागात्मक (यज्ञात्मक) सत्यप्रजापति ही इसकी प्रतिष्ठा है जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२४७-'तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' मूलक यज्ञात्मक कर्म्म, एवं तद्रूपा भक्ति—

हमारे सम्पूर्ण कर्म्म इस प्रजापति को अनन्य बनाते हुए ही सम्पन्न हों यही तीसरा कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है। 'तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' के अनुसार यह धर्म्मरूप प्रजापति ही उस पूर्वोक्त अक्षरब्रह्म की प्रतिष्ठाभूमि है- तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'।

२४८—यज्ञप्रजापति के अर्चनोपासन से अनुप्राणिता त्रिगुणात्मिका भक्ति—

इस यज्ञप्रजापति को निमित्त बनाकर यज्ञ-तप-दान करना हुए- भारत-वर्ष करना और और भी लोक-संग्राहक लोकाभ्युदयमूलक किन्तु विश्वशान्ति के समर्थक-कर्म्म करना यज्ञार्थ (यज्ञप्रजापति के लिए किए हुए कर्म्म) कर्म्म कहलाएँगे। इस कर्म्म से यज्ञप्रजापति का अर्चन होगा यह परम्परया षोडशी-प्रजापति की प्राप्ति का कारण बनेगा षोडशी-प्रजापति परम्परया अव्ययप्राप्ति का कारण बन जायगा। इसप्रकार अपने कर्म्मों से यज्ञप्रजापति का अर्चन करता हुआ यह कर्म्मात्मक भक्त परम्परया सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होसकेगा-"स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"।

२४९-कर्म्ममय-भक्तिमार्ग की त्रिगुणात्मकता के अपवादविरोधी गीताचार्य्य—

ध्यान रहे इस मार्ग में ईश्वरात्मक अक्षर किंवा अव्यय लक्ष्य नहीं है। अपितु कर्म्ममात्र ही लक्ष्य है-"कर्म्मेति मीमांसकाः"। कर्म्म को ही ईश्वर समझ कर निष्कामभाव से इसकी आराधना करना कर्म्ममय भक्तिमार्ग है। कर्म्मका आरम्भ रजस से सम्बन्ध है अतएव इसके द्वारा तद्रूपा यज्ञपदात्मिका ही प्राप्त होगी है। यदि सकामभाव है तो पुनरावर्त्तन है। और प्रवृत्तिमूलक यही कर्म्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ मीमांसकर्म्म-नतिप्रधान बनता हुआ स्वर्गादि भोग का उपासक बनता हुआ भगवान् की दृष्टि में सर्वथा "हेय है- निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"।

२५० गीता के द्वारा समर्थित गुणात्मक-भक्तिमार्ग का 'धर्म्मबुद्धियोगात्मक' स्वरूप—

निष्कामभाव से लोकसंग्रहदृष्टिमात्र से किया हुआ यह कर्म्मानुष्ठान ईश्वरार्पण बनता हुआ परम्परया बुद्धिलक्षणा सिद्धि का ही कारण बन जाता है और यही गीता का संशोधित कर्म्मबुद्धियोग-लक्षण कर्म्मयोग किंवा कर्म्मनिष्ठा है। धर्म्मविद्यानुगत यही मार्ग ऋषियों का "योग" है-"कर्म्मयोगेन योगिनाम्"।

२५१–आत्मस्वभावनिबन्धन धर्म्मबुद्धियोगपथ—

दूसरे शब्दों में यों मान लिया जाय कि, यहां कर्म्म ही उपास्यदेवता है, अतएव इसे हम कर्म्मात्मिका भक्ति भी कह सकते हैं। जो सर्वव्यापक ईश्वर को मन प्राण से समर्पित हैं वे अपने कर्म को ईश्वर मानते हुए भी (निष्कामभाव की कृपा से) अभ्युदय-साधन करलेते हैं– 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति'। इस उपासना का मूल प्रधानरूप से 'आत्मस्वभाव' ही है यह भी अविस्मरणीय है।

२५२–अवतारोपासनात्मिका सविकारोपासना, एवं उस के विविध विवर्त—

अवतारोपासना भी इसी 'सविकारोपासना' में अन्तर्भूत है। आधिकारिक-चेतन-जीवात्मक-अवतारपुरुषों को अपने कर्म का साक्षी बनाता हुआ भी उपासक भक्तिबल के द्वारा अभ्युदय लाभ कर सकता है। इसके अतिरिक्त सूर्य्य-चन्द्र-पृथ्वी-नक्षत्र आदि आधिकारिक अचेतन-जीवों को मध्यस्थ बनाता हुआ भी उपासक अभ्युदय-साधन कर सकता है। इस दृष्टि से इस कर्म्मात्मिका भक्ति के तीन क्रमसंस्थान होजाते हैं।

२५३–लोकात्मक-विश्वधर्म्म से अनुप्राणित कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

१–लोकधर्म्मात्मक विश्वधर्म्म की सुव्यवस्थिति के लिए निष्कामभाव से वर्णाश्रमधर्म्मानुसार स्वकर्म्म में प्रवृत्त रहना, दूसरे शब्दों में कर्म्ममय विश्व का (यज्ञात्मक विश्व का) लक्ष्य बनाकर यज्ञ (तत्कर्ममहाय) निष्कामभाव से कर्म्म करना ही कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५४–अवतारचरित्रनिबन्धन-कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

२–रामकृष्णादि अवतारपुरुषों के निष्कामभावमूलक उदात्त लोकसंग्राहक चरित्रों को आदर्श बनाते हुए उनके अमानव दिव्य शरीरों का सम्मरण करते हुए अपने आपको क्रमशः कर्म्माधिकारी एवं फलानधिकारी समझते हुए निष्कामभाव से कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहना ही कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५५–आधिकारिक-अचेतन-सूर्य्यचन्द्रादि जीवनिबन्धन-कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग का समन्वय—

३–जिसप्रकार सूर्य्यचन्द्रादि आधिकारिक-अचेतन जीव ईश्वराज्ञामित्र अधिकारभाव (उत्तरदायित्व) से युक्त होकर 'विश्वव्यवस्था' में यथाधिकार से किन्तु निष्कामभाव से युक्त-प्रवृत्त हैं, तथैव इनके आदर्श को लक्ष्य में रखकर हमें भी अधिकारबुद्ध्या कर्म्म में निष्कामभाव से ही प्रवृत्त रहना चाहिए यही कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५६–भक्तिमार्ग के प्रथम, मध्यम, उत्तम भावनिबन्धन तीन विभिन्न सोपान—

इन तीनों मार्गों में भी 'अधिकारीभेद' स्थापित किया जासकता है। प्रथममार्ग उत्तमाधिका... द्वितीय मार्ग मध्यमाधिकारियों से एवं तृतीय मार्ग प्रथमाधिकारियों से सम्बन्ध रखता

है। शास्त्र ने जिन यज्ञादि कर्म्मों का विधान किया है शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखते हुए वर्णाश्रमानुसार अधिकारभेद से "यज्ञप्रजापति" रूप 'उपेश्वर' के निमित्त निष्काममाव से कर्म करना ही कर्म्मात्मिका-भक्ति का उत्तममार्ग है।

२५७–ईश्वरसत्ता से तटस्थ मानवों के अभ्युदय से अनुप्राणित भक्तिमार्ग की रूपरेखा–

कुछ एक ऐसे व्यक्ति भी हैं जोकि ईश्वरसत्ता किंवा उपेश्वरसत्ता पर विश्वास नहीं रखते। रामकृष्णादि अवतारों को वे महापुरुष ही समझते हैं। कोई हानि-नहीं। महापुरुषों का आदर्श भी तो हमारा अभ्युदय कर सकता है। हमें यह तो मान ही लेना पड़ेगा कि ये महापुरुष लोकाभ्युदयार्थ ही कर्म्म में प्रवृत्त रहते थे [हैं]। इनके आदर्श को सम्मुख रखते हुए निष्काममाव से हमें उनके बतलाए हुए सिद्धान्तों के अनुसार ही कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिए। जो सात्त्विक जीव उन्हें साक्षात् ईश्वर मान कर उनका संस्मरण करते हुए कर्म में प्रवृत्त रहते हैं वे तो पूर्वोक्त उत्तम मार्ग के ही अनुयायी कहलाएँगे।

२५८–केवल प्रकृतिपरायण प्राकृत-मानवों का चरित्रचित्रण एवं तदभ्युदयपथ संस्मरण—

कुछ एक बुद्धिवादी ऐसे भी हैं जिनकी दृष्टि में अवतारपुरुषों का महापुरुषत्व एवं उन का आदर्श केवल साम्प्रयिक है। कितने एक परिश्रमी एवं तदनुयायी भारतीय तो इन के चरित्रों में दोष निकालने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करते। इन की यह कुत्सित-विचारधारा भी आज विद्वत्ता ! ही मानी जाती है। प्रत्येक बात में 'नेचर' का समावेश करना ही इन का परम पुरुषार्थ है। नास्तिक भगवान् कहते हैं कोई हानि नहीं। तुम ईश्वरसत्ता पर भी विश्वास मत करो अवतारों को महापुरुष भी मत समझो उनके आदर्शों का भी अनुगमन मत करो केवल प्रकृति के ही अनुगामी बने रहो।

२५९ प्रकृतिसिद्ध-लोकसंग्राहक-कर्त्तव्यानुष्ठानानुगत सदाचरण, एवं तन्निबन्धन पारम्परिक अभ्युदय—

सूर्य्य-चन्द्रमा-वायु-अग्नि आदि प्रकृति के ही तो अवयव हैं। तुम्हें मानना पड़ेगा कि, वे सभी प्राकृतिक जड़पदार्थ बड़े संयम से नियमपूर्वक लोकसत्ता के पालक बने हुए हैं। किसी से राग द्वेष न रखते हुए, अपने किसी वैय्यक्तिक स्वार्थ को सिद्ध न करते हुए उपकार अपकार-प्रेम-द्वय आदि द्वन्द्वभावों से विमुक्त रहते हुए अपने कर्त्तव्य पर अनन्यनिष्ठा से प्रतिष्ठित हैं। इनके इसी आधिकारिक 'कर्त्तव्य' से हमारी किंवा विश्व की स्वरूप–रक्षा होरही है। तुम इन्हीं के आदर्शों को लक्ष्य में रखकर अपने उन कर्त्तव्य-कर्म्मों पर निष्काममाव से रागद्वेष-परित्याग-पूर्वक आरूढ रहो, जिनसे कि लोकाभ्युदय द्वारा यह विश्व के मानवसमाज में शान्ति-प्रेम तथा सौहार्द बना रहे। ऐसा करने से प्रकृति का तुम पर अनुग्रह होगा। परोक्षरूप से तुम्हारा भूतात्मा यज्ञप्रजापति का भक्त (भाग) बन जायगा। यह के द्वारा ईश्वरनिष्ठा प्राप्त होजायगी। फलतः वही सिद्धि तुम्हें भी मिल जायगी जोकि रजोगुण महापुरुषोपासकों का सत्त्वगुण अवतारपुरुषोपासकों को श्रीगुणातीत यज्ञकर्म्मोपासकों को एवं सर्वातीत ईश्वरोपासकों का परम्परया प्राप्त होजाती है।

२६० प्रचलित कर्म्म-ज्ञान-योग-निष्ठाओं का भगवान् के द्वारा संशोधन—

उक्त तीन कर्म्ममार्गों के अतिरिक्त एक चौथा कर्म्ममार्ग और बच रहता है जिसे कि प्रचलित निष्ठाओं की परीभाषा में 'ज्ञानयोग' कहा जा सकता है। गीता के शब्दों में 'सिद्धविद्या'-युक्त यही "ज्ञानबुद्धियोग" है। प्राचीनोंने (कपिलादिने) कर्म्मत्याग ही इस योग का मुख्य परातल माना था। परन्तु भगवान् ने इसका विरोध किया और निवृत्तिमार्ग को आगे करते हुए इस में भी मोक्षैक साधक कर्म्मों का समावेश किया।

२६१ ज्ञान-कर्म्म-योग निष्ठाओं का संशोधित-समन्वयात्मक-स्वरूप—

जैसा कि पूर्व के निगुणोपासना प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म ही कर्म्मयोग है एवं वेदोक्त निवृत्तिकर्म्म ही ज्ञानयोग है। दोनों का परातल एक ही है। प्रवृत्तिकर्म्मात्मक कर्म्मयोग एवं निवृत्तिकर्म्मात्मक ज्ञानयोग दोनों में निष्कामभावमूलक निवृत्तिकर्म्म है। इसीलिए निवृत्तिकर्म्म-प्रधान ज्ञानयोग [सांख्य] कर्म्मयोग बन रहा है एवं निष्कामभावमूलक प्रवृत्तिकर्म्म योग [योग] ज्ञानयोग [सांख्य] बन रहा है— 'एकं सांख्यं च योगं च'। दोनों में कर्म है इस दृष्टि से दोनों कर्म्मयोग हैं। कर्म्मयोगात्मक कर्म्म में यज्ञादि कर्म्मों का लोकसंग्रह-दृष्टि से संग्रह है इसलिए यह कर्म्मलक्षण बुद्धियोग बन रहा है।। ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग में त्यागमूलक आत्मोपयिक कर्म्मों का संग्रह है इसलिए [ज्ञानात्मक आत्मा का अनुगामी बनता हुआ] यह ज्ञानयोग बन रहा है।

२६२–'चतुर्थ बुद्धियोग' के सम्बन्ध में लोकनिष्ठों का व्यामोहन, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

इसप्रकार इस वेदोक्ता कर्म्मात्मिका भक्ति में ही कर्म्मबुद्धियोगलक्षणा कर्म्मभक्ति एवं ज्ञानबुद्धियोगलक्षणा ज्ञानभक्ति, इन दोनों का समावेश होता है। विद्वान् कहा करते हैं कि गीता में ही क्या सभी शास्त्रों में ज्ञान-भक्ति-कर्म्म के अतिरिक्त कोई चौथा मार्ग हो ही नहीं सकता। अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए वे 'एकमेव त्वं प्रयक्षो वेत्थ रूपम्' को ही उपस्थित करते हुए हैं। यदि वे ध्यानपूर्वक गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालते तो स्वयं गीता ही उन्हें इन तीनों से पृथक् उस चौथे 'बुद्धियोग' का दर्शन करा देती, क्योंकि गीता का मुख्य उद्देश्य है।

२६३–उभयात्मिका उपासना का स्वरूप दिग्दर्शन—

कर्म्मयोगोपासना ही बुद्धियोगात्मिका किंवा ज्ञानात्मिका उपासना है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। 'ज्ञानात्मिका उपासना' का तात्पर्य है–सम्यग्ज्ञानकर्म्मात्मिका बुद्धियोगोपासना। कर्म्म का कर्म्म भक्तभाव के कारण ज्ञानात्मक है अतएव यहां ज्ञान-कर्म्म का द्वैत नहीं रहने पाता– 'निष्कर्म्मो-निस्ससत्त्वस्थ'। केवल यही सूचित करने के लिए हमने इस प्रथमोपासना को ज्ञानात्मिका उपासना कहा है। वस्तुतः यह तो उभयात्मिका उपासना है।

२६४–ज्ञानसमार्पितता से अनुप्राणित कर्म्म और उस का ज्ञानमयत्व—

इसे ज्ञानात्मिका उपासना कहने का एक रहस्य और भी है। आगे की तीनों भक्तियों में जिस कर्म्म का अनुष्ठान होता है उनसे संस्कार उत्पन्न होता है। निष्कामभाव से संस्कारलेप का प्रश्न अवश्य ही नहीं

होता परन्तु अक्षर-क्षर-सम्बन्धी कर्म्म संस्कार उत्पन्न किए बिना नहीं रहते। इधर अव्ययानुगत कर्म्म संस्कार का भी जनक नहीं बनता। जैसे अव्ययात्मक ज्ञान स्वरूप से असङ्ग रहता है तथैव अव्ययात्मक कर्म्म भी 'न सज्जते न व्यथते न लिप्यति' के अनुसार संस्कारोपासक्ति से असंस्पृष्ट रहता हुआ असङ्ग ही बना रहता है। इसी ज्ञानसजातीयता से अव्ययात्मक कर्म्म ने ज्ञान का आसन ग्रहण कर रक्खा है।

२६५–बुद्धियोगात्मिका उपासना, और तन्निबन्धन पारिभाषिक-'योग' शब्द—

इसीलिए हमने बुद्धियोगलक्षणा निर्गुणाव्ययोपासना को कर्मात्मिका होने पर भी ज्ञाना मिका कहा है। एवं यह योगात्मक बुद्धियोग अक्षरानुगत भक्तिमार्ग, आत्मक्षरानुगत कर्म्म एवं ज्ञानमार्ग तीनों से पृथक् रहता हुआ सर्वथा ही विलक्षण है। इसी बुद्धियोगात्मिका उपासना को भगवान् ने केवल "योग" शब्द से एवं तदनुयायी निर्गुणोपासक को 'योगी' शब्द से व्यवहृत किया है।

२६६–बुद्धियोगनिबन्धन योग, और युक्त-भाव—

और आगे चलिए। इस वैराग्यबुद्धियोगात्मिका उपासना के योग के किंवा तदनुयायी योगी के भी दो विवर्त हैं। दो प्रकार की निर्गुण–अव्ययोपासना [योग] है एवं दो ही प्रकार के निर्गुणोपासक [योगी] हैं। योगी को गीता-परिभाषा में "युक्त" कहा गया है। इस दृष्टि से वे दोनों योग क्रमशः योग–योगतम कहलाएँगे एवं दोनों योगी क्रमशः युक्त–युक्ततम कहलाएँगे।

२६७–द्विविध योगी, एवं उन का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

यह उपासक 'युक्तयोगी' कहलाएगा जो 'उदासीनवदासीनम्' इस वृत्ति में प्रतिष्ठित रहता हुआ लोकसंग्रह में प्रवृत्त रहेगा। बड़े से बड़ा हर्ष इसे किसी भी अवस्था में 'अहा-हा' का अनुगामी नहीं बना सकेगा एवं न बड़े से बड़ा शोक इसे "हाय-हाय" का अनुगामी बना सकेगा। सब में सहयोग रक्खेगा। ऐसा 'लौकिक बना रहेगा' मानों यह सर्वात्मना संसारी ही हो। परन्तु सदा शान्तभाव से युक्त रहेगा। ऐसा योग 'योग' कहलाएगा एवं ऐसा योगी 'युक्त' कहलाएगा।

२६८–उदासीनवदासीन-युक्त-योगियों के द्वारा सामाजिक अनुकरणप्रिय समाज का शैथिल्य, एवं बाह्यापरक्षानुगत-संस्कार—

भगवान् कहते हैं—अभी थोड़ी सी त्रुटि रह गई। थोड़ा और आगे बढ़ो। ध्यान दीजिए-यदि समाज में अधिक संख्या इन उदासीन-योगियों की ही होजाय तो लोकसंग्रह अवश्यमेव सङ्कट में पड़ सकता है। समाज के साधारण व्यक्ति तो इस वृत्ति के अनुगमन में असमर्थ रहेंगे नेतृत्व इन शान्तचित्त उदासीन योगियों के हाथ में रहेगा। परिणामतः समाज का स्वाभाविक हास्य-विनोद जाता रहेगा उदासीनता का वातावरण व्याप्त होजाएगा परिणामतः कालान्तर में समाज में शिथिलता आजायगी। यह ध्यान रखिए कि इस [illegible] का अन्तर्जगत् सनातन से परिपूर्ण है। तदनुयायियों को "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" के अनुसार इनकी प्रवृत्तियों का ही अनुसरण करने लग पड़ेगा। परिणामतः एक समाज का स्वाभाविक विकास इसी-[illegible] अभिभूत होजाएगा क्योंकि उदासीन-अवस्था की अन्ततः वातावरण [illegible] ही बनी रहती है

(मुह लटकाए रहती है)। हम देखते हैं कि दुःखियों को हँसते देख कर नहीं भाई! बालक भी हँसने लगते हैं एवं रोते देख कर उदास होजाते हैं। और इस वातावरण की बदौलत के अन्तर्जगत् में अमिट छाप लग जाती है अन्तर्जगत् सदा मस्त ही नहीं बना रहता है।

२६९–लोकसंग्रहनिष्ठ भगवान् के द्वारा उदासीनयोगी के युक्त-योग में यत्किञ्चित् संशोधन—

उक्त सर्वथा बुद्धियोगी लोकसंग्रह में सर्वात्मना सफल नहीं होसकेगा। उसका विशुद्ध बुद्धियोग मनोयोग की ओर झुके हुए संसारियों की प्रथम तो उपासी का कारण ही बन बैठेगा। अथवा तो विरोधादि का अनुसरण करते हुए वे इसे बहिष्कृत ही करदेंगे। उदासीनता में उन का विकास रुकेगा बहिष्कार में उनका सन्मार्ग-प्रदर्शक कोई न रहेगा। लोकसंग्रह के अनन्य पक्षपाती भगवान् यही देखकर इस 'युक्तप्रकृति' में थोड़ा सा संशोधन और चाहते हैं।

२७०–युक्त-योगी के बौद्धिक-उदासीनपक्ष में मानस-श्रद्धाभाव का समावेश, एवं तद्द्वारा युक्त-योगी की रूक्षता का निराकरण—

वे कहते हैं कि, बुद्धि के साथ मानसी-श्रद्धा का योग और करलो। हम मानते हैं कि, तुम में पूरी श्रद्धा है मन का भी पूर्णयोग है। परन्तु तुम्हारा यह मानसभाव (श्रद्धा) अभी विशुद्ध आत्मानुगत (आत्मानुगत) बनता हुआ एकाङ्गी ही बन रहा है। तुम सांसारिक कर्मों में भी पूर्ण योग दे रहे हो। परन्तु तुम्हारा मानस जगत् इस योग से हटा हुआ है। अमनस्करूप ही तुम्हारा सहयोग है। तुम अपने मानस-भाव को थोड़ा इधर भी झुकाए रहो। लोकसंग्रह के साथ साथ लौकी मनुष्यों के कर्मों में श्रद्धा भी प्रकट करते जाओ। ऐसा न करने से उक्त दोषों के अतिरिक्त उनमें बुद्धिभेद की भी आशङ्का से पीछा न छूटेगा। क्यों क्या है, सुनो!

२७१–श्रद्धारस से समन्वित 'योगी' का युक्ततमत्व एवं तदभिनन्दन-लोकसंग्रह—

यदि किसी को दुःखी देखो तो उन में भी श्रद्धा प्रकट करो। स्वयं दुःख का अभिनय करते हुए [यद्यपि तत्त्वतः तुम दुःख से दूर हो] उसे सान्त्वना प्रदान करो। यदि किसी को हर्ष होरहा है तो तुम भी उस के हास्य-कलोल मे स्नान करो। हास्य-विनोद-गल्प गोष्ठी-आदि में ऐसे बने रहो ऐसे घुलमिल जाओ जैसे एक सामान्य संसारी। तभी तुम उन संसारियों के अतिसन्निकट पहुँचते हुए उनका आत्मसंशोधन करसकोगे। और इस अवस्था में—श्रद्धायुक्त तुम्हारा यह योग योगतम बन जायगा, दूसरे शब्दों में युक्तभाव युक्ततमत्व में परिणत हो जायगा।

२७२–युक्त', और 'युक्ततम शब्दों का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र भगवान् के द्वारा भक्तिविभाग का संस्थापन—

उक्त दोनों मार्गों में से भगवान् का अधिक झुकाव किस ओर है? वे उदासीनतारूप विरक्तानुगत श्रद्धाभावविरहित योग एवं युक्तयोगी को अभीप्सित मानते हैं अथवा विकासरूप विरक्तानुगत श्रद्धायुक्त

योगतम एवं युक्ततमयोगी था ?। उत्तर भगवान् के जीवन से ही मिल जाता है। हर्ष शोक से परे रहने वाले बुद्धियोगी भगवान् ने अपना जीवन कैसा हास्यपूर्ण बनाए रक्खा इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। बाललीला-सम्बन्धी भगवान् का नन्दनन्दन रूप तो इस युक्ततमयोग से प्रथम से इति पर्य्यन्त युक्ततम है ही परन्तु हम देखते हैं कि ईश्वरीय लीला-सम्बन्धी भगवान् का वासुदेवरूप भी इस युक्ततमभाव से शून्य नहीं है।

२७३–सर्वमूर्ति आप्तकाम भगवान् वासुदेव कृष्ण के 'युक्ततमत्व' का स्वरूप-सम्मरण, एवं तन्निबन्धन गीता का रहस्ययोग'—

अभ्यन्य के वधावर से पूर्व अर्जुन के विलाप पर भगवान् रो पड़ते हैं। द्रौपदी के रुदन पर उनकी अक्षि से उसे धैर्य्यप्रदान कर रहे हैं। भक्त के विलाप पर उनका अन्तर्जगत् व्याकुलता दिखाई देता है। कर्ण के द्वारा दैवी गई–'एकपुरुषघातिनीशक्ति' से जब एक अक्षौहिणी सेना का चूर्ण करता हुआ हिडिम्बापुत्र घटोत्कच धराशायी हो जाता है तो भगवान् शैलनाद के साथ अर्जुन को गले लगाकर रथ पर ही नृत्य करने लग पड़ते हैं। क्रोध को बुद्धियोगी का विरुद्ध धर्म मानते हुए भी स्वयं भगवान् रुद्ररूप धारण कर पितामह पर चक्र प्रहार के लिए दौड़ पड़ते हैं। क्या कोई भक्त यह स्वीकार करेगा ?। असम्भव। यह तो भगवान् का लोकसंग्रहात्मक प्रदर्शनमात्र ही था। और यही भगवान् का योगतम यो। था एवं इसीलिए भगवान् युक्ततम योगी थे। यही गीता का रहस्ययोग है।

२७४ गीतायोग के दो विभिन्न 'महिमाविवर्त', उभयविवर्त्तात्मिका सुप्रसिद्धा बुद्धियोगनिष्ठा', एवं तन्निबन्धना निर्गुणाव्ययोपासना का स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार निर्गुणाव्ययोपासनारूप इस योग के विशुद्ध बुद्ध्यनुगत योगरूप योग एवं ज्ञान-भक्त्यभिनयरूप भक्त्यनुगत योगतमरूप योग ये दो विवर्त हो जाते हैं। दोनों को हम 'बुद्धियोग' इस एक नाम से ही व्यवहृत करेंगे। एवं यही प्रचलित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति इन तीनों निष्ठाओं से सर्वथा स्वतन्त्र उभयात्मिका किंवा ज्ञानात्मिका अव्ययोपासना कहलाएगी। साथ ही यह तो सिद्ध ही है कि इस उपासना में मनोमय आनन्द मनोमय विज्ञान एवं मनोमय मनोरूप निर्गुण अव्यय ही उपास्य है।

२७५–ईश्वरोपासना-लक्षण ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' की 'भक्ति' रूपता, तदनुवर्त्मा नृपतिश्रेष्ठ, एवं गीता से अनुप्राणित 'तपः' शब्द का स्वरूप-समन्वय, और गीता का पारिभाषिक तपस्वी—

इसके अनन्तर दूसरी योगेश्वरीपुरुषोपासना बतलाई गई है। इसी को हमने ईश्वरोपासनालक्षण ऐश्वर्य्यबुद्धियोग कहा है एवं ककुत्स्थ-प्रवर आदि भारतीय राजाओं में ही इसका विशेष प्रचार बतलाया है। साथ ही पूर्व में इसके सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि त्रिवृत् आत्ममात्रा ही इस उपासना का मुख्य धरातल है। योगेश्वरीपासनानि अक्षरप्रधान बनता हुआ भावप्रधान ही सिद्ध किया गया है।

ईश्वर– 'यत्तप' तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति" के अनुसार ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण कर देना ही वास्तविक 'तप' है। श्रुति ने "न तपोऽनशनात्" के अनुसार प्राणायाम को ही तप माना है। इसी आधार पर इस दूसरी उपासना को हम 'तप' कह सकते हैं एवं इसके अनुयायी भक्तों को 'तपस्वी' कह सकते हैं। गीता का आदरणीय 'तपस्वी' यागप्रक्रियाओं का अनुगामी कायक्लेश में रत तपस्वी नहीं है, अपितु आत्मसमर्पणलक्षणा भक्ति का अनुयायी ही गीतानुमोदित तपस्वी है।

२७६–गीताशास्त्रनिबन्धन– 'योगी'–'तपस्वी'–'कर्म्मी'–'ज्ञानी'–विभागों का स्वरूप समन्वय—

तीसरा स्थान यज्ञप्रजापतिउपासना का बतलाया गया है। इसका वात्सल्य पर (आत्मभाव) से समन्वय बतलाया गया है। एवं इसी के निष्कामकर्मलक्षण ज्ञानयोग, सकामकर्मलक्षण कर्मयोग ये दो भेद बतलाए गए हैं। यही गीता की सांख्य एवं योग–निष्ठाएँ हैं। योगनिष्ठानुयायी 'कर्म्मी' कहलाता है, एवं ज्ञानी ज्ञानबुद्धियोग का अनुयायी है। इसप्रकार गीता में अव्यय-परमेष्ठी-यज्ञप्रजापति इन तीन उपास्यों के आधार पर क्रमशः वैराग्यबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग-ज्ञानबुद्धियोग ये चार विभाग किए हैं एवं इन चारों के अनुयायियों को क्रमशः योगी, तपस्वी, कर्म्मी, ज्ञानी इन शब्दों से सम्बोधित किया है।

२७७ राजर्षि, पुण्यकर्म्मा ब्राह्मण, तथा ऐश्वर्य्यशाली राजाओं के द्वारा गीता के चतुर्विध-बुद्धियोगों का अनुगमन—

गीता ने इन चारों योगियों को राजर्षि भक्त-ब्राह्मण इन तीन वर्गों में विभक्त माना है। वैराग्यबुद्धियोगात्मिका उपासना के अनुयायी राजर्षि हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका भक्ति के अनुयायी राजा "भक्त" हैं। एवं धर्म्मबुद्धियोगात्मिका कर्म्ममयी, ज्ञानबुद्धियोगात्मिका ज्ञानमयी उपासना के अनुयायी भारतीय पुण्यकर्म्मा ब्राह्मण हैं। इन निष्ठाओं का अनुगमन विराज्य भाव से यद्यपि न किया हो, भक्तिनिष्ठा का अनुगमन राजाओं ने एवं बुद्धियोगनिष्ठा का अनुगमन जनकादि राजर्षियों ने ही किया है। [गी० ४।२]।

२७८–वैराग्यबुद्धियोगात्मक-'योग' की सर्वश्रेष्ठता का स्वरूप-समन्वय—

उक्त चारों मार्गों में से वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग, इन में भी पूर्वकथनानुसार मानस भक्तिमार्ग से युक्त मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वमान्य है। इसी वर्गीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं –

तपस्विभ्योऽधिको योगी ।
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ॥
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी ।
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६।४६) ।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः । (६।४७) ।

१–राजर्षिविद्यानुगत–वैराग्यबुद्धियोग–ज्ञानात्मिका उपासना–मनोमयी

२–राजविद्यानुगत–ऐश्वर्यबुद्धियोग–क्रियात्मिका भक्ति–प्राणमयी

३–सिद्धविद्यानुगत–ज्ञानबुद्धियोगप्य–निवृत्तिकर्म्मात्मिका भक्ति–वाङ्मयी

४–आर्षविद्यानुगत–धर्म्मबुद्धियोग–प्रवृत्तिकर्म्मात्मिका भक्ति–वाङ्मयी

१–बुद्धियोग (मनोमय)–योग–तदनुयायी–'योगी'	–'राजर्षय'
२–भक्तियोग (प्राणमय)–तप–तदनुयायी–'तपस्वी'	–'भक्त"
३–कर्म्मयोग (वाङ्मय)–कर्म–तदनुयायी–'कर्म्मी'	–'ब्राह्मणा"
४–ज्ञानयोग (वाङ्मय)–ज्ञानम् तदनुयायी–"ज्ञानी	

१–अव्यय	बुद्धियोगाधिष्ठाता	–अव्ययोपासना
२–गौरीश्वर	भक्तियोगाधिष्ठाता	–अक्षरोपासना
३–महेश्वरः–कर्म्ममूर्त्ति	कर्म्मयोगाधिष्ठाता	–आत्मक्षरोपासना
४–महेश्वरः–ज्ञानमूर्त्ति	ज्ञानयोगाधिष्ठाता	

७७६–कर्म्मनिबन्धना शुक्रात्मिका–वाङ्मयी–भक्ति के विभिन्न चार महिमा-विवर्त्त, एवं तन्निबन्धन सर्वोत्तम, उत्तम मध्यम प्रथम मार्गानुबन्धी श्रेणिविभाग—

आत्मक्षरप्रपञ्चमूर्त्ति–महाप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्म्मात्मिका वाङ्मयी भक्ति के पूर्व कथनानुसार चार विवर्त्त हो जाते हैं। यज्ञादिकर्म्म पहिला विवर्त्त आत्मौपम्यिक आरण्याध्यानादिलक्षण ज्ञान दूसरा विवर्त्त आधिभौतिक चेतनजीव-लक्षण अवतारोपासना तीसरा विवर्त्त एवं आधिभौतिक अचेतनजीव लक्षण सूर्य्य–चन्द्रादि की उपासना चौथा विवर्त्त। चारों में निष्कामकर्म्मलक्षणा कर्म्मात्मिका उपासना (कर्म्मयोग) सर्वोत्तम निष्कामकर्म्मलक्षणा–आत्मौपम्यिक–कर्म्मात्मिका उपासना (ज्ञानयोग) उत्तम अवतारोपासना मध्यम एवं सूर्य्याद्युपासना प्रथम जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–यज्ञकर्म्मात्मिका–उपासना	उपासनासु–सर्वोत्तमा
२–आत्मोपमितकर्म्मात्मिका–उपासना	उत्तमा
३–भगवतोपासना	" मध्यमा
४–प्रकृतिकर्म्मोपासना	अधमा

अब इस सम्बन्ध में गीताप्रमाण उद्धृत कर प्रक्रान्त चौथे विषय को उपरत किया जाता है। उक्त चारों ही प्रकार शास्त्रसम्मत भगवान्‌ने अधिकारी-भेद से उपादेय माने हैं जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है।

२८०–[१]–यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना सर्वोत्तमा–(कर्म्मयोगायोगिनाम्)–भगवत्–सम्मत —

१—यज्ञदानतपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेवतत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५।)

२—एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६।)

३—सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ (१८।४८)।

४—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (२।४५।)।

५—संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥ (५।२)।

२८१–[२]–आत्मकर्म्मात्मिका उपासना उत्तमा (ज्ञानयोगो माख्या नाम्) भगवत्–सम्मत (किन्तु अरुचिकर)

१—ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ (९।१५।)।

२—ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ (१२।३।) ।

३—संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (१२।४) ।

४—क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ (१२।५।) ।

५—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (१३।११।)

२

२८२-[३]-अवतारपुरुषोपासना (कर्म्मयोग) भगवत्-सम्मत, किन्तु अरुचिकर —

१—कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ (७।२०) ।

२—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ (७।२१) ।

३—स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥ (७।२२) ।

४—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो * यान्ति ॥ (७।२३) ।

५—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (७।२४) ।

३

---

*—अवतारदेवयज्ञः

२८३–[४]–प्रकृत्यवयवोपासना [कर्म्मयोग]—

१—येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (९।२३) ।
२—न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ (९।२४)
३—यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ (१५।१२)
४—गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ (१५।१३)
५—एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ (१६।२२)

४

४–साज्ञनविराट्प्रजापत्युपासनासमर्थक–गीतावचन—

२८४–अज्ञानपरिग्रहात्मिका विराट्पुरुषोपासना, आवरणपरिग्रहात्मिका विश्वरूपोपासना में अनुप्रासित पूर्वापर विरोध एवं तन्निराकरण प्रयास—

अब चौथा उपास्य-विवर्त हमारे सामने आता। यही 'देवसत्योपासना' कहलाती है। पूर्व में हमने साज्ञना विराडुपासना को एवं सावरणा विश्वोपासना को दोनों को विश्वोपासना कहा है। जिन ४ प्रकार के जीवों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उनमें से प्रथम आधिभौतिक चलनजीवों (मनुष्यपुरुषों) का सीधा प्रजापति विराट से सम्बन्ध माना है। एवं दूसरे आधिभौतिक पशु-पक्ष्यादि चलनजीवों का विराट्संस्था से सम्बन्ध बतलाया है। इधर पूर्वप्रतिपादिता विश्वोपासना में आवरणोपासना के साथ साथ वृक्ष-वनस्पति-लतादि अचेतनजीवों का भी समावेश सिद्ध किया है। इससे पूर्वापरविरोध प्रतीत होता है। जब विश्वोपासना को अचेतनजीवोपासना सिद्ध करना पूर्व की विराडुपासना में भी अचेतनजीवोपासना का समन्वय करना अवश्य ही पूर्वापरविरोध है। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर इस विरोध का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

—प्राणदेवता

२८५–अमृतशुक्रानुबन्धी विराट्प्रजापति के साथ मर्त्यशुक्रानुबन्धी विश्वमूर्त्ति का सह समन्वय, एवं पूर्वापरविरोध-निराकरण—

पाठकों को स्मरण होगा कि वाक्-(वाङ्मय स्वयम्भू) आपः (आपोमय-परमेष्ठी) एवं अग्नि (अग्निमय सूर्य्य) इन तीनों के समुच्चय को हमनें यज्ञप्रजापति कहाथा एवं अग्निः (सूर्य्य)–वाक् (पृथिवी) की समष्टि को विराट्प्रजापति कहा था। मध्यस्थ अमृत सूर्य्य को यज्ञप्रजापति का अन्तिमपर्व बतलाया था एवं मध्यस्थ उसी सूर्य्य को (मर्त्याग्निशुक्रदृष्टि से) विराट्प्रजापति का पहिला पर्व माना था। क्योंकि सूर्य्यसंस्था का दोनों ओर सम्बन्ध है अतएव इसी से सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना का हमनें यज्ञप्रजापति के साथ भी सम्बन्ध बतलाया है एवं आज इस विराट्प्रजापति के साथ भी सम्बन्ध बतला रहे हैं।

२८६–यज्ञप्रजापति-निबन्धना निष्कामोपासना एवं विराट्प्रजापति निबन्धना-सकामोपासना का समन्वय—

दोनों में यह विवेक अवश्य कर लेना चाहिए कि यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना, किंवा प्राणदेवोपासना का निष्कामभाव से सम्बन्ध है एवं विराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना का कामभाव से सम्बन्ध है।

२८७–यज्ञियदेवतामयी काम्यकर्म्ममयी, त्रिगुणभावात्मिका, विराडुपासना का गीता के द्वारा संग्रह, एवं तत्र संशोधन—

वहाँ की देवोपासना लोकसंग्रह की मूल बनाती हुई स्वार्थमुक्त परमार्थभाव पर प्रतिष्ठित है एवं यहाँ की उपासना लोकसंग्रह की उपेक्षा करती हुई स्वार्थभाव पर ही प्रतिष्ठित है। विराडुपासना ३३ यज्ञिय-देवताओं की उपासना है विकाररूप देवताओं की उपासना है। एवं यज्ञसम्बन्धिनी देवोपासना विश्वेदेवों की उपासना है प्रकृतिपर्वों की उपासना है। यज्ञप्रक्रिया के द्वारा विराट्के सर्वप्राणात्मक इन्द्ररूप आहवनीय हिरण्यगर्भात्मक वायुरूप दक्षिणाग्नि एवं वैश्वानरात्मक अग्निरूप गार्हपत्याग्नि से सम्बन्ध रखने वाले १२ आदित्य ११ रुद्र ८ वसु, प्रजापति वषट्कार इन ३३ यज्ञिय-देवताओं का तत्-तत्काम्य यज्ञ के द्वारा अपने मानुष भूतात्मा में आधान करते हुए इस यज्ञिय-देवसंस्कारकरण से (जो कि विश्वसंस्कार-"देवात्मा" नाम से प्रसिद्ध है) शरीरत्यागानन्तर–नाकिदेवलोक में प्रतिष्ठित होजाना ही इस प्राणदेवोपासना का मुख्य फल है। यही यज्ञियदेवतामयी काम्यकर्म्ममयी, त्रिगुणभावात्मिका कामयज्ञमयी उपासना विराडुपासना है। गीताने इसका यहाँ संग्रह किया है यहाँ निन्दा भी पर्य्याप्त की है। इस उपासना की क्या इतिकर्त्तव्यता है क्या फल है? यह निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

२८३–[४]–भक्त्यव्ययवोपासना [कर्म्मयोग]—

१—ये ऽप्यन्य देवता — भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (९।२३) ।

२—न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ (९।२४)

३—यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ (१५।१२)

४—गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ (१५।१३)

५—एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ (१६।२२)

४

४—साधनविराट्प्रजापत्युपासनासमर्थक–गीतावचन—

२८४ अध्ययनपरिग्रहात्मिका विराट्पुरुषोपासना, आचरणपरिग्रहात्मिका विश्वरूपोपासना से अनुप्राणित पूर्वापर विरोध एवं तन्निराकरण प्रयास—

अब चौथा उपास्य-विवर्त हमारे सामने आया । यही 'प्रेयमस्योपासना' कहलाती है । पूर्व में हमने साधना विराडुपासना को एवं आचरणा विश्वोपासना को, दोनों को विश्वोपासना कहा है । जिन ४ प्रकार के तीर्थों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उनमें से प्रथम आधिभौतिक यजनतीर्थों (अजनाभपुरुषों) का सीधा यज्ञप्रजापति विराट् से सम्बन्ध माना है । एवं दूसरे आधिदैविक सूर्य-चन्द्रादि अयजनतीर्थों का विराट्संस्था से सम्बन्ध बतलाया है । इधर पूर्वप्रतिपादिता यज्ञोपासना में प्रजापत्योपासना के साथ साथ सूर्य-चन्द्रादि-लक्षण अयजनतीर्थों का भी समावेश सिद्ध किया है । इसमें पूर्वापरविरोध प्रतीत होता है । जब विराडुपासना को अचेतनतीर्थोपासना सिद्ध करना पूर्व की यज्ञोपासना में भी अचेतनतीर्थोपासना का समन्वय करना अवश्य ही पूर्वापरविरोध है । परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर इस विरोध का कोई मूल्य नहीं रह जाता ।

— प्रागुक्तवत्

५–सावरणविश्वप्रजापत्युपासनासमर्थक गीतावचन—

२८८–आधिकारिक, तथा आश्वस्थिक-जीवप्रपञ्चानुबन्धी विविध उपासना-मार्ग, एवं सत्यमष्टिरूपा 'विश्वोपासना' का संस्मरण—

(१) आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव [अश्वत्थ-वट-तुलसी आदि कतिपय मौलिक औषधि वनस्पति वर्ग] (२)-आश्वस्थिक चेतनजीव [अष्टविध देवयोनियाँ आचार्य-सन्त ज्ञानी-भक्त आदि महापुरुष-लक्षणात्मक मनुष्य गौ आदि पवित्र पशु नीलकण्ठादि पवित्र पक्षी सर्पादि दिव्य कृमिकीट] (३) आश्वस्थिक अर्द्धचेतनजीव (ओषधि-वनस्पति-वर्ग) (४) एवं आश्वस्थिक अचेतनजीव [शालग्रामशिला अन्य भगवत्-प्रतिमाएँ] इन चारों की उपासना ही विश्वोपासना है जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यही उपासना भूतोपासना है। कामभाव में यह शाश्वत अभ्युदय से वञ्चित है एवं निष्कामभाव में यही विराट् के द्वारा यज्ञोपासना बनती हुई परम्परया आत्मा की अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधिका बन जाती है। आगे के गीतावचन इसी 'विश्वोपासना' का समर्थन कर रहे हैं।

निष्कामदृष्टि से बिना किसी फलाकांक्षा के यज्ञ-दान-तपोरूपा यज्ञोपासना। 'न त्याज्यं कार्यमेव तत्' कहते हुए भगवान्‌ने न केवल इसमें अपनी सम्मति ही प्रकट की है अपितु इस प्रथम देवोपासनात्मक यज्ञकर्म्म का आवश्यक भी माना है, जैसाकि- 'सहयज्ञाः" इत्यादि श्लोकभाष्यमें स्पष्ट होने वाला है।

दूसरी देवोपासना आदर्शमूला है। सूर्य-चन्द्रादि प्रकृति के प्राणदेवताओं के सत्य व्याधिकारों को लक्ष्य में रखकर लोकशान्तिमूलक कर्म्म करते रहना ही दूसरी देवोपासना है। प्रथमोपासना गीता की बुद्धि-निष्ठा योगनिष्ठा(कर्म्मनिष्ठा)है दूसरी देवोपासना आधिदैविक अचेतन जीवलक्षणा है। दोनों का निष्कामभाव के सम्बन्ध से तीसरी यज्ञप्रजापत्युपासना में ही अन्तर्भाव है। तीसरी देवोपासना कामनामय यज्ञकर्म्म से समन्विता है। इसका भी आधिदैविक अचेतन जीवलक्षण विश्वात्मक ३३ अहिप देवताओं से ही सम्बन्ध है। गीताने इसी की निन्दा की है। कामना का सम्बन्ध ही इस निन्दा का मूल है। यदि कामना का परित्याग कर दिया जाता है तो यह विराडुपासना भी यज्ञप्रजापत्युपासनारूप में परिणत होती हुई शाश्वत अभ्युदय का (परम्परया) ही कारण बन जाती है।

[मग्रह]–१ त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
तें पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥
–गीता ९।२०।

२–ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
–गीता ९।२१

३–अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
–गीता ९।२४

[विरोध]–१–नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥[1]
–गीता ९।२४

२–यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२)।

३–कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम्[1]।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (२।४३)।

४ भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (२।४४)।

५–यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (२।४६)

६–त्रैगुण्यविषया वेदा * निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ॥ (२।४५)।

४

---

* प्रकरण की मीमांसा करते हुए पाठकों को यह ध्यान में रख ही लेना चाहिए कि, देवोपासना के समाधान में तीन प्रकार बतलाए हैं। तीसरा प्रकार है–आत्मनिष्ठबुद्धि के अनुसार निष्कामभाव से लोक-

प्रवाह में ही प्रवाहित रहना पड़ता है, जैसाकि—'पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !' से स्पष्ट है। और लोक-सिद्धि-चमत्कार—साधना—आरवत्विक-चेतनजीवोपासनात्मिका—चतुर्दशविधा—भूतोपासना का यही विरोपलम्भ है, जिनका एकंकरेण वर्गीकरणात्मक समन्वय भी सम्भव है-उसी गीताशास्त्र के आधार पर।

१६१–अष्टविध-देवयोनिवर्गानुगता लौकिक-उपासना के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का स्पष्टीकरण—

चौदह-प्रकार के भूतसर्गों में ब्रह्म प्रजापति इन्द्र पितर यक्ष गन्धर्व राक्षस पिशाच नामक अष्टविध सत्वविशाल-अपाद्धर्म्मा-(२८-अठाईस) इन्द्रियसमन्वित देवयोनिगण माना गया है। भगवान्ने इन आठों का ही स्वरूपान्तर से संग्रह कर लिया है। ब्रह्म और प्रजापति दोनों का एक ही-'ब्रह्मसर्ग' है। 'इन्द्र' सर्वा देवता के अनुसार इन्द्रवर्ग ही देववर्ग है। पितृवर्ग स्वतन्त्र है ही। यक्ष और राक्षस ये दोनों भी स्वतन्त्र हैं। परकायप्रवेशधर्म्मा गन्धर्व ही-'प्रेत' है। 'पिशाच' ही-'भूतगण' है। इसप्रकार निम्नलिखित-रूपेण आठों की ही उपासना गीता के द्वारा संगृहीत है—

१—ब्रह्म २—प्रजापति	'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' (निष्कैवल्य-सात्त्विका)
३—इन्द्र	"यजन्ते सात्त्विका देवान्' यान्ति देवव्रता देवान् (सत्त्वरजोमया)
४—पितर	पितॄन् यान्ति-पितृव्रता (सत्त्वरजोमया)
५—गन्धर्वा	प्रेतान् (रजस्तमोमया)
६—पिशाचा	'भूतगणांश्चान्ये-भूतानि यान्ति भूतेज्या (तमोमया)
७—यक्षा ८—राक्षसा	'यक्षरक्षांसि-राजसाः (रजस्तमोमया)

———★———

२८९–(१)-शाश्वतिक-चेतनजीवोपासना (अष्टविध-देवसर्गात्मिका) लोकसिद्धिरूपा—

१—सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
२—यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्ष-रक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्, भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
३—अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः काम राग-बलान्विताः ॥
४—कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसम् ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्-विद्धि-आसुरनिश्चयान् ॥
—गीता १७।३ से ६ पर्यन्त
५—यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्याः ॥
—गीता ९।२५।
६—आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥
—गीता ८।१६।

२९०–कामोपभोगपरम-कामकामी-मानववर्ग से अनुप्राणिता चतुर्दशविध-भूतसर्गोत्पन्ना-सिद्धि-चमत्कार-व्यामोहनात्मिका-विश्वोपासना का दुःस्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकरण विभाग । पूर्व के परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'पितर' नामक ..... अन्तिम-प्राणापत्य-पितर' से प्रारम्भ ..... में प्राथमिक-पार्थिव [भूम्योक] ..... पर्यन्त व्याप्त चतुर्दश विध मूलतः ही अभिप्रेत है जैसा कि पूर्व के 'पितर' शब्द-समन्वय-प्रसङ्ग में-'आब्रह्म भुवने जन' के माध्यम से स्पष्ट किया जा चुका है । गीतोक्त—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' । स चतुर्दशविधा यह भूतसृष्टि (आन्तरि, तथा पार्थिवी प्रतिसृष्टि) ही अभिप्रेत है । लोकसिद्धि-अनुग-लौकिक चमत्कार-व्यामोहन-परायण-आर्षपराभक्त-व्यामोहक अतएव सर्वात्मना ..... 'कामकामी' लौकिक-मानव ही इस चतुर्दशविधा भूतोपासना का अनुगामी बना रहता है जिस के व्यक्तित्व-स्वरूप-विनाशक ..... अनुगामी के साथ साथ ऐसे उपासक की ..... संतति ..... जन्म-मृत्यु-

२६४—[४]—आश्वत्थिक-अर्द्धचेतनजीवोपासना-

["अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्" (गीता १० अध्याय)]

२६५-[५]-आश्वत्थिक-अचेतनजीवोपासना [योगरूपा प्रतिमोपासना]

१—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः

—गीता ९।२६।

२—यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोषि, ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

—गीता ९।२७।

३—यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ! ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया 'भूतं' चराचरम् ॥

—गीता १०।३९।

२६६-मर्त्यवाक्शुक्रमय 'विराट्' एवं मर्त्यभूतशुक्रमय 'विश्व' का स्वरूप-संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासनाओं के उच्चावच तारतम्य, और प्रासङ्गिक 'राजर्षय', 'पुण्या', भक्ता' शब्दों का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में कतिपय तथ्यों का स्पष्टीकरण कर इस प्रमाण-प्रकरण को उपरत किया जा रहा है। उक्त प्रकरण पाँच उपास्यों के आधार पर पाँच मार्ग हमारे सामने रखता है यह सर्वथा प्रमाणित कर देता है। इन पाँच वर्गों में से प्रथमवर्ग का राजर्षियों के साथ दूसरे वर्ग का भक्तों के साथ एवं तीसरे वर्ग की बुद्धकर्मात्मिका उपासना का ब्राह्मणवर्ग के साथ सम्बन्ध बतलाया है एवं इसी में ज्ञान-कर्म-निष्ठाओं का समन्वय किया गया है। विराडुपासनात्मक (कर्मफलकर्मोपासनात्मक) चौथे वर्ग को एवं विश्वोपासनात्मक पाँचवें वर्ग को गीता किस नाम से व्यवहृत करती है ? यह प्रश्न अभी शेष रह जाता है। इस प्रश्न का उत्तर है 'पुण्य' शब्द। आरम्भ के तीनों वर्ग पुण्य—पापादि द्वन्द्वों से (निष्कामभाव के कारण) बहिर्भूत हैं। पुण्य-पाप-द्वन्द्व मृत्युभाव है इधर मर्त्यवाक् शुक्रमय विराट् एवं मर्त्यभूतशुक्रमय विश्व दोनों में इन्द्वभाव का समन्वय है। दूसरे शब्दों में—अन्, अमृत् का पाप—पुण्य का सीमाबन्धन नहीं अन्त की दोनों उपासनाओं में सम्भव है और इसी दृष्टि से इन दोनों उपासकों को 'पुण्याः' (पुण्य—संस्कारयुक्त) कहा जा सकता है। पहली पाँचों को [निष्कामबुद्धकर्मात्मक कर्मयोगोपासकों को, एवं निष्काम-ज्ञानकर्मात्मक-ज्ञानयोगोपासकों को] "ब्राह्मणाः" कहा जा सकता है [इनयोगासकों को "भक्ता" कहा जा सकता है एवं अव्ययोपासकों को 'राजर्षयः' कहा जा सकता है।

२६२—[२]—श्वाश्वत्थिक-चेतन-मानवजीवोपासना-प्रणिपात परिप्रश्न-सेवात्मिका—*

(कर्म्मभोगबद्धमानवस्यासमञ्जसस्य-तत्त्वनिष्ठ-श्राचारपरायण-मानवश्रेष्ठ-प्रत्या रमसमर्पणम्)

१—तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
—गीता ४।३४।

२—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्त्तते ॥
—गीता ३।२१।

२६३—[३]—श्वाश्वत्थिक-पशु-पक्षि कृम्यादि-लक्षणाना-चेतन जीवानामुपा-सना-विभूतिरूपा—

१—उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धिमामृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहम् ॥
२—झषाणां मकरश्चास्मि धेनूनामस्मि कामधुक् ।
वैनतेयश्च पक्षिणां सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥
(अश्व , गजः, सिंह, मकरः, गरुडः सर्पः)—
—गीता १ अध्याय

---

*—बुद्धयनुगतः—प्रणिपातधर्म्मः

मनोऽनुगत —परिप्रश्नधर्म्मः (कुतर्कमूलः प्रश्न प्रश्नः, सुतर्कमूलो जिज्ञासात्मकः प्रश्न एव—परिप्रश्नः—श्रुतिभाषायां 'सम्प्रश्नः'

शरीरानुगतः सेवाधर्म्मः

मानवानुगता-उपासना त्रिविधैव । नान्यः पन्था विद्यते ।

अव्ययोपासका—बुद्धियोगिनो युक्ता—योगिनः]——————राजर्षयः

ईश्वरोपासका—भक्तियोगिनो युञ्जानाः—]——————भक्ताः

अक्षरोपासका—ज्ञान-कर्मयोगिनो-आरुरुक्षवः-कर्मिणो ज्ञानिनश्च]—ब्राह्मणाः

विराडुपासका—काम्यकर्मयोगिनः कामपरायणाः }——————पुण्याः

विश्वोपासका—काम्यकर्मोपासकाः—कामोपभोगपरमाः }



२६६–'ज्ञानी', 'जिज्ञासु', 'अर्थार्थी', 'आर्त', मानवों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग के चार प्रसिद्ध विवर्तों का स्वरूप-समन्वय—

गीता ने उपासकवर्ग को आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी ज्ञानी इन चार भागों में विभक्त किया है। प्रसङ्गोपात्त यह भी विचार कर लेना चाहिए कि, उक्त पाँचों वर्गों में किस का किस उपासक श्रेणि में अन्तर्भाव है ?। विचारकक्षा के अन्तिम धरातल पर पहुँचने से यह मान लेना पड़ेगा कि 'ज्ञानी' उपासक बुद्धियोगी (युक्तयोगी किंवा युक्ततमयोगी) होगा। ईश्वरोपासक एवं सत्यप्रजापत्युपासक (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगी कर्मबुद्धियोगी ज्ञानबुद्धियोगी तीनों) जिज्ञासु श्रेणि में माना जायगा। विराडुपासक (भोगैश्वर्य्य की इच्छा से काम्यफल-कर्मों में प्रवृत्त रहने वाला कामुक) अर्थार्थी उपासक माना जायगा। एवं विश्वोपासक को आर्त उपासक कहा जायगा। दुःखी मनुष्य ही भूतप्रेतादि को मनाता फिरता है वही कातरभाव से 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' यह कहता है। वही देवप्रतिमाओं के सम्मुख करुणामयी प्रार्थना किया करता है। चारों में कौन सर्वश्रेष्ठ ? पाठक कह उठेंगे—ज्ञानी बुद्धियोगी युक्तयोगी। इसप्रकार गीतासिद्धान्त अपने आप स्पष्ट होजाता है। देखिए—

१–चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
२–तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
३–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

—गीता ७।१६।१७।१८

२६७–द्वन्द्वातीत उपासना, एवं द्वन्द्वात्मिका उपासना का तारतम्य-प्रदर्शन, तथा तामसी-उपासना के भीषण परिणामों का दिग्दर्शन—

'पुण्याः' ये ही कहलाएँगे जो विराट् एवं विश्व के उपासक होंगे। तथापि यह विवेक तो कर ही लेना पड़ेगा कि आधिकारिक अचेतन जीव (विराट्पुरुष) के सात्त्विक उपासक, आरण्यिक चेतन ब्रह्म-प्रजापति-इन्द्र इन तीन पूज्ययोनियों के सात्त्विक उपासक, महापुरुषस्वरूप आरण्यिक चेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, गौ आदि पवित्र पशुरूप आरण्यिक चेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, अश्वत्थ-तुलसी वटादिरूप आरण्यिक अर्द्धचेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, एवं प्रतिमालक्षण आरण्यिक अचेतन जीवों के सात्त्विक उपासक तो "पुण्य" कहलाएँगे। एवं भूत-प्रेतादि आरण्यिक चेतन जीवों के राजसतामस किंवा तामस उपासक 'पाप' कोटि में माने जाएँगे। कारण इस 'आसुरी-उपासना' से आत्माभ्युदय की सम्भावना भी नहीं है। तामसी उपासना अन्ततोगत्वा आत्मपतन का ही कारण बनती है जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है–

१–मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
२–न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
३ जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

२६८–अव्ययोपासक-ईश्वरोपासक-यज्ञोपासक-विराडुपासक, एवं विश्वोपासक-भेदेन उपासकों के भेदविभागों का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार "यक्ष-राक्षस-गन्धर्व-पिशाच" इन चारों आरण्यिक चेतन-जीवों की उपासना को छोड़कर विश्वोपासना के शेष-वर्गों का उपासक वर्ग ही "पुण्याः" का अधिकारी सिद्ध होता है। तीसरे विराडुपासक की पुण्यता में तो कोई सन्देह ही नहीं है। स्वयं भगवान् ने ही–'तं पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्' कहते हुए इन्हें "पुण्याः" (पुण्यात्मान) माना है। इन्हीं उक्त चारों नाम-व्यवहारों का पाँच वर्गों में अन्तर्भाव करते हुए भगवान् कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः, भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

—गीता ९।३३ ।

का उपास्य देवता बना। यहाँ आशिककर्म से द्वैतभाव का विकास हुआ। 'भाई, ओर ओम्' का पारस्य समझते हुए ही अनन्यता स्थापित हुई। यही भक्तिरूपा उपासना 'वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग' कहलाया गीताने इसे ही 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया। यहाँ आरण्यकभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।

१०४-ब्राह्मणग्रन्थमूला पुराणयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

आगे चलकर पुराणयुग का समन्वय हुआ। इस युगमें अवतारोपासना के साथ साथ निष्काम-यज्ञकर्म्म एवं निष्काम आत्मोपम्यिक आत्मीयकर्म्म, इन तीन मार्गों का विकास हुआ। यज्ञकर्म्म योग-निष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) कहलाई आत्मीयकर्म्म सांख्यनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) कहलाई। लोकरुचि के भेद से ही इन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपा दो-विभिन्न निष्ठाओं का विकास हुआ। यही गीता का संशोधन प्राप्त कर आगे चलकर (क्रमशः) 'धर्म्मबुद्धियोग -ज्ञानबुद्धियोग' इन नामों से व्यवहृत हुई। इस उपासना का उपास्यदेवता माना गया सविकार अमृतवाक्शुक्रमय-यज्ञप्रजापति। एवं वेद का (प्रवृत्ति-निवृत्ति-कर्म्मप्रतिपादक-कर्म्म-ज्ञाननिष्ठा-प्रतिपादक) ब्राह्मणभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।

२०५-तत्त्वदर्शनविज्म्भणामूला-दर्शनयुगानुगता-उपासना का स्वरूप समन्वय—

आगे चलकर दर्शनकाल का आगमन हुआ। समाज दार्शनिक दृष्टि से तत्त्वान्वेषण में प्रवृत्त हुआ। विज्ञानसिद्ध वैदिकतत्त्व विलुप्त होगए, एवं इन का स्थान मतवादमूलक, अतएव कल्पनामूलक दर्शनवाद ने छीन लिया। परिणामतः —पूर्वप्रचलित भक्तिमार्गों का वास्तविक स्वरूप विलुप्त होगया और उसके स्थान तत्त्ववादमूला विराट्-उपासना का आविर्भाव हुआ। विराट् के ज्ञानप्रधान मनःप्रज्ञतत्त्व के आधार पर प्रचलित वेदान्तनिष्ठान कर्म्म किया विराट् के क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भतत्त्व के आधार पर प्रचलित सांख्यनिष्ठा का आविर्भाव हुआ एवं विराट् के अर्थप्रधान वैश्वानरतत्त्व के आधार पर कणाद के द्वारा प्रचलित कर्म्म निष्ठा का आविष्कार हुआ।

२०६ कर्म्मासक्तिमूला दार्शनिक-भक्ति दर्शनभक्तिनिबन्धना लोकनिष्ठाएँ, एवं भगवान् के द्वारा उन का संशोधनात्मक-समन्वय—

दर्शनग्रन्थ ही इस कर्म्मात्मिका भक्ति की मूलप्रतिष्ठा बनीं। महाभारतकाल में तो यह मार्ग पराकाष्ठा पर हीं पहुँच चुका था। वेदयुगारम्भ में भगवत्प्रतिष्ठा बुद्धियोगनिष्ठा विलुप्त होचुकी थी ईश्वरानन्यता-लक्षणा अवतारोपासना भी अस्तप्राय बन चुकी थी यज्ञकर्म्मात्मिका कर्म्मनिष्ठा से एवं आत्मकर्म्मात्मिका सांख्यनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाली लोकेश्वरोपासना के भावितकर्म्ममार्गनें काम-फलासक्ति का आश्रय ग्रहण कर लिया था निवृत्तिकर्म्ममार्ग पर अवैध आत्मक्लेशात्मक कर्म्मत्यागलक्षण सन्यास ने अधिकार स्थापित कर लिया था। इसी भीरुता का दमन करने के लिए महाभारतयुग में उसी प्रथमोपेक्षा को पुनः वासुदेवशरीर से अवतार धारण करना पड़ा। और उन्हें अर्जुन को निमित्त बना कर पुनः विश्वविभाव में परिणत चारों निष्ठाओं का संशोधन कर सर्वोपरि बुद्धियोगनिष्ठा स्थापित की।

अव्ययोपासक——ज्ञानी

ईश्वरोपासक }—जिज्ञासु
जीवेश्वरोपासक }

विराडुपासक]—अर्थार्थी

विश्वोपासक]—आर्तः

—चतुर्विधा भजन्ते माम्— "पृथक्त्वेन"

———*———

२ युगधर्मभेदनिबन्धन-उपासना धर्मों का संस्मरण—

उपास्य तत्त्व के सम्बन्ध में प्राप्त भक्तिप्रकरण के अनुरोध से जो कुछ वक्तव्य था वह परिसमाप्त है। अब इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य शेष रह जाता है कि इन पाँचों उपास्यों की पाँचों उपासनाओं का क्रमशः देवयुग–वेदयुग–पुराणयुग–दर्शनयुग–वर्त्तमानयुग इन युगों के साथ समन्वय कर दिया जाय। और अन्त में प्रकरण के मुख्य विषय 'वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग' का दो शब्दों में उपसंहार कर इस सन्दर्भ को समाप्त किया जाय।

२ १–देवयुगानुगता 'उपासना' अथवा 'भक्ति' का संस्मरण—

अब यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है कि, देवयुगारम्भकाल में ही–भगवान् कृष्ण के द्वारा (मनुष्यशरीर से) विवस्वान के प्रति सर्वप्रथम इस निर्गुण अव्ययमूला राजर्षिविद्यानुगता वैराग्य-बुद्धियोगलक्षणा मनोमयी किंवा ज्ञानमयी (अव्ययज्ञानकर्म्ममयी) 'उपासना' नाम की 'भक्ति' का उपदेश होचुका था। इसीलिए यह भी निर्विवाद है कि, देवयुगानुगता उपासना 'निर्गुणाव्यय-उपासना' ही थी।

२०१–वेदान्तोपनिषन्मूला देवयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

प्रकरण के आरम्भ में इस उपासना के सम्बन्ध में यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की गई थी कि उपासना का उपास्य से सम्बन्ध है सीमित उपास्य से सम्बन्ध है। इधर निर्गुण आत्मा असीम है। फलतः उस की उपासना असम्भव है। कहना न होगा कि उक्त निर्गुण अव्यय-स्वरूप-परिज्ञान के अनन्तर इस विप्रतिपत्ति का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। अव्यय कालातीत भी है निर्गुण भी है परन्तु मायापरिग्रह से युक्त होता हुआ निरवसीमा का भीतर भी है मायासापेक्ष निराकार परात्परब्रह्म अवश्य ही अपरिच्छिन्न बनता हुआ अनुपास्य है। परन्तु मायी अव्यय के सम्बन्ध में समानप्रसवप्रवाहमूला अद्वैतलक्षणा उपासना अवश्य ही बन सकती है और यही उपासना सर्वोत्कृष्ट उपासना है। वेदान्त उपनिषत् भाग ही इसकी प्रतिष्ठा है।

२०२–आरण्यकब्रह्ममूला वेदयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

कुछ समय पीछे ही विश्वयुक्त प्रजापति की उपासना का विकास हुआ। यही उपासना वेदयुग कालीन उपासना कहलाई। अक्षरमूर्त्ति प्राणमय किंवा क्रियामय षोडशीप्रजापति ही इस उपासना

निर्गुण-अव्ययोपासनाकाल है, वेदयुगात्मक सत्ययुग अक्षरमूर्ति अतएव ब्रह्ममूर्ति अतएव सत्यमूर्ति षोडशी-प्रजापत्युपासनाकाल है, पुराणयुगात्मक त्रेतायुग * यज्ञप्रजापत्युपासनाकाल है, दर्शनयुगात्मक द्वापरयुग विराट्प्रजापत्युपासनाकाल है, एवं वर्त्तमानयुगात्मक कलियुग विश्व-प्रजापत्युपासनाकाल है। इसी विज्ञानभित्ति के आधार पर हमनें इस तीसरे प्रधान्त प्रकरण के पाँच अवान्तर प्रकरण मान लिए हैं जिनकी कि मौलिकता सिद्ध करने के लिए 'पञ्चयुगसमुच्चय पञ्चोपास्य-विवर्त' का व्याख्यान करना आवश्यक हुआ।

सनातन धर्मात्— { १-देवयुगः—आदियुगः (दीर्घतोलनिमत्कालः)—निर्गुणाव्ययोपासना-विवर्त्तम्
{ २-सत्ययुगः—वेदयुगः (आगमप्रकाशः)—सगुणप्रजापत्युपासना विवर्त्तम्

भागवतधर्म { ३-त्रेतायुग—पुराणयुग (पुराण-आख्यानकाल)—सविकारयज्ञेश्वरप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्

दर्शन { ४-द्वापरयुगः दर्शनयुग (सूत्रकाल) —ज्ञानविराट्प्रजापत्युपासना विवर्त्तम्

स्मार्त्तधर्म { ५-कलियुग—वर्त्तमानयुग (नवकाल स्मार्त्तकालो वा)—अविकारविश्वप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्

—•—

प्रकारान्तरेण--

देवयुगोपासना—ज्ञानमयी-मनोमयी————"अमृतोपासना"————अमृतम्

सत्ययुगोपासना—क्रियामयी-प्राणमयी-——— ब्रह्मोपासना' ————ब्रह्म

त्रेतायुगोपासना—अर्थमयी-वाङ्मयी शुक्रमयी-'शुक्रोपासना }

द्वापरयुगोपासना-अर्थमयी-मर्त्यभाव 'शुक्रमयी-देवोपासना(शुक्रम्) } शुक्रम्

कलियुगोपासना—अर्थमयी भूतराष्ट्रमयी—"भूतोपासना (शुक्रम्) }

* "त्रेतायां बहुधा सन्ततानि" (शतपथब्राह्मण विज्ञानप्रकाश)।

२०७—कालह्रासानुगता योगविच्युति, एवं व्याख्यागामों के द्वारा योगचतुष्टयी के मौलिक-स्वरूपों का अभिभव—

अवश्य ही कुछ शताब्दियों पर्य्यन्त 'गीता का बुद्धियोग' एवं तदनुमोदित बुद्धियोगात्मक इतर तीनों योग व्यवस्थित ही रहे होंगे। परन्तु कालदोष से आगे जाकर पुनः इन चारों का ही स्वरूप विकृत होगया, और विश्वोपासना में इनका स्थान लीन लिया। यही प्रचलित भक्तिमार्ग कहलाया, व्याख्याताओं के व्याख्यामन्थ ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बने जैसाकि तत्प्रकरण में ही स्पष्ट होने वाला है।

२०८—सर्वयुगानुगता सर्वोपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं भूतोपासनात्मक 'प्रतिमा पूजन' का अनादित्व—

उक्त कथन का यह तात्पर्य्य नहीं है कि पांचों युगों में [प्रत्येक में] केवल तत्तदुपासनाओं का ही प्रचार था। तारतम्य से देवयुग में ही पांचों का विकास होचुका था। और तो और, जिस प्रतिमापूजन को हमने वर्त्तमान युग का भक्तिमार्ग माना है, उसका विकास भी उसी युग में होचुका था जिसे हम देवयुग कहते हैं, एवं जो विज्ञान दृष्टि से 'उपनिषत्' युग भी माना जासकता है। हम देखते हैं कि आज 'प्रतिमापूजन (जो कि उपासनार्थिक * का एक सफलतम मार्ग है) पर अनेक प्रकार के आक्षेप होरहे हैं। जो भारतीय वैदमक्ति की अनन्यता घोषित करते हुए भी अज्ञानवश वेदसिद्धा प्रतिमापोसना पर आक्षेप करते हैं उनसे तो हमारी कोई क्षति नहीं है। कारण वे हमारे बन्धु हैं भ्रान्तिवश उन्होंने यह भूल कर रक्खी है। और हमारा विश्वास है कि, पारस्परिक-समन्वयार्जन से हम किसी भी समय उनकी भ्रान्ति का परिमार्जन कर लगे निश्चयेन कर ही देंगे। परन्तु विज्ञानगर्विष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी इस सम्बन्ध में भ्रान्ति कर रहे हैं। उनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही हमनें विश्वोपासनात्मक प्रचलित भक्तिमार्ग नाम के पांचवें प्रकरण में 'प्रतिमापूजन और उपासना' नाम के वैज्ञानिक प्रकरण का समावेश करना आवश्यक समझा है जैसाकि पाठक तत् प्रकरण में देखेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, सभी युगों में सभी उपासनामार्ग प्रचलित रहे हैं परन्तु तत्तन्मार्गों की प्रधानता से हमनें तत्तद्युगों का तत्तदुपासनाओं से ही युक्त मान लिया है।

२०९—लोक-धर्म्म-वेद-प्रजा-चतुष्टयी के आदिव्यवस्थापक भगवान् भौम-मनुप्रजा के द्वारा चतुर्युगव्यवस्था, एवं तद्युगानुगता उपासनाचतुष्टयी का स्वरूप समन्वय—

एक बात और। देवयुगका भौम प्रजा के द्वारा लोक-धर्म्म-वेद-प्रजा-की व्यवस्था के साथ साथ चतुर्युगों की भी व्यवस्था हुई थी। देवयुग के अव्यवहितोत्तरकाल में ही अपनी स्थिति रखने वाले देवयुग को 'सत्ययुग' माना जासकता है, पुराणयुग को 'त्रेतायुग' कहा जासकता है। दर्शनयुग को "द्वापर" माना जासकता है एवं वर्त्तमान भक्तिमूलक युग को 'कलियुग' कहा जासकता है। देवयुग बुद्धियोगात्मिका

* चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

२१०-परावरब्रह्ममूलक-'उद्गीथोङ्कार' का पावन-संस्मरण—

वेदपुराणानुगता आरण्यकभागमूला उपासना का मूलाधार है—'उद्गीथोङ्कार' जो कि उपनिषदों में 'परावरब्रह्म' नाम से भी प्रसिद्ध है। जिस षोडशी–प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उसे ही 'उद्गीथोङ्कार' भी कहा जासकता है एवं उसी को 'ईश्वर' भी माना जासकता है। फलतः उसी की उपासना 'ईश्वरोपासना' कहला सकती है। इस विषय का मार्मिक छान्दोग्योपनिषत् में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है अतएव अत्र पिष्टपेषण निरर्थक है। उपासना के समन्वय के लिए यहाँ दो शब्दों में तत्संस्मरणमात्र ही कर लिया जाता है।

२११-आत्मप्रजापति की तीन संस्थाविवर्त, तदनुप्राणित विश्व, एवं 'आत्मा', तथा 'विश्व' की समष्टिरूप 'आत्मन्वी' का संस्मरण—

निर्गुण–अव्ययात्मा, सगुण–षोडशी–प्रजापति एवं सविकार–यज्ञप्रजापति इन तीनों आत्मसंस्थाओं को मन–प्राण–वाङ्मयी मानते हुए क्रमशः अव्यय अक्षर क्षर–प्रधान बतलाया गया है। एवं अन्त की साधनविराट्प्रजापति एवं भास्वरविश्वप्रजापति इन दो संस्थाओं का क्रमशः मर्त्यवाक्प्राणमयी तथा भूतवाङ्मयी बतलाते हुए विकारक्षर तथा वैकारिकक्षर-रूप माना गया है। इसी दृष्टि से इन पाँच संस्थाओं की आगे जाकर तीन ही संस्थाएँ शेष रह जाती हैं। क्षर–विकारक्षर–वैकारिकक्षर, तीनों क्षरविवर्त हैं यज्ञप्रजापति विश्व हैं। पाठकों को यह भी स्मरण होगा ही कि इसी आधार पर हमने अव्यय–अक्षर इन दो को तो–'आत्मा' कहा है एवं क्षर–विकार–वैकारिक इन तीनों को 'विश्व' कहा है–[देखिए पृष्ठ सं० १६६]।

२१२-अतीतलक्षण अव्ययात्मा, वर्तमानलक्षण अक्षरात्मा, भविष्यल्लक्षण क्षरात्मा कालातीत परात्पर, एवं चारों की समष्टिरूप- षोडशी–प्रजापति' का संस्मरण—

क्षरप्रधान विश्व क्षणिक बनता हुआ 'नास्तिसार' है। 'अस्ति' शब्द का प्रयोग इस क्षणिक क्षरविश्व के लिए नहीं किया जासकता। यह सदा भविष्यत् की मर्य्यादा से ही आक्रान्त रहता है। अतीत–लक्षण अव्ययात्मा वर्तमानलक्षण अव्यय दोनों से पृथक् भविष्यल्लक्षण क्षर ही विश्व है। अतीत किंवा भूत–मर्य्यादा से आक्रान्त अव्यय वर्तमान मर्य्यादा से आक्रान्त अक्षर एवं भविष्यत्–मर्य्यादा से युक्त क्षर तीनों की समष्टि ही षोडशी-प्रजापति है।

२१३-'प्रणवोङ्कार'–अथवा प्रथमा ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इस षोडशी–प्रजापति का क्षरलक्षण भविष्यत्पर्व ही आगे जाकर यज्ञ विराट्–विश्व–रूप में परिणत होता है। इन तीनों में भी अपेक्षया हम यज्ञ को भूत विराट् को वर्तमान एवं विश्व को भविष्यत् कह सकते हैं। एवं षोडशी को त्रिकालातीत कहा जासकता है। और इसी दृष्टि से केवल भविष्यत्पर्वरूप क्षरप्रजापति भी त्रिकालमर्य्यादा से मुक्त होता हुआ 'ओङ्कार' बन जाता है। यही पहिली 'ओङ्कारसंस्था' है। इसी को हम 'प्रणवोङ्कार' कह सकते हैं। प्रस्ताव को ही स्तुति कहते हैं। उपक्रम ही प्रस्ताव है। मौलिक विश्व ही आत्मा की प्रस्तावभूमि है। अतएव प्रस्तावात्मक इस क्षर ओंङ्कार को अवश्य ही 'प्रणव' कहा जासकता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तो, जिज्ञासु, रर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (गीता ७।१६ १७)।

सर्वसंग्रह —

१–अव्ययः– अव्यय (मन)—अमृतम्—आत्मा (मायमया)—उपास्य—वैराग्यबुद्धियोगात्मिका— 'उपासना" • योगिन (राजर्षि—ज्ञानी

२–अक्षर—शौकरी (प्राण)—ब्रह्म—ईश्वर ([illegible])—उपास्य—ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मिका— 'उपासना • तपस्विन (महत्)
३–आत्मक्षर—ब्रह्म (वाक्) [illegible]—उपेश्वर (सविभार)—उपास्य—धर्म-ज्ञान-बुद्धियोगात्मिके 'उपासने" • धर्मिष्ठो, ज्ञानिनश्च ([illegible]) }—जिज्ञासु

४–विकारक्षर विराट् (वाक्) [illegible]—देवा (प्राजनम्)—उपास्य—भोगैश्वर्यानुगता— 'उपासना"
५–वैभविकक्षर-विश्वम् (वाक्) [illegible]—भूतानि ([illegible])—उपास्य—अमवमयी— 'उपासना" } —अर्थार्थी
पुरुषात्मानः (पुरुषा)
—आर्त।

३१९-सर्वोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

पहिले क्रमप्राप्त निर्गुणाव्ययलक्षण त्रिकालातीत, सर्वकालरूप सर्वोङ्कार को ही लीजिए। परात्पर इस की अर्द्ध मात्रा है, आनन्दभाग अकारमात्रा है, विज्ञानभाग उकार मात्रा है, एवं षोडशी-यज्ञ-विराट् विश्व इन चारों को अपने गर्भ में रखने वाला अव्ययमय मनोभाग मकारमात्र है तथा समष्टि सर्वोङ्कार है।

३२०-उद्गीथोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

दूसरा अक्षरमूर्त्ति सगुण षोडशी-प्रजापति है। त्रिकालातीत सोलहवाँ निर्गुण अव्यय-अर्द्धमात्रा है, पञ्चकल भूतलक्षण अक्षरमूर्त्ति-अव्यय अकार है, पञ्चकल वर्तमानलक्षण अक्षर मूर्त्ति अक्षर उकार है। यज्ञ-विराट्-विश्वगर्भित भविष्यल्लक्षण अक्षरमूर्त्ति क्षर मकार है। एवं समष्टि उद्गीथोङ्कार है।

३२१-प्रणवोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा क्षरमूर्त्ति सविकार यज्ञप्रजापति है। त्रैकालिक षोडशी अर्द्ध मात्रा है, यज्ञेश्वर विष्णु अकार है, विकारमूर्त्ति विराट् उकार है, आवरणमूर्त्ति विश्व मकार है, एवं समष्टि प्रणवोङ्कार है। यह तो हुआ ओङ्कार का स्थूल विस्तार। यदि इस के अवान्तर प्रस्तारों का विचार किया जाता है तो अणु अणु में चतुष्पर्वा ओङ्कार की सत्ता सिद्ध होजाती है, जिसके कि कुछ एक उदाहरण कठविज्ञानभाष्य में स्पष्ट हुए हैं।

३२२-ज्ञानयोगानुगत सर्वोङ्कार भक्तियोगानुगत उद्गीथोङ्कार, तथा कर्म्मयोगानुगत प्रणवोङ्कार का त्रिविध अभेदमूलक समन्वय—

निष्कर्ष यही हुआ कि व्यवहारमात्र के लिए भूतकालिक अर्थात् कालातीत-निर्गुण अव्यय सर्वोङ्कार कहलाया। वर्तमानलक्षण अक्षरमूर्त्ति षोडशी उद्गीथोङ्कार कहलाया एवं भविष्यल्लक्षण क्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति प्रणवोङ्कार कहलाया। सर्वोङ्कार विशेषकोटि में आता हुआ ज्ञानात्मिका बुद्धियोगलक्षणा उपासना का प्रतिष्ठा बना। उद्गीथोङ्कार उपास्यकोटि में आता हुआ क्रियात्मिका भक्तियोगलक्षणा उपासना की मूलप्रतिष्ठा बना। एवं प्रणवोङ्कार व्यवहारकोटि में आता हुआ अर्थात्मिका कर्म्मयोगलक्षणा उपासना का आधार बना।

३२३-ज्ञानात्मिका उपासना भक्त्यात्मिका उपासना एवं कर्म्मात्मिका उपासना भेदभिन्ना उपासनात्रयी का स्वरूप समन्वय—

इस से यह भी सिद्ध होगया कि ज्ञानात्मिका उपासना भक्त्यात्मिका उपासना कर्म्मात्मिका उपासना तीनों का आरम्भ बिन्दु मूल लक्ष्य 'ओङ्कार' ही होना चाहिए। इन तीनों में से गीता ने न ओङ्कारों का ही प्रधानरूप से निरूपण करना आवश्यक समझा है। कारण स्पष्ट है। अव्ययाम्नलक्षण सर्वो-

३१४–'उद्‌गीथोङ्कार' लक्षणा द्वितीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

भविष्यत्पर्व के अनन्तर वर्त्तमानलक्षण प्राणमय अक्षर आता है। निष्कल अव्यय–गर्भित पञ्चकल अव्ययमूर्ति अक्षर ही भूत है पञ्चकल अक्षरमूर्ति क्षर ही वर्त्तमान है एवं क्षर–विराट्‌ विश्वगर्भित पञ्चकल आत्मक्षरमूर्ति क्षर ही भविष्यत्‌ है। इस दृष्टि से वर्त्तमानलक्षण षोडशी प्रजापति भी त्रिकालमर्य्यादा से युक्त होता हुआ 'ओङ्कार' बन जाता है। यही दूसरी ओङ्कार संस्था है। इसी को 'उद्‌गीथोङ्कार' कहा जाता है।

३१५–'उद्‌गीथोङ्कारा' नुगत– उद्‌–गी–थम्‌' पर्वों का आत्मनिबन्धन स्वरूप–समन्वय—

'उद्‌–गी–थम्‌' की समष्टि ही 'उद्‌गीथम्‌' है। 'उत्‌' 'अमृतभाव' का सूचक है 'थम्‌' 'मृत्युभाव' का सूचक है 'गी' दोनों का संचालक है। निर्गुण अव्यय अमृतप्रधान बनता हुआ 'उत्‌' है, क्षर–विराट्‌–विश्वरूप क्षर–मृत्युप्रधान बनता हुआ 'थम्‌' है। मध्यस्थ षोडशी दोनों से युक्त होकर षोडशी बनता हुआ 'गी' बन कर उद्‌गीथम्‌ है। षोडशी अव्ययरूपेण 'उत्‌' बना हुआ है अक्षर–रूपेण 'गी' बना हुआ है एवं क्षर की दृष्टि से 'थम्‌' बना हुआ है। अतएव इसे अवश्य ही 'उद्‌गीथ' कहा जासकता है।

३१६–छान्दोग्य–सम्मत 'उद्‌गीथोङ्कार', एवं तदनुप्राणित परावरब्रह्म' का संस्मरण—

छान्दोग्यने अक्षर को ही प्रधानरूप से उद्‌गीथ माना है। और ऐसा मानना विज्ञानसिद्ध भी है। कारण मध्यस्थ अक्षर ही उस ओर के उत्‌–लक्षण अव्यय से एवं इस ओर के 'थम्‌' लक्षण क्षर से युक्त होता हुआ 'उद्‌गीथम्‌' बन जाता है। 'उत्‌' लक्षण अव्यय 'पर' है। 'थम्‌' लक्षण क्षर 'अवर' है। एवं दोनों से युक्त 'गी' लक्षण मध्यस्थ बनता हुआ अक्षर 'परावर' है। यही 'परावरोङ्कार' त्रैकालिक उद्‌गीथ अक्षर है।

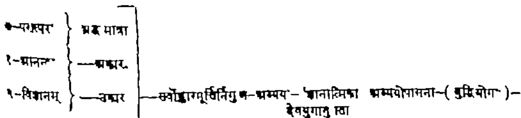
३१७–'सर्वोङ्कार' लक्षणा तृतीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

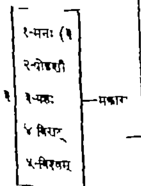
अब वह तीसरी निर्गुण–अव्यय–संस्था बच रहती है जोकि त्रिकालातीता है। एवं जिस के इसने आनन्द–विज्ञान–मन ये विवर्त्त भाव कहलाए हैं। यही 'तत्‌' 'सर्व' बना हुआ है। इस के आनन्दभाग को 'अकार' माना जासकता है विज्ञानभाग को 'उकार' कहा जासकता है 'सर्वगर्भित' मनोभाग को 'मकार' कहा जासकता है एवं व्यापक परात्पर को 'अर्द्ध मात्रा' माना जासकता है। यही तीसरी 'ओङ्कारसंस्था' है। इसे ही 'सर्वोङ्कार' भी कहा जासकता है। यही मूलोङ्कार सर्वरूप में परिणत हुआ है—'तदु सर्वमिति' विज्ञान।

३१८–ओङ्कारानुगता अर्द्ध मात्रा एवं तत्र प्रतिष्ठित अकार उकार, मकार–त्रयी—

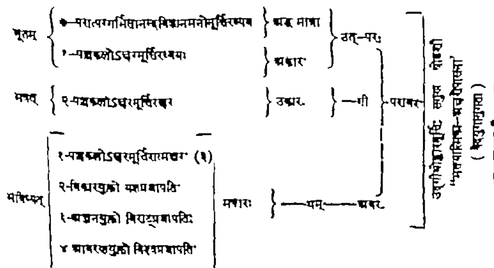
ओङ्कार में 'अर्द्धमात्रा, अकार, उकार, मकार' ये चार मात्राएँ होती हैं। इन मात्राओं के साथ रूप से ही उक्त तीनों आत्मसंस्थाओं को क्रमशः सर्वोङ्कार उद्‌गीथोङ्कार प्रणवोङ्कार अभिधाओं से समन्वित मान लिया गया है। अब देखना यही है कि इन तीनों संस्थाओं में किस क्रम से चारों पर्वों का भोग हो रहा है!।

१–सर्वोङ्कार –(परब्रह्मोपासना–परोऽव्यय)(भूत–कालातीतम्)





२–उद्गीथोङ्कारः–(परावरब्रह्मोपासना–परावरोऽक्षरः)(भवत्)



ङ्कार तो गीता का प्रतिपाद्य विषय ही है। इस के लिए ही भगवानने पद पद पर "माम्" "मम" "अहम्"- 'मत्' यही कहना पर्याप्त समझा है। शेष षोडशी प्रजापति-लक्षण अक्षरमूर्त्ति उद्गीथ को भक्तिरूप उपासना का एवं यज्ञप्रजापति-लक्षण क्षरमूर्त्ति प्रणव को कर्म्मरूप उपासना का स्व शब्दों में उपक्रम माना है जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

उद्गीथोङ्कार —१-ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ } —षोडशी

—गीता ८।१३

प्रणवोङ्कार —२-तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ-दान तपः- क्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ } —यज्ञः

—गीता १७।२४

३२४-विज्ञेय अव्ययात्मा, उपास्य अक्षरात्मा, एवं व्यवहार्य्य क्षरात्मा-निबन्धना मार्गत्रयी का स्वरूप समन्वय, तथा तात्त्विक-भाष्यमेन तत्स्पष्टीकरण-प्रयास—

अब यह स्पष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं रह गई है कि, अव्ययोपासना वास्तव में उपासना नहीं है अपितु अव्ययाक्षर का ज्ञानयोग ही है। क्षरोपासना भी उपासना न होकर क्षराक्षर का कर्म्मयोग ही है। 'उपासना' जिसे कि हम "भक्ति" कह सकते हैं वह तो अक्षरोपासना ही है। यही कारण है कि, उपासनाप्रकरण के सम्बन्ध में सर्वत्र श्रुतियों में 'अक्षर' को ही मूल तत्त्व मा । गया है। अव्यय को 'विज्ञेय' * माना है क्षर को 'व्यवहार्य्य' माना है। इसप्रकार भक्तिमर्य्यादा की दृष्टि से आरम्भ-कमला यथायुगानुगता अक्षरोपासना ही प्रधान बनी रह जाती है।

---

*-"स आत्मा-अव्ययः-विज्ञेयः" (माण्डूक्योपनिषत् ८)।

नात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद, नान्तरम् । तद्वा अस्यैतत्-अतिच्छन्दः (अतीमम्), अपहतपाप्मा (परिग्रहशून्यम), अभयं (परात्परमयम्) रूपमशोकान्तरम् । अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता लोका अलोका , देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः यज्ञा अयज्ञा । अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, पौल्कसोऽपौल्कस, चाण्डालोऽचाण्डाल , श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसो,ऽनन्वागत पुण्येन, अनन्वागतः पापेन तीर्णो भवति, हि तदा सर्वाल्लोकान् हृदयस्य भवति ।

यद्वैतन्न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयति, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति न विजानाति पश्यन्-जिघ्रन्-विजानन्-वदन् शृण्वन्-मन्वानो-विजानन्-द्रष्टव्य-घ्रातव्य-रस-वक्तव्य-श्रोतव्य-मन्तव्य-स्प्रष्टव्य-विज्ञेयं न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयति० । न हि द्रष्टु , घ्रातुस्य० विपरिलोप । न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्, यज्जिघ्रेत्० । सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोक सम्राट् ! इति हैनं (विदेहजनक) उवाच (याज्ञवल्क्यः) । एषास्य परमा सम्पत् । एषोऽस्य परमो लोकः । एषोऽस्य परम आनन्द । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" × × × × × । अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दा , स एको ब्रह्मलोक आनन्दः । यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत, एष ब्रह्मलोकः सम्राट् । इति हैनमनुशशास । एतदमृतम्" । ... ।

२९६-श्रोत्रिय, अवृजिन, एवं अकाम पुरुषानुबन्धिनी उपासना का स्वरूप-समन्वय—

निर्गुण उपासना का क्या स्वरूप है ? उपास्य कौन है ? इसका अधिकारी कौन है ? एवं इसका परिणाम क्या है ? उक्त श्रुति से इन सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है । अमृतलक्षण अव्ययब्रह्म ही यहाँ उपास्य है । सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए द्वैतभावना का सर्वथा परित्याग करते हुए कर्तव्य कर्मों में अनन्यभाव से प्रवृत्त रहना ही उपासना का प्रकार है । श्रोत्रिय अवृजिन एवं अकाम व्यक्ति ही इस उपासना का अधिकारी है ।

२९७ कर्मसंन्यासानुगामी व्याख्याताओं की भ्रान्ति का निराकरण—

यह बड़े ही खेद का विषय है कि व्याख्याताओं ने इस उपासना को कर्म त्याग-लक्षणा मानते हुए वस्तुतत्त्व का सर्वनाश ही कर डाला है । कहना न होगा कि ऐसे व्याख्याता एवं उनके ऐसे व्याख्यान सर्वथा कल्पित अतएव दूर से ही प्रणम्य हैं । श्रुति ने-"अवृजिनः" कहा है । प्रकृत्या का नाम कर्म-सन्यास माना गया है । श्रुति कहती है—जो कर्मसंन्यास न कर कर्म में अनासक्तभाव से प्रवृत्त

३–प्राणवोङ्कार –(अव्यक्तोपासना अक्षर घर) (भविष्यत्)

मूलम् { ●—पारावरीणप्रजापति } अर्द्ध मात्रा

भवत् { १—स्वयम्भू ... ; २—विराट्प्रजापति } अकारः ; उकारः

भविष्यत् { १—विश्वप्रजापति } मकारः

—प्राणवाङ्मयमूर्तिः भविष्यत् प्रजापति ... उपासना (...)—...

—●—

३२८–ओङ्कारस्वरूप-विश्लेषक-श्रुतिसन्दर्भ—

इसी ओङ्कार-मन्त्र का रहस्य बतलाती श्रुति कहती है—

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्याख्यानं–भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्व-मोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्" (माण्डूक्योपनिषत् २)।

१— बुद्धियोगात्मिका उपासना का तात्पर्य है–अपने आत्मा को ब्रह्मस्वरूप मानते हुए आत्म-समभाव से शास्त्रीय ज्ञान–कर्म–भक्ति–मार्गों में अनासक्तिपूर्वक प्रवृत्त रहना। यहाँ न ईश्वर का स्मरण है×, न भजन है, न पूजन है, न आस्तिक्य है न नास्तिक्य है, न अहिंसा है, न हिंसा है, न पाप है, न पुण्य है, न सत् है, न असत् है। कुछ नहीं है सब कुछ है। इस्लामिया यही उपासना भगवान्-सम्मता है। यही 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' वाली निर्गुणोपासना है, इसी सर्वोच्च उपासना का रहस्य बतलाती हुई उपनिषत् श्रुति कहती है—

"तद्वा अस्यैतद्-आप्तकाम आत्मकाम अकाम रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं एवमेवायं शारीर आत्मा (भूतात्मा) प्राज्ञे-

———

×[१] सो जान जेहि देहि जनाई।
जानत तुम्हें तुम्हहि होइ जाई (तुलसी)॥

[२] जब मैं था–तब हरि नहीं, अब हरि–मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी तामें दो न समाहिं॥

[३] जब अपर गैर कोई हो तो तुझको याद रहे।
मैं अपर गैर कोई हूँ तो मा तुझको भूले॥

३३१–'संज्ञान' के प्रतिमूर्ति अद्वैतानन्दनिष्ठ महामानव, एवं 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' का समन्वय—

'न बाहिर का ज्ञान रहता न भीतर का ज्ञान रहता' इसका तात्पर्य है–'बाहिर-भीतर का भेद हट जाता है' भेद ज्ञान एवं तन्मूलक भेदानन्द (समृद्धानन्द–विषयानन्द) नहीं रहता। सर्वत्र आत्मज्ञान का प्रसार होजाता है। हृदयस्थ आत्मा एवं बाह्य स्थित विश्व दोनों आत्मरूपेण बन जाते हैं। इस आत्मसम्पत् के अनुगामी बुद्धियोगी ही तो "ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन" कहलाते हैं। सच पूछा जाय तो ये ही बाहिर-भीतर के मौलिक रहस्य को समझते भी हैं। हम सामान्य मनुष्य क्या जाने कि बाहिर क्या है ?, और भीतर क्या है ?। उनमें संज्ञामेद नहीं है अपितु वे तो संज्ञा की प्रतिमूर्ति हैं।

३३२ विषयलोलुपों के विषयसुख का अनुभवक्षेत्र एवं स्वानुभवैकगम्य अद्वैतात्मानन्द—

यह ठीक है कि प्रमादादि विषयलोलुपों की भाँति उन्हें 'आनन्द' का अनुभव नहीं होता। और होना भी नहीं चाहिए। अनुभव का तो आगन्तुक आनन्द से ही सम्बन्ध है। हमें आनन्द का अनुभव होता है' इसका सीधा सा अर्थ है– अभी हम दुःखी हैं। दुःखी को ही तो सुख का अनुभव होता है। भूखे मनुष्य को ही भोजन से तृप्ति का अनुभव होता है। जिन्ने बुद्धियोग के द्वारा सात्त्विक ज्ञान प्राप्त करते हुए, बाहिर भीतर का भेद समझते हुए, भेदवाद का परित्याग कर शाश्वत आनन्द प्राप्त कर लिया है दूसरे शब्दों में जो स्वयं आनन्दमूर्ति बन गया है उसे अनुभव क्यों होने लगा ?। क्यों उसकी शान्तवृत्ति उच्चलित होने लगी ?। और क्यों नास्तिक लोग उसकी इस परमा स्थिति का रहस्य समझने लगे ?। इति सर्वमेव समञ्जसम्।

३३३–अद्वैतानन्दप्रवर्त्तिका 'सर्वोङ्कारोपासना' का संस्मरण—

तात्पर्य यही हुआ कि, आत्मकामसमूलक किंवा अकामसमूलक अद्वैतदर्शनानुगत द्वैतपक्षानानुगत अधिकारसिद्ध कर्त्तव्यकर्मानुष्ठानलक्षण बुद्धियोगात्मक मार्ग ही निर्गुण–अव्ययोपासना कहलाती है। एवं इसे ही हमने 'सर्वोङ्कारोपासना' कहा है।

३३४–'समदर्शिन', और–'विषमदर्शिन' का स्वरूप-समन्वय—

उस स्थिति पर पहुँचने के अनन्तर ब्राह्मण अब्राह्मण होजाता है इसका तात्पर्य यही है कि —ब्राह्मणत्व का अभिमान नहीं रहता। आत्मदृष्ट्या सब एक धरातल पर आजाते हैं। यही कारण है कि, जहाँ जहाँ भगवान् ने द्वन्द्वातीत इस योग का उपदेश दिया है वहाँ वहाँ—"पण्डिता: समदर्शिन" (न तु समवर्त्तिन') — 'समं पश्यन् हि सर्वत्र' (न तु वर्त्तमान)–'समदर्शिनः' इत्यादि रूप से समदर्शनभाव के अभेद का ही स्पष्टीकरण किया है।

३३५–व्यावहारिक, प्रकृतिसिद्ध भेदवाद का स्वरूप-समन्वय—

परमार्थकोटि को जाने दीजिए। व्यवहार में भी अद्वैत एक आत्मा का समभाव हुए भी हमें पिता-पुत्र भ्राता-स्त्री-कन्या-माता-सेवक-आदि का भेद मानना ही पड़ता है। एवं सब के साथ भिन्न भिन्न ही व्यवहार

रहता है, वही इसका अधिकारी है। इससे अधिक कर्म का समर्थन और क्या होसकता है ! । "सर्व-कर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय" का भी यही रहस्य है।

१२८-समदर्शनानुगत विषमवर्त्तन का मौलिक रहस्य, एवं भेदसहिष्णु-अभेदमूलक सात्विक अद्वैत-सिद्धान्त का स्वरूप-समन्वय—

कुछ एक महानुभाव यह भी अनुमान करते होंगे कि, "श्रुति ने जिस अद्वैतमार्ग का उपदेश दिया है उस मार्ग का अनुगामी आत्मोपासक संसार के उपयोग की वस्तु नहीं रहती। कुछ एक अस्मान्-पंथिक यह भी कल्पना करते होंगे कि इस योग के अनुयायी के लिए वर्णाश्रमधर्म का कर्मूलक शास्त्रनिर्दिष्ट मर्यादा का कोई महत्व नहीं है। परन्तु भ सिद्धान्त को देखते हुए य सभी अनुमान भ्रान्तिमूलक ही कहता है। श्रुति अद्वैतभावना का उपदेश देते हुए साथ साथ ही व्यवहारभेद की रक्षा भी सर्वात्मना ही की है। इसीलिए इस अधिकारी को आत्मिय कहा है। श्रुति से 'शास्त्र' अभिप्रेत है। शास्त्रीय-मर्यादा का पूर्णरूप से पालन करता हुआ यथाधिकारसिद्ध कर्म करता हुआ उपासक ही इस मार्ग का अधिकारी है चाहे वह किसी वर्ण का हो। सर्वत्र समदर्शन करते हुए, अपने अधिकारसिद्ध यज्ञादि, युद्धादि वाणिज्यादि सेवादि वृत्तियों में प्रवृत्त रहते वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र सभी इस मार्ग से अभ्युदय-निःश्रेयसभाक् बन सकते हैं।

१२९-आत्मपुरुषानुबन्धी-समदर्शन तथा विश्वप्रकृत्यनुबन्धी 'विषमवर्त्तन' का लोकानुगत स्वरूप-समन्वय, एवं तत्प्रतिष्ठापना अद्वैतमूला-निर्गुणोपासना का संस्मरण—

'समदर्शन को 'समवर्त्तन' का स्थान देते हुए इसी को 'बुद्धियोग' मान लेना तो किसी भी दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं बन सकता। समवर्त्तन जहाँ मर्यादाभिन्न [प्रकृतिभिन्न] है, वहाँ समदर्शन प्रयास साध्य है। शूद्र-ब्राह्मण क्षत्रिय सबका वर्त्तन [व्यवहार-कर्म-आचरण] समान होजाय और इसी का नाम तात्त्विक ज्ञान हो, तो समवर्त्तन के अनुगामी पशुओं को भी तत्त्वज्ञानी ही मान लेना चाहिए। मर्यादारहित आचरण ही तो पशुओं का स्वाभाविक धर्म है। उन्हीं जीवन्मुक्ति तो बिना प्रयास के ही प्राप्त है, प्राप्त होसकती है। मानना पड़ेगा कि गीता का बुद्धियोगात्मक ज्ञान किंवा उक्त श्रुति का अभेदज्ञान दृष्टिमूलक ही है, व्यवहारमूलक नहीं। समझो अभेद, वर्त्तो अभेद किन्तु व्यवहार में भेदमर्यादा का अनुगमन करो यही वास्तविक अद्वैतमार्ग है। भेदसहिष्णु अभेद ही सच्चा अद्वैतमार्ग है, और यही सच्ची बुद्धियोग-निष्ठा, किंवा निर्गुण-उपासना है।

१३०-आत्मानन्द पर नास्तिकों का आक्षेप एवं तन्निराकरण—

'न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरं वेद' का तात्पर्य भी यह नहीं है कि, जैसा नास्तिक लोग कहा करते हैं। शास्त्रोक्त अद्वैतानन्द का स्व-विरोधमात्र का परिहास करते हुए नास्तिक कहा करते हैं कि, 'उस आत्मानन्द को लेकर हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होसकता है, जिसमें न भीतर का कुछ बोध है, न बाहिर का। संज्ञाशून्य अवस्था बन जाना कौनसा पुरुषार्थ है'। कहना न होगा कि, वे मन्दबुद्धि भी श्रुति के वास्तविक तात्पर्य से वञ्चित ही रह गए हैं।

प्रक्रिया के द्वारा कायशुद्धि-पूर्वक धारणा-ध्यान समाधि तीनों का एकत्र संयम करते हुए अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वर में लीन कर देना एक प्रकार की योगात्मिका भक्ति है। मन्त्र-हठ-लय योग के ये तीन अङ्ग इसी भक्ति में अन्तर्भूत हैं।

३४१—'राजयोगात्मिका' भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

दूसरा मार्ग है-'अप्रयत्नक्लेशात्मक' किसी योगमार्ग का अनुगमन न करते हुए अपनी बुद्धि मन इन्द्रियवर्ग सबको अपने जीवात्मा की कामना से पृथक् समझते हुए ईश्वरकामना से इनका सञ्चालन मानते हुए कर्तव्यकर्मों में प्रवृत्त रहना। यही राजयोगात्मक राजपथ (सरलमार्ग) है। यहाँ का ईश्वर उद्गीथोद्गारानुभूति-लक्षण है। निम्न लिखित गीतावचनों से दोनों मार्गों का समन्वय गतार्थ बन जाता है—

३४२—(१)—मन्त्र-हठ-लय योगात्मक भक्तिमार्ग (योगमार्ग)—

१-योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥
—गीता ६।१०।

२-तत्रैकाग्रं मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
—गीता ६।११।

३—समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

४—प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित ।
मन संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर ॥

५—युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानस ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
—गीता ६।१३ १४ १५।

१

किए जाते हैं। प्रकृति के सम्पूर्ण सिद्धान्तों में सर्वथैव पराङ्मुख अतएव कर्मभेदमूलक वर्तनभेद के अन्यतम शत्रुओं से हम पूछते हैं कि क्या आप इस भेदव्यवहार को हटा सकेंगे?। यदि हाँ तो कोई नेता, कोई सामान्य मनुष्य यह भेद क्यों?। कीजिए न सबको समान प्रयत्न?।

३३६-ऐन्द्रियक-व्यापार भेदनिबन्धन व्यावहारिक-भेद का समन्वय—

हम देखते हैं कि आँख-कान-नाक-मुख सब में वह एक ही आत्मप्रत्यय काम कर रहा है। परन्तु क्या आँख का काम कान से, कान का नाक से, नाक का मुख से लिया जा सकता है?। आपको मानना पड़ेगा कि समदर्शनमूलक भेदवर्तन ही प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। और यही शास्त्रसिद्ध बुद्धियोग-निष्ठा है।

३३७-अद्वैतनिष्ठ भगवान् वासुदेव कृष्ण के द्वारा प्रकृतिभेदनिबन्धन भेदव्यवहारों का अनुगमन—

यही बात उन अद्वैतवादियों की, जो इस मार्ग को कर्मत्यागपरक मानने का दुराग्रह करते हैं उनके समाधान के लिए 'कृष्णदर्शन' ही पर्याप्त है। भगवान् कृष्ण अद्वैततत्त्व के अन्यतम उपासक थे। साक्षात् अद्वैत की प्रतिमा थे। आप्तकाम थे, आत्मकाम थे। परन्तु- 'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि' यही उनका लक्ष्य था। अद्वैत के इस महान् शिक्षकने किसप्रकार अधिकारसिद्ध कर्म का स्वयं भी पालन किया एवं दूसरों को भी उस ओर प्रेरित किया, इस सम्बन्ध में कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं है।

३३८ क्रियायोगात्मिका भक्ति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

"क्रियायोगात्मिका भक्ति' का तात्पर्य है-अपने आप को अक्षरमूर्ति षोडशी ईश्वर का अंश मानते हुए, दोनों का अभेद समझते हुए, 'योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' यह भावना रखते हुए अपनी (अंशरूप जीवात्मा की शारीरक-आत्मा की) कामना को ईश्वरकामना के साथ समन्वित करते हुए निष्कामभाव से अधिकारसिद्ध कर्म में प्रवृत्त रहना'।

३३६-कर्मव्यनिष्ठात्मिका वास्तविक-भक्ति, एवं नामसंस्मरणपथ की आपातरमणीयता—

इस भक्तिरूपा सगुणोपासना में अक्षरमूर्ति ईश्वर का अक्षरविध नित्य स्मरण (निरन्तर) अपेक्षित है। भक्त का यह कर्तव्य होगा कि अपने प्रत्येक कर्म के उपक्रम में वह उस ईश्वर का, ईश्वरकामना का, ईशामेरणा का ही अनुभव करे। यहाँ स्मरण से 'हरे राम हरे कृष्ण' यह नाम स्मरण अपेक्षित नहीं है। कर्तव्यनिष्ठ के लिए तो कर्म ही साक्षात् ईश्वर है। वह ईश्वरानुभूति के द्वारा ईश्वर को लक्ष्य बनाता हुआ सदा अपनी कर्तव्यनिष्ठा पर ही आस्था-श्रद्धा-पूर्वक प्रतिष्ठित रहेगा।

३४ - योगात्मिका' भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

उक्त 'ईश्वरानुभूति' के दो मार्ग हैं। एक मार्ग लोकसंग्रह का विरोधी है, एवं दूसरा मार्ग लोकसंग्रह का अनुगामी है। अधिकारीभेद से भगवान् ने दोनों का ही समर्थन किया है। योग-

३—स वा अयमात्मा ब्रह्म * । विज्ञानमयो मनोमयो वाङ्मय–प्राणमयश्चक्षु–र्मय श्रोत्रमय आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमय क्रोधमयोऽक्रोधमयो हर्षमयोऽहर्षमयो धर्म्ममयोऽधर्म्ममयः सर्वमयः । तद्यदेदमयोऽदोमय इति यथाकारी, यथाचारी तथा भवति । साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो–भवति । पुण्य पुण्येन कर्म्मणा भवति, पाप पापेन । अथो खल्वाहुः–काममय एवाय पुरुष इति तदेष श्लोको भवति –

४—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
यदैतदनु पश्यति आत्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं'' भूतभव्यस्य न तदा विचिकित्सति ॥
यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित ।
तमेव मन्यऽआत्मान विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥
विरज पर आकाशादज आत्मा महा ध्रुवः ।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण ॥

५—तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु श्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत् । सर्वमेनं पश्यति । सर्वोऽस्यात्मा भवति, सर्वस्यात्मा भवति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति सर्व पाप्मान तपति, नैन पाप्मा तपति । विपापो विजरो विजिघत्सोऽपिपासो ब्राह्मणो भवति य एवं वेद'' । —

इति ''युगधर्म्मानुगता–विविधोपासना ' नामकं चतुर्थप्रकरणं

“वेदयुगानुगता–सगुणोपासना”
नामक
द्वितीय-अवान्तर-प्रकरण उपरत

?

---

* अभ्यक्तु– 'पतदमृतम् (बृ आ उप) अनया भूत्या अमृतम् । षोडशीपुरुषस्तु 'ब्रह्म' ।
+ प्रस्तुत–प्रकरण में प्रतिपादित उपासनाओं का प्रतिकपविधा से भी सम्बन्ध माना जासकता है जिस प्रतिकविधा का भक्तियोगपरीक्षा–उपास्यपद्धत्यन्तर्गत 'उपासनाभेदनिरूपणम' नामक प्रकरण के 'प्रतिकविधा' नामक परिच्छेद में प्रतिपादन हुआ है ।

३४३—(२)—राजयोगात्मक भक्तिमार्ग (भक्तिमार्ग)—

१—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्-परायणः ॥
—गीता १८।६५।

२—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
—गीता १०।८

३—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गीता १०।१०।

४—संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पित-मनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
—गीता १२।१४।

५—य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥
—गीता १३।२३।

२

—✦—

३४४—बृहदारण्यकोपनिषन्मूला उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

१—'स वा अयमात्मा (षोडशी) सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानां राजा । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिताः, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि, सर्वेऽएतऽआत्मानः समर्पिताः" ।

२—"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ऽपुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्-इति । स वाऽअयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः । नैनेन किं चनानावृतम्, न नेन किं चनासंवृतम्" ।

(३)-पुराणयुगानुगता-सविकारोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक परिलेख—

"विकारक्षरोपासना"-(यज्ञप्रजापति --उपेश्वर)

कर्म्मानुगत-कर्म्म-एव-उपासना-क्रियात्मिका (शुक्रम्)

सविकारोपासना-उपेश्वरोपासना-अर्थात्मिका

वाङ्मयी-उपासना अर्थात्मिका

सोऽयं विकार—क्षर { १-वाक्—सत्यः; २-आपः— } यज्ञ; ३-अग्नि } यज्ञः } 'आत्मक्षरः'-तदिदं-क्षरविवर्त्तम्-वाग्विवर्त्तमत्र

स एव अर्थात्मकेन-कर्म्मणा अन्वेष्टव्य

अन्वेषणं'-नाम-शुक्रस्वरूपमीमांसनम्

तस्यपर्य्यालोचनं वा

सैषा अर्थात्मिका-उपासना-कर्म्मैव

तृतीया

३

★

(सोऽय--पुराणयुग --तृतीय --त्रेतायुगात्मक)

१-शुक्रम्

२-आत्मक्षर

३-अर्थ

४-वाक् (अमृतशुक्रमयी

}—तदेतत्सर्वं-वागेव, आत्मक्षर-एव सविकार "विकारांश्च विद्धि प्रकृतिसम्भवान्" (विकृतिर्हि आत्मक्षर)

श्री

(३)-पुराणयुगानुगता-सविकारोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक परिलेख—

"विकारक्षरोपासना"-(यज्ञप्रजापति --उपेश्वर)

कर्म्मानुगत-कर्म्म-एव-उपासना-क्रियात्मिका (शुक्रम्)

सविकारोपासना-उपेश्वरोपासना-अर्थात्मिका

वाङ्मयी-उपासना अर्थात्मिका

—•—

सोऽयं विकार-क्षर { १-वाक्-सत्यः; २-आपः- } यज्ञ; ३-अग्नि } 'आत्मक्षर'-तदिदं-क्षरविवर्त्तम्-वाग्विवर्त्तमव

स एव अर्थात्मकेन-कर्म्मणा अन्वेष्टव्य

—•—

अन्वेषणं'-नाम-शुक्रस्वरूपमीमांसनम्

सत्यस्यालोचनं वा

सैषा अर्थात्मिका-उपासना-कर्म्मैव

तृतीया

३

—★—

(सोऽयं--पुराणयुग --तृतीय --त्रेतायुगात्मक)

१-शुक्रम्
२-आत्मक्षर
३-अर्थ
४-वाक्(अमृतशुक्रमयी

} -तदेतत्सर्वं-वागेव, आत्मक्षर-एव सविकार
"विकारांश्च विद्धि प्रकृतिसम्भवान्"
(विकृतिर्हि आत्मक्षर)

—•—

श्री

पुराणयुगानुगत–सविकारोपासनामार्ग

चतुर्थ–प्रकरणान्तर्गत–तृतीय–अवान्तर–प्रकरण

३

२४५–'नर्म्मदाकङ्कूरात्मक–शङ्कर'–न्यायानुबन्धी भक्तिपथ की सर्वव्यापकता एवं उपासनात्मिका भक्ति के चार–विवर्तों का संस्मरण—

'नर्म्मदा के सभी कङ्कर शङ्कर' इस लोकोक्ति के अनुसार षोडशी–प्रजापति के सभी पर्व तद्रूप अतएव उपास्य इस सिद्धान्त में कोई विप्रतिपत्ति नहीं की जासकती। पूर्वप्रकरण में पुराणयुगानुगता उपासना के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, आत्मश्वर से सम्बन्ध रखने वाली यह उपासना कर्म्म–रूपा क्रिया कर्म्मयोगात्मिका ही है। एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि इस उपासनाकाण्ड के निष्काम्यकर्म्मोपासना नैष्कर्म्यकर्म्मोपासना आधिकारिक–चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) आधिकारिक–अचेतनजडोपासना (सूर्य्य–चन्द्रादि–प्रकृतिपर्वोपासना) ये चार विवर्त्त हैं। दूसरे शब्दों में–कर्म्मप्रधान आत्मश्वरमूर्त्ति विकार–परिग्रह–युक्त अव्ययप्रजापति की उपासना चार प्रकार से होसकती है।

२४६–परमप्रजापत्युपासनात्मिका प्रणवोङ्कारमूला उपासना एवं प्रजापति के षोडशात्मक स्वरूप का संस्मरण—

इस उपासना का मूल धरातल 'प्रणवोङ्कार' है जैसाकि पूर्वप्रकरण के उपसंहार में स्पष्ट किया जाचुका है। विज्ञानदृष्टि के अनुसार इस उपासना को 'परमप्रजापत्युपासना' भी कहा जासकता है। षोडशीपुरुष की हमनें चर्चा की है। इस परम यपुरुष का ही 'मायी ईश्वर' कहा जाता है। इस की एकमहस्र संस्था मानी गई है। यही प्राजापत्यसंस्था पञ्चपुण्डीरा कहलाती है। इसकी एक एक संस्था में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–पृथिवी–चन्द्रमा ये पाँच पाँच पुण्डीर (पत्र) हैं। इस दृष्टि से उक्त से उद्गीथोङ्कारमूर्त्ति ईश्वर प्रजापति के शरीर में ऐसी पञ्चपुण्डीरात्मिका सहस्र संस्थाएं होजाती हैं।

२४७–सहस्रवल्शेश्वरानुगता षोडशीपुरुषोपासना एवं एकवल्शेश्वरानुगता यज्ञपुरुषोपासना—

सहस्र–वल्शात्मक परमेश्वर की उपासना षोडशी प्रजापति की उपासना कहलाएगी एवं पञ्चपुण्डीरात्मक यज्ञप्रजापति की उपासना यज्ञप्रजापति की उपासना कहलाएगी। सम्पूर्ण भगवद्

एवं मनुष्य की एक शाखा यही भेद इन दोनों उपासनाओं का मौलिक भेद। इस दृष्टि से महामायामय अश्वत्थेश्वर महेश्वर कहलाएगा, योगमायामय वल्शेश्वर उपेश्वर कहलाएगा एवं उपेश्वरोपासना ही यज्ञोपासना कहलाएगी।

३४८–सप्तवितस्तिकायात्मक-एकवल्शेश्वरात्मक–उपेश्वरप्रजापति से अनुप्राणिता पारा शिकी उपासना—

यही उपेश्वर पुराणों में 'सप्तवितस्तिकाय' नाम से प्रसिद्ध है। यही एक ब्रह्माण्ड है। अश्वत्थेश्वर में ऐसे ऐसे सहस्र ब्रह्माण्ड किंवा सहस्र उपेश्वर हैं—(क्वाहं रोम कोटि ब्रह्माण्ड)। श्रुति में जिन इन अवतारों का सूत्ररूप से निरूपण हुआ है पुराण ने बड़े विस्तार के साथ इन का स्वरूप-विश्लेषण किया है। पुराण का सृष्टिक्रम प्रधानरूप से अव्यक्त स्वयम्भू से ही आरम्भ होता है। इसीलिए इस उपासना को हमने पौराणिक उपासना कहा है।

३४९–यज्ञकर्म्मोपासना, आत्मकर्म्मोपासना अवतारोपासना, प्रकृतिपर्वोपासना–चतुष्टयी का संस्मरण—

इस का यह तात्पर्य नहीं है कि, श्रुति में प्रजापति की उपासना का विधान न हो है। है और और अवश्य है जैसाकि पूर्व प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। वेद का ब्राह्मणभाग ही इस यज्ञोपासना का समर्थक है। साथ ही स्वयं वेद ने भी कर्मोपासना के उक्त चारों विवर्तों का भलीभांति स्पष्टी-करण कर दिया है। यज्ञकर्म्म–आत्मकर्म्म–अवतारोपासना–प्रकृतिपर्वोपासना चारों का ही वहाँ विशदरूप से निरूपण हुआ है। इन चारों में अवतारोपासना में कोई विशेषता है।

३५०–प्राकृतिक, मानुष एवं उभय-विध अवतारों का नाम–स्मरण—

अवतार प्राकृतिक, एवं मानुष भेद से दो भागों में विभक्त हैं। एवं कुछ अवतार ऐसे भी हैं जो प्राकृतिक भी हैं तथा मानुष भी हैं। कूर्म्म-वराह-वामनादि अवतारों का स्वरूप वेद में बड़े विस्तार के साथ निरूपण हुआ है। एवं इन के मानुषभावों का तथा रामकृष्णादि विशुद्ध मानुष अवतारों का पुराण में उपबृंहण हुआ है। हाँ तो पहिले हमें यह देखना है कि, वेद ने इन चारों उपासनाओं का किन शब्दों में अभिनय किया है।।

३५१–पुराणानुगत आक्षेप, और तन्निराकरण–प्रयास—

पौराणिक चारों पर्व सुप्रसिद्ध हैं। एवं स्वतन्त्र पुराण ही इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त है। आक्षेप है पुराण की प्रामाणिकता पर। इसीलिए इस प्रकरण में प्रधानरूप से उन आक्षेपों का निराकरण कर पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध कर देना ही मुख्य निरूपणार्थ माना जायगा।

३५२–विश्व की अव्यक्तावस्था तदनुप्राणिता प्रथमा स्थिति, एवं अव्यक्त स्वयम्भू-प्रजापति के काम–तप–श्रम से 'शब्दात्मक स्वर-वेद' का आविर्भाव—

जब संसार में कुछ न था अथवा संसार कुछ न था तो उस समय केवल अव्यक्त स्वयम्भू ही विद्यमान थे। उन्होंने देखा कि हम अकेले रमण नहीं कर सकते। इस रमणभाव के लिए उन्होंने अपने वैश्व

ही कोई दूसरा और उत्पन्न करें। इसी कामना से प्रेरित होकर स्वयम्भू ने तप एवं श्रम किया। इस परिश्रम और श्रम से प्रजापति के ललाट पर पसीने निकल आए। यही पसीना आगे जाकर स्वदस्वेद कहलाता हुआ 'सुवेदवेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही सम्भृतिरोमय आपोलोक कहलाया।

३५३–आपोमय परमेष्ठी से अनुप्राणित आया–धारा–आप –वेदत्रयी की अभिव्यक्ति—

आगे जाकर प्रजापति की कामना से इस द्वितीयरूप आपोमय परमेष्ठी में आया–धारा–आपः इन तीन वर्णों का विकास हुआ। 'जायापत्व' से परमेष्ठी प्रजापति सब के 'जनक' बने। 'धारा–बल से सब को 'धारण करने वाले' बने। एवं 'आगोदल' से सर्वत्र 'आप्त (व्याप्त) होगए। (गोपथ ब्रा पू. १।१)।

३५४–स्वयम्भू की द्वितीया प्रतिमा, इरामय 'सरिर' तत्त्व की सलिलता, एवं स्वेतवराह के द्वारा हिरण्मयाण्ड का आविर्भाव—

परमेष्ठी के अङ्गिरामाग से आगे जाकर हिरण्मयाण्ड का विकास हुआ। यही हिरण्मयाण्ड इक्षोम्लूत अवस्था में आकर कालान्तर में 'सूर्य' रूपसे प्रकट हिरण्मयाण्ड हुआ यही उस स्वयम्भू प्रजापति की दूसरी प्रतिमा' कहलाई। यही सूर्य तिरयान्धकार की निवृत्त करने वाला प्रमाणित हुआ— 'प्रादुरासीत्तमोनुदः'। आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में बुद्बुदरूप से उत्पन्न सूर्य का अङ्गिरोऽग्नि आरम्भ में सूक्ष्मरूप होने से 'इरामय बनता हुआ 'सरिर' किंवा 'सलिल' रूप ही था। परन्तु स्वेतवराहवायु के संघर्ष से क्रमशः घन भाव को प्राप्त होते हुए ये अङ्गिरोऽग्निघन अवस्था में परिणत होगए। यही हिरण्मयाण्डरूपाय सौरब्रह्माण्ड किंवा सार जगत् कहलाया। विज्ञानभाषा में इसे ही 'सम्वत्सर' कहा गया। सर्वतोभाव के कारण ही यह सम्वत्सर कहलाया।

३५५–वसुधानकोशात्मक दहरोत्तरसम्बन्ध से समन्वित पञ्चोपश्वरमूर्त्ति एकपञ्चेश्वर प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

इस सम्वत्सरात्मक सौर प्रजापति के काम–तप–श्रम से आगे जाकर भूस्वरूपदलरूपा पृथिवी का विकास हुआ। गायत्र्यात्मिमयी यही पृथिवी उस स्वयम्भू प्रजापति की तीसरी प्रतिमा कहलाई। आगे जाकर पार्थिव सम्वत्सर के प्रवर्ग्यरूप आग्नेयभाग से यशोऽन्नरूप चान्द्रमण्डल का विकास हुआ। यही उस की चौथी प्रतिमा कहलाई। इसप्रकार प्राणभूतात्मक स्वयम्भू प्रजापति के ही मौलिक काम तप श्रम से क्रमशः आपोमय परमेष्ठी वाङ्मय सूर्य अन्नादमयी पृथिवी अन्नमय चन्द्रमा दूसरे शब्दों में परमेष्ठी इन्द्र–अग्नि–सोम ये चार प्रतिमाप्रजापति उत्पन्न होगए। इन पाँचों प्रजापतियों का परस्पर वसुधानकोशात्मक दहरोत्तरसम्बन्ध स्थापित हुआ। अर्थात् स्वयम्भू की महिमा में परमेष्ठी इस की महिमा में सूर्य, इस की महिमा में पृथिवी एवं पार्थिव महिमामण्डल में समाहित चन्द्रमा प्रतिष्ठित हुआ। इन पाँचों के ये महिमामण्डल विज्ञानभाषा में क्रमशः परमाकाश (स्वायम्भुव) महासमुद्र (पारमेष्ठ्य) सम्वत्सर (सौर) आग्नेय (पार्थिव) नक्षत्र (चान्द्र) इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

३५६—स्वयम्भूप्रजापति की चार प्रतिमाएँ, तदनुगत विश्वसम्पत्तिप्रापक-'सर्वहुतयज्ञ', एवं स्वयम्भू-प्रजापति की निर्लेपता—

स्वयम्भूने चार प्रतिमाएँ उत्पन्न तो करली। परन्तु अभी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। अभी वे पूर्णभाव को प्राप्त नहीं होसके। इस पूर्णभाव की प्राप्ति के लिए उन्होंने "सर्वमेध" नामक "विश्वजित्" यज्ञ आवश्यक समझा, जो कि यज्ञ आगे जाकर 'सर्वहुत' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने पहिले अपने आप को इन चारों पर्वों में आहुत कर दिया। इस आत्माहुति का परिणाम यह हुआ कि वे चारों इस में व्याप्त होगए। इस पारस्परिकी सर्वाहुति से जो एक स्वरूप अपूर्व 'विश्वमह' प्रकट हुआ, वही "सर्वमेध"-'विश्वजित्'-'सर्वहुत' यज्ञ कहलाया। एवं इसी यज्ञ के प्रभाव से स्वयम्भू सब का आत्मा बन गया, एवं सब इस के आत्मा बन गए। इसी पारस्परिक सद्भाव से यज्ञमूर्त्ति बने हुए स्वयम्भूने यह विश्ववैभव प्राप्त कर लिया। क्योंकि स्वयम्भूने आत्मसमर्पण-पूर्वक ही यह विश्वविभूति प्राप्त की है, इस में उन का वैयक्तिक स्वार्थ नहीं है, अतएव इसके भोक्ता बनते हुए भी स्वयम्भू निर्लेप हैं।

३५७—निष्कामभावमूला आत्मसमर्पणात्मिका यज्ञप्रक्रिया तन्निबन्धन अबन्धन-कर्म्म, एवं यज्ञोपासना का इष्टकामधुकत्व—

उन्हीं आदिप्रजापति की ओर से तदंशभूत हमें यह आदेश प्राप्त हुआ कि यदि तुम विश्ववैभव प्राप्त करना चाहते हो, साथही निर्लेप भी रहना चाहते हो, तो अपना वैयक्तिक स्वार्थ को छोड़ते हुए 'लोकसंग्रह' की सिद्धि के लिए (सर्वभूतहितरति को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए) निष्कामभाव से ही अपने आपको लोकाग्नि में आहुत करदो। तुम्हारी इस आत्माहुति से लोक तुममें आहुत होजायँगे। विश्ववैभव प्राप्त होजायगा। इसप्रकार निष्कामभावमूला-आत्मसमर्पणात्मिका मेरी यह यज्ञप्रक्रिया तुम्हारे लिए "इष्टकामधुक्" बन जायगी। और यही उपासना यज्ञेश्वर की सच्ची उपासना कहलायगी। तुम्हें चाहिए कि, वैदिक यज्ञकर्म्म का इसी समर्पणभाव से अनुष्ठान करो। इसी मौल आदेश का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
>
> —गीता

३५८—सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति परमप्रजापति से अनुप्राणिता यज्ञोपासना एवं यज्ञकर्म्मों का प्रधानत्व—

पाठकों को स्मरण होगा कि प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली इन चार उपासनाओं में से हमने 'प्रजापत्युपासना' को ही सर्वोत्तम बतलाया था। कारण इस का यही है कि इस उपासना का प्रधान लक्ष्य सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति वह परमप्रजापति है, जिसे कि परमात्मस्वरूपात्मक महिमामण्डल में परमेष्ठी आदि-चारों प्रतिमाप्रजापति प्रतिष्ठित हैं। परमप्रजापत्युपासना ही इस का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में विश्वात्मभाव ही

इस उपासना का मूल बतलाना है और यही इसकी सर्वोत्तमता है। इस उपासना में और पूर्व की ईश्वरोपासना में थोड़ा ही अन्तर रह जाता है। वहाँ यज्ञकर्म्म में अभिनिवेश नहीं है वहाँ सभी कर्म्म यज्ञात्मक है। परन्तु इस उपासना में वेदोक्त (ब्राह्मणोक्त) यज्ञकर्म्म ही प्रधान लक्ष्य है।

३५९–भक्त नृपतियों की यज्ञेश्वरोपासना, एवं कर्म्मठ-ब्राह्मणों यज्ञकर्म्मानुगति का समतुलन, एवं तन्निबन्धना विभिन्ना उपासना—

इसीलिए उसके प्रधान अनुयायी भक्त नृपतिगण बनते हैं एवं इसके प्रधान-अनुयायी कर्म्मठ ब्राह्मण बनते हैं। सन्ध्योपासना बलिवैश्वदेव तर्पण स्वाध्याय आदि अवान्तर जितने भी यज्ञ हैं वे सब इसी यज्ञोपासना में अन्तर्भूत हैं। इन सब अवान्तर यज्ञों की उपासना का मौलिक रहस्य गीताभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। इस उपासना के सम्बन्ध में यह तो सदा लक्ष्य में रखना ही चाहिए कि, यदि निष्कामभाव है तो यज्ञोपासना है तभी सर्वहुतयज्ञ की सिद्धि है। यदि सकामभाव है तो वह उपासना यज्ञोपासना न रह कर भूतोपासना बन जाती है और यह कामभक्ती यज्ञोपासना त्रिगुणात्मिका बनती हुई बन्धमूलक शोक का ही कारण बन जाती है। साथ ही भगवान् भी इसे निकृष्ट ही समझते हैं–"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!"।

३६०–कामजनिता त्रुटि का सन्धाता प्रणवोङ्कार, एवं ओङ्कारमूला–उपासना का स्वरूप समन्वय—

निष्कामभाव भी यद्यपि निस्त्रैगुण्य की प्राप्ति के लिए एक साधन है। परन्तु केवल इसी साधन से काम नहीं चलसकता। निर्बल भूतात्मा में कामभाव का समावेश सर्वथा रोक दिया जाय यह असम्भव-प्राय ही है। इसके लिए हमें अवश्य ही किसी अन्य 'भक्तितत्त्व' का ही आश्रय लेना पड़ेगा और वह आश्रयभूमि बनेगा वही प्रणवोङ्कार। प्रणवोङ्कार को मूलमें रखते हुए निष्कामभाव से यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहने वाला यदि स्वाभाविक कामावरण से कभी काममाव का अनुगामी बन भी जायगा तो पूर्ण ओङ्कार इस त्रुटि की सँभाल लेगा जैसाकि पूर्वमें स्पष्ट किया जाचुका है। (देखिए कर्म्मयोगपरीक्षान्तर्गत पृष्ठ सं० २९८ से ३४ पर्य्यन्त)।

३६१–अविच्छिन्न–प्रणवधरातल के द्वारा यज्ञविच्छेद का सन्धान, एवं विशिष्टसन्धाता प्रणवोङ्कारप्रजापति—

अविच्छिन्न प्रणवधरातल पर प्रतिष्ठित कर्म्म कामसमावेश से छिन्न बना हुआ भी अवश्य ही अविच्छिन्न बन जाता है। इसलिए ओङ्काररूप परमप्रजापति का सतत अनुध्यान करते हुए, उपक्रमोपसंहार में प्रणवोच्चारण करके ही यज्ञादि कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। यही तीसरी प्रणवोङ्करोपासना यज्ञाक्षरोपासना किंवा उपाक्षरोपासना कहलायगी। प्रणवाक्षर ही यज्ञकाण्डविमुक्ति के कारण बनेंगे जैसाकि निम्नलिखित गोपथश्रुति से स्पष्ट है—

'चतुर्णा वदानामानुपूर्वेण–'ओं–भूर्भुवः स्वः" इति व्याहरेत। अथमीय–भ्रवहितानि भूयन्ते + + +। तस्मादग्यजुः सामान्यपक्रान्ततेजांस्यासन्। तत्र महर्षय

परिदेवयाञ्चक्रिरे—महच्छोकभयं प्राप्ताम्म । न चैतद् सम्यक् सममिहितम् । ते स्म भगवन्तमभोपधावाम । सर्वेषामेव शर्म्म भवान् ! इति । ते तपस्युक्त्वा तूष्णीमतिष्ठन् । + + + । स एम्य उपनीय प्रोवाच—मामिकामेव व्याहृतिमादित , आदित कृणुध्वम् । × × × । तथाह तथाह भगवन्निति प्रपेदिरे । आप्याययन्ते तथा वीतशोकभया बभूवु । स्मात् प्रथमवादिन व्याहारमादित कुर्वन्ति ' * ।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२८।

३६२—प्रणवोङ्कारप्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का संस्मरण, एवं प्रणव की प्रसन्नता—

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह शेष रह जाता है कि, जिसप्रकार मर्त्यमूलक आनन्द-विज्ञान-मनोमय अव्ययोङ्कार को सर्वोङ्कार कहा जाता है उद्—गी—थम्—रूप प्रणवात्मक षोडशीप्रजापति को उद्गीथोङ्कार कहा जाता है वैसे आत्मक्षरमूर्ति यज्ञप्रजापति को (उपेश्वर को—प्रतिमापद्मापति गर्भित सर्वहुत यज्ञमूर्ति परमप्रजापतिलक्षण स्वयम्भूप्रजापति को) किस हेतु से 'प्रणवोङ्कार' कहा जाता है ? । उत्तर-पूर्वोक्त व्याहृति से ही स्पष्ट है । व्याहृति का स्वरूप है—ओं भू भुव स्वः ।

३६३—महाव्याहृतित्रयीमूलक त्रिवृद्भावापन्न—नवलोकात्मक-त्रैलोक्य का स्वरूप-समन्वय—

सन्ध्या से परिचित द्विजाति पाठक यह जानते हैं कि 'भू—भुव—स्वः—मह —जनत्—तप सत्यम्' इन सात लोकों को प्रजापति की सप्त व्याहृति (नाम) माना जाता है एवं स्वयं प्रजापति इस सप्तक के ऋषि (मूलाधार प्रतिष्ठा) माने गए हैं (सप्तव्याहृतीनां-प्रजापतिर्ऋषिः) । त्रैलोक्य-त्रिलोकी-विज्ञान' के अनुसार ये सातों लोक भू—भुव—स्व इन तीन महाव्याहृतियों में ही अन्तर्भूत हैं । "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः इस श्रुति के अनुसार ये तीनों ही लोक त्रिवृद्भाव के कारण तीन तीन भागोंमें विभक्त हैं । इसी दृष्टि से तीन माता (पृथिवी—भू) तीन पिता (द्यौ—स्व) होजाते हैं जैसाकि 'तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन्' इत्यादि मन्त्रवचन से स्पष्ट है । एवं "द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळतान + के अनुसार पृथिवी को माता कहा जाता है, एवं द्यु पिता नाम से प्रसिद्ध है ।

---

* तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥
—गीता १७।२४।

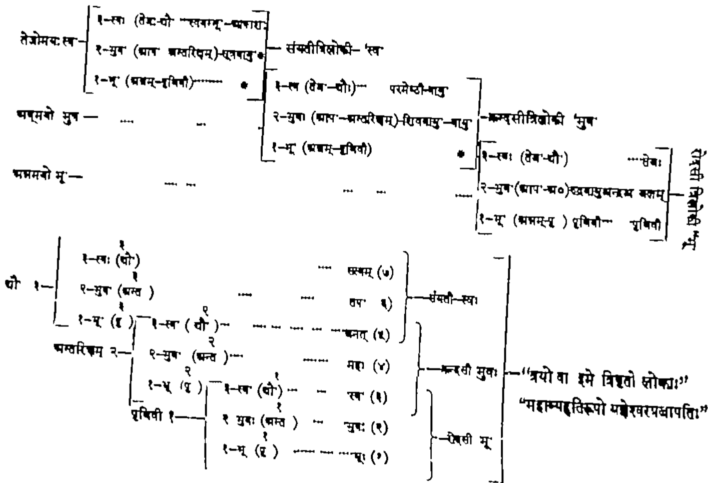
+ द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः ।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म्म बहुलं वि यन्त ॥
—ऋक्सं० ६।५१।५।

२६४ त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूपा संयती क्रन्दसी, रोदसी-नाम की महात्रिलोकी का समन्वय—

जिस पर हम प्रतिष्ठित हैं वह 'भूः' है सूर्य्य स्वः है मध्यप्रदेश भुवः है, ये ही क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः हैं। यही पहिली रोदसी त्रिलोकी है। पृथिवी-चान्द्र-अन्तरिक्षगर्भित सौर मण्डल भूः है परमेष्ठी स्वः है मध्यप्रदेश भुवः है यही दूसरी क्रन्दसी त्रिलोकी है। पृथिवी-चन्द्र-सूर्य्य-अन्तरिक्ष गर्भित परमेष्ठी भूः है स्वयम्भू स्वः है, मध्यप्रदेश भुवः है। यही तीसरी संयती-त्रिलोकी है।

२६५—नवलोकानुगता सप्तलोकविभूति का सात्त्विक-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इस दृष्टि से यद्यपि तीनों त्रिलोकियों के ९ लोक होने चाहिएँ थे। परन्तु क्रन्दसी का भूलोक रोदसी बन जाता है संयती का भूलोक क्रन्दसी बन जाता है। अतः ९ के स्थान में सात ही लोक रहजाते हैं। यही सप्तवितस्तिकायात्मक स्वयम्भू प्रजापति किंवा परमेश्वरप्रजापति किंवा उपश्वरप्रजापति है। परिलेख से इस लोकविभूति का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है।



तेजोमयः स्वः
१–स्वः (तेजः–द्यौः) "सत्यम्"–आकाशः
२–भुवः (आपः अन्तरिक्षम्)–सूत्रवायुः
३–भूः (अन्नम्–पृथिवी)
संयतीत्रिलोकी– 'स्वः'
अप्मयो भुवः
अन्नमयो भूः
१–स्वः (तेजः–द्यौः) परमेष्ठी–वायुः
२–भुवः (आपः–अन्तरिक्षम्)–शिववायुः–वायुः
३–भूः (अन्नम्–पृथिवी)
क्रन्दसीत्रिलोकी 'भुवः'
१–स्वः (तेजः–द्यौः) तेजः
२–भुवः (आपः–अ०)
३–भूः (अन्नम्–भूः) पृथिवी पृथिवी
रोदसी त्रिलोकी "भूः"
द्यौः १
१–स्वः (द्यौः)
२–भुवः (अन्त)
३–भूः (पृ)
अन्तरिक्षम् २
१–स्वः (द्यौः)
२–भुवः (अन्त)
३–भूः (पृ)
पृथिवी १
१–स्वः (द्यौः)
२ भुवः (अन्त)
३–भूः (पृ)
सत्यम् (७)
तपः (६)
जनः (५)
महः (४)
स्वः (३)
भुवः (२)
भूः (१)
संयती–स्वः
क्रन्दसी भुवः
रोदसी भूः
"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः"
"महाव्याहृतिरूपो महेश्वरप्रजापतिः"

२६६—सप्तत्रिलोकात्मक-पञ्चपर्वात्मक-पञ्चधोपेश्वरमूर्ति-एकवल्शेश्वर सर्वहुतयज्ञात्मक परम-प्रजापति के त्रेताग्नि का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं महर्षि दीर्घतमा के द्वारा तत्सस्तुति—

त्र्यवितत्रिलोकात्मक स्वयं प्रजापति इस सर्वहुत यज्ञ के यजमान हैं स्वयं ही ये आहुतिद्रव्य हैं स्वयं ही यज्ञवेदि हैं स्वयं ही भू-भुव-स्व रूप से यज्ञिय त्रेताग्नि हैं । उन्हीं का रोदसी-त्रिलोकीरूप 'भू' पर्व गार्हपत्याग्नि है क्रन्दसी-त्रिलोकीरूप 'भुवः' पर्व धिष्ण्याग्नि किंवा अपरपाग्नि है एवं संयती-त्रिलोकीरूप 'स्वः' पर्व आहवनीयाग्नि है । त्रेताग्निमय के विशिष्ट का सन्धान यज्ञमूर्ति उसी परमप्रजापति-परात्पर (प्रजापतिपरात्पर) से होता रहता है । इसी संधान को यज्ञपरिभाषा में यज्ञविशिष्ट संधान" कहा जाता है । त्रयस्त्रिंशात्मक यह विश्वयज्ञ उसी परमप्रजापति में अर्पित है और यह इस में अर्पित है । इन का भार उस में उस का भार इस में इस समतुलन प्रक्रिया से यह नित्य भ्रमण करता हुआ भी इस त्रयस्त्रिंशात्मक विश्व का वहन करता हुआ भी (विश्वम्भर बनता हुआ भी) क्लान्त नहीं होता । महर्षि दीर्घतमा ने इसी स्थिति का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

> १—तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
> मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥
> २—पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
> तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्य्यते सनाभिः ॥
> ३—अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
> कवीयमानः क इह प्रवोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥
> ४—ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
> इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥
> ५—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
> अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।१० १३,१८ १९ ३५ वाँ मन्त्र

२६७ ऋषिभावनिबन्धना पृथिवी मूला-सृष्टिविद्या से अनुप्राणित प्रणवोङ्कार का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

ऋषिमूलप्रधाना 'पृथिवीमूला सृष्टिविद्या' के अनुसार भू उपक्रम में है स्वः उपसंहार में है । (देखिए शत० ११।१।२।८।) । 'भूः' ओंकार का प्रस्ताव-स्थानीय पहिला 'अ'-कार पर्व है । 'भुवः' 'उकार' स्थानीय दूसरा पर्व है । 'स्वः' 'मकार' स्थानीय तीसरा पर्व है । तीनों मृत्युमय पर्व अमी अर्द्धमात्रारूप अपारपारीण स्वयम्भू प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं । क्योंकि इस ओङ्कार का

प्रजापति-स्वायम्भुव मनु से उत्थान है अतएव इसे "प्रणवोङ्कार" कहा जाता है। इस लक्ष्य में रत रह कर निष्कामभाव से यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहना ही गीता का निष्काम-कर्मयोग है। और यही यज्ञ स्वरोपासना का पहिला पर्व है।

२६८–प्रणवोङ्कार से समन्वित–'आत्मसमर्पणयज्ञ' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ओङ्कार के समन्वय से क्रियमाण यह आधिभौतिक यज्ञ 'आत्मसमर्पणम्' बन जाता हुआ आध्यात्मिक यज्ञ बन जाता है। यही यज्ञार्पणकर्म कहलाता है इसी को भगवान ने 'मदर्पणकर्म' कहा है। एवं श्रुति ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है—

'अध्यात्ममात्मसमर्पणमात्मकैवल्यमोङ्कार। आत्मानं निरुध्य सङ्गममात्रीं भूतानां चिन्तां चिन्तयेत्। अतिक्रम्य यदध्यः सगुणमाध्यात्मफलं प्राप्नोतीत्यर्थः। सवितर्कं ज्ञानमयम्। इत्येतत् सर्व्वं प्रतिदर्शनं च यथार्थं पदमनविचिन्त्य प्रकरणशो हि प्रवृत्तो विपर्यो स्यात्"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

२६९ गोपथ के द्वारा प्रणव की प्रधानता का समन्वय—

प्रसङ्ग में उक्त नवमेध यज्ञ की प्रधानता का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् कहते हैं—

"स यदोम्पूर्वान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्ते आत्मन्नेवादेते प्रजाप एत एवास्य सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु देवेषु सर्वेषु वेदेषु, सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु सत्त्वेषु कामचारः कामविमोक्षं भवति, अर्द्धं च न प्रमीयत–य एवं वेद"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२५।



२–वैदिक-आध्यात्मिक यज्ञ कर्म्मोपासना (परमप्रजापत्यनुपासना) (ज्ञानयोगात्मिका–आत्मनि श्रेयसप्रवर्त्तिका)

२७०–वस्तुतत्त्वानुगता 'आहिति' की 'आहुति'–रूपता का समन्वय, एवं यज्ञप्रक्रिया-नुबन्धी समष्टि-व्यष्ट्यात्मक यज्ञ का विभिन्न दृष्टिकोण—

किसी एक वस्तु को अन्य वस्तु के ऊपर में 'आहित' कर देना, अथवा किसी वस्तु का अन्य वस्तु में 'आहित' हो जाना ही "आहुति" है एवं इस आहुति का ही नाम यज्ञ है। इसी आहिति-(आधान)-

लक्षण यज्ञकर्म के दो स्वतन्त्र दृष्टिकोण हैं। समष्टि को व्यक्ति समझ कर उस समष्टिरूपा व्यक्ति की परम-प्रजापति में आहुति दे डालना (आत्मसमर्पण कर डालना) यज्ञ की एक प्रक्रिया है । एवं केवल अपने व्यक्तित्व की (उसे समष्टि से पृथक् मानते हुए) उस परमप्रजापति में आहुति दे डालना एक विभिन्न मार्ग है।

२७१-आध्यात्मिक-वैयक्तिक-राष्ट्र के स्वरूप-सम्पादकों का पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग, एवं तन्निबन्धना आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूपस्थिति—

हम एक व्यक्ति हैं। इस हमारे व्यक्तिगत राष्ट्र का (अध्यात्मजगत् का) सञ्चालक हमारा शारीरक आत्मा (आध्यात्मिक परमप्रजापति) है। चक्षु-श्रोत्र-नासा-प्राण-हस्त-पाद-उदर-हृदय-नाभि-आदि सभी अवयव नाम-रूप कर्म्म में परस्पर सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इन अवयवरूप अनेक व्यक्तियों के समुदाय से "अहमस्मि' यह एक व्यक्तित्व सम्पन्न हुआ है। ये सभी अवयव परस्पर स्वतन्त्र रहते हुए भी स्वतन्त्र कर्म्म करते हुए भी उस अवयवविष्ठाता भूतात्मा की स्वरूपरक्षा में ही प्रवृत्त रहते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियकर्म्म इस भूतात्मयज्ञ की रक्षा में ही संलग्न है। किसी भी इन्द्रिय को यह अभिमान नहीं है कि— 'मैं अमुक काम करती हूँ'। देखती आँख है परन्तु 'मैं-(भूतात्मा) देखता हूँ' यही अभिनय होता है। इस-प्रकार व्यक्तिस्थानीय सभी इन्द्रियाँ उस एक की सिद्धि के लिए अभिन्न बनती हुई भूतात्मयज्ञ की व्यवस्था का कारण बनतीं हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा का भी कारण बन रही हैं।

२७२-विश्वयज्ञानुबन्धी पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग तन्निबन्धन आधिभौतिक यज्ञ की स्वरूप-स्थिति, एवं भूमादर्श का स्वरूप-समन्वय—

संसार में जितने भी मनुष्य हैं वे सब उस यज्ञमूर्त्ति परमप्रजापति के अवयव हैं। अधिकारभेद से प्रत्येक के नाम-रूप-कर्म्म भिन्न हैं। सब परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। सबका कर्म्म भी परस्पर भिन्न है। समझने के लिए यों भी कहा जासकता है कि कोई मनुष्य उसकी आँख है कोई नाक तो कोई कान। इन्द्रिय-स्थानीय इन व्यक्तियों का कर्त्तव्य यही होना चाहिए कि वे अपने अपने प्रातिस्विक आत्मस्वातन्त्र्य को छोड़ते हुए, अपने आपको उस प्रजापति की इन्द्रियाँ समझते हुए अपनी सम्पूर्ण समष्टि का एक उसी का आत्मा समझकर उसी की स्वरूपव्यवस्था के लिए (विश्वयज्ञ की व्यवस्था के लिए) अधिकारसिद्ध नियत कर्म्मों में ही प्रवृत्त रहें। सम्पूर्ण मानवसमाज अपने आपको एक व्यक्ति मानता हुआ उसमें अपनी आहुति दे दे। यही यज्ञ की सर्वोत्कृष्ट पद्धति है। स्व की सर्वस्वरूप में परिणति ही इस यज्ञ का मौलिक-रहस्य है और इस मौलिक रहस्य का फल है— 'भूमादर्श'।

२७३-अद्वैतनिष्ठा-समाधिका सर्वहुतयज्ञप्रक्रिया—

भरत जब सर्वभावों में व्यापक प्रजापति की भावना करते हुए विश्वयज्ञ की दृष्टि से कर्म्म में प्रवृत्त रहने वाले कर्म्मोत्तरक का आत्मा भीमामार्ग से विकसित हुआ होने वाले भूमामार्ग को प्राप्त होजाएगा। कालान्तर में 'मैं भू-यह-वह' का भेद जाता रहता सर्वत्र सब आत्मरूप में परिणत होजाएंगे— 'यत्र-त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' लक्षणा अद्वैतनिष्ठा प्राप्त होजायगी।

३७४–अब घना यज्ञोपासना से अनुप्राणित–उपास्य, उपासक, उपासनासाधन–त्रयी का स्वरूप समन्वय, एवं आधिदैविकपरमप्रजापति-उपासना का तात्त्विक स्वरूप समन्वय—

इस यज्ञकर्म्म में कर्म्ममय किसी भौतिक परिग्रह का त्याग न होगा अपितु उसका संग्रह ही होगा। कर्म्म का आत्यन्तिक संग्रह परन्तु परमेश्वर के लक्ष्य से। कर्म्म में आत्यन्तिक प्रवृत्ति परन्तु निष्कामभाव से। इसमें आधिदैविकपरमप्रजापति उपास्य बनेगा आध्यात्मिक भूतात्मा उपासक बनेगा सम्पूर्ण निष्कर्म्म उपासना के साधक बनेंगे। फल मिलेगा समकक्षलक्षणा 'परामुक्ति' जिसका कि– 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' इन शब्दों में अभिनय किया गया है। यही पहिली 'आधिदैविकपरमप्रजापत्युपासना' कहलाएगी। वेदशास्त्रसिद्ध आधिभौतिक–यज्ञ ही इसका साधक होगा। और यही गीताशास्त्र की कर्म्मयोगनिष्ठा कहलाएगी। इसमें अपनापन कुछ न होगा। लोकसंग्रह ही प्रधान होगा। प्रधान क्या होगा विशुद्ध लोकसंग्रह ही प्रधान होगा। कारण लोक का आत्मा,–और उसका वैयक्तिक आत्मा, इन दो भावों के पार्थक्य का यहाँ अवसर ही नहीं है। वर्णाश्रमधर्म्म इसी यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठाभूमि माना जायगा।

३७५–आधिदैविक–भौतिक आत्मिक–यज्ञत्रयी से अनुप्राणिता यज्ञोपासना का स्वरूप तारतम्य–समन्वय एवं दृष्टिभेदनिबन्धन समष्टि–व्यष्टिरूप–भूमोदर्क, तथा क्षीणोदर्क का स्वरूप–दिग्दर्शन—

यद्यपि प्रजापतिपरीक्षा इस यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होने वाला ममभाव का अनुगामी नहीं बनेगा। तथापि मार्ग साधारण नहीं है। ममता का आत्यन्तिक विमोक कर देना विरलप्रणिक अभ्यास–सापेक्ष ही है। इसी लिए ऐसे अधिकारियों के (जोकि आधिभौतिक यज्ञकर्म्मों से ममभाव से–दूर भागते हैं) हित के लिए ही यह दूसरी यज्ञप्रक्रिया है। यह आधिभौतिक यज्ञकर्म्मों का तो त्याग करेंगे एवं आध्यात्मिक यज्ञकर्म्मों का निष्कामभाव से परिग्रह करेंगे। यहाँ का यह व्यक्तित्वलक्षण भी ही अपना मूल बनायेगा। अपने शारीरक आत्मा का आधिदैविक यज्ञ में आधिभौतिक यज्ञ के द्वारा समर्पित करना पहिला यज्ञ था। एवं अपने शारीरक आत्मा को आध्यात्मिक यज्ञ के द्वारा आध्यात्मिक परमप्रजापति में [शान्तात्मा में] समर्पित करना यह दूसरा यज्ञ कर्म्म कहलायेगा। वहाँ सम्पूर्ण बाह्यपरिग्रहों का संग्रह था यहाँ सम्पूर्ण बाह्यपरिग्रहों का त्याग है। विश्व से उदासीन महत्व की ओर से दृष्टि हटाई वित्त-लोक-पुत्रैषणा का परित्याग किया इन्द्रियों का मन में मन का बुद्धि में बुद्धि का महान् में महान् का आध्यात्मिक परप्रजापतिरूप अव्यक्तात्मा में [शान्तात्मा में] संयम करते हुए विशुद्ध आत्मरूप में परिणत होकर अन्ततः समकक्षभाव प्राप्त कर लिया यही इस यज्ञकर्म्म का स्वरूपलक्षण होगा। क्षीणोदर्क ही यहाँ प्रधान उदर्क है। वहाँ 'भूमोदर्क' था यहाँ क्षीणोदर्क है। वहाँ विशुद्ध लोकानुग्रह था यहाँ आत्मानिःश्रेयस् है।

३७६–भक्तिमार्गानुबन्धी लय-हठ-मन्त्रादि विभिन्न योग, तन्निबन्धना हिरण्यगर्भनिष्ठा तथा कपिलनिष्ठा एवं 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' का समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्वप्रकरणानुसार में भक्तियोग को उपरत करते हुए इसमें भक्ति के भी लय-हठ-मन्त्र-योगात्मक योगमार्ग, राजयोगात्मक योगमार्ग ये दो विभाग बतलाए थे। इनमें योगात्मक योगमार्ग हिरण्यगर्भनिष्ठा है, पातञ्जलयोग इसी का रूपान्तर है। एवं यज्ञकर्म का वह धौम्यो दर्शनमय यज्ञयोगमार्ग उसी योग से मिलता जुलता है। इस निष्ठा के आदि प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। यही सांख्यनिष्ठा किंवा ज्ञाननिष्ठा है। योगात्मक भक्तिमार्ग तथा यज्ञात्मक ज्ञानमार्ग दोनों का भगवान् ने संग्रह अवश्य किया है। परन्तु है भगवान की इन के सम्बन्ध में अरुचि ही, जैसाकि पूर्व में यत्र तत्र स्पष्ट किया जा चुका है। इस अरुचि का एकमात्र कारण है–लोकसंग्रह का अभाव। न तो वैसे भक्तिमार्ग में ही लोकसंग्रह एवं न ऐसे ज्ञानमार्ग में ही लोकसंग्रह का समावेश। केवल वैयक्तिक अभ्युदय निःश्रेयस ही प्रधान बना रहता है, सो भी बड़ी कठिनता से ही– "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्"।

३७७–अपवादभेद निबन्धन- 'सर्वोत्तम' एवं 'उत्तम' भक्तिपथ का संस्मरण—

यद्यपि 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्' इस भगवदुक्ति के अनुसार-भूमोदकलक्षण लोकसंग्रहात्मक यज्ञकर्म एवं धीयोदकलक्षण आत्मनि भोगम् संन्यासक यज्ञकर्म इन दोनों का 'परामुक्तिरूप' फल समान है। परन्तु 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' के अनुसार बहिःकर्मसंन्यासलक्षण यज्ञकर्म (सांख्यनिष्ठा) की अपेक्षा बहिःकर्मपरिग्रहलक्षण यज्ञकर्म ही श्रेष्ठ माना गया है और यही कारण है कि हम इसमें 'सर्वोत्तम' कहा है एवं उस 'उत्तम' कहा है।

३७८–'उपासना' निबन्धना गीता की योगचतुष्टयी का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं सर्वश्रेष्ठ 'वैश्य' बुद्धियोग—

आधिदैविक-कर्मलक्षणा कर्मोपासना जैसे गीता का निष्कामकर्मयोग है, एवमेव आध्यात्मिक-ज्ञानलक्षणा वह उपासना गीता का ज्ञानकर्म ज्ञानयोग है। दोनों के स्वरूप का यदि विचार किया जाता है तो कर्मयोग को अवश्य नीचा मानना पड़ता है एवं ज्ञानयोग को ऊँचा। क्योंकि कर्मयोग करणगत है एवं ज्ञानयोग अव्यक्त ब्रह्म की प्राप्ति करवाने में युक्त है। परन्तु फलदृष्टि से कर्मयोग ज्ञानयोग की अपेक्षा कहीं उत्तमभूमिका में प्रतिष्ठित, राजर्षीभावात्मक भक्तियोग स्वरूपतः फलतः कर्मयोग से भी श्रेष्ठ है। एवं बुद्धियोग के बुद्धियोग का तो कहना ही क्या है।

३७९–चतुर्विधा योगात्मिका उपासना के लोकानुबन्धी–लोकसूत्र एवं उपासना–चतुष्टयी का वर्गीकरण स्मरण-समन्वय—

बुद्धियोगात्मिका दक्षप्रजापतिमूला उपासना आत्मयोगोपासना भक्तियोगात्मिका धारणामूला वैश्यबुद्ध्युपासना सर्वेश्वरोपासना (पाञ्चरात्रिकपद्धतिरूपा उपासना) कर्मयोगात्मिका कारणमूला एवं ज्ञानयोगात्मिका आत्ममूला पुरुषोत्तमानुगता यज्ञोपासना ये चार ही उपासना के प्रधान वर्ग हैं। चारों ही क्रम से सर्वथा है। आगे का वाक्य-सन्दर्भ परिलेख में इस अभिमत को दृढ़ कर रहा है—

(१) १–'न हम हम हैं न यह वह है,–जो है सो है'—'बुद्धियोग

('तू तू न रहे, म मैं न रहूँ हम तुम दोनों मिलजाए")

२–'मैं नहीं, तू ही तू' भक्तियोग'

३–'हम सब तुझ में तू हम सब में 'कर्म्मयोग'

४–तू मेरा, मैं तेरा', 'ज्ञानयोग'



२—१–कर्त्तव्यानन्यता (बुद्धियोग)—अव्ययोपास्यः

२–ईश्वरानन्यता (भक्तियोग)—अक्षरेश्वरोपास्य

३–कर्म्मानन्यता (कर्म्मयोगः)—क्षरेश्वरोपास्य

४–आत्मानन्यता (ज्ञानयोग)—प्रत्यगात्मोपास्यः



३—१–नोदर्कभाव (बुद्धियोगे)—न मुक्तिर्न बन्धनम्

२–अपरोदर्कः (भक्तयोगे)—अपरामुक्तिः

३–भूमोदर्क. (कर्म्मयाग)—परामुक्तिः

४–योगोदर्कः (ज्ञानयोगे)—परामुक्तिः



४–१–मयमग्रह, असग्रहो वा (बुद्धियोग)—सहजस्वरूपसंसिद्धि

२–आत्मसंग्रहपूर्वको लोकसंग्रह (भक्तियोगे)—आत्म-लोकस्वरूपव्यवस्थिति

३–विशुद्धो लोकसंग्रह (कर्म्मयोग)—लोकाभ्युदयसिद्धिः (परमार्थमार्ग)

४–विशुद्ध-आत्मसंग्रह (ज्ञानयाग)—आत्मनिःश्रेयससिद्धिः स्वार्थमार्गः)



३८०–अर्चन-पूजनादि नामसंकीर्तनादि अङ्गभावों से मर्मस्पृष्टा मधुमिद्धा तत्त्वोपासना का सम्मरण—

यह भी स्मरण रखने की बात है कि हमारी चारों ही उपभावों में अर्चन पूजन आदि शारीरिक एवं और मनोपादि [illegible] भी अपेक्षित नहीं है। संकीर्तन नामस्मरण आदि भी यहाँ हुए से

से ही सम्बन्ध है। चारों ही मौलिक वेदसिद्ध उपासनामार्ग हैं। यह स्पष्ट करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि आज का भारतवर्ष इन चारों मार्गों में से किसी एक का भी अनुयायी नहीं है। प्रचलित भक्ति-मार्ग का केवल वैकारिक-ईश्वरोपासना में यथाकथञ्चित् अन्तर्भाव करते हुए लोकसंग्रह की रक्षा की आवश्यकी है जैसा कि इस प्रकरण में ही स्पष्ट होजायगा।

४८१–परमेश्वरोपासनात्मिका आध्यात्मिक–यज्ञोपासना, एवं तत्समर्थक उपनिषद्वचन—

प्रकृत में कहना केवल यही है कि, परमेश्वर की उपासना का दूसरा प्रकार आध्यात्मिक यज्ञलक्षणा नैष्कर्म्य-ज्ञानयोग ही है। इसी में 'प्रव्रज्या' की प्रधानता है जैसा कि निम्न लिखित उपनिषद्वचनों से स्पष्ट है—

१—स वा ऽअयमात्मा सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च। (बृ० आ० उ० ४।६।१) । तमतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन, दानेन, तपसा-ऽनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति *।

२—एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांस प्रजां न कामयन्ते- किं प्रजया करिष्याम, येषां नाऽय मात्मा, अयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थाय, अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति —।

३-कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।।
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।।

---

* आचिर्दविज्ञानानुयायिन —कर्मयोगिनस्तु—यज्ञिन —त्यागिन —नष्टिका मानवभेदा, इत्यवधेयम्।
—बृ० आ० उ० ४।४।२२।

+ मधुनन्मनमार्ग

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"
—उपनिषदि

—२—

३-वैदिक-आधिकारिक-अचेतन-जीवोपासना-[प्रतिमाप्रजापत्युपासना]—

३८२-पञ्चपर्वविद्यानुगता वेदसम्मता-तात्त्विक उपासना के पञ्चविध प्रकारों का समन्वय-

इन तीनों सर्वेश्वरविवर्त में ही आधिकारिक-अचेतन-जीवों की उपासना का अन्तर्भाव है। निर्गुण अव्यय पर दृष्टि रखना पहिला प्रकार है। सकलब्रह्मात्मक सर्वेश्वर पर दृष्टि रखना दूसरा प्रकार है। सर्वेश्वर में निमग्न योगमायावच्छिन्न पञ्चपुण्डीरात्मक आधिदैविक परमेश्वर पर दृष्टि रखना तीसरा प्रकार है। आध्यात्मिक ज्ञानेश्वर पर दृष्टि रखना चौथा प्रकार है। एवं आधिदैविक परमप्रजापति-नामक स्वयम्भू प्रजापति (जिसे कि आत्मप्रजापति परात्मा आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है) के गर्भ में रहने वाले परमेष्ठी-सूर्य-पृथिवी चन्द्रमा आदि महिमप्रजापतियों में से किसी एक पर दृष्टि रखना पाँचवाँ प्रकार है।

३८३-महदव्यक्तेश्वरानुगता, एवं प्रतिमेश्वरानुगता (पञ्चमहेश्वरानुगता) तात्त्विक-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

उक्त पाँचों प्रकारों में से पाँचवाँ प्रकार ही आधिकारिक अचेतन जीवोपासना कहलाएगी। जो व्यक्ति निर्गुण-अव्यय पर दृष्टि नहीं रख सकते, वे सगुण सहस्रवल्शात्मूर्ति सर्वेश्वर पर (पारमेष्ठ्यप्रजापति पर) दृष्टि रक्खें। जो इस पर भी दृष्टि न रख सकें, वे स्वायम्भुव परमप्रजापति पर दृष्टि रक्खें। जो इस में भी असमर्थ हों, वे स्वयम्भू के एक एक पर्व पर दृष्टि रक्खें। सूर्य चन्द्र-पृथिवी आदि में से किसी एक प्रकृति के अवयव को लक्ष्य बना कर आधिकारिकभाव से यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहना ही पाँचवीं पर्वरूपोपासना कहलाएगी।

३८४-उपासनात्मनिरूपण-पूर्वापरविरोध—

पूर्व प्रकरण में हमने इस आधिकारिक अचेतन जीवोपासना को चौथी उपासना मानते हुए इसे अवस्था कहा है एवं आधिदैविक चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) को तीसरी उपासना मानते हुए इसे प्रथमा कहा है। परन्तु यहाँ अचेतनोपासना को तीसरी उपासना बतलाया जा रहा है। यह पूर्वापरविरोध क्यों ?।

३८५—पूर्वापरविरोध-निराकरणप्रयास, एवं पड्ङ्ग वैश्वानरोपासना प्रजापतिमहितोपासना आदित्योद्गीथोपासना, गायत्रब्रह्मोपासना, आदि विविध उपासना प्रकारों का संस्मरण—

समाधान यही है कि जिसप्रकार सर्वेश्वरोपासना-लक्षणा भक्तिरूपा उपासना के मन्त्र-साम-हृद यामामिक अध्यात्मभावात्मक योगमार्ग राजयोगात्मक योगमार्ग ये दो भेद हैं, अक्षरोपासना के आधिदैविक यज्ञात्मक कर्ममार्ग (कर्मयोग) आध्यात्मिक यज्ञात्मक यज्ञमार्ग (ज्ञानयोग) ये दो मार्ग हैं एवमेव अव्ययोपासना के भी अधिकारीभेद से दो मार्ग होजाते हैं। प्रकृतिस्थों में उसी उद्गीथोद्गारमूर्ति सर्वेश्वर की भावना करते हुए यज्ञकर्म पर दृष्टि रखना एक प्रकार है। यह उपासना समष्टिरूपात्मक ओङ्कार की उपासना तो नहीं है परन्तु व्यष्टिरूप से अवश्य ही ओङ्कारोपासना है। अतएव इस उपासना का अधिकारी ईश्वरसत्ता में विश्वास रखने वाला एक आस्तिक ही बन सकता है। वह आदित्य (सूर्य) को लक्ष्य में रक्खेगा परन्तु उद्गीथोद्गारभ्य से पृथिवी को लक्ष्य में रक्खेगा परन्तु उद्गीथदृष्टि से। यही उपासनामार्ग षड्ङ्ग वैश्वानरोपासना प्रजापतिमहितोपासना आदित्योद्गीथोपासना गायत्रब्रह्मोपासना इत्यादिरूप से अनेक मार्गों में विभक्त है।

३८६—उद्गीथभावनिबन्धना आधिदैविक उपासना एवं आध्यात्मिक-उपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन भूमोदर्क-चीयोदर्क-भाव—

इस उद्गीथभावोपासना उपासना के भी आधिदैविक-आध्यात्मिक भेद से आगे जाकर दो भेद हो जाते हैं। प्राकृतिक आदित्यादि को लक्ष्य में रखते हुए आधिदैविक यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहना पहिला प्रकार है और इसकी पूर्वोक्त आधिदैविक यज्ञात्मक यज्ञकर्म (कर्मयोग) के साथ तुलना की जासकती है। अपने अध्यात्मजगत् में प्रतिष्ठित मुख्यप्राणरूप प्राणात्मक उद्गीथ को लक्ष्य में रखते हुए किंवा आध्यात्मिक षड्ङ्ग वैश्वानर को लक्ष्य में रखते हुए आध्यात्मिक यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहना दूसरा प्रकार है और इस की पूर्वोक्त आध्यात्मिक यज्ञकर्म (ज्ञानयोग) के साथ तुलना की जासकती है। पूर्ववत् यहां भी पहिले मार्ग में आत्मभाव के द्वारा आत्मनिष्ठा है। दूसरे मार्ग में विशुद्ध आत्मनिष्ठा है। दूसरे शब्दों में-पहिला मार्ग भूमादर्क है एवं दूसरा मार्ग चीयोदर्क है। निम्नलिखित प्रमाणवचन इन्हीं सभी मार्गों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

१—आधिदैविक-उपासना—

१—"अथाधिदैवतम्-य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत। उद्यन् वा एष प्रजाभ्य उद्गायति। उद्यँस्तमोभयमपहन्ति। अपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद"।

२—"आदित्यो ब्रह्म इत्यादेशः"।

३—"एवं वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से"।

२—आध्यात्मिक-उपासना—

१—"अथ खलु व्यानमेवोद्गीथ मुपासीत। यद्वै प्राणिति स प्राणः, यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः।

२— 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाः चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा, आत्मा सन्देहो-बहुलः, बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव-पादौ उर एव वेदिः लोमानि बर्हिः, हृदयं गार्हपत्यः, मनोऽन्वाहार्यपचनः, आस्यमाहवनीयः।

३८७—आध्यात्मिक आधिदैविक-अचेतनब्रह्मोपासनानिबन्धन-उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय –

इसके अतिरिक्त त्रिविध पञ्चविध सप्तविध सामोपासना स्वरोपासना आदि भेद से एक एक पर्वों की उपासनाओं के जितने भी आधिदैविक प्रकार छान्दोग्यादि में उपवर्णित हैं वे सब आधिदैविक आधिकारिक अचेतन-ब्रह्मोपासना में ही अन्तर्भूत हैं। एवमेव भूतात्मोपासना महानात्मोपासना विज्ञानोपासना सत्त्वोपासना आदि भेद से उपवर्णित आध्यात्मिक उपासना-प्रकार आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतनब्रह्मोपासना में अन्तर्भूत हैं।

३८८—वैदिक-उपासनाकाण्ड के स्थूल पर्व, तन्निबन्धना वैदिक-प्रतिमोपासना, एवं अवस्थित प्रतिमोपासना, एवं अवस्थित-प्रतिमोपासना का वेदाम्रर्मस्पृष्टत्व—

जिसप्रकार सामान्य उपासना-सिद्धि के लिए आरम्भ में स्थूल को लक्ष्य बनाया जाता है एवमेव इस वैदिक उपासनाकाण्ड में भी सूर्य-वैश्वानर, आदि आधिदैविक स्थूल पर्वों को महान्-विज्ञानादि आध्यात्मिक स्थूलपर्वों को लक्ष्य बनाते हुए अन्त में– 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' यह आदेश मिलता है। यदि हम से कोई सनातनधर्मी यह प्रश्न करे कि, वेद में–प्रतिमोपासना का विधान है अथवा नहीं, तो उत्तर में हम उसके सामने परमप्रजापति की प्रतिमारूप आदित्यादि की उपासना ही रक्खेंगे। वैदिक प्रतिमोपासना प्राकृतिक पर्वोपासना ही है। प्रतिमोपासना का वर्तमानरूप मतरूप से भले ही वेद में उपलब्ध हो, परन्तु वहाँ इसके मूलरूप का तो अभाव ही है। अब न-धूप-दीपादि-सत्तया जडोपासना का तो वेद शास्त्र में अभाव ही मानना पड़ेगा।

३८९—उपासनोपनिषत्-अनुगत- आत्मभाव तन्निबन्धन त्रिविध 'ओङ्कार', एवं ओङ्कार निबन्धना उपासनात्रयी का स्वरूप-समन्वय—

उपासनातत्त्व का मौलिक रहस्य है—"आत्मा"। कोई सी भी उपासना हो, सब में किसी न किसी रूप से आत्मभावना को ही मुख्य बनाना पड़ेगा। इस भावना की प्राप्ति के लिए ओङ्कार का आश्रय लेना आवश्यक होगा–"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"। अत एवाक्षरसिद्ध अक्षरोपासना में सर्वोङ्कार के द्वारा आत्मसंग्रह है। ईश्वरानन्दतासिद्ध सर्वस्वरोपासना में उद्गीथोङ्कार के द्वारा आत्मा

च परिग्रह है कर्म्मानन्यतात्मिका आधिदैविकयज्ञेश्वरोपासना में, एवं आत्मानन्यतात्मिका आध्यात्मिक यज्ञेश्वरोपासना में प्रणवोङ्कार के द्वारा आत्मसंग्रह है।

३९०—सर्व-उद्गीथ-प्रणव-ओङ्कारनिबन्धना त्रिविधा उपासना से अनुप्राणित अधिकारी भेद भिन्न त्रिविध मार्गों का स्वरूप समन्वय—

कर्म्मानन्यात्मिका (आधिदैविकपर्वात्मिका) प्रतिमोपासना में प्रणवोङ्कार के पर्यन्त उद्गीथात्मक-आग्नेय प्रणवात्मक वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है। एवं आत्मानन्यात्मिका (आध्यात्मिकपर्वात्मिका) प्रतिमोपासना में प्रणवोङ्कारपर्यन्त उद्गीथ ध्यान पढ़ता वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है। इसप्रकार इन सभी उपासना प्रकारों में सर्वात्मक—सर्व—उद्गीथ—प्रणवोङ्कारों के द्वारा एवं व्याप्यात्मक प्रणवोङ्कार के द्वारा आत्मा का समावेश होरहा है। परम्परया एवं साक्षात्, आत्मा की ही उपासना होरही है और ओङ्कारमूला यही उपासना किंवा उपासना के ये ही प्रकार वेदशास्त्र-सम्मत हैं। जिस उपासना में (अन्य-कर्म्म-अमनामयी-भक्ति-आदि में) आत्मलक्षण ओङ्कार का अभाव है वेदशास्त्र की दृष्टि से वह कभी उपासना नहीं है जैसाकि निम्नलिखित औपनिषद् से स्पष्ट है—

१— "अथात आत्मादेश एव—आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणत-, आत्मोत्तरतः आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वान, एवं विजानन्—आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुः—अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति"।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ अ०।२५ खण्ड।

२—'य १ते ब्रह्मलोके। तं वा एत देवा आत्मानमुपासते। तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ता, सर्वे च कामाः। सर्वाश्च लोकानाप्नोति, सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति, इति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच।

—छां उप० ८।१२।६

वेदसम्मता–उपासना आत्ममयी–ओङ्कारमयी वा—

वेदयुगानुगता (उपनिषन्मूला)
- १–निर्गुण–ब्रह्मोपासना (योगात्मक–बुद्धियोगमार्ग) वैदिक–सर्वात्मन्यप्रत्यगात्मिका–उपासना—सर्वोङ्कारमूला } तत् } ब्रह्म

——•——

वेदयुगानुगता (आरण्यकमूला)
- २–(क) सगुण–सर्वेश्वरोपासना (राजयोगात्मक भक्तिमार्ग) वैदिक–आधिदैविकेश्वरात्मन्यात्मिका–उपासना–आधिदैविक–सगुणोङ्कारमूला
- ३ (ख) सगुण–सर्वेश्वरोपासना (मंत्र–हठ–लययोगात्मक–योगमार्ग) वैदिक–आध्यात्मिकेश्वरात्मन्यात्मिका–उपासना–आध्यात्मिक–सगुणोङ्कारमूला

} सर्वेश्वर

——•——

पुराणयुगानुगता (आगममूला)
- ३–(क) सविकार–महेश्वरोपासना (यज्ञकर्मात्मक–कर्ममार्ग) वैदिक–आधिदैविकयज्ञकर्मात्मन्यात्मिका–उपा–आधिदैविक–सकलोङ्कारमूला
- ४–(ख) सविकार–महेश्वरोपासना (आत्मकर्मात्मक–कर्ममार्ग) वैदिक आध्यात्मिकयज्ञकर्मात्मन्यात्मिका उपा–आध्यात्मिक–सकलोङ्कारमूला

} महेश्वर

——•——

- ५–(क) सविकार–प्रतिमेश्वरोपासना (यज्ञकर्मात्मक–कर्ममार्ग) वैदिक–आधिदैविकप्रतिमात्मन्यात्मिका–उपासना आधिदैविक—प्रणवमूला
- ६–(ख) सविकार–प्रतिमेश्वरोपासना (आत्मकर्मात्मक–कर्ममार्ग) वैदिक आध्यात्मिकप्रतिमात्मन्यात्मिका उपासना–आध्यात्मिक—प्रणवमूला

} प्रतिमेश्वर

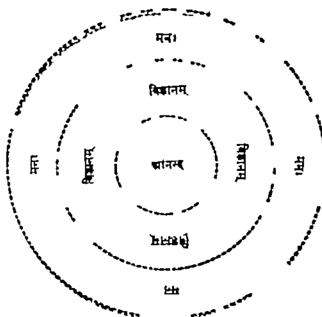
——•——

——:•:——

सर्वात्मकः– सर्वेश्वरः

१-सर्वेश्वर

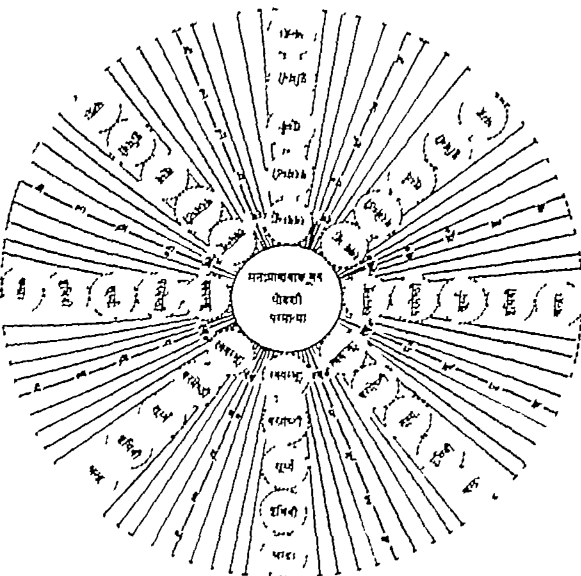
१-निर्गुण-अव्ययः
(युक्तमार्गाधिष्ठाता)



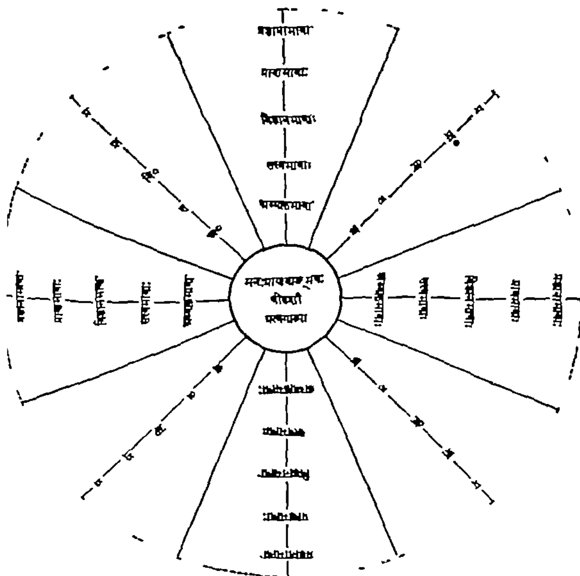
१-उद्गीथोद्गार

आधिदैविक – सर्वेश्वरः

१-सगुणः षोडशीप्रजापतिः परमात्मा
शाश्वतस्थेश्वरः (अक्षरः)
(भक्तिमार्गाधिष्ठाता)



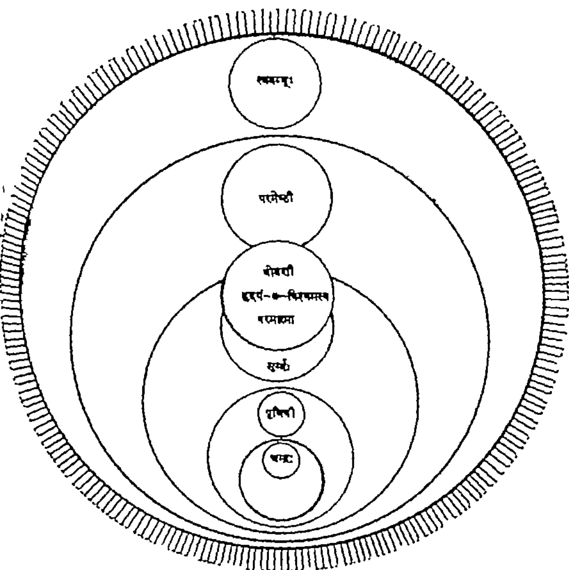
२-उद्गीथोङ्कारः **आध्यात्मिक'- सर्वेश्वर'** १-सगुणः षोडशीप्रजापतिः प्रत्यगात्मा
सहस्रभावात्मकः (अक्षर')
(योगमार्गाधिष्ठाता)

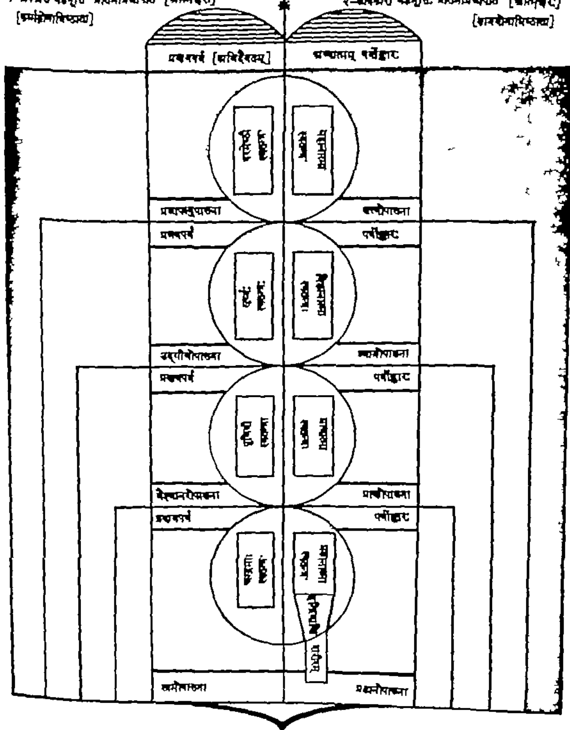


१ अव्ययोक्षरः
पूर्णेन्द्र—

आधिदैविक- बलेश्वर

१-सविकारो यज्ञमूर्त्तिः परमप्रजापतिः
पञ्चपुण्डीरात्मक (आत्मक्षर)
(कर्म्मयोगाधिष्ठाता)





प्रकारान्तरेण—

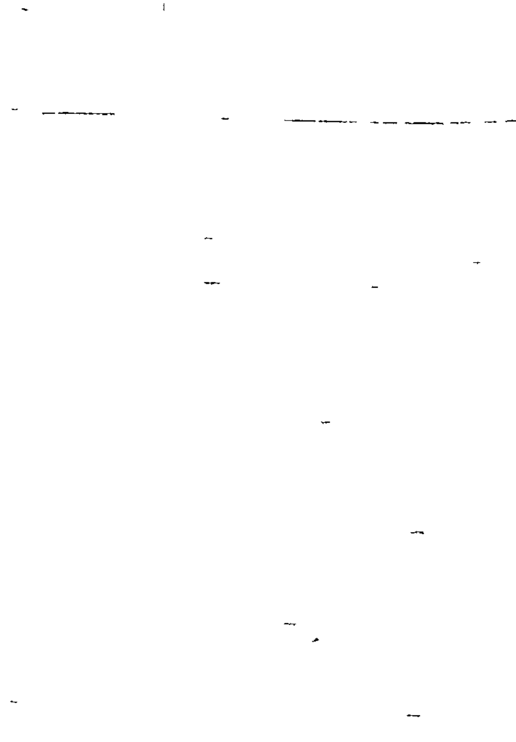
उपनिषद् { १—शुक्लमार्ग—सर्वात्मकोऽसर्वात्मकः—सर्वसंग्रहात्मकोऽसंग्रहात्मकः (सर्वास्मिन्—आत्मधानन्यता) ——— सर्वोद्धारः (बुद्धियोग) } अध्ययः

आरण्यक {
- १—भक्तिमार्गः—आधिदैविक ——— विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकसहस्रस्वरात्मकसर्वेश्वरानन्यता)-उद्गीथोद्धारः
- २—योगमार्गः—आध्यात्मिकः ——— विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकसहस्रस्वरात्मकसर्वेश्वरानन्यता)-उद्गीथोद्धारः

} (भक्तियोगः) } षोडशी प्रजापतिः

ब्राह्मण {
- १—कर्ममार्ग—आधिदैविकः ——— विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकसर्वेश्वरानन्यता) ——— प्रणवोद्धारः (कर्मयोग)
- २—ज्ञानमार्ग—आध्यात्मिकः ——— विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकसर्वेश्वरानन्यता) ——— प्रणवोद्धारः (ज्ञानयोग)
- १—कर्ममार्ग आधिदैविक ——— विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकप्रतिमेश्वरानन्यता) ——— पर्वोद्धारः (कर्मयोग)
- २ ज्ञानमार्ग—आध्यात्मिक ——— विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकप्रतिमेश्वरानन्यता) ——— पर्वोद्धारः (ज्ञानयोग)

} यज्ञप्रजापतिः



कहलाएगा। इसप्रकार केवल वृत्तिभेद से बुद्धियोगात्मिका निर्गुण-उपासना के ज्ञानात्मक मुक्तमार्ग एवं कर्म्मात्मक मुक्तममार्ग ये दो भेद होजायँगे।

३६६–भक्तिपथानुबन्धी कर्म्ममार्ग एवं योगपथानुबन्धी ज्ञानमार्ग का तात्त्विक स्वरूप समन्वय, एवं तदनुप्राणित निष्कामभाव—

दूसरा पारमेष्ठ्य योषाप्रजापति (ईश्वर सहस्र स्त्रोश्वर) है। कर्म्म–ज्ञान ये ही हैं जो पूर्व में बतलाए गए हैं। यदि आधिदैविक ईश्वरानन्यता-पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रह है तब तो यह कर्म्मयोग ईश्वरोपासनात्मक भक्तियोग है। यदि आध्यात्मिक ईश्वरानन्यता-पूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रह है तो मन्त्र-लय-हठ-योगात्मक यह योग आत्मोपासनात्मक योग है और यही इस भक्तिपथ का ज्ञानयोग है। भक्तिमार्ग कर्म्ममार्ग है योगमार्ग ज्ञानमार्ग है। यहाँ दोनों ही में निष्कामभाव नितान्त अपेक्षित है।

३६७–यज्ञोपासनारूप ज्ञानमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा आत्मविवर्त्त यज्ञप्रजापति (उपेश्वर-एकस्त्रोश्वर) है। कर्म्मज्ञान वे के वे ही हैं। यदि आधिदैविक स्त्रोश्वरानन्यता-पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रह है तो यह यज्ञेश्वरोपासनारूप कर्म्ममार्ग है। यदि आध्यात्मिक स्त्रोश्वरानन्यतापूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रह है तो यह यज्ञात्मोपासनारूप ज्ञान मार्ग है।

३६८–यज्ञप्रतिमोपासनारूप कर्म्ममार्ग का स्वरूप-समन्वय—

इसी यज्ञप्रजापति के गर्भ में (तद्रूप ही) चार प्रतिमाप्रजापति और प्रतिष्ठित हैं। इन चारों के भी आधिदैविक-आध्यात्मिक भेद से दो दो रूप हैं जैसाकि पूर्वपरिलेखों में से सर्वान्त के परिलेख से स्पष्ट है। कर्म्म-ज्ञान-वे के वे ही रहेंगे। यदि आधिदैविक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (उद्गीथ की साम की वैश्वानर की गायत्र की किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक कर्म्म में प्रवृत्त रहता है तो यज्ञप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग कर्म्ममार्ग कहलाएगा एवं यही आधिकारिक आधिदैविक अचेतन-जीवोपासना (सूर्य्य-चन्द्रादि प्राकृतिकोपासना) कहलाएगी।

३६९–अष्टविध उपास्यदेवता, अष्टविध-उपासनामाध्यम, एवं तन्निबन्धन अष्टविध उपासकवर्ग का तालिका माध्यम से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

यदि आध्यात्मिक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (ध्यान की स्वर की पञ्चवैश्वानर की प्रज्ञान की विज्ञान की महान् की किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त रहता है तो लययज्ञात्मप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग ज्ञानमार्ग कहलाएगा एवं यही आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतन जीवोपासना (ध्यान-स्वर-वैश्वानर-प्रज्ञान आदि पर्वोपासना) कहलाएगी। इस प्रकार केवल उदासीन अव्यय, अक्षरयुक्त अव्यय, [1]आधिदैविक महत्सहस्रेश्वर, आध्यात्मिक सहस्रस्त्रोश्वर, आधिदैविक यज्ञेश्वर [2]आध्यात्मिक यज्ञात्मेश्वर [3]आधिदैविक प्रतिमेश्वर

३६१–'बुद्धि-भक्ति-कर्म्म-ज्ञान' चतुष्टयी से अनुप्राणित उपासनाप्रकार एवं तदनुगत उपासनास्वरूप-समन्वय—

बुद्धि–भक्ति–कर्म्म ज्ञान प्रधानरूप से ये चार ही विवर्त्त हैं। इन चारों का क्रमशः अव्यय, षोडशी, यज्ञप्रजापति इन तीन आत्मसंस्थाओं से सम्बन्ध है। अव्ययमूलक बुद्धियोग का यद्यपि एक में एक ही प्रकार बतलाया गया है। तदपि वैज्ञानिक पूर्व परीक्षा प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है इसके भी मुक्त-मुक्ततम भेद से दो भाग होजाते हैं।

३६२–ज्ञान-कर्म्ममय 'उपास्य' के तात्त्विक-स्वरूप का संस्मरण—

उपासना में पड़ने की कोई बात नहीं है। विषय थोड़ा दुरूह अवश्य है। किन्तु थोड़े से अवधान से समीक्षा सम्पन्न होजाती है। इन तीनों उपास्यों के आधार पर ही चतुर्विध उपासनामार्गों के आगे जाकर आठ विवर्त्त होजाते हैं। सात विवर्त्तों का तो पूर्व के परिलेखों से स्पष्टीकरण हो ही चुका है। अब इनमें अव्यया-त्मानुगत मुक्ततम बुद्धियोग का समावेश और कर दीजिए। आठ मार्ग होजाएंगे। इन आठों मार्गों की उपनिषत् (मूलप्रतिष्ठा) है—"ज्ञानकर्म्ममय-आत्मा"। क्योंकि परिस्थिति के सम्बन्ध–तारतम्य से ज्ञानकर्ममय उपास्य के आठ विवर्त्त होजाते हैं अतः उपासना के भी आठ मार्ग होजाते हैं।

३६३–विधासापेक्ष, विधानिरपेक्ष, लोकसापेक्ष-सत्कर्म्मों से अनुप्राणित 'कर्म्ममार्ग' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन आठों ही उपासनाओं के ज्ञान एवं कर्म्म का परमार्थतः स्वरूप एक ही है। केवल तदवच्छिन्न उपास्य के स्वरूपों में भेद है। अतएव उपासना के फल विभिन्न होजाते हैं। शास्त्रसिद्ध यज्ञ–तपो–दान-लक्षण विधासमुच्चित कर्म्म इष्ट–आपूर्त–दत्त–लक्षण—विधानिरपेक्ष सत्कर्म्म शिष्टजनसम्मत लोकसंग्राहक कर्म्म कुलपरम्परानुबन्धी कुलकर्म्म लोकाचार देशाचार आत्माचारमूलक लोक–देश-आदि कर्म्म इन सब सत् कर्म्मों की समष्टि ही कर्म्ममार्ग है।

३६४ बहिर्मुखप्रवृत्त्यनुगत कर्म्ममार्ग, एवं अन्तर्मुखप्रवृत्त्यनुगत ज्ञानमार्ग—

शास्त्रसिद्ध योगधारणा नैष्कर्म्यलक्षण आत्मचिन्तन ही ज्ञानमार्ग है। बहिर्मुख–प्रवृत्ति कर्म्ममार्ग है एवं अन्तर्मुखप्रवृत्ति ज्ञानमार्ग है। दोनों ही मार्ग अभ्युदय निःश्रेयस् के साधक हैं।

३६५–बुद्धियोगात्मिका उपासना के अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक सर्वथा विभक्त दो पथ–

यदि आत्मभाव किंवा ब्रह्मभाव से युक्त ज्ञानकर्म्मों में मनुष्य (केवल कर्त्तव्यबुद्ध्या) प्रवृत्त रहता है तो यह उपासना "बुद्धियोगोपासना" कहलाती है। इस मार्ग में यदि अनासक्तिलक्षण स्वधर्मयोग है तब तो इसे मुक्तमार्ग किंवा मुक्तोपासना (मुक्तबुद्धियोग) कहा जाएगा और यही मार्ग बुद्धियो-गानुबन्धी ज्ञानमार्ग कहलाएगा। यदि मानस–व्यापारपूर्वक स्वधर्मयोग है तो इसे मुक्ततममार्ग किंवा मुक्त-तमोपासना (मुक्ततम बुद्धियोग) कहा जाएगा और बुद्धियोगानुबन्धी यही दूसरा मार्ग 'कर्म्ममार्ग'

अपेक्षा। इसप्रकार केवल दृष्टिभेद से बुद्धियोगात्मिका निर्गुण-उपासना के ज्ञानात्मक मुक्तमार्ग एवं कर्म्मात्मक मुक्तमार्ग ये दो भेद हो जाएँगे।

२६६–भक्तिप्रधानुबन्धी कर्म्ममार्ग एवं योगप्रधानुबन्धी ज्ञानमार्ग का तात्त्विक स्वरूप समन्वय, एवं तदनुप्राणित निष्काममाव—

दूसरा आत्मविवर्त्त योडशीप्रजापति (ईश्वर अहस्र अ्योरवर) है। कर्म्म–ज्ञान वे ही हैं जो पूर्व में बतलाए गए हैं। यदि आधिदैविक ईश्वरानन्यता-पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रहण है तब तो यह कर्म्मयोग ईश्वरोपासनात्मक भक्तियोग है। यदि आध्यात्मिक ईश्वरानन्यता-पूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है तो मन्त्र–लय–हठ–योगात्मक यह योग आत्मोपासनात्मक योग है और यही इस भक्तिपथ का ज्ञानयोग है। भक्तिमार्ग कर्म्ममार्ग है योगमार्ग ज्ञानमार्ग है। यहाँ दोनों ही में निष्काममाव नितान्त अपेक्षित है।

२६७–यज्ञोपासनारूप ज्ञानमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा आत्मविवर्त्त यज्ञप्रजापति (उपेश्वर–एकक्षरेश्वर) है। कर्म्मज्ञान वे के वे ही हैं। यदि आधिदैविक क्षरेश्वरानन्यता-पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रहण है तो यह यज्ञेश्वरोपासनारूप कर्म्ममार्ग है। यदि आध्यात्मिक क्षरेश्वरानन्यतापूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है तो यह यज्ञात्मोपासनारूप ज्ञान मार्ग है।

२६८–यज्ञप्रतिमोपासनारूप कर्म्ममार्ग का स्वरूप-समन्वय—

इसी यज्ञप्रजापति के गर्भ में (सद्रूप ही) चार प्रतिमाप्रजापति और प्रतिष्ठित हैं। इन चारों के भी आधिदैविक–आध्यात्मिक भेद से दो दो रूप हैं जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में से प्रकरणान्त के परिलेख से स्पष्ट है। कर्म्म–ज्ञान–वे के वे ही रहेंगे। यदि आधिदैविक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (उद्गीथ की साम की वैश्वानर की गायत्र की किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक कर्म्म में प्रवृत्त रहता है तो यज्ञप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग कर्म्ममार्ग कहलाएगा एवं यही आधिकारिक आधिदैविक अचेतन-प्रतीकोपासना (सूर्य्य–चन्द्रादि प्रकृतिपर्वोपासना) कहलाएगी।

२६९–अष्टविध उपास्यदेवता, अष्टविध–उपासनामाध्यम, एवं तन्निबन्धन अष्टविध उपासकवर्ग का तालिका माध्यम से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

यदि आध्यात्मिक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (प्राण की स्वर की पञ्चवैश्वानर की प्रज्ञान की विज्ञान की महान की किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त रहता है तो अध्यात्मप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग ज्ञानमार्ग कहलाएगा एवं यही आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतन प्रतीकोपासना (प्राण–स्वर–वैश्वानर–प्रज्ञान आदि पर्वोपासना) कहलाएगी। इस प्रकार केवल उदासीन अव्यय मध्यायुक्त अव्यय [1]आधिदैविक सहस्रवल्शेश्वर, आध्यात्मिक सहस्रवल्शेश्वर आधिदैविक षोडशेश्वर [1]आध्यात्मिक षोडशेश्वर [1]आधिदैविक प्रतिमेश्वर

आध्यात्मिक प्रतिमेश्वर इन आठ उपास्यों को लक्ष्य में रखने वाले आत्मकाम अकाम निष्काम ईश्वरकाम प्रवृत्तिकाम निवृत्तिकाम कर्म्मकाम ज्ञानकाम इन भावों से युक्त उपासनामार्ग ८ मार्गों में विभक्त होजाते हैं।

४००—अष्टविध उपासनामार्गों से अनुप्राणित ज्ञान—कर्म्म-मार्गों का समानानुबन्धन, एवं 'उपासना' का स्वरूप—समन्वय—

इन आठों में कर्म्ममार्ग विशेष है ज्ञानमार्ग सामान्य है। कारण—सभी कर्म्ममार्गों में लोकसंग्रह है एवं सभी ज्ञानमार्गों में लोकसंग्रह का अभाव है। उक्त्–ज्ञान—कर्म्म—मार्गों से उक्त्-आत्मभावों की समष्टि स्वतः एव प्राप्त होजाती है। इस आत्मभाव–प्राप्ति का ही नाम उपासना है। और उपासना के पारमार्थिक ये ही आठ मार्ग कहलाते हैं।

वेदसिद्धा —उपासनामार्गाः —

अव्ययः (ज्ञानम्) (अव्यक्तः)
- १—१ महापुरुष—अव्यय—अकाम—बुद्धत्वमार्ग—विशेषः (बुद्धत्वम्)
- २—२ उदासीन—अव्ययः—आत्मकाम—बुद्धमार्ग——सामान्यः (योगी)

बुद्धियोगः (उपनिषदि)

—•—

योगरूपी (भक्ति) (अक्षर)
- १—३ आधिदैविक—सहस्रशीर्षेश्वरः—निष्कामः—भक्तिमार्ग विशेषः (भक्तः)
- २—४ आध्यात्मिक—सहस्रशीर्षेश्वरः—ईश्वरकाम—योगमार्ग—सामान्यः (भक्तः)

भक्तियोग (आरण्यके)

—•—

यज्ञ (कर्म्म) (आत्मक्षर)
- १—५ आधिदैविक—सर्वेश्वर प्रवृत्तिकामः—कर्म्ममार्ग—विशेषः (तपस्वी)
- २—६ आध्यात्मिक—सर्वेश्वर—निवृत्तिकामः—ज्ञानमार्गः—सामान्यः (ज्ञानी)

—•—

- १—७ आधिदैविक—प्रतिमेश्वरः—कर्म्मकाम—कर्म्ममार्ग—विशेष (तपस्वी)
- २—८ आध्यात्मिक प्रतिमेश्वरः—ज्ञानकाम—ज्ञानमार्गः—सामान्य (ज्ञानी)

ज्ञानकर्म्मयोगः (ब्राह्मणे)

—•—

४०१-परमप्रजापति से अनुप्राणित 'ब्रह्मसत्य' तत्त्व, एवं तन्निबन्धना 'ब्रह्मसत्योपासना' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

उक्त आठो विवर्तों में से प्रकृत में अन्त के चार विव र्तों का परमेश्वरप्रजापति से ही विज्ञानभाषा के अनुसार ब्रह्मसत्येश्वर से ही सम्बन्ध है। इस महाप्रजापति के ही ब्रह्मसत्य देवसत्य, ये दो रूप हैं जैसा कि 'यक्षस्य त्वं यक्षस्य च वेत्थ' (केनोपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है। प्राणमय स्वयम्भू आपोमय परमेष्ठी वाङ्मय सूर्य्य अन्नमय चन्द्रमा अन्नादमयी पृथिवी पाँचों की समष्टि ही 'ब्रह्मसत्य' है। परमप्रजापतिरूप सप्तवितस्तिकायात्मक पञ्चपर्वा महाप्रजापति ही ब्रह्मसत्य है।

४०२-प्रतिमाप्रजापति से अनुप्राणित 'देवसत्य', एवं तन्निबन्धना-देवसत्योपासना' का संस्मरण—

इस ब्रह्मसत्य के पार्थिव पर्व से सर्वब्रह्ममूर्ति इन्द्र हिरण्यगर्भमूर्ति वायु, वैश्वानरमूर्ति अग्नि इन तीनों देवताओं की समष्टिरूप विराट्प्रजापति ही देवसत्य है जिस की कि उपासना का आगे के "दर्शनयुगानुगत-उपासनामार्ग" प्रकरण में स्पष्टीकरण होने वाला है।

४०३-आधिदैविक-आध्यात्मिक-परमप्रजापति, एवं प्रतिमाप्रजापति-निबन्धना उपासना चतुष्टयी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

आधिदैविक पञ्चपर्वा परमप्रजापति तो ब्रह्मसत्य है ही साथ ही इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला आध्यात्मिक पञ्चपर्वा परमप्रजापति भी ब्रह्मसत्य ही है। एवमेव आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति तो ब्रह्मसत्य का पर्व होने से ब्रह्मसत्य है ही साथ ही आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति भी तद्रूप ही माने जायँगे। इसप्रकार-आधिदैविक परमप्रजापति आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति आध्यात्मिक परमप्रजापति आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति भेद से ब्रह्मसत्यात्मक परमप्रजापति के चार विवर्त्त होजाते हैं।

४०४-पर्वोद्धारात्मिका-आधिकारिक-अचेतनजीवोपासना-त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इन चारों में आधिदैविक परमप्रजापति की एवं आध्यात्मिक परमप्रजापति की उपासना तो महाप्रजापत्यु पासना कहलाएगी एवं आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति की तथा आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति की उपासना आधि कारिक अचेतनजीवोपासना कहलाएगी। आगे की इनों उपासनाओं की मूलप्रतिष्ठा प्रणवोद्धार बनेगा। और यह पर्वोद्धारात्मिका आधिकारिक-अचेतनोपासनात्रयी प्रकारान्तरेण आधिकारिक-चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) की अपेक्षा श्रेष्ठ कहलाएगी।

४०५ अवतारोपासना, तथा पर्वोपासना के पौर्वापर्य्यनिबन्धन-स्थानभेदों का प्रासङ्गिक-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व में हमनें वह विप्रतिपत्ति उठाई थी कि- भक्तियोगात्मक उपासना प्रकरण का उपसंहार करते हुए अवतारोपासना को तीसरा स्थान दिया गया था एवं अचेतनजीवोपासना को चौथा।

परन्तु यहाँ उत्तम उपासना का तीसरा एवं आदर्शोपासना को चौथा स्थान दिया जाना ठीक नहीं है। इसी त्रिविधविधि के विवरण के सम्बन्ध में प्रकृतिपरा उपासना के ८ (आठ) प्रकार ही क्रमशः उपस्थित किए गए। इस निरूपण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सर्वोङ्कारात्मिका आत्मनिष्ठोपासना सर्व उपासना की अपेक्षा श्रेष्ठ बनती हुई अवश्य ही प्रथम स्थान पाने का अधिकार रखती है, एवं आदर्शोपासना चौथा स्थान।

४०६–प्रपञ्चोङ्कारशून्या, प्रकृतिभावनिबन्धना-सात्त्विकी–प्राकृतिकी आदर्शानिरपेक्ष उपासना का स्वरूप-समन्वय—

आत्मनिष्ठ उपासना का दूसरा प्रकार है ओङ्कारविद्या। न इस उपासना का शास्त्र-सम्मत आधार है, न ईश्वरभाव है। अपितु यह उपासना केवल आदर्शमूला है। जो आदर्श ईश्वरभाव का त्याग कर केवल प्रकृति की ही [illegible] मानता है, यह आदर्श कि न प्रकृति के अतिरिक्त आधिदैविक मूर्ति-मयी [illegible] के आदर्श का मानव [illegible] हुए ऐसे [illegible] में [illegible] जिन में [illegible] वैयक्तिक स्वार्थ न हो, केवल लोकाभ्युदय (विश्वशान्ति) ही लक्ष्य हो। आदर्शमूला लौकिक [illegible] यही उपासना–आत्मनिष्ठ उपासना का दूसरा प्रकार कहलाया। अतएव ही तो हमने आदर्शोपासना की अपेक्षा चौथा स्थान दिया है।

४०७–आदर्शमूला लौकिक उपासना के लोकमार्गों का लोकनिरूपण उपयोगी–अनुपयोगी-विभाग—

इस आदर्शमूला उपासना के भी [illegible] में दो ही विभाग हो जाते हैं। जो लौकिक मनुष्य मानवसमाज के अभ्युदय का लक्ष्य में रखते हुए सर्वात्मना वैयक्तिक स्वार्थों के चिन्तन में संलग्न रहते हैं, वे ज्ञानमार्गी कहलाएंगे। एवं इन [illegible] के (वैज्ञानिकों के) द्वारा आविष्कृत आविष्कारों का लोकाभ्युदय की दृष्टि से संसार में प्रचार [illegible] करने वाले कर्मयोगी कहलाएंगे। इन आविष्कारक ज्ञानियों एवं प्रचारक कर्मठों को प्रत्येक दशा में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि इनका यह आविष्कार और प्रचार लोकाभ्युदय (विश्वशान्ति) के मार्ग में कहीं विघ्नकारक तो नहीं बन रहा। इनके आविष्कार दुष्टों का दमन करें, सज्जनों पर प्रतिबन्ध लगाएँ, विश्वशान्ति में उपयुक्त बनें, यही लौकिक [illegible] आविष्कारिक–आत्मनिष्ठोपासना कहलाएगी। और इसी पद्धति से ऐसे लौकिक ज्ञानी (वैज्ञानिक) एवं कर्मठ भी परम्परया [illegible] के द्वारा विश्वकल्याण के एवं [illegible] के उपासक बनते हुए [illegible] में युक्त हो जाएँगे–"लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि"।

४०८–प्रकृतिविमूढ प्राकृत नरपशु मानवों का स्वरूपविश्लेषण—

ठीक इनके विपरीत वा मूर्खी अदर्शित प्रकृति का अतिक्रमण करते हुए, ईश्वरसत्ता पर अणुमात्र भी विश्वास न रखते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, विश्वों के [illegible] किंवा मनुष्यसमाज के मानसिक [illegible] को दबाने के लिए नित्य नवीन नवीन भौतिक आविष्कार करते रहते हैं, महोदर हृदी के प्रयोग का अवसर ढूँढते हुए अपनी पैशाचिकी–उद्दाम–कामना की शान्ति करने का असफल प्रयास करते रहते हैं, वे

लोकधातु बनते हुए अवश्य ही प्रकृति के भी शत्रु हैं। प्रकृति का नाममात्र लेने वाले किन्तु प्रकृति के विश्वशान्तिमूलक आदर्श से सर्वथा ही वञ्चित ये भ्रमकामी अपना क्षणिक परितोष करते हुए अन्त में अपना समूल नाश ही करा बैठते हैं विद्धि नष्टानचेतस । प्रकरण-सम्बन्ध की दृष्टि से यहाँ इसे उद्धृत कर दिया है। वस्तुत इस का स्थान चौथी अवतारोपासना के अनन्तर ही समझना चाहिए।

४०९- 'वैदिक-प्रतिमोपासना' का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकृत प्रकरण से वक्तव्य केवल यही था कि—आधिदैविक पर्वोद्धारमूलक कर्मात्मक (आधिभौतिक यज्ञकर्मात्मक) उपासनामार्ग आध्यात्मिक पर्वोद्धारमूलक ज्ञानात्मक (आध्यात्मिक यज्ञकर्मरूप) योगमार्ग इन दो विधाओं को अपने गर्भ में रखने वाली उपासना ही वैदिक आधिकारिक अचेतनजीवोपासना" (जिसे कि निगमभाषा में हम वैदिक-प्रतिमोपासना कहेंगे) है। यही परमेश्वरप्रजापति की उपासना का प्रकारात्मक तीसरा प्रकार है।

—३—

४–आधिकारिक चेतनजीवोपासना [अवतारोपासना]—
[विशुद्ध-पौराणिकी]

४१०–सर्वोपयरा(?)त्मात्मिका बुद्धियोगात्मिका उपासना का स्वरूप-संस्मरण—

विशुद्ध अध्यात्मनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धियोगात्मिका उपासना का धरातल सब से ऊँचा है। इसका अनुगमन करते हुए तो शास्त्रीय-अशास्त्रीय सब प्रकार के ज्ञान कर्मों का अनुगमन करता हुआ उपासक विदेहमुक्त है। इस उपासना में शास्त्रमर्यादा पर विशेष लक्ष्य नहीं है यहाँ तो केवल अध्यात्म-यता ही अपेक्षित है यदि यह है तो—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः"। और भगवान् ने अर्जुन के प्रति "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन! 'योगः कर्मसु कौशलम्' —"स मे युक्ततमो मतः —तस्माद्योगाय युज्यस्व' – 'तस्माद्योगी भवार्जुन! इत्यादिरूप से इसी सिद्धान्त को सामने रक्खा।

४११ बुद्धियोगनिष्ठ योगी की 'शास्त्ररूपता' का समन्वय, एवं तदाचरण की स्वयं-शास्त्रीयता, तथा तदनुबन्धी रहस्यात्मक गुप्त-लोकशिक्षण—

गीता के उक्त सर्वोच्च सिद्धान्त पर यदि कोई यह आक्षेप करे कि सब शास्त्रविरुद्ध ज्ञान-कर्म प्रकृति के विरुद्ध हैं एवं प्रकृति के विरुद्ध जाना कभी अभ्युदय का कारण नहीं बन सकता तो इस सम्बन्ध में हमें कहना पड़ेगा कि अभी उन्होंने भगवन्निष्ठा का मर्म नहीं समझा। 'बुद्धियोगी के लिए शास्त्रीय-अशास्त्रीय सब ज्ञान कर्म एक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं' इसका तात्पर्य यही है कि ऐसा योगी स्वयं ही शास्त्र बन जाता है स्वयं ही प्रकृति बन जाता है। शब्दब्रह्मात्मिका परिच्छिन्ना शास्त्रमर्यादा से विमुक्त जगदीश्वर का प्रत्येक ज्ञान-कर्म किसप्रकार लोकाभ्युदयकर ही सिद्ध होता है एकमेव बुद्धियोगी

की प्रत्येक चर्या से भूतमात्र का अभ्युदय ही होता है। यदि वह मद्यपान करता है तो इसमें भी कोई गुप्त लोक-शिक्षण छिपा हुआ है। यदि वह कभी दुराचार करता है तो उसमें भी कोई आदेश ही प्रतिष्ठित है। दूर जाने की क्या आवश्यकता है। स्वयं बुद्धियोगाचार्य श्रीकृष्ण की लीलाओं से ही सब कुछ स्पष्ट होजाता है।

४१२–भगवान् कृष्ण की रहस्यपूर्णा लीलाएं —

कृष्णलीलाओं में सुप्रसिद्ध "चीरहरणलीला"–"रासलीला" इन दो लीलाओं पर आज का सभ्यताभिमानी पश्चिमोच्छिष्टभोगी भारतीय समाज नाक-भौं-सिकोड़ा करता है और बड़े अभिमान के साथ कहा करता है कि, "कृष्णने कभी उक्त लीलाएँ नहीं कीं। भला जिस योगेश्वर ने गीता जैसे अपूर्व ज्ञान से विश्व को धन्य बना दिया वह स्त्रियों को नग्न करेगा एवं स्त्रियों के साथ नाचेगा यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा?। अवश्य ही यह पुराण की पौराणिकलीलामात्र है।"

४१३–भगवान की मानुषी तनु, और तद्द्वारा स्त्री-शूद्र-वैश्यादि का अभ्युदय—

अस्तु, इन सभी लीलारहस्यों का विवेचन 'श्रीकृष्णतत्त्वविमर्शन' नामक द्वितीय खण्ड में पाठक देखेंगे ही। यहाँ इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्याप्त होगा कि भगवान् का अवतार केवल मानव-समाज के बुद्धिजीवी वर्ग के अभ्युदय के लिए ही नहीं होता। सम्भव है वे गीता के आदेश पर चलते हुए अपना अभ्युदय कर लें। परन्तु बालक, स्त्री, शूद्र, वैश्य आदि जिन जीवों में ज्ञाननिष्ठा की योग्यता नहीं है उन सबका भी अभ्युदय अभीष्ट है भगवान् को। 'अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमाश्रितः' ही अवतार का मुख्य लक्ष्य है। और इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए भगवान् को जहाँ सर्वोत्तम गीतायोग बतलाना आवश्यक हुआ है वहाँ अनधिकारी वर्ग के अभ्युदय के लिए सामान्य लीलाओं में भी प्रवृत्त होना पड़ा है— 'भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्'।

४१४–चीरहरण, रासविहार आदि का स्वरूप-सङ्केत—

यमुनाप्रान्त के निवासी स्त्रीपुरुषवर्ग प्रायः नग्न होकर यमुना स्नान करते थे। यह असभ्यपद्धति स्त्रीवर्ग में विशेषरूप से प्रचलित थी। इस दूषित पद्धति के संशोधन के लिए ही चीरहरणलीला हुई है। इस एक ही शिक्षा का समाज पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सदा के लिए यह बुरी प्रथा सर्वथा ही दूर हो गई। इसीप्रकार रासलीला "कामनिग्रहशिक्षा" के लिए प्रवृत्त हुई है—"आत्मन्यवरुद्धसौरतः"।

४१५–परमहंस-वीतराग-योगियों के उन्मत्ताचारों का समन्वय—

तात्पर्य कहने का यही हुआ कि पहिले तो बुद्धियोगी से ऐसे अशास्त्रीय-लोकविरोधी कार्य्य होता ही नहीं, यदि उनसे ऐसे कार्य्य देखे जाते हैं तो हमें मानना चाहिए कि अवश्य ही इसमें भी कोई गुप्त रहस्य है, गुप्त आदेश है। स्वयं वेद ने ऐसे परमहंसयोगियों के उन्मत्ताचार को लोकाभ्युदय-मूलक मानते हुए उनका समर्थन ही किया है। देखिए—

(१) 'अथ परमहंसा नाम संवर्तक-आरुणि-श्वेतकेतु-जडभरत-दत्तात्रेय-शुक-वामदेव-हारीतक-प्रभृतयोऽव्यक्त आशाम्बरत्वा यागमार्गं (बुद्धियोग) मार्गमव प्रार्थयन्त।

वृक्षमूले, शून्यगृहे, श्मशानवासिनो वा, साम्बरा वा दिगम्बरा वा न तेषां धर्माधर्मौ, लाभालाभौ, शुद्धाशुद्धौ, द्वैतवर्जिताः, समलोष्टाश्मकाञ्चना, सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति"

—भिक्षुकोपनिषत्

(२)—तत्र परमहंसा नाम संवर्त्तक–आरुणि–श्वेतकेतु–दुर्वास–ऋभु–निदाघ–जडभरत–दत्तात्रेय रैवतक प्रभृतय अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा, अनुन्मत्ता, उन्मत्तवदाचरन्त, त्रिदण्डं, कमण्डलुं शिक्यं पात्रं, जलपवित्रं, शिखां, यज्ञोपवीतं च इत्येतत्सर्वं 'भूःस्वाहा' इत्यप्सु परित्यज्य आत्मानमन्विच्छेत् ।

—जाबालोपनिषत्

४१६—ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–योगात्मिका शास्त्रीय-योगत्रयी से अनुप्राणित 'अधिकारीवर्गों' का स्वरूप–समन्वय, एवं समानाधिकार–मूला गीता की 'बुद्धियोगनिष्ठा' का संस्मरण—

शास्त्रीयमार्ग (शास्त्रीय अध्यात्मोपासनात्मक राजयोगात्मक–भक्तिमार्ग मन्त्र–लय–हठयोगात्मक भक्तिमार्ग यज्ञदानतपोलक्षण कर्म्ममार्ग नैष्कर्म्यलक्षण कर्म्ममार्ग) अधिकारमर्य्यादा की अपेक्षा रखते हैं । वर्णाश्रमधर्म्मानुयायी द्विजातिवर्ग ही शास्त्रीय-योगत्रयी (भक्ति–कर्म्म–ज्ञान-योगत्रयी) का अधिकारी है । स्त्री–शूद्र–म्लेच्छादि को इन मार्गों में प्रवृत्त होने का अधिकार नहीं है जैसाकि "कर्म्मयोगपरीक्षा" प्रकरणान्तर्गत वर्णाश्रमव्यवस्थाविज्ञान में विस्तार से बतलाया जा चुका है । परन्तु अव्ययमूला बुद्धियोगनिष्ठा का ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–स्त्री–म्लेच्छादि इतर पापयोनियों को सभी को समानाधिकार है । इस सम्बन्ध में भी शास्त्रनिष्ठ भगवान् की दृष्टि से यह संशोधन कर ही लेना चाहिए कि अव्ययनिष्ठामूलक शास्त्रीय ज्ञान–भक्ति–कर्म्म-योगों का तो एकमात्र द्विजातिवर्ग का ही अधिकार है । अतएव शूद्रों को अव्ययनिष्ठा का अनुगमन करते हुए भी वर्णोचित शास्त्रीय-निष्ठाओं पर ही यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहना चाहिए ।

४१७—स्त्री–शूद्र–वैश्यादि–अनुगता प्रकृतिसिद्धा कर्म्मविभूति एवं तद्द्वारा तद्वर्गों की अभ्युदय–निःश्रेयस–संसिद्धि—

इतर–शूद्र-स्त्री–पापयोनि आदि के जो प्रकृतिसिद्ध सेवा, गृहस्थपरिपालन देशानुकूलकर्म्म रूपादि नियत कर्म्म हैं उनके अनुगमन से अव्ययानन्यता के द्वारा उद्धार सुलभ है । यहाँ इसी अव्ययानन्यता से वही फल मिल जाता है जो कि फल शास्त्रनिष्ठ द्विजाति बुद्धियोगी को मिलता है । दोनों समानरूप से "परागति" (अव्ययगति) के अधिकारी हैं । और इसी दृष्टि से सर्वभूतात्मा यह अव्ययनिष्ठा किंवा बुद्धियोगनिष्ठा सब के लिए उपकार प्रवर्त्तिका बन रही है । इसी भाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

'मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा" ॥

४१८—बुद्धियोगनिष्ठ धर्मव्याधादि की प्रकृतिसिद्धा नियता कर्मानुगति, एवं तन्मूला महती संसिद्धि का संस्मरण—

धर्मव्याधादि शूद्रमहाभाग स्वकर्म में निरत रहते हुए इसी बुद्धियोग के अनुग्रह से शुद्ध हुए हैं। अनन्यनिष्ठ निषाद, भीलनी कुब्जा, मीरा कबीर सन्त तुकाराम, भक्तवर रैदास आदि की बुद्धियोगानन्यता सुप्रसिद्ध ही है। इसी भारती, गार्गी आदि ब्रह्मवादि-स्त्रियों के नाम स्मरण से भी कौन अपने को धन्य नहीं मानता ?। "तत्पश्चात् पाञ्चाल दुस्तर, वहुसम्भव अधिकार-मर्यादा से सर्वथा नियन्त्रित ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगों से सर्वथा स्वतन्त्र इस बुद्धियोग का अनुगमन आपामर-आविद्वज्जन सभी के लिए रहा करता है। और इस सर्वोपकारक मार्ग के आविर्भाव-उपदेश का एकमात्र श्रेय गीताचार्य भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के गीताशास्त्र को ही मिला है। परन्तु... ।

४१९—महाप्रभावप्रयत्नगता अवतारोपासना का समर्थन एवं युगधर्मनिबन्धन-अौपास-निक-मार्गों की लक्ष्यच्युति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही 'परन्तु' महाप्रभावपरिधि से सम्बन्ध से रखने वाली चौथी "अवतारोपासना" का समर्थक है। जिस बुद्धियोग में न श्रममात्र ही, न नियममात्र ही, होती केवल श्रममात्र अधिक से अधिक श्रममात्र जिसके सम्यगनुष्ठान के लिए सर्वमूलभूत निर्गुण ब्रह्मात्मा का परिज्ञान अपेक्षित हो, सामान्य स्त्री-शूद्र-वैश्यों की तो बात छोड़े, ज्ञाननिष्ठावान् ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग के लिए भी यह योग एक कठिन समस्या बन जाता है। इसकी कठिनता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, वेदयुग से आरम्भ कर आज पर्यन्त परिगणित (इने गिने) महापुरुष ही इस में सफलता प्राप्त कर सके हैं। दूसरा प्रमाण यही है कि, जनसाधारण में इस योग का प्रचार बहुत ही कम रहा है। महाभारत जैसे विद्यावैभवकाल में भी यह योग विलुप्त था। फिर आज के इस युग की तो कथा ही क्या, जहाँ शास्त्रानभिज्ञ मन्दमति स्वार्थपरायण वे व्यक्ति भी, जिन्हें वैदिक-आत्मा-परमात्म तत्वों का लेश भी परिज्ञान नहीं है निर्गुण उपासना का विशिष्टघोष करते हुए लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे।

४२०—बुद्धियोग की कठिनता का स्वरूपोद्घाटन सुगमतम भी बुद्धियोग की युगधर्म-व्यामोहनानुगता महती कठिनता, एवं अवतारोपासना के माध्यम से तन्निराकरण प्रयास—

इसका यह तात्पर्य तो नहीं है कि बुद्धियोग एक महाकठिन मार्ग है। कठिन-समस्या अवश्य है परन्तु मार्ग तो अतिशय सुगम ही है। यहाँ अभ्यासमात्र की अपेक्षा है। यदि यह दुरूहमार्ग होता तो

इसके लिए प्रत्यक्षस्वरूप से भगवान् के मुख से- 'येऽपि स्युः पापयोनयः' -"अपि चेत् सुदुराचार" ये शब्द नहीं निकलते। बुद्धियोग जटिल पथ है, अथवा सुगम ? इस प्रश्न की मीमांसा आगे आने वाले "बुद्धियोगपरीक्षा" प्रकरण में की जाने वाली है। अतः यहाँ विस्तार की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो हमें यही निवेदन करना है कि स्वस्वरूप से सुगमतम रहता हुआ भी बुद्धियोग सामयिक प्रवाह के द्वारा एवं मध्यस्थित निगुम्फ-विस्तार के द्वारा क्लिष्टतम बना दिया जाता है। जैसे बिना आत्मस्वरूप के (उस सुसूक्ष्म तत्व के परिज्ञान के भी) बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त की जासकती है और अवश्य भी जासकती है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मानवसमाज के बुद्धिदोष से एक रहस्यमय जटिल समस्या बनता हुआ ही बुद्धियोग ऐसी-शूद्र पापयोनियों को वञ्चित रख देता है। द्विजातिवर्ग बिना भी बुद्धियोग के शास्त्रनिष्ठ भक्ति-ज्ञान-कर्म्म-योग में निष्कामभाव से प्रवृत्त रहता हुआ परम्परया बुद्धियोग प्राप्त करता हुआ (ददामि बुद्धियोगं तं येन मामु-पयान्ति ते) मुक्त होसकता है। परन्तु जिन स्त्री-शूद्र-पापयोनियों को न तो सामयिक परिस्थितिदोष से बुद्धियोग का परिज्ञान है, एवं न इन्हें शास्त्रसिद्ध योगत्रयी के आचरण का ही अधिकार है, इन के अभ्यु-दय का कौन सा उपाय ? बस इसी प्रश्न का समाधान है— अवतारोपासना' —"पौराणिक मार्ग" ।

४२१-'द्विजबन्धु' स्वरूप दिग्दर्शन, भविष्य में अनधिकृत द्विजबन्धु-आदि वर्ग, एवं तदभ्युदयानुगत पौराणिक-अवतारोपासना-पथ का संस्मरण—

ऐसे क्षत्रिय-जो जन्म से मूर्ख रहे हैं, ऐसे ब्राह्मण-जो विद्याशून्य हैं, ऐसे वैश्य-जो अर्थकुचक्र में बद्ध सिद्ध बन कर आत्म-परमात्म-विवेक से वञ्चित हैं, 'द्विजबन्धु' कहलाए हैं। ये द्विज नहीं हैं, अपितु द्विजाति के भाई बन्धु हैं, अर्थात् नाममात्र के द्विजाति हैं। द्विजबन्धुलक्षण ऐसा द्विजातिवर्ग अविद्यावश एवं स्त्री-शूद्र-पापयोनिवर्ग अनधिकारवश शास्त्रीय योग का अनुष्ठान करने में असमर्थ है। दूसरे शब्दों में-सर्वात्मना पूर्वोक्त आठों शास्त्रीय उपासनामार्गों से अपरिचित है। इसी के अभ्युदय के लिए भगवान् व्यासदेव की अनुकम्पा से पुराण एवं तत्प्रतिपाद्य अवतारोपासना का जन्म हुआ है, जिसके कि सम्बन्ध में निम्न लिखित सूक्ति सुप्रसिद्ध है—

"स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" ।

४२२-'त्रयी न श्रुतिगोचरा' का तात्विक स्वरूप-समन्वय, एवं श्रुतिप्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित पुराणशास्त्र के प्रामाणिक पथ का संस्मरण—

सचमुच यह बड़े ही खेद का विषय है कि, हम अपनी मूर्खता से महर्षियों के उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के स्थान में कृतघ्नता प्रकट करते हुए आज अपना सर्वनाश ही करा रहे हैं। मनोरथप्रसी भावुक मानव कहा करते हैं कि जब वेद ईश्वरीय ज्ञान है, तो मनुष्यमात्र को उसका अधिकार क्यों नहीं ?। क्यों स्त्री-शूद्रों को वेदमार्ग से वञ्चित रक्खा जाय ?। इस सम्बन्ध में यही मामिक स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि अधिकारी-भेद की मर्य्यादा के आधार पर ही प्रकृतिभेद प्रतिष्ठित है। ईश्वरी-प्रज्ञानरूप वेदशास्त्र में जैसी योगत्रयी का विधान हुआ है, यदि इसका उन्हें थोड़ा भी आभास होजाता तो सम्भवतः वे "स्त्रीशूद्रौ ना-

मीमांसाम्' "न भुक्तिमुक्त 'प्रयीन भुक्तिगोचरा' इस आदेश की कुत्सित समालोचना नहीं करते। भेद की बात तो बहुत दूर है आज तो हमें यह कहने में भी सङ्कोच नहीं होरहा कि, भावप्रधान स्त्री-शूद्रवर्ग के क्या त्रिवर्णद्विजगण भी पुराण के मर्मदर्शन से भी सर्वथा वञ्चित हैं। पौराणिक पथ कोई स्वतन्त्र पथ किंवा काल्पनिक पथ नहीं है। अपितु यह तो उक्त भक्तिमार्ग का ही एक रूपान्तर-सरल मार्ग है।

४२३ त्रिदेवतानुगता पौराणिकी अवतारोपासना के ज्ञान–कर्म्म–निबन्धन का प्रधान-विवर्त —

अस्तु, किसे किस मार्ग का अधिकार है ? यह विवेचन अप्रस्तुत है। वक्तव्यांश इतना ही है कि, अवतारोपासना का विकास पुराणों में ही हुआ है एवं इस पौराणिकी अवतारोपासना के ब्रह्मा-विष्णु–महेश, प्रधानरूप से ये तीन ही विवर्त हैं। यहाँ भी समन्वय ज्ञान–कर्म का ही है। और इसी दृष्टि से इस अवतारोपासना के भी दूर्वोपासना की भाँति दो ही भेद हो जाते हैं जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

४२४-वैदिक-पञ्चदेवतावाद के आधार पर प्रतिष्ठित पौराणिक त्रिदेवतावाद का स्वरूप समन्वय—

वैदिक देवोपासना और पौराणिक देवोपासना का मार्ग यद्यपि भिन्न है परन्तु लक्ष्य एक ही है। जिस ब्रह्मरूप का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उसके स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी, ये पाँच पर्व हैं। स्वयम्भू ब्रह्मा है, सूर्य्य इन्द्र है चन्द्रमा सोम है, पृथिवी अग्नि है। ये पाँच देवता ही पञ्चपर्वा ब्रह्मतत्त्व के स्वरूप-समर्पक हैं। एवं यही वैदिक पञ्चदेवतावाद है। यहाँ भी उपासना आधिकारिक अचेतन जीवोपासना (पर्वोद्धाररूपा वैदिक उपासना) है जैसाकि पूर्व के तृतीय प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है।

४२५–रोदसी–क्रन्दसी–संयती–त्रैलोक्यों के अधिष्ठाता ब्रह्मा–विष्णु–महेश–तत्त्वों का समन्वय—

यही वैदिक पञ्चदेवतावाद पुराण में त्रिदेवतावादस्वरूप में परिणत होगया है। पाठकों को स्मरण होगा कि–प्रकरणारम्भ में प्रणवोद्धार का स्वरूप बतलाते हुए हमनें भूः-भुवः-स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों के आधार पर क्रमशः रोदसी-क्रन्दसी-संयती, इन तीन त्रिलोकियों का आविर्भाव बतलाया था। ये ही तीनों त्रैलोक्य क्रमशः महेश विष्णु, ब्रह्मा, इन तीन देवताओं से युक्त हैं। महेश भूरूप रोदसी-त्रैलोक्य के विष्णु भुवः स्वरूप क्रन्दसी त्रैलोक्य के एवं ब्रह्मा स्वः–स्वरूप संयती-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता माने गए हैं।

४२६-रोदसी-क्रन्दसी-संयती-त्रैलोक्यों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदधिष्ठात्री देवतात्रयी––

सत्यलोकात्मक स्वयम्भू ऋतलोकात्मक तपोलोक, जनलोकात्मक परमेष्ठी इन तीनों की समष्टि ही संयती-त्रैलोक्य है, एवं इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। जनलोकात्मक परमेष्ठी ऋतलो-

ध्यात्मक महर्लोक, अमृत सूर्य्य इन तीनों की समष्टि ही कृष्णसी त्रैलोक्य है एवं इस के अधिष्ठाता विष्णु हैं। मर्त्यसूर्य्यरूप स्वर्लोक, चन्द्रात्मक भुवर्लोक पृथिव्यात्मक भूलोक तीनों की समष्टि ही राक्षसी-त्रैलोक्य है, एवं इस के अधिष्ठाता महेश किंवा महादेव हैं।

४२७–प्रकृतिदृष्टि एवं शुक्रदृष्टि–से अनुप्राणिता दृष्टित्रयी, और तदनुगत उभय-दृष्टि-समन्वित त्रैलोक्य–त्रिलोकी के त्रिविध देवता, एवं त्रिनेत्र महादेव' रूप 'महादेव' का सस्मरण—

ब्रह्मा प्रकृतिदृष्टि से प्राणमय हैं, शुक्रदृष्टि से वाङ्मय हैं। विष्णु प्रकृतिदृष्टि से आपोमय हैं, शुक्रदृष्टि से वाक्–आपोमय हैं। इधर महेशतत्त्व प्रकृतिदृष्टि से वाक् अग्नि-अन्नादमय हैं एवं शुक्रदृष्टि से वाक्-आप -अग्निमय है। इसी दृष्टि से ब्रह्मा विष्णु में जहाँ एक ओर दो कलाएँ हैं वहाँ महेश म तीन कलाएँ हैं। इसी महत्त्व से वे तीनों में महादेव' कहलाते हैं। 'महोदेवो मर्त्यां आविवेश' के अनुसार इयम मूर्ति और इन्द्रप्रधान महेशतत्व ही महादेव हैं। ब्रह्मा-चित्पति हैं, विष्णु देवपति हैं महादेव भूतपति हैं। ब्रह्मा-विष्णु दोनों अव्यक्त हैं। इन दोनों अव्यक्तों का लिङ्ग (परिचायक) व्यक्त महेशतत्त्व ही है। व्यक्त ही तो अव्यक्त का लिङ्ग बनता है। इसी आधार पर महादेव की उपासना लिङ्गरूप से ही की जाती है। मर्त्यसूर्य्य महादेव का एक नेत्र चन्द्रमा दूसरा नेत्र एवं अग्नि तीसरा नेत्र। यही त्रिनेत्र महादेव हैं।

४२८–उत्पादन–पालन–संहाराधिष्ठात्री देवतात्रयी त्रिगुणात्मिका देवतात्रयी, एवं महालक्ष्मी–महाकाली–महासरस्वती–रूपा शक्तित्रयी का पावन–सस्मरण—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, ब्रह्मा एक स्वतन्त्र देवता है। विष्णु इन्द्र की समष्टि विष्णु है एवं इन्द्र–अग्नि-सोम की समष्टि महेश है। इसप्रकार वैदिक-महादेवता के आधार पर ही (उपासना की सिद्धि के लिए) पुराण का त्रिदेववाद स्थापित हुआ है। पुराण के अनुसार ब्रह्मा विश्व के उत्पादक हैं विष्णु–पालक हैं महादेव संहारक हैं। "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः"। ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान हैं, विष्णु रजोमूर्त्ति हैं शिव तमोमूर्त्ति हैं। तीनों की महासरस्वती महालक्ष्मी महाकाली ये तीनों शक्तियाँ ही ज्ञान–अर्थ–काम–कर्मों का संचालन कर रही हैं। अहःकाल में वैष्णवी महालक्ष्मी का साम्राज्य है। रात्रि में रौद्री महाकाली की सत्ता है। एवं सन्धि में ब्रह्माणी महासरस्वती व्याप्त है।

संयती – १–सत्यलोकः प्राणमयभूमा (स्वयम्भूः) ; २–तपोलोकः–प्राणवाङ्मयः (*) ; ३–जनलोकः–आप–वागापोमयः (परमेष्ठी) — ब्रह्मा

क्रन्दसी – ३–जनलोकः (अप्–वागापोमयः)–(परमेष्ठी) ; ४–महर्लोकः (शिवमनुमयः)–(*) ; ५–स्वर्लोकः (वाक् वागोऽग्निमयः) अमृतसूर्यः) — विष्णुः

रोदसी – ५–स्वर्लोकः (वाक् वाङ्मयः) (मर्त्यसूर्यः) ; ६–भुवर्लोकः (यम–वागापोमयः) (चन्द्रमाः) ; ७–भूलोकः (प्रजाप–वाङ्मयः) (पृथिवी) — महेशः

१–संयतीत्रैलोक्य–सत्–अधिष्ठाता ब्रह्मा चितपति–अव्यक्त (पृ० इ० मौर्य)
२–क्रन्दसीत्रैलोक्य–चित्–अधिष्ठाता विष्णु–देवपति–अव्यक्त (पृ० इ० मगध)
३–रोदसीत्रैलोक्य–आनन्द–अधिष्ठाता महेश–भूतपति–व्यक्तोऽव्यक्तानाम् (पृ० इ० मात्र)
— पौराणिकदेवत्रयी

४२६–'अवतार' शब्द की त्रिधा व्याप्ति, एवं तन्निबन्धन–त्रिविध अवतारवर्गों का पावन संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासना-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अवतारविज्ञान के अनुसार हम अवतारों को नित्यप्राकृतिक अवतार सामयिक मनुष्यविध अवतार उभयविध अवतार इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। उक्त प्राकृतिक-तीनों देवताओं (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) को एवं कूर्म्म वराह, गणपति शक्ति, आदि अवतारों को नित्यप्राकृतिक अवतार कहा जायगा। वामन-कूर्म्म-वराह-शक्ति आदि अवतारों को उभयविध अवतार कहा जायगा। नृसिंह-राम कृष्ण-परशुराम-हलधर आदि अवतारों को सामयिक मनुष्यविध अवतार कहा जायगा एवं इन तीनों ही अवतारों को आधिकारिक चेतनजीव माना जायगा, और इन तीनों की ही उपासना पौराणिक उपासना कहलायगी। तीनों में से नित्यप्राकृतिक अवतारों की तथा उभयविध अवतारों की उपासना का प्रकार तो स्वयं वेद में भी यज्ञ यज्ञकर्म्म के व्याज से निरूपित है। एवं तीसरी मनुष्यविध अवतारों की उपासना का एक-मात्र प्रतिपादक पुराणशास्त्र एवं तदनुगामी नारदपञ्चरात्र भक्तिसूत्र आदि ही हैं। इन अवतारोपासनाओं का क्या प्रकार है? यह तत्त्व शास्त्रों से ही जानना चाहिए।

४३०–द्विजातिवर्गानुबन्धिनी–अवतारोपासना, एवं स्त्री-शूद्र-वैश्य वर्गानुबन्धिनी–अवतारोपासना का स्वरूप-समन्वय —

हाँ इस सम्बन्ध में एक विवेक अवश्य ही कर लेना चाहिए। द्विजबन्धुलक्षण द्विजातिवर्ग स्त्री शूद्र प्रमुखरूपेण इन तीन के अभ्युदय के लिए ही अवतारोपासना का विधान हुआ है। इनमें नित्य-प्राकृतिक अवतारों की उपासना द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध रखती है। आगमशास्त्रोक्त उपासना के जितने मार्ग हैं शैव-शाक्त-कापालिक-मान्त्रिक-तान्त्रिक-यान्त्रिक-आदि जितने भी प्रकार हैं उन सबका नित्य प्राकृतिक अवतारोपासना में ही अन्तर्भाव है। और इसका विशेष अधिकार द्विजबन्धुओं को ही है। यदि निष्काम भाव से वे इस उपासना में प्रवृत्त होते हैं तो उन्हें ब्रह्मप्राप्तिलाभ के द्वारा उन्हें ब्रह्मलोकपद वहीं मिल जाता है अन्यथा पुनरावर्त्तन भी नहीं होता। सकामभाव में सिद्धिभाव के कारण बनते हुए ये ही उपासनामार्ग अपारवत्ता के ही कारण बने रह जाते हैं।

४३१–मनुष्यविधा अवतारोपासना का अधिकारी वर्ग एवं इत्थंभूता सर्वसामान्यानुगता अवतारोपासना के नियन्त्रणासंस्पृष्ट सामान्य पर्वों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

स्त्री और शूद्रवर्ग, उभयविध अवतारोपासना के विशेषतः सामयिक मनुष्यविध अवतारोपासना के अधिकारी हैं। इस उपासना में निगमागमपद्धतियों का कोई नियन्त्रण नहीं है। पूर्वोक्त अवतारोपासना में तो आगमोक्त पद्धति का यथावत् अनुगमन करने से ही सफलता मिल सकती है। परन्तु इस दूसरे प्रकार में कोई नियमविधि नहीं है। केवल अवतारपुरुषों की लीलाओं का अभिनय (रामलीला-कृष्णलीला-नृसिंह लीला-वराहलीला-वामनलीला-सत्यनारायणकथा-श्रवण-नामसंकीर्तन-एकादशीव्रत-पञ्चमीस्नान पूर्णिमास्नान-तीर्थगमन-देवदर्शन-आदि रूप से) एवं अनुगमन ही इस उपासना का मुख्य प्रकार है। सकामभाव में आत्मतुष्टि है, निष्कामभाव में आत्मतृप्ति है। इसी भाग का- भजन तात्पर्य श्रीक्रा

या मत्त्वा तत्परो भवेत्' इन शब्दों में अभिनय हुआ है। कहना न होगा कि अवतारोपासना का यह सरलतम मार्ग भी हमारे देश से आज सर्वथा ही विकृत बन चुका है। इसी विकृत दोषपूर्ण पौराणिकी उपासना से क्षुब्ध बन हुए एक * महात्मा के एतद्विध स्पष्ट उद्गार हैं कि—

> चित्रभक्ति में जब तलक उपासना दुख पाती।
> तब तक नारी हाय क्यों सयम की जाती॥
> छैलों की हा छमी रामलीलाएँ आतीं।
> साधुरीति का नाम नसाती मीत छुड़ाती॥
> —वासुदेवपरीक्षा

४३२—लौकिक अवतारोपासना से अनुप्राणित तीर्थ-देवमन्दिरादि के अनाचार, और दुराचार, तथा धर्म्मशोधकों के द्वारा मूलनाश का प्रयास—

तीर्थों के अनाचार देवमन्दिरों के दुराचार एवं कर्त्तव्य से वञ्चित करने वाला, लोकपरम्पराविमूलक नामसंकीर्तन आदि विभीषिकाओं ने इस पौराणिक उपासनामार्ग की जैसी दुर्दशा कर डाली है उससे कौन भारतीय दुःखी न होगा?। साथ ही अनाचार का नाश करने के लिए उद्यत उन सुधारकों की कुबुद्धि भी किस के हृदय में शूल उत्पन्न नहीं कर देगी, जो रोग के साथ रोगी के ही सर्वनाश के लिए भी कटिबद्ध होरहे हैं। संशोधन अवश्य अपेक्षित है परन्तु मूल की रक्षा करते हुए ही।

४३३ मूलसंरक्षणात्मिका दोषनिवृत्ति-पद्धति की ही समादरणीयता—एवं तथाविध सुधारवाद का समर्थन—

देवमन्दिरों के दुराचार बँद करने हैं परन्तु देवप्रतिमाओं को कलङ्कित नहीं करना है। लोकाचारों की रक्षा करते हुए, इन रक्षा के द्वारा लोकसंग्रह को सुरक्षित रखते हुए ही हमें विकृत पौराणिक उपासनामार्ग का संशोधन करना है। और ऐसा मूलरक्षक संशोधन ही भारतगौरव का रक्षक है।

४३४—लोकसंग्रहात्मक-परायणभावनासमन्वित पौराणिक-उपासनापथ, तथा लोकसंग्रह शून्य-केवल स्वार्थसाधक-पौराणिक भक्तिमार्ग—

उक्त तीनों अवतारोपासना-प्रकारों में से निष्कामभावयुक्त द्विजातिवर्ग सम्बन्धी आगमशास्त्रोक्त नित्य प्रासङ्गिक अवतारोपासनात्मक निष्कामभावयुक्त वैध पहिला प्रकार लोकसंग्राहक बनता हुआ निष्कामकर्म्मयोग है। एवं उभयविध अवतारोपासनात्मक एवं मनुष्यविध अवतारोपासनात्मक स्त्री शूद्रवर्गानुबन्धी उपासनामार्ग लोकसंग्रह वर्जित होता हुआ, अतएव केवल स्वार्थमूलक बनता

* विवक्षित महात्माओं के सुपरिचित पं० श्रीदुर्गाप्रसाद द्विवेदी-महाभागाः।

ज्ञानयोग माना जायगा। इस दृष्टि से इतर वैदिक उपासनामार्गों की भाँति यह चौथा अवतारोपासना विवर्त भी दो मार्गों में विभक्त होजाता है।

४३५–पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग के दृष्टिकोण–भेदनिबन्धन विविध-विवर्त—

इस प्रकरण की सभी उपासनाओं को हमने 'पुराणयुगानुगत उपासनामार्ग' कहा है। इस सम्बन्ध में पाठकों को यह विवेक कर ही लेना चाहिए कि, वेद के ब्राह्मणभाग से सम्बन्ध रखने वाली आधिदैविक-परोक्षेश्वरोपासना (कर्मयोग-यज्ञादिरूप) आध्यात्मिक परोक्षेश्वरोपासना (आत्मचिन्तनरूप ज्ञानयोग) आधिदैविक प्रतिमेश्वरलक्षण प्रत्यक्षदेवोपासना (यज्ञाग्निरूप कर्मयोग) आध्यात्मिक प्रतिमेश्वर-लक्षण प्रत्यक्ष जीवोपासना (आत्मचिन्तनरूप ज्ञानयोग) इन प्रकारों से सम्बन्ध रखने वाली वाङ्मयी यज्ञ-प्रधानस्तुपासना तो पुराणकाल में प्रचलिता नैगमिक-उपासना ही है।

४३६–पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग का संग्रहात्मक स्वरूप-समन्वय, एवं तृतीय अवान्तर प्रकरण--विराम—

आगमशास्त्रमूलक नित्य अवतारोपासना–लक्षणा त्रिवर्णानुबन्धिनी लोकसंग्रहानुगामिनी उपासना पुराणकाल में प्रचलित आगमिक वैध उपासना है। एवं शास्त्रीय अवैध पुराणसम्मत मनुष्यविध अवतारोपासना–लक्षणा स्त्री–शूद्र धर्मानुबन्धिनी लोकसंग्रहात्मा उपासना पुराणकाल की विशुद्ध पौराणिक–उपासना है। इसप्रकार निगम–आगम–पुराण इन तीन तन्त्रों में प्रतिष्ठित उक्त सभी प्रकार पुराणयुग से सम्बन्ध रखते हुए 'पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग' इस शीर्षक के अधिकारी बन जाते हैं। यज्ञेश्वर प्रजापति की उपासना का विभिन्न पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग का यही संक्षिप्त निदर्शन है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

सर्वसंग्रह —

१–उपनिषत्सिद्ध उपासनामार्ग (बुद्धियोग)—(अव्ययोपासना–निर्गुणा)

१–परात्परोऽव्ययः–अकाम–मुक्तमार्ग–विशेष (कर्मयोग) }
१–उदासीनोऽव्ययः–निष्काम–मुक्तमार्ग–सामान्य (ज्ञानयोग) } वेदयुगानुगता–उपासना

२–आरण्यकसिद्ध–उपासनामार्ग (भक्तियोग–अक्षरोपासना–सगुणा–षोडशीप्रजापतिः)

१ आधिदैविक–महासत्त्वेश्वर–निष्काम–भक्तिमार्ग–विशेष (कर्मयोग) }
२ आध्यात्मिक–सर्वमायेश्वर–ईश्वरकाम–योगमार्ग–सामान्य (ज्ञानयोग) } —वेदयुगानुगता–उपासना

३–ब्राह्मणमार्गसिद्ध–उपासनामार्ग (कर्म–ज्ञाननिष्ठा–आत्मक्षरोपासना–सविकारा–पञ्चप्रजापतिः)

क्षरेश्वरोपासना— { १–आधि क्षरेश्वर–मायिककाम–योगनिष्ठा–विशेष (कर्मयोग)
२–आध्या क्षरेश्वर–निवृत्तिकाम–सांख्यनिष्ठा–सामान्य (ज्ञानयोग) }

आधि०अध्ये वा { १–आधि प्रतिमेश्वर–कर्मकाम–कर्मनिष्ठा–विशेष (कर्मयोग)
२–आध्या प्रतिमेश्वर–ज्ञानकाम–ज्ञाननिष्ठा–सामान्य (ज्ञानयोग) } नैगमिक उपासनामार्ग

आधि चेतनयोगे— { १–नित्यावतार–सिद्धिकाम–देवनिष्ठा–विशेष (कर्मयोग) } आगमिक–उपासना
२–मानुषावतार–अभ्युदयकाम–भक्तिनिष्ठा–सामान्य (ज्ञानयोग) } —पौराणिक–उपासना

पुराणयुगोपासना— { १–नैगमिक–उपासनामार्ग ज्ञाननिष्ठाभिजातीनां, विशेषतो ब्राह्मणानाम्
१–आगमिक–उपासनामार्ग स्त्री–द्विजातिबन्धूनाम्
१–पौराणिक–उपासनामार्गः–स्त्री–शूद्रादि–वैश्यानां च ।

इति–"युगधर्मानुगता–विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"पुराणयुगानुगता–विकारोपासना"

नामक

तृतीय–अवान्तर–प्रकरण–उपरत

३

मी:

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"पुराणयुगानुगता--विकारोपासना'

नामक

तृतीय-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

३

श्री

(४) दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"वैकारिकक्षरोपाना"-(विराट्प्रजापति -प्रतिमेश्वर)

अर्थानुगत-आराधनात्मक कर्म्म-एव-उपासना

अर्थात्मिका-मर्त्यशुक्रमयी

वैकारिकी-देवोपासना-प्रतिमेश्वरोपासना-स्वार्थात्मिका

मर्त्यवाङ्मयी-उपासना-आत्मपचनात्मिका

१-मर्त्यावाक्-विश्वम्

२-मर्त्यापः

३-मर्त्याग्निः

(२-३) विश्वेदेवाः

(१-३) 'विकारक्षर' तदिदं विकारक्षिवर्णम्-मर्त्यवाग्विवर्णमेव

(सैषा भजनोपासना-देवोपासना वा-अर्थात्मिका)

स एष-आराधनात्मकेन कर्म्मणा-अनुगमनीयः

'अनुगमनं' नाम-श्रद्धातमावेनात्मसमर्पणम्

तस्यानुसरणं वा

सैषा-स्वार्थात्मिका-उपासना-कर्म्मैव

चतुर्थी

— ४ —

(सोऽय-दर्शनयुग-चतुर्थ-द्वापरयुगात्मक)

१-मर्त्यशुक्रात्मिका वाक्

२-विकारक्षर

३-अर्थ

४-वाक् (मर्त्यशुक्रमयी)

(१-४) तदेतत्-सर्वं वागेव-विकारक्षर एव-वैकारिक (विकारो हि-विकारक्षर)

श्री

दर्शनयुगानुगत--वैकारिकोपासनामार्ग
चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण
४

२७-अज्ञान, विरुद्धज्ञान, तथा अर्द्धज्ञानमूलक विवाद-पाखण्ड से सच्छास्त्रों का अभिभव, एवं सन्देहनिवारक शास्त्रों की सन्देहशीलता का दिग्दर्शन—

"हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहिं पन्थ जिमि विवाद पाखण्डतें लुप्त भये सद्ग्रन्थ" इस तुलसी-सूक्ति के अनुसार अज्ञान विरुद्धज्ञान अर्द्धज्ञानमूलक हमारे विवाद और पाखण्ड-दोष से आज सद्ग्रन्थ विलुप्त होगए हैं किंवा सद्ग्रन्थ असद्ग्रन्थ बन गए हैं। "इदमित्थमेव"-"न एवेद-मिति अभवत्' इस निश्चित मर्यादा से वञ्चित होते हुए वे सद्ग्रन्थ संशयनिवृत्ति के स्थान में संशय के ही कारण बन रहे हैं। 'वा' 'वा' [इदं वा इदं वा] मात्रा मक इसी संशय ने महर्षियों की वाग्धारा वैज्ञानिकी का स्वरूप आज विकृत कर दिया है। और इस का एकमात्र दोषी है आज का विद्वत्-समाज। और इस के इस पतन का मूल कारण है—वैदिक साहित्य का तिरस्कार।

४१८-असंदिग्ध-निर्णायक वेदशास्त्र की उपेक्षा के दुष्परिणाम, एवं व्यवच्छेद-दृष्टि का अभिभव—

वेदशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो हमें व्यवच्छेद के द्वारा निश्चित असंदिग्ध निर्णय पर पहुँचाने की क्षमता रखता है। यदि हम वैदिक विज्ञान को लक्ष्य में रख कर पौराणिकी का विचार करते हैं, तो हमारे सभी सन्देह शरदभ्रवत् विलीन होजाते हैं। व्यवच्छेददृष्टि हमें एकमात्र वेद से ही मिल सकती है। और इस दृष्टि को आगे करते हुए ही क्रमप्राप्त आत्मविराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली विकारक्षरोपासना का संक्षिप्त स्वरूप उपासकों के सम्मुख रक्खा जारहा है।

४२९-आत्मक्षरनिबन्धना उपासना के साथ विकारक्षर-निबन्धना उपासना का समतुलन, एवं पौराणिक-उपासना-पथ से समतुलिता दार्शनिक-उपासनानुगता विराडुपासना का संस्मरण—

जो स्वरूप आत्मक्षरात्मक सविकारप्रजापति की उपासना का है प्रायः वही स्वरूप इस विकारक्षरोपासना, किंवा विराडुपासना का है। केवल नाममात्र में अन्तर है। आत्मप्रजापत्युपासना का

निष्कामभाव से सम्बन्ध है एवं इस विराट्प्रजापत्युपासना का "सकामभाव" से सम्बन्ध है। यह उपासना पौराणिक उपासना का ही रूपान्तर है। ऐसी दशा में यद्यपि इसे भी 'पुराणयुगानुगत उपासनामार्ग' ही कहना चाहिए था। परन्तु इस मार्ग में आगे जाकर 'तत्त्वभक्ति' का भी समावेश होगया है एवं इस तत्त्वभक्ति का दर्शनक्रम से ही सम्बन्ध है अतएव इसे 'दर्शनयुगानुगत-उपासनामार्ग'—इस भूमिका से समन्वित मान लिया गया है।

४४०–विराट्प्रजापति के तात्त्विक चिरन्तन-स्वरूप से अनुप्राणित विराट् के पारिभाषिक स्वरूप का पावन-संस्मरण—

यह विराट्प्रजापति वही विराट् है जिस का गीता में भगवान् के द्वारा साक्षात्‌रूप से दर्शन हुआ है। यह विराट् वह विराट् है जिस का त्रिगुणभावमयी विश्वनिर्मात्री प्रजा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह विराट् वह विराट् है जो सहस्रों सहस्राक्ष सहस्रपात् रूप से भूमि पर प्रतिष्ठित होरहा है। यह विराट् वह विराट् है जिस के अग्नि–वायु¹–इन्द्र गार्हपत्य, धिष्ण्य², आहवनीय, इत्यादि रूप से १–३–१० से विविध रूप हैं। यह विराट् वह विराट् है जिस का महापुरुषरूप से सम्पूर्णात्मक त्रैलोक्य में विस्तार हुआ है। यह विराट् वह विराट् है जिस का स्वरूप "चत्वार आत्मा इत्येषो पुरुषमेवं प्रतिष्ठा" रूप से षट्पुरुष-पुरुषात्मक प्रजापति से सम्पन्न हुआ है। यह विराट् वह विराट् है जिस की मूलप्रतिष्ठा पूर्वोक्त भगवती का अन्तिम पर्वरूप पृथिवीलक्षण अन्नाद नामक महाउक्थरूप है।

४४१–विराट्प्रजापति के विविध महिमाभावों का पारिभाषिक संस्मरण, एवं तदभिनन्दन विराट्-प्रजापति के नैगमिक-स्वरूप का दिग्दर्शनोपक्रम—

यह विराट् वह विराट् है जो मोक्षार्थी मुमुक्षु का निरपेक्ष साक्षी बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है जो कर्म्मानुसार विश्वप्रजा के जाति-आयु-भोग-विवर्तों की व्यवस्था किया करता है। यह विराट् वह विराट् है जो हमारे शुभाशुभ-पाप-पुण्य-कर्म्मों का दर्शक (साक्षी) बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है जो वैराजवेद से उपलक्षित त्रैलोक्य (सम्पूर्णत्रैलोक्य) में विराजित है। यह विराट् वह विराट् है जो पार्थिव प्रजा की कामनाएँ पूरी किया करता है। यह विराट् वह विराट् है जो पापात्मा पुण्यात्मा दोनों पर समान अनुग्रह रखता हुआ पुण्यात्मा को पुण्यकर्म्मों के लिए, एवं पापात्मा को पापकर्म्मों के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। यह विराट् वह विराट् है जोकि वेदमात्र के कारण आगम-निगम शास्त्रों में- 'देवसत्य' नाम से प्रसिद्ध है। भावुकजन सगुणस्वमूर्त्ति रूपमपूर्वक कर्म्माविस्मृता इसी विराट् प्रजापति की उपासना विश्वरूपोपासना है और प्रकृत प्रकरण इसी के दिग्दर्शन कराने के लिए प्रवृत्त होरहा है।

४४२–सिंहावलोकनदृष्टि-निबन्धन विराट्-स्वरूप-संस्मरण—

यद्यपि पूर्व के पुराणयुगानुगत-उपासना-प्रकरण में यत्र तत्र विराट् प्रजापति का दिग्दर्शन करा दिया गया है तथापि इस प्रधान प्रकरण में प्रकरण-सङ्गति के लिए संक्षेप से पुनः सङ्क्षिप्त का सिंहावलोकनदृष्टि से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

४४३–'आत्मसत्य' के–'निर्गुणसत्य–अमृतसत्य–ब्रह्मसत्य–देवसत्य–भूतसत्य' नामक पाँच महिमा–विवर्त, तद्विघ घन–'अव्ययात्मा–ईश्वरात्मा–यज्ञात्मा–सर्वभूतान्तरात्मा–भूतात्मा' नामक पाँच आत्मविवर्त, एवं तदनुप्राणित 'देव-यज्ञ-पुराण दर्शन–वर्त्तमान-युगनिबन्धन पञ्चविध उपासना–पथ—

आत्मा 'सत्य स्वरूप है। इस एक ही 'सत्यात्मा' के परिग्रह–सम्बन्ध से निर्गुणसत्य, अमृतसत्य ब्रह्मसत्य देवसत्य भूतसत्य ये पाँच विवर्त होजाते हैं। ये पाँचो सत्यात्मा क्रमशः अव्ययात्मा, ईश्वरात्मा, यज्ञात्मा सर्वभूतान्तरात्मा भूतात्मा, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। अव्ययात्मा निर्गुण अव्यय है ईश्वरात्मा षोडशीप्रजापति है यज्ञात्मा यज्ञप्रजापति है सर्वभूतान्तरात्मा विराट्प्रजापति है एवं भूतात्मा विश्वप्रजापति (महाकाल) है। ये पाँच सत्यात्मविवर्त ही क्रमशः देवयुग यज्ञयुग–पुराणयुग–दर्शनयुग और वर्त्तमानयुग इन पाँच युगों के पाँच उपासना–मार्गों के मूलाधारतत्त्व बने हुए हैं।

४४४–पञ्चविध आत्मविवर्तों के आधार पर राजर्षि मनु के द्वारा तीन आत्मविवर्तों का स्वरूप–समन्वय—

राजर्षि भगवान् मनु की तात्त्विकी दृष्टि से इन पाँच आत्मविवर्तों का परमात्मा[१]–अन्तरात्मा[२]–भूतात्मा[३] इन तीन आत्मविवर्तों में अन्तर्भाव किया जासकता है। अव्यय–षोडशी–यज्ञात्मा इन तीनों की समष्टि परमात्मा है तथा सर्वभूतान्तरात्मा अन्तरात्मा है एवं भूतात्मा भूतात्मा है। भूतात्मा कर्मकर्त्ता है परमात्मा क्षेत्रज्ञ–कारयिता है एवं अन्तरात्मा जीवात्मा है जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥

२—जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥

—मनु १२।१२-१३।

४४५–सर्वभूतान्तरात्म–लक्षण विराट्प्रजापति, तद्रूपा–विराडुपासना, तदनुबन्धी 'देवसत्य', एवं तान्त्रिकामाध्यम से औपासनिक पञ्च महिमाभावों का स्वरूप–समन्वय—

इन पाँचों आत्म-विवर्तों में से सर्वभूतान्तरात्मा-लक्षण अन्तरात्मा ही प्रकृत प्रकरण का विराट् प्रजापति है, यही देवसत्यात्मा है, एवं यही आत्मभाव की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव इस की उपासना

'कामममयी उपासना' कहलाती है। इसी उपासना के सम्बन्ध में 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'-'यो वामेव विद्वास्म्यहम्'-यो यच्छ्रद्धः स एव सः-'यं यं काममते-तं तमाप्नोति' इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं।

आत्मत्रयी-विवर्त-परिलेख —

१-निर्गुणब्रह्मसत्यः	(अव्ययात्मा)	अव्यय —— अव्यय	परमात्मा
२ अमृतसत्य	(ईश्वरात्मा)	षोडशीप्रजापतिः अक्षरः	
३-ब्रह्मसत्य	(महात्मा)	महाप्रजापतिः—आत्मक्षरः	
४-देवसत्यः	(सर्वभूतान्तरात्मा)	विराट्प्रजापतिः-विकारक्षरः	अन्तरात्मा
५ भूतसत्यः	(भूतात्मा)	विश्वप्रजापतिः-वैकारिकक्षर	भूतात्मा

४४६-निगमानुगत निष्कामोपासना के आधार पर उपस्थित काममयी विराडुपासना की अभिव्यक्ति—

वेदपुराणानुगत-उपासनाप्रकरण में उपासना के अकाम निष्काम-काम भेद से तीन विवर्त बतलाए गए थे एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया गया था कि, इन तीनों का ईश्वर-जीव-जगत् इन तीन विवर्तों के साथ क्रमिक सम्बन्ध है। अव्यय और षोडशी इन दो की समष्टि ही 'ईश्वरभाव' है एवं इस के साथ 'अकामभाव' का सम्बन्ध है। महाप्रजापति ही जीवभाव है, एवं इस का निष्कामभाव से सम्बन्ध है। विराट् एवं विश्व की समष्टि ही जगद्भाव है, और इसका कामभावसे सम्बन्ध है। इसी आधार पर इस विराडुपासना को हम काममयी उपासना ही कहेंगे।

४४७-अव्ययेश्वर-ब्रह्मसत्य-प्रजापति की अन्तिम-शाखारूपा प्रमादमयी पृथिवी, एवं तद्विभूति से अनुप्राणित विराट्प्रजापति—

परात्परब्रह्म की एक संस्था (वल्शी) के अन्तिम छोर पर सर्वभूतान्तरात्मलक्षण देवसत्यमूर्त्ति विराट्प्रजापति प्रतिष्ठित है जोकि 'ईशानो भूतभव्यस्य'-'साक्षी' 'महापुरुष' आदि नामों से प्रसिद्ध है। निर्गुण अव्यय को अपना प्रतिष्ठा-वत्स बनाने वाला अमृतसत्येश्वर षोडशी-प्रजापति ही 'अव्ययेश्वर' है यही 'अमृतसत्य' है। इस अव्ययात्ममूर्त्ति अमृतसत्येश्वर की एक वल्शी में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच पुरवीर (पर्व) हैं। यही 'पञ्चपुरवीरा प्राजापत्यवल्शा' है। ये पाँचों पर्व ब्रह्मस्वरूप हैं। पाँचों की समष्टि ही 'महाप्रजापतिरूप ब्रह्मसत्यात्मा' है। इस ब्रह्मसत्यात्मा की एक वल्शी

सर्वा बन रहे हैं। इस त्रैलोक्य में प्रमाधर्म इन्हीं तीनों का विजय महोत्सव मनाता हुआ उस ब्रह्मविजय को मूल रहा है जिस के कि ये तीनों त्रैलोक्य-विषयी देवता प्रत्यंशमान हैं। केनोपनिषत् ने बड़ी ही मार्मिक-पद्धति से इस देवविजय को ब्रह्मविजय-परक बतलाते हुए उमाशक्ति की उपासना के द्वारा प्रधान ब्रह्मलक्षणा पर्वोक्षरोपासना का आदेश दिया है जैसा कि केनोपनिषत् विज्ञानभाष्य में विस्तार से उपबृंहित है।

४५२—देवतात्रयी के द्वारा पिता यज्ञप्रजापति के आदेश से तानूनप्त्रकर्म्म का अनुष्ठान, एवं तानूनप्त्र के द्वारा देवतात्रयी की विराट् स्वरूप में परिणति—

अर्थशक्ति के संचालक विराट्-पार्थिव-अग्नि क्रियाशक्ति के उपोषक पञ्चदश-आन्तरिक्ष्य वायु, एवं ज्ञानशक्ति के प्रवर्त्तक एकविंश-आदित्य इन तीनों देवताओंने तत्पश्चात् क्या किया?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का उत्तर है—"अनेन प्रसविष्यध्वम्"। इन के पिता यज्ञप्रजापति [ब्रह्म सत्य] ने अपने पार्थिव भाग से इन्हें उत्पन्न कर कर्मरूप यही आदेश दिया कि जिस "यज्ञ" के बल से मैं प्राज ब्रह्मेश्वर बना हुआ हूँ, यदि तुम त्रैलोक्य-में [पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य में] अपना सम्मिलित एक-च्छत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहते हो, तो उसी देवसंगमनरूप यज्ञभाग का अनुगमन करो। तीनों परस्पर मिल जाओ। अभी तुम्हारी शक्तियाँ पृथक्-पृथक् बनी हुई हैं। जिस दिन तुम परस्पर मिल जाओगे तीनों शक्तियां मिलकर तुम्हें—इस स्वस्वरूप से विराट्रूप में परिणत कर देंगी। उस अवस्था में तुम तीन न रह कर एक विराट् बन जाओगे। ध्यान रक्खो, पृथक् पृथक् रहते हुए क्षमीतक तुम मेरी [यज्ञप्रजापति सर्वेश्व प्रसवत्व की] प्रजा ही बने हुए हो। अमीतक तुम अपनी पैतृक सम्पत्तिरूप प्रजापतित्व' सम्पत्ति-से वञ्चित हो। मेरी पूर्वोक्त यज्ञप्रणाली का अनुगमन करते हुए तुम तीनों—एक रूप में परिणत होजाओगे। और उस समय तुम्हारा सर्व प्रजाभाव विच्छिन्न हो जायगा और बन जाओगे मत्तुल्यरूप ही 'विराट् प्रजापति'।

४५३—संघटनात्मिका तानूनप्त्रप्रक्रिया का सस्मरण—

पिता यज्ञप्रजापति के उक्त आदेश को शिरोधार्य कर उक्त तीनों पुत्रोंने उसी सुप्रसिद्ध यज्ञप्रक्रिया का आश्रय लिया जो कि प्रक्रिया यज्ञरहस्य-प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में-'तानूनप्त्र' नाम से प्रसिद्ध हुई है। संघटनात्मिका प्रक्रिया ही तानूनप्त्र है। इसी से तनु की रक्षा होती है शरीर गिरने नहीं-पाते अतएव इसे 'तानूनप्त्र' कहा जाता है। [देखिए-शतपथब्राह्मण-१ काण्ड-४ ब्रा०। १ अध्याय]।

४५४—पार्थिव अग्नि का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृत्स्वरूपता, एवं अग्नि के 'पवमान, पावक, शुचि, विश्व-भावों का संस्मरण—

सब से पहिला अर्थप्रधान पार्थिव त्रिवृदग्नि तो आहवनीय बना और इस में क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य पञ्चदश वायु, एवं ज्ञानप्रधान दिव्य एकविंश आदित्य दोनों देवता आहुतिरूप रूप से आहुत होगए। परिणाम इस का यह हुआ कि यह पार्थिव अग्नि अग्नि-वायु-आदित्यमूर्ति [किन्तु अग्निप्रधान अतएव अर्थप्रधान] बन कर पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "वैश्वानर" नाम से प्रसिद्ध होगया। तीनों विश्वों—के नरों [नायकों] के समन्वय से ही यह वैश्वानर कहलाया एवं त्रैलोक्य में इस-की व्याप्ति होगई—वैश्वानरा पश्यते सूर्य्येण आ यो द्यां भास्यपृथिवीम्'] वैश्वानर अग्नि के ये ही तीनों पर्व यज्ञभाषा में पवमान पावक, शुचि इन नामों से व्यवहृत हुए।

है। इसप्रकार वह एक ही अमृतमृत्युभिसीमरूपसत्य प्रजापतिमूर्ति प्राणाग्नि अग्नि वायु—आदित्य-रूप से वसु—रुद्र—आदित्य—अश्विनी—रूप में परिणत होता हुआ ३३ रूप-धारण कर लेता है। अत एव इस की प्रतिष्ठा 'अग्नि' ही है— "अग्निः सर्वा देवता"।

४५०—त्रयस्त्रिंशद्देवताओं के उपक्रम-उपसंहार-रूप अग्नि, और विष्णु, तदभिव्यञ्जक आग्नावैष्णवेष्टि, एवं महर्षि ऐतरेय के द्वारा दीक्षणीयेष्टि का स्वरूप-समन्वय—

आठ वसुओं में पहिला वसु 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। १२ आदित्यों में से अन्तिम का आदित्य 'विष्णु' नाम से प्रसिद्ध है। ३३ भी यज्ञिय-देवताओं के उपक्रम में वसुमूर्ति अग्नि प्रतिष्ठित है देवताओं के अन्त में आदित्यमूर्ति विष्णु प्रतिष्ठित है एवं इतर सम्पूर्ण (३१) देवता दोनों के मध्य में हैं। इसी मौलिक रहस्य के आधार पर सहयाग में दीक्षित होने वाले यजमान को सर्वप्रथम दीक्षणीयेष्टि करनी पड़ती है। और उस में आग्नावैष्णव एकादशकपालपुरोडाश करना पड़ता है। अग्नि और विष्णु के परिग्रह से ३३ भी आपदेवता इस के भूतात्मा में अनुग्रहरूप से प्रतिष्ठित होजाते हैं। इष्ट-यज्ञिय सर्वदेव-संस्कार-सिद्ध दीक्षाकर्म से इसे यज्ञाधिकार प्राप्त होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर महर्षि ऐतरेय ने कहा है—

"अग्निर्वै देवानामवमो, विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"।

—ऐ० ब्रा० १।१।१।

४५१—अग्नि—वायु—आदित्य—देवताओं की स्तोमानुगता पार्थिव-त्रैलोक्य-व्याप्ति, तद्गर्भिता त्रिविधा प्रजा-महिमाएँ, एवं भुवनविजय के आधार पर त्रिदेवताओं का त्रैलोक्य-विजय—

वसुमूर्ति घनाग्निलक्षण अग्नि महापृथिवी के त्रिवृत्स्तोम-मण्डल में व्याप्त है। एकादशरुद्र-मूर्ति तरलाग्निलक्षण वायु महापृथिवी के पञ्चदशस्तोम-मण्डल में व्याप्त है। एवं द्वादशादित्यमूर्ति विरलाग्नि लक्षण आदित्य महापृथिवी के एकविंशस्तोम-मण्डल में व्याप्त है। त्रिवृदग्नि अर्थशक्ति का संचालक है, पञ्चदशवायु क्रियाशक्ति का उत्तेजक है एवं एकविंश आदित्य [इन्द्र] ज्ञानशक्ति का प्रवर्तक है। महापृथिवीभाग में प्रतिष्ठित प्रजावर्ग की (त्रिवृत्स्तोमरूप महापृथिवी के पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित ओषधि वनस्पति कृमि कीट, पशु पक्षी मनुष्यादिविध पार्थिव प्रजा—पञ्चदशस्तोमरूप महापृथिवी के अन्तरिक्षलोक में प्रतिष्ठित गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-पितृ आन्तरिक्ष्य प्रजा, एकविंशस्तोमरूप महापृथिवी के द्युलोक में प्रतिष्ठित पितर-देव साध्यादि-भाग-विध दिव्यप्रजा की, ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों के संचालन करते हुए, इस * त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप पार्थिव त्रैलोक्य के आध्यात्मिक-इन्द्र-वायु-अग्नि ही सर्वे

---

* आधिदैविक त्रैलोक्य-विज्ञान के अनुसार यह पार्थिव स्तोमत्रिलोकी संयती-अन्तरिक्षी-रोदसी तीनों से भिन्न है। रोदसी-त्रिलोकी का ही पृथिवीरूप भूलोक है उस में रहने वाले प्राणाग्नि के वितान से ही इस सर्वथा स्वतन्त्र स्तोमत्रिलोकी का आविर्भाव होता है। इसे ही 'अहिंसितयों' इत्यादिरूप से अहिंसि-त्रिलोकी भी कहा गया है।

स्वर्ग बन रहे हैं। इस त्रैलोक्य में प्रजावर्ग इन्हीं तीनों का विजय महोत्सव मनाता हुआ उस ब्रह्मविजय को भूल रहा है जिस के लिये तीनों त्रैलोक्य-विजयी देवता प्रमेयमात्र हैं। केनोपनिषत् ने बड़ी ही आख्यान-पद्धति से इस देवविजय को ब्रह्मविजय-परक बतलाते हुए उमाशक्ति की उपासना के द्वारा प्रधान ब्रह्मतत्त्व पराक्षोपरोपासना का आदेश दिया है जैसा कि केनोपनिषत् विज्ञानभाष्य में विस्तार से उपवर्णित है।

४५२–देवतात्रयी के द्वारा पिता यज्ञप्रजापति के आदेश से तानूनप्त्रकर्म्म का अनुष्ठान, एवं तानूनप्त्र के द्वारा देवतात्रयी की 'विराट्' स्वरूप में परिणति—

अर्थशक्ति के संचालक त्रिवृत्-पार्थिव-अग्नि क्रियाशक्ति के उपेक्षक पञ्चदश–आन्तरिक्ष्य वायु, एवं ज्ञानशक्ति के प्रवर्तक एकविंश–आदित्य इन तीनों देवताओंने उत्पत्त्यनन्तर क्या किया? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का उत्तर है— 'अनेन प्रसविष्यध्वम्'। इन के पिता यज्ञप्रजापति [प्रजापति] ने अपने पार्थिव भाग से इन्हें उत्पन्न कर कर्मरूप यही आदेश दिया कि जिस 'यज्ञ' के बल से मैं आज सर्वेश्वर बना हुआ हूँ, यदि तुम त्रैलोक्य-में [पार्थिव स्वायम्भुव त्रैलोक्य में] अपना सम्मिलित एक-च्छत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहते हो तो उसी देवत्वगमनरूप यज्ञमार्ग का अनुगमन करो। तीनों परस्पर मिल जाओ। अभी तुम्हारी शक्तियाँ पृथक्-पृथक् बनी हुई हैं। जिस दिन तुम परस्पर मिल जाओगे तीनों शक्तियाँ मिलकर तुम्हें–एक स्वस्वरूप से विराट्रूप में परिणत कर देगी। उस अवस्था में तुम तीन न रह कर एक विराट् बन जाओगे। आज तुम्हें पृथक् पृथक् रहते हुए जबतक तुम मेरी [यज्ञप्रजापति सर्वेश्वर महत्त्व की] प्रजा ही बने हुए हो। जबतक तुम अपनी वैभव सम्पत्तिरूप 'प्रजापति' सम्पत्ति-से वञ्चित हो। मेरी पूर्वोक्त यज्ञप्रणाली का अनुगमन करते हुए तुम तीनों-एक रूप में परिणत होजाओगे। और उस समय तुम्हारा मर्त्य प्रजाभाव निवृत्त हो जायगा और बन जाओगे मत्सम्बन्ध ही "विराट् प्रजापति'।

४५३–संघठनात्मिका तानूनप्त्रप्रक्रिया का संस्मरण—

पिता यज्ञप्रजापति के उक्त आदेश को शिरोधार्य कर उक्त तीनों पुत्रोंने उसी सुप्रसिद्ध यज्ञप्रक्रिया का आश्रय लिया, जो कि प्रक्रिया यज्ञरहस्य-प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में–"तानूनप्त्र' नाम से प्रसिद्ध हुई है। संघटनात्मिका प्रक्रिया ही तानूनप्त्र है। इसी से तनु की रक्षा होती है शरीर गिरने नहीं पाते अतएव इसे 'तानूनप्त्र' कहा जाता है। [देखिए–शतपथब्राह्मण-३ काण्ड ४ अ० । २ ब्राह्मण]।

४५४–पार्थिव अग्नि का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृद्रूपता, एवं अग्नि के 'पवमान, पावक, शुचि, त्रिवर्ग-भावों का संस्मरण—

सब से पहिला अर्थप्रधान पार्थिव त्रिवृदग्नि तो आत्मनेष्ठ बना और इस में क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य पञ्चदश वायु, एवं ज्ञानप्रधान दिव्य एकविंश आदित्य दोनों देवता आहुतिरूप रूप से आहुत होगए। परिणाम इस का यह हुआ कि यह पार्थिव अग्नि-अग्नि-वायु-आदित्यमूर्ति [किन्तु अग्निप्रधान अतएव अग्निप्रधान] बन कर पृथिवी से द्युलोक पर्यन्त व्याप्त होता हुआ "वैश्वानर' नाम से प्रसिद्ध होगया। तीनों विश्वों–के नरों [नायकों] के समन्वय से ही यह वैश्वानर कहलाया एवं त्रैलोक्य में इस-की व्याप्ति होगई—वैश्वानरो यतते सूर्य्येण या यो द्यां भास्वापृथिवीम्] वैश्वानर अग्नि के ये ही तीनों पर्व यज्ञमात्रा में पवमान पावक, शुचि इन नामों से व्यवहृत हुए।

४५५–आन्तरिक्ष्य वायु का तानूनप्त्र, तदनुगता–त्रिवृद्रूपता, एवं वायु के 'वात–मरुत्–पवन'–भावों का संस्मरण—

अनन्तर क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य पञ्चदश वायु ही आहवनीय अग्नि बना और इसमें कर्मप्रधान पार्थिव त्रिवृदग्नि एवं ज्ञानप्रधान दिव्य एकविंश आदित्य दोनों देवता आहुतिरूपेण से आहुत होगए। परिणाम इसका यह हुआ कि यह आन्तरिक्ष्य–वायु भी वायु अग्नि आदित्यमूर्ति (किन्तु वायुप्रधान, अतएव कर्मप्रधान) बन कर अन्तरिक्ष से इस ओर पृथिवी पर्य्यन्त, अन्तरिक्ष से उस ओर द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "हिरण्यगर्भ" * नाम से प्रसिद्ध होगया। त्रैलोक्यमूर्ति पार्थिव अग्न्यक्षर ही हिरण्यमण्डल है। यह इसके गर्भ में आगया अतएव इसे 'हिरण्यगर्भ' कहा गया। त्रैलोक्य–व्यापक वायुमूर्ति इसी हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में– 'वायुर्वै सर्वेषां भूतानामात्मा' (शत० १४।२।२।७)— "एष हीमांल्लोकाननुसंचरति' (ऐ० ब्रा० ७।२) इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। इस हिरण्यगर्भ वायु के तीनों पर्व क्रमशः वात मरुत्–पवन इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

४५६–दिव्य–आदित्य का तानूनप्त्र तदनुगता त्रिवृद्रूपता, एवं आदित्य के 'वासव–मरुत्वान्–मघवा'–भावों का संस्मरण—

अनन्तर ज्ञानप्रधान दिव्य एकविंश आदित्य ही आहवनीय अग्नि बना और इस में कर्मप्रधान पार्थिव त्रिवृदग्नि एवं क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य पञ्चदश वायु ये दोनों देवता आहुतिरूपेण से हुत हुए। परिणाम इस आहुतिकर्म का यह हुआ कि यह दिव्य आदित्य भी अग्नि–वायु–आदित्य–मूर्ति (किन्तु आदित्य–प्रधान अतएव ज्ञानप्रधान) बन कर द्युलोक से आरम्भ कर इस ओर के अन्तरिक्ष–पृथिवीलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "सर्वज्ञ" नाम से प्रसिद्ध होगया। त्रैलोक्य की ज्ञानराशि इस के गर्भ में आगई अतएव इसे 'सर्वज्ञ' कहा गया। त्रैलोक्य–व्यापक इन्द्रमूर्ति इसी सर्वज्ञ के लिए "नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन" यह प्रसिद्ध है। इस सर्वज्ञ इन्द्र के तीनों पर्व क्रमशः वासव मरुत्वान–मघवा नाम से प्रसिद्ध हुए।

४५७–त्र्यात्मक अग्नि–वायु–आदित्य को गार्हपत्य दक्षिणाग्नि–आहवनीय–मूला वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञात्मिका–त्र्यवस्थोपेता विराट्रूपता का तात्त्विकस्वरूप–समन्वय—

त्रिलोकात्मक (अग्नि–वायु–आदित्यात्मक) उक्त तीनों तानूनप्त्रदेवताओं (वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ देवताओं) में वैश्वानर देवता पार्थिव यज्ञ का गार्हपत्याग्नि कहलाया। हिरण्यगर्भदेवता धिष्ण्याग्नि कहलाया। धिष्ण्य नाक्षत्रिक सप्ताग्नि के समन्वय से इस यज्ञरूप अपत्याग्नि के आठ प्रकार होगए, जो कि यज्ञरूप में आग्नीध्रीय–अच्छावाकीय मार्जालीय आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। धिष्ण्याग्नि के सम्बन्ध से ही हिरण्यगर्भ धिष्ण्याग्नि कहलाता भी। तीसरा सर्वज्ञ देवता पार्थिव यज्ञ का आहवनीय कहलाया। इसप्रकार –८– इस रूप से तीन की १ आहुति होगी और एक–एक गार्हपत्याग्निमूर्ति वैश्वानर, आठ प्रकार धिष्ण्याग्निप्रतिमूर्ति हिरण्यगर्भ एवं एकवचन आहवनीयाग्निमूर्ति सर्वज्ञ इन तीनों की समष्टि ही दशावयवमूर्ति "विराट् प्रजापति" कहलाया।

* सूर्य भी हिरण्यगर्भ कहलाता है। 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे०' से इसी का ग्रहण है। वायुप्रधान हिरण्यगर्भ को इस से पृथक् ही समझना चाहिए।

४५८–सम्वत्सरात्मक महासुपर्ण की विराट्रूपता का समन्वय—

विषुवद्वृत्त इस का आत्मा बना उत्तरायण उत्तरपक्ष बना दक्षिणायन दक्षिणपक्ष बना और यही सम्वत्सरात्मक विराट्-मूर्ति पक्षी-राज इस सब का आत्मा बना। इसी सुपर्ण का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

अथ ह वाऽएष महासुपर्णो एव सम्वत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानु पयन्ति,-सोऽन्यतर पक्ष। अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्"।
—शत० १२।२।३।७।

४५६–विराट्प्रजापति के सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात्-भावों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्मूला यजुःश्रुति—

सर्वेश-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर इस देवत्रयी के कारण यह विराट् पुरुष 'त्रिकेन्द्र' बनता हुआ सहस्रशीर्ष–सहस्राक्ष * सहस्रपात् बन गया। सर्वेशमण्डल हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र ज्ञानरश्मियों का प्रसार करता हुआ 'सहस्रशीर्ष' बन गया। हिरण्यगर्भमण्डल हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र क्रियारश्मियों का प्रसार करता हुआ सहस्राक्षः बन गया। एवं वैश्वानरमण्डल इसी हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र अर्थरश्मियों का प्रसार करता हुआ सहस्रपात्" बन गया। इस त्रिकेन्द्र की समष्टि के कारण ही त्रिभावापन्न विराट् (सम्वत्सर) वस्तुतः न रह कर दीर्घवृत्तरूप में (अण्डरूप में) परिणत होगया। त्रिकेन्द्रवृत्त ही दीर्घवृत्त कहलाता है। इसीलिए यह विराट् स्मार्त-मण्डल-निगमागमादि शास्त्रों में 'ब्रह्माण्ड' (ब्रह्म-यज्ञप्रजापति उस का अण्ड-दीर्घवृत्तरूप विराट् प्रजापति) कहलाया। ब्रह्माण्ड का अन्तिम पर्वरूप मर्त्य भूपिण्ड ही अमृता पृथिवी के प्राणाग्नि से क्रतुरूप इस विराट् की प्रतिष्ठा बना। इसी विराट् स्वरूप को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

> सहस्रशीर्षः पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्।
> स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
> —यजुःसंहितायाम्

विराट्—विभूति—

त्रैलोक्य—ब्रह्माण्ड	आदित्य—आदित्या—दिव्या (त्रयस्त्रिंशस्तोमः)		अमृता-पृथिवी
	वायुः—रुद्रा—आन्तरिक्ष्या (पञ्चदशस्तोम)		
	अग्नि—वसव—पार्थिवा (त्रिवृत्स्तोम)		

---

* यहाँ 'सहस्राक्ष' से मध्यस्थ 'हृदयस्थान' ही अभिप्रेत है।

अ—ग्निः— — —प— — — —जा— —प— —ति		
१ वैश्वानरः	८२ हिरण्यगर्भ	३ सर्वज्ञ
१—शुचिः (अग्निः) २—पावकः (अग्निः) ३—पवमानः (अग्निः)	१—पवन (वायुः) २—मरुत् (वायुः) ३—वात (वायुः)	१—मघवा (इन्द्रः)—एकविंशस्तोमः—द्यौः २—मरुत्वान् (इन्द्रः)—पञ्चदशस्तोमः—अन्तरिक्षम् ३—वासवः (इन्द्रः)—त्रिवृत्स्तोमः पृथिवी
सहस्रपाद्	सहस्राक्ष	सहस्रशीर्ष
कर्मप्रधानोऽग्निः गार्हपत्यः एकत्वं १	क्रियाप्रधानो वायुः धिष्ण्याः अष्टधा ८	ज्ञानप्रधानः—आदित्यः आहवनीय एकत्वं १
एकधा—त्रिधा—वा दशधा वा विराट् प्रजापतिः एकस्थो महासुपर्णः		

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान् ।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा-दशधा त्रिधा ॥
(श्रीमद्भागवते ३।६।७) ।

भूपिण्ड

पृथ्व्यां भूमि
प्रतिष्ठित

४६०–नैगमिक विराट्पुरुष के प्रसङ्ग से गीताशास्त्र के विराट्पुरुष का संस्मरण, एवं दोनों के स्वरूप–सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

विराट्पुरुष के उक्त संक्षिप्त निदर्शन से जहाँ हमारे अनेक सन्देह निवृत्त होजाते हैं वहाँ अनेक और और सन्देह उत्पन्न भी होजाते हैं। गीताशास्त्र ने जिस विराट् स्वरूप का प्रतिपादन किया है वह और पूर्व–प्रतिपादित विराट् दोनों में कुछ विषमता प्रतीत हो रही है। गीताने ब्रह्मा ऋषि सूर्य्य चन्द्रमा आत्मा पृथिवी आदि सभी का विराट् पुरुष में अन्तर्भाव मानते हुए इसे विश्वरूप विश्वेश्वर कहा है (११।१५) आगे जाकर—

> "त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
> त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥
> अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य्यमनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम्।
> पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ (गीता ११।१८,१९,)।

४६१–गीताशास्त्र का विराटस्वरूप—

यह कहते हुए गीताने विराट् को अक्षर–अव्यय–परात्परमूर्त्ति भी सिद्ध किया है। गीता में 'शाश्वतधर्म्म' शब्द परात्पर के लिए ही प्रयुक्त हुआ है जैसाकि पाठक "शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च' इत्यादि श्लोकभाष्य में देखेंगे।

४६२–गीतानुमोदित विराटस्वरूप के तथ्यात्मक स्वरूप का संस्मरण-प्रयास—

इधर अब प्रतिपादित विराट् को हमने केवल महापृथिवी में मुक्त मानते हुए इसे विकारक्षरमूर्त्ति ही कहा है। अग्नि–वायु–इन्द्र–समष्टि को ही विराट् मानते हुए चन्द्रमा–सूर्य्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू ब्रह्मा तक को जब विराट् स्वरूप से पृथक् कर दिया है तो इन पञ्चपर्वों से पृथक् अक्षरमूर्त्ति षोडशी–प्रजापति अव्यय मूर्त्ति निर्गुण–आत्मा, शाश्वतधर्म्ममूर्त्ति–परात्पर का तो कहना ही क्या है। ये ही कुछ एक ऐसे विरोधी भाव हैं जिनके आधार पर यह कहा जासकता है कि, पूर्वप्रतिपादित विराट् स्वरूप गीताप्रतिपादित विराट्सम्पत्ति के विरोध में जाता हुआ अप्रामाणिक है। ऐसी दशा में आवश्यक होजाता है कि गीतानिष्ठ भागवतों की श्रद्धा की रक्षा के लिए इन विरोधी भावों का परिहार कर लिया जाय।

४६३ उभयविध विराड्भावों के तात्त्विक समतुलन का समन्वय—

यदि हमारे गीताप्रेमी वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्वोक्त विराट्–स्वरूप का मनन करेंगे तो उन्हें मान लेना पड़ेगा कि, उस में और इस में कोई विरोध नहीं है। यह तो सर्वथा सत्य है कि, विराट् का स्वरूप पञ्चपुण्डीर प्राजापत्यसंस्था के अन्तिम पर्वरूप केवल पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित है। महापृथिवी ही उसका प्रतिबिम्ब शरीर है। भूपिण्ड चन्द्रमा सूर्य्य परमेष्ठी स्वयम्भू सहस्रधाम्नात्मक अक्षरमूर्त्ति षोडशी प्रजापति शाश्वतधर्म्मगोप्ता अव्यय शाश्वतधर्म्मरूप परात्पर सभी विराट् स्वरूप से बहिर्भूत हैं। फिर गीता ने इन बहिर्भूतों का अन्तर्भाव विराट् के स्वरूप में किस आधार पर मान लिया है, केवल यही विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है। इसके समाधान के लिए निम्न लिखित पृथिवी–स्वरूप को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

४६४ 'यथाण्डे तथा पिण्डे' मूलक सर्वतत्त्वव्याप्ति-समन्वय, तन्निबन्धन विरोध परिहार, एवं विज्ञानदृष्टिनिबन्धन-विरोध-परिहार का दिग्दर्शनोपक्रम—

'यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह' – 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'–"यथाण्डे तथा पिण्डे" इत्यादि वचनों के अनुसार विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित एक एक कण विश्वरूप है विश्वेश्वर है। जो तत्त्व उस महामहिम महतोमहीयान् विश्वेश्वर में हैं वे सभी तत्त्व एक परमाणु में भी विद्यमान हैं। इसी आधार पर उस विश्वेश्वर के पर्वावयवरूप विराट् को भी यदि हम 'सर्वेश्वर' कहें तो कोई आपत्ति न होगी। ऐसा सम्भव है–गीता ने विश्वेश्वर की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर ही तत्पर्वावयवरूप विराट् को भी सर्वेश्वर कह दिया हो। यद्यपि एक श्रद्धालु आस्तिक के लिए यह समाधान पर्याप्त होसकता है। तथापि जिज्ञासा से समन्विता विश्वासमयी श्रद्धा का अनुगामी एक वैज्ञानिक इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होसकेगा। उसे तो केवल पृथिवी में ही सर्वप्रथम उस विज्ञानदृष्टि से योग बतलाते हुए विरोध का परिहार करना पड़ेगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसके सम्मुख "यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी"– 'इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" इत्यादि श्रुतियों का रहस्यार्थ उपस्थित करना पड़ेगा। और इसके लिए हमें सर्वप्रथम निम्नलिखित दो श्लोकों की ओर ही उनका ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा—

भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा ॥
धरा-धरित्री-धरणी-क्षोणी-ज्या-काश्यपी-क्षिति ॥१॥
सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा ॥
गोत्रा कु पृथिवी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही ।२॥

—अमरकोश-द्वितीयकाण्ड भूमिवर्ग–२,१

४६५ षड्विंशति-पार्थिव शब्दों की विभिन्नता, तथा अविभिन्नता का समन्वय, एवं तत्त्वनिबन्धना पारिभाषिकी शब्दविभिन्नता का दिग्दर्शन, और पर्याय-शब्दानुगता भ्रान्ति का निराकरण —

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि अमरकार की भाषा से संगृहीत पृथिवी-वाचक पूर्वोक्त २६ नाम पार्थिव विवर्त से ही सम्बन्ध रखते हैं और इसी दृष्टि से पार्थिव नामों में इन का संग्रह करना न्यायसङ्गत भी बन जाता है। यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी निम्नलिखितरूपेणैव यह भी कह देने में कोई संकोच नहीं किया जायगा कि २६ भी शब्द एकमात्र पार्थिव विवर्त के वाचक बनते हुए भी परस्पर सर्वथा पर्याय नहीं बन सकते जैसे कि इन्द्र अग्नि-वरुण-मातरिश्वा आदि सब वाचक नाम उसी एक ही विश्वेश्वर के ही वाचक बनते हुए भी परस्पर पर्याय नहीं माने जासकते। ठीक इसी प्रकार यद्यपि इत्यादि सभी शब्द अभिन्न हैं तथापि इन्द्राग्नि-वरुण-मातरिश्वा–सभी परस्पर सर्वथा भिन्न ही हैं। एवमेव पार्थिव-विवर्त की दृष्टि से भू-भूमि अचला आदि सभी नाम यद्यपि अभिन्नार्थ के ही वाचक हैं तथापि मूल-भूमितत्त्व की दृष्टि से भू भूमि आदि शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के ही वाचक हैं। विभिन्नार्थनिबन्धना इन विभिन्न वाचकता के तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय के लिए सर्वप्रथम हमें उस पार्थिव विवर्त के ही प्रातिस्विक

मौलिक-स्वरूप को प्रत्यक्ष ध्यानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाना पड़ेगा जिसके यथावत् समन्वय से विभिन्ना-लिम्ब इस भिन्नता का भलीभाँति समन्वय होजाता है ।

४६६– अद्भ्यः पृथिवी' मूला आपोमयी पार्थिवी सृष्टि का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं अप्-वायु-तेजः-संयोगजनित भाग, और फेनसर्ग—

'अद्भ्यः पृथिवी' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पानी से ही पृथिवी का स्वरूप-निर्माण हुआ है । कल्पना कर लीजिए कि, किसी समय विश्वब्रह्माण्ड में पृथिवी की सत्ता नहीं थी । रोदसी के अर्णव समुद्र में सूर्यरश्मियों के सम्पर्क से उत्पन्न 'मरीच' पानी की मूर्च्छितावस्थारूप 'मर' नाम का पानी ही सर्वत्र व्याप्त होरहा था । पानी में जब वायु का प्रवेश होता है तो बुद्बुद् उत्पन्न होजाता है यह नैसर्गिक अब्वायु प्रक्रिया सर्वविदित है । क्योंकि बुद्बुद् का ऊर्ध्व धरातल वर्त्तुल (गोलाकार) होता है अतएव बुद्बुदावच्छिन्न पानी इधर उधर लुढ़क जाता है । फलतः गर्भीभूत वायु मार्ग मिलने से बाहिर निकल जाता है । यदि ऊर्ध्व धरातल की विच्युति से पहिले ही बुद्बुद् पर पानी का और आक्रमण होजाता है तो इस आक्रमण की निश्चित अवधि में बुद्बुदावच्छिन्न पानी और वायु दोनों मूर्च्छित होजाते हैं । इन दोनों के सम्मि-श्रण से ही एक अपूर्व भाव का उदय होजाता है । और यही अपूर्वभाव आंशिक घनता से युक्त होता हुआ 'फेन' (समुद्र-झाग) नाम से प्रसिद्ध होता है ।

४६७–भूतसृष्टि के प्रवर्त्तक काम तपः-श्रम-मूर्त्ति-हृद-अन्तर्य्यामी का समन्वय एवं तन्निबन्धन षोडशीप्रजापति का अक्षरप्रजापति-रूपेण-संस्मरण—

साथ ही इतना और स्मरण कर लीजिए कि पानी में वायु का प्रवेश करना उस वायु और पानी दोनों को अभिमूर्च्छित बना डालना दोनों के मूर्च्छितरूप से फेन का आविर्भाव कर डालना ये सब व्यापार बुद्बुद् के केन्द्र में प्रतिष्ठित अणोरणीयान् उसी हृदयरूप अन्तर्य्यामी ब्रह्मेन्द्रविष्णुअग्निसोममूर्ति अक्षरप्रजापति की कृपा के ही फल हैं जिस का कि, 'प्राकृतिक-योगत्रयी' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है । इसी अक्षरप्रजापति को हमने षोडशी प्रजापति कहा है । इसका आलम्बन निगु ण अव्यय है । सर्वाधार-निराधार शाश्वतधर्म-शाश्वत परात्पर है । परात्पर-अव्यय-गर्भित षोडशीप्रजापति-मूर्त्ति अक्षर ही हृदय (केन्द्र) रूप अन्तर्य्यामी है । इस की मौलिक प्रेरणा से ही अप्-वायु के संयोग से फेन उत्पन्न हुआ है ।

४६८–प्रजापति का सृष्टि में प्रवेश, एवं 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रुति का तात्त्विक समन्वय—

इस का दूसरा यह स्वभाव है कि, अपनी प्रेरणा से यह जो कुछ उत्पन्न करता है उस में आत्म-प्रतिष्ठारूप से प्रविष्ट होजाता है—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' । अतएव अबतक जो बुद्बुद् का आत्मा बना हुआ था आज वही बुद्बुदावस्थान्तररूप इस फेन का हृदय (आत्मा) बन गया है । आगे जितने भी विकार उत्पन्न होंगे सब इसी हृदय अक्षरप्रजापति की प्रेरणा से सम्बन्ध रक्खेंगे । एवं 'तत् सृष्ट्वा' इस सामान्य नियम के अनुसार यह इन उत्तर-उत्तर-रूपों में प्रविष्ट रहेगा और इस आत्मव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर ही हमें पार्थिव सृष्टिविकास का विचार करना होगा ।

४६९–अश्मापान्विता–पार्थिवी सृष्टि और अष्टाक्षर–गायत्रीछन्द एवं तदनुप्राणिता अष्टधया भूमि, और तत्समर्थक ब्राह्मणसन्दर्भ––

पहिली अवस्था आपः (बुद्बुद) है दूसरी 'फेन' है। यही फेन उसी वायु के सम्पात से धीरतास-अद्योगी बनता हुआ घनता के समावेश से आगे जाकर 'मृत्' रूपमें परिणत होजाता है। जारम्भ ही मृत् है। मृत् की दूसरी अवस्था सिकता (चिकनी मिट्टी) है इसकी उत्तरावस्था शर्करा (कङ्कड़) है इसकी उत्तरावस्था अश्मा (पत्थर) है इस की उत्तरावस्था अयः (कच्चालोह) है एवं इस की उत्तरावस्था हिरण्य (धातुमात्र) अवस्था पर उपरत होती है। 'आपः' से आरम्भ कर 'हिरण्य' पर्य्यन्त आठ भागों में विभक्त भूपिण्ड ही पृथिवी का शरीर है औषधि–वनस्पतियाँ इसके केश–लोम हैं। अष्टाक्षर होने से ही इसे 'गायत्री' कहा जाता है। आठवें अक्षर पर ही प्रतिष्ठाभाव पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होता है। अतएव इसे 'भू' कहा जाता है। इसी भूपृष्ठ पर पार्थिव प्रजा उत्पन्न होती है अतएव इसे 'भूमि' कहा जाता है। इसी पार्थिव रचनाक्रम का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति कहते हैं––

"यदिदमग्रमत सर्व– 'आप' एव। सोऽकामयत–भूय एव स्यात्, प्रजायय–इति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपान फेनमसृजत मृच्छुष्कापमूष–सिकता– शर्करा– अश्मान–अयो– हिरण्यं–(ओषधिवनस्पत्य) सृजत। तेनयो पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नव सृष्टय। इममसृज्यत। तस्मादाहुस्त्रिवृदग्निरिति। इयं वाग्नि", अस्य हि सर्वाऽग्निरचीयत। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति–तद्भूमिरभवत्। तम प्रथयत्–सा पृथिव्यभवत्। सर्व मृत्वा कृत्स्ना मन्यमानागायत। यदगायत्–तस्मादियं गायत्री। अग्निगायत्रः।' (६।१।१)–'या वै सा गायत्र्यासीत्, इयं वै सा पृथिवी (भूमि)। भूरिति–अग्न्योऽभवत् सोऽयं लोकोऽभवत्'। भूरिति वा अयं लोकः।' इयं वा भूमि अस्यां वा स भवति, यो भवति"।

––शत० ७।१।१।

४७०–अग्नि–आप–वाग् रूपा शुक्रत्रयी से अनुप्राणिता ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–रूपा देवत्रयी, तदनुप्राणिता वेद–लोक–भूत–रूपा महित्रयी, एवं चमत्कारमयाख्यानसिद्ध माहत्मी का सम्मरण––

उक्त प्रकरण अतएव गायत्रमूर्ति भूपिण्ड किंवा भूमिपिण्ड के सम्बन्ध में अभी कुछ और भी जानना शेष रह जाता है। अग्नि न केवल अग्नि की त्रिवृत् कहा है। पाठकों को स्मरण होगा कि हमने यजुरानुक्रम–उपासना–प्रकरण में शुक्रत्रिवृत्ति का निरूपण करते हुए पृथिवी के साथ सम्बन्धानुबन्धी का सम्बन्ध बतलाया था। अग्नि–आप–वाक् इन तीनों की समष्टि ही मत्यशुक्रत्रयी है। पूर्वोक्त ब्रह्म इन्द्र–विष्णु–इन्द्र इन तीन देवताओं के साथ इन तीनों शुक्रों का योग होता है। अग्नि का ब्रह्मा के

के साथ आपः का विष्णु के साथ एवं वाक् का इन्द्र के साथ सम्बन्ध होता है। अग्निमय ब्रह्मा वेदसृष्टि के आपोमय विष्णु लोकसृष्टि के एवं वाङ्मय इन्द्र वर्णसृष्टि के द्वारा षट्पूर्वक सप्तकस्वरूपा वाक् साहस्री के जनक बनते हैं, जिसका कि अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है।

४७१–भूकेन्द्र–भूमध्य–भू–ऊर्ध्व–अनुगता ब्रह्मा–विष्णु–शिव त्रयी का स्वरूप–समन्वय—

अग्निमय ब्रह्मा की वेदसृष्टि ऋक्–यजुः–साम–भेद से त्रिधा विभक्त है। इन तीनों से क्रमशः भू–भुवः–स्वः इन तीन लोकव्याप्तियों का प्रादुर्भाव होता है। भूकेन्द्रस्थान स्वर्लोक है, स्वयं भूपिण्ड भूलोक है एवं मध्यप्रदेश भुवर्लोक है। स्वर्लोक में अग्निमूर्ति ब्रह्मा प्रतिष्ठित है— 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' —"मूलतो ब्रह्मरूपाय"। भुवर्लोक में अप्मूर्ति विष्णु प्रतिष्ठित है— 'मध्यतो विष्णुरूपिणे'। एवं भूलोक में अग्निसोमात्मकगर्भित त्रिमूर्ति वाङ्मय इन्द्र (शिव) प्रतिष्ठित है—"अग्रतः शिवरूपाय"।

४७२–भूपिण्डानुगत भूः–भुवः–स्वः–रूप–त्रैलोक्य का स्वरूप–दिग्दर्शन—

तात्पर्य इसका यही हुआ कि, इस त्रेधमयी की व्याप्तियों से उक्त सप्तपर्वा किंवा नवपर्वा भूपिण्ड स्वः–भुवः–भूः–इन तीन भागों में परिणत होगया। भूकेन्द्र अग्निमय स्वर्लोक कहलाया भूमध्य भाग (अन्तर्भाग) आपोमय भुवर्लोक कहलाया एवं उपरितन भूपिण्ड वाङ्मय भूलोक कहलाया। तीनों में क्रमशः ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र सहचारी अग्नि–आपः–वाक् इन तीन सर्वशुक्रों का भोग हुआ। भा–स्वता एकपर्व रहा। भूमि तीनों पर्वों की समष्टि का नाम रहा।

४७३–ब्रह्मानुगता वेदसाहस्री, विष्णवनुगता लोकसाहस्री एवं इन्द्रानुगता वाक्साहस्री का तात्त्विक–संस्मरण—

सर्वसमान्य–लोकव्यवहार में भूरादि पृथिव्यादि को भी परस्पर समानार्थक माना जाता है। परन्तु यह विवेचन प्रमाणित करता है कि भूः–भुवः–स्वः–पृथक् तत्त्व हैं एवं पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ पृथक् वस्तुभाव हैं जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे। अभी केवल भूपिण्ड का ही लक्ष्य में रखिए, और लक्ष्य में रखिए उस वृषाग्नि को, जो कि स्वर्लोक–स्थानीय भूपिण्ड के केन्द्र में सब की प्रतिष्ठा बनता हुआ प्रतिष्ठित होरहा है एवं जिस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर वाङ्मय इन्द्र तथा आपोमय विष्णु आगे जाकर वाक्साहस्री वेदसाहस्री लोकसाहस्री इन तीन साहस्रियों का वितान करने वाले हैं। और वा ि यह वितान ही विश्वस्वरूप का निर्मापक बनन पाता है।

४७४–पृथिवी के अचला–अनन्ता रसा विश्वम्भरा तथा स्थिरा–विवर्णा का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय एवं तन्मूलक इय–प्रजापति —

भूपिण्ड का निर्माण सम्पन्न हुआ। प्रजापति की एक कामना पूरी हुई। अब उन्न मनोरथ के आधार पर क्या नवीन इच्छा की? एवं इच्छानुरूप तप और श्रम के द्वारा यह क्या से क्या बन गया? इस प्रश्न का समाधान पूर्वोक्त श्रुति का 'अग्न हि सर्वोऽग्निर्भीपम' यही वाक्य है। पूर्व में बन जाइना

है कि भूगम में 'स्वर्गोकाधिष्ठाता वेदमूर्ति प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। यह अग्नितत्त्व प्राणात्मक प्रजापति है। अग्नितत्त्व इसी का सप्तपुरुषपुरुषात्मक चितिमाव किंवा चिनाव है। इसी चिति से यह मर्त्यभूपिण्ड 'चित्य' कहलाता है। इस चित्य, किंवा मत्सरों के आंशिक चिनाव की प्रतिष्ठा यही केन्द्रस्थ प्राणाग्निमूर्ति प्रजापति है—"विश्वमूर्ति विश्वम्भर-अचल अनन्त-रसमूर्ति यही प्रजापति है। इसी पार्थिव-प्रजापति के अनुग्रह से पृथिवी अचला अनन्ता रसा विश्वम्भरा एवं स्थिरा कहलाई है।

४७५–चित्य–चितेनिधेयात्मक अग्नि की 'सर्व' रूपता का तात्त्विक-समन्वय—

आप-फेन-मृत् शर्करादि भूपिण्ड के आठों पर्व चित्याग्निमय हैं। पर्वात्मक होने से यह अष्टविध मर्त्य (चित्य) अग्नि "सर्व" कहलाता है। इस सर्वाग्नि की चिति (चयन-चेय-चिनाव) उस मूलस्थ इस प्रजापति-लक्षण अमृतधर्म्मा प्राणमूर्ति रसाग्नि के आधार पर ही हुई है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर- 'अत्ये हि सर्वोऽग्नि (चित्योऽग्निरपुचित)-श्रीयते' यह कहा गया है।

४७६–'पशु' शब्द का पारिभाषिक समन्वय, तन्निर्वचन–'पाशुकाग्नि', एवं उसकी अविकसितावस्था का समन्वय—

चित्यभाव में विकास नहीं होता, क्योंकि वैदिक-परिभाषानुसार चित्यभाव 'पशु' है, 'अन्तःस्थ' है। पलाश-कोशादि का स्वरूप एकरूप क्यों रहता है? पशुओं की ज्ञानमात्रा विकसित क्यों नहीं होती ?, इन प्रश्नों का भी यही उत्तर है। यद्यपि वैदिक आत्मवाद के अनुसार इनमें भी आत्मा अवश्य ही है। पशुओं में तो चैतन्यलक्षण आत्मा प्रत्यक्ष ही हो है। तथापि इनका आत्मा भूतभाग के आवरण-विक्षेप से सर्वांशमांग से अभिभूत ही रहता है। अतएव इसे विकास का अवसर नहीं मिलता। फलतः जितना भी चित्यकर्म है उसके स्वरूप में अभी कोई विकास नहीं होता। यही कारण है कि, चित्याग्निरूप [पाशुकाग्निरूप] भूपिण्ड जैसे का वैसा ही रहा इसमें कोई विकास नहीं हुआ।

४७७–'एकोऽहं बहु स्याम्' मूलक प्राणाग्नि-निबन्धन महिमात्मक विकासभाव और अग्निनिबन्धन–'सर्व'–'कृत्स्न'–शब्द—

परन्तु इस चित्य भूपिण्ड का सर्वाधार किन्तु स्वयं निराधार आत्मलक्षण रसाग्नि (प्राणाग्नि) किंवा प्रजापति उस संकुचित सीमा में न रहकर बाहिर निकल पड़ा। 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस स्वाभाविकी कामना से रसाग्नि चित्यपिण्ड का भेदन करता हुआ (भूपिण्ड से बाहिर निकलता हुआ) महिमारूप से भूपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर पर्य्यन्त मण्डलरूप में परिणत होगया और मण्डल की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर ही उसने अपने आप को 'सर्व' तथा 'कृत्स्न' माना।

४७८–प्रजापति के अनिरुक्त-उद्गीथ, एवं सम-रूपों का सस्मरण तथा अनिरुक्त-प्रजापति से अनुभाषिता अनिरुक्ता–अक्षर व्याहृति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

प्रजापति के अनिरुक्त–उद्गीथ–सर्व–नामक तीन महिमामय स्वरूप माने गए हैं। हृदयभाव सर्वथा अनिरुक्त रहता है। हृदय (केन्द्रबिन्दु) का शब्द के द्वारा कोई निर्वचन नहीं किया जासकता। इसी आधार

पर इस इन्द्रमूर्त प्राणाग्नि-प्रजापति को ''अनिरुक्तप्रजापति'' कहा जाता है एवं- प्रजापतिश्चरति-गर्भेऽन्तरजायमानः इत्यादि श्रुति इसी इन्द्र प्रजापति का यशोवर्णन कर रही है। लोकव्यवहार में अनिरुक्त प्रजापति के लिए 'ककार - (क)' का प्रयोग होता है। अज्ञातदशा में 'कौन' का प्रयोग होता है। इसी रहस्य के आधार पर इस अनिरुक्त तत्त्व को 'कः' नाम से व्यवहृत किया गया है जैसाकि- 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' - 'स वै प्रजापतिरब्रवीत् कोऽहमिति। यदेवैतदवोच इत्यब्रवीत् ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्। को वै नाम प्रजापतिः (ऐ० ब्रा० ३।२१।) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इसी 'क' प्रजापति के सम्बन्ध से पृथिवी अपने स्वरूप-प्रदर्शनरूप प्रजापति के यशोगान करने से 'कु' नाम से भी प्रसिद्ध हुई है।

४७९-ककारात्मक अनिरुक्तप्रजापति की 'स'-कारात्मिका सर्वरूपता का समन्वय, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन---

दूसरा सर्व रूप है। चित्यपिण्ड भी इसी प्रजापति का मर्त्यभाग है। महिमामण्डल भी इसी प्राणाग्नि का वितान है। सबकुछ अपने मर्त्य-अमृत भागों से यही बना हुआ है। सर्वात्मक सर्वमूर्ति इसी प्रजापति को 'सर्वप्रजापति' कहा जाता है। अनिरुक्तभाव से जो 'अजायमान' रहता है वह निरुक्त सर्वभाव कि दृष्टि से उत्पन्न होने वाला सब कुछ भी यही है जैसाकि--- 'प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो - 'सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः' प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्व यदिदं किञ्च इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। अनिरुक्त की व्याहृति 'ककार' था एवं इस निरुक्त-सर्व की व्याहृति 'सकार (स)' है- 'सोऽहं भव यदि वा न भव'।

४८०-ककार-सकार एवं उद्गीथ-प्रजापति-त्रयी का माङ्गलिक-सम्मरण एवं 'प्राणा-ग्नय एवैतस्मिनपुरे जाग्रति'---

मूर्धेन्द्र में प्रजापति का ककारलक्षण अनिरुक्तरूप प्रतिष्ठित है महिमामण्डल की परिधि में सकार-लक्षण सर्वरूप प्रतिष्ठित है। एवं महिमामण्डलान्तर्गत २१ त्रिणवस्तोमावच्छिन्न वैश्वानरमण्डल के सप्तदशस्तोम-रूप केन्द्र में तीसरा उद्गीथरूप प्रतिष्ठित रहता है जिसे 'सप्तदशप्रजापति' भी कहा जाता है। प्रजापति के इन तीनों रूपों में से प्रकृत में सर्वप्रथम इस अनिरुक्त प्राणाग्निमूर्ति प्रजापति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं-''प्राणाग्नय एवैतस्मिन पुरे जाग्रति (प्रश्नोपनिषत्)।

४८१-प्राणात्मक इन्द्र प्रजापति के वितान का माध्यम भूत एवं भूत की साधनरूपता का समन्वय-

इन्द्र प्रजापति प्राणा मात्र था विकसित होना इसका स्वाभाविक धर्म था। परन्तु बिना भूतभाग का आश्रय लिए वह स्वस्वरूप का वितान भी कैसे कर सकता था। ज्ञानविकास के लिए हमें भी तो साधनरूप से अन्य-क्षिति आदि भौतिक चित्य भागों का ही आश्रय लेना पड़ता है। अपने आत्मीयपरिच्छिन्न सत्ता या को विश्वव्यापक ईश्वरसत्ता में समर्पित करने के लिए भी तो हमें प्रतिमादि भौतिक पदार्थों को ही माध्यम बनाना पड़ता है। प्रजापति के द्वारा विहित इस स्वाभाविक नियम का स्वयं प्रजापति कैसे उल्लंघन कर सकता था।

ऋग्वेदावच्छिन्न अग्निमय किंवा वैश्वानर–पर्वमय पार्थिवभाग त्रिवृत्पृथिवीलोक कहलाया। यजुर्वेदावच्छिन्न वायुमय किंवा हिरण्यगर्भ–पर्वमय पार्थिवभाग पञ्चदश अन्तरिक्षलोक कहलाया। एवं सामवेदावच्छिन्न आदित्यमय किंवा सर्वज्ञ–पर्वमय पार्थिवभाग एकविंश द्युलोक कहलाया।

४८६–विराट्प्रजापति का यज्ञसंस्थान ऋत्विग्वर्ग यजमान, और तदनुबन्धी– 'अश्वमेध' –

त्रैलोक्यरूपा अग्निमयी पृथिवी ही यज्ञमण्डल कहलाया। ऋग्वेदी अग्नि 'होता' बने यजुर्वेदी वायु अध्वर्यु बने सामवेदी आदित्य उद्गाता बन स्वयं यज्ञमूर्ति समष्टिमूर्ति प्रजापति यजमान बने। यज्ञ हुआ इसी यज्ञ से आगे चलकर सर्वोत्पत्तिमूल प्राणात्मक यशोवीर्यरूप "अश्वमेध" उत्पन्न हुआ।

४८७–विराट् यज्ञप्रजापति के आधार पर अर्काश्वमेध की अभिव्यक्ति, तन्निबन्धना त्रैलोक्यव्यापिनी प्राणाग्निसृष्टि एवं तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ–

उक्त प्राणाग्निवितान का निष्कर्ष यही निकला कि आरम्भ में सर्वत्र पानी ही पानी था। प्रजापति ने स्व-श्रमतप-श्रम से पानी को शर (घन) बनाया शर पानी से भूपिण्ड बनाया भूपिण्ड के मंथन से तेजोरस का विकास किया तेजोरस को अग्नि–वायु–आदित्य भेद से तीन रूपों में परिणत किया। तीनों के मिथुनभाव से सम्वत्सररूप विराट् नाम की दूसरी प्रजापतिसंस्था का विकास किया। विराट्यज्ञ के आधार से अर्काश्वमेध उत्पन्न किया। एवं तरह से सब कुछ प्राप्त कर लिया। इस अनिरुक्त अग्निमूर्ति यज्ञप्रजापति की इसी त्रिधा विभक्त–त्रैलोक्यव्यापिनी प्राणाग्निसृष्टि का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

"नैवेह किञ्चनाग्रे–आसीत्, मृत्युनैवेदमावृतमासीत् अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत–आत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। तद्यदपां शर आसीत्–तत् समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तेजो रसो निरवर्तत–अग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत–आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः) त्रेधा विहितः। द्यौ–पृष्ठ, अन्तरिक्ष उदर, इयमुर। स एष (त्रेधा विहित प्राणाग्नि) अप्सु प्रतिष्ठितः। सोऽकामयत–द्वितीयो मे–आत्मा जायेत–इति। स मनसा वाचं मिथुनं समभवत् अशनायां। मृत्युः। तद्यद्रेत आसीत्, स सम्वत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः सम्वत्सर आस। सोऽकामयत–भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय इति"।

—शतपथब्राह्मणे

४८८–विराट् प्रजापति से ऊर्ध्वोत्थित विश्व विवर्त, तथा आगमनिगमों से अनुप्राणित गतागतिविनिबन्धना महती समस्या—

यहीतक की बात ठीक ठीक बन गई। पूर्व में दूसरे ढंग से भूपिण्ड से विराट् की उत्पत्ति बतलाई थी यहाँ उसी का प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण होगया। अब आगे यही चन्द्रमा यही सूर्य यही परमेष्ठी

वही स्वयम्भू, अतः षोडशी अव्यय-परात्पर भी बन जाता है। यहाँ हिरण्यगर्भ में कैसे [illegible] ? समस्या तो यही सम्मुख नहीं हुई थी। त्रैलोक्य-महासमन्वया महापृथिवी का यह दूसरा प्रकार इस समस्या का निराकरणात्मक-समाधान कर देगा। परन्तु 'तत्रैतानसम्मितो वक्तास:'।

ब्रह्माग्नि—	१-अग्नि — पृथिवी —— त्रिवृत्	(ऋग्वेदः — अग्निर्होता) —— वैश्वानरः	
	२-वायु — अन्तरिक्षम् — पञ्चदश	(यजुर्वेदः — वायुरध्वर्युः) —— हिरण्यगर्भ	—सम्वत्सरो
विश्वगर्भम्	३-आदित्य — द्यौ —— एकविंशः	(सामवेद — आदित्यउद्गाता) — [illegible]	विराट्



४८९-सिंहावलोकनदृष्ट्या पार्थिव विराट् का संकलनात्मक संस्मरण, एवं तदभिन्नरूपा स्वाम्यत्रैलोक्य-रूपा महिमा पृथिवी—

"भूपिण्ड से संलग्न अग्निमय त्रिवृत् पृथिवीलोक, वायुमय पञ्चदश अन्तरिक्षलोक, आदित्यमय एकविंश द्युलोक, तीनों की समष्टिरूप महापृथिवीलोक, इस में सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानरमूर्ति विराट्-प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। पर इस कुछ परि समाप्त क्या पृथिवी के सम्बन्ध शेष क्या रहा? प्रकरण के प्रकरण से हमनें यही समझा और यही समझना न्यायप्राप्त था भी, क्योंकि प्रकरण पृथिवी को पिण्डपृथिवी एवं महिमारूप त्रैलोक्यात्मिका सौम्यपृथिवी के अतिरिक्त और कुछ विशेष बतलाया ही नहीं गया।

४९ -भूर्लोकाधिष्ठाता ब्रह्मा से अनुप्राणित सौम्यत्रैलोक्य एवं भुवर्लोकाधिष्ठाता विष्णु, स्वर्लोकाधिष्ठाता इन्द्र से अनुप्राणित समस्यात्मक पार्थिव लोकों की स्वरूप-जिज्ञासा—

अतएव अब हमें प्रकरण के तथाकथित पार्थिवविष्णु को लक्ष्य में रखते हुए पुनः तत्त्वविमर्श में प्रवृत्त होजाना चाहिए। अभी तो पृथिवी है, जिस पृथिवी के ही विवर्तों का स्पष्टीकरण और करना है। स्मरण कीजिए—उस भूपिण्ड का जिसमें भूः-भुवः-स्वः नामक तीन स्तर बतलाते हुए उन में क्रमशः अग्निमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु, एवं वाङ्मय इन्द्र की प्रतिष्ठा बतलाई गई थी। साथ ही पाठक पूर्व के पार्थिव-विवर्त से यह भी मान गए होंगे कि त्रैलोक्यरूप उक्त सम्वत्सरमण्डल केवल अग्निमय ब्रह्मा का ही विवर्त है। अभी भुवर्लोकाधिष्ठाता आपोमय विष्णु एवं स्वर्लोकाधिष्ठाता वाङ्मय इन्द्र ये दो इष्ट देवता यों के त्यों बचे हुए हैं। ब्रह्माग्निमूर्ति ब्रह्मा ने तो अपने ब्रह्माग्नि का त्रैलोक्यरूप से वितान कर केवली के आधार पर विराट्रूपा सम्वत्सर-त्रिलोकी का निर्माण कर दिया। किन्तु विष्णु और इन्द्र ने क्या किया? यह अभी प्रश्नगर्भ में ही विलीन है।

तेन आत्मना इदं सर्वमसृजत । स यद्-यद्-एव-असृजत तत्तदत्तुमध्रियत, सर्वं वा अत्तीति, तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवमेतददितेरदितित्वं वेद" ।

४६३–वाक्परिमाणात्मक–छन्द का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय तदनुबन्धी 'छन्दोवेद', एवं तद्द्वारा यज्ञमात्रिक–वेद की स्वरूपाभिव्यक्ति—

'वाक्परिमाण' क्या है ? इसका उत्तर है— 'वाक्परिमाणं छन्दः' । वाक्तत्त्व को सीमित करने वाला आवरण ही 'छन्द' नाम से प्रसिद्ध है । यह छन्द भी स्वयं वाग्रूप ही है । छन्द स्वयं वस्तु नहीं है अपितु वस्तु को सुरक्षित रखने वाला एक परिग्रहस्वरूपमात्र है । इस वाग्रूप छन्द को भी एक स्वतन्त्र वेद माना जाता है जो कि वेद "छन्दोवेद" नाम से प्रसिद्ध है । स्वयं वस्तुपिण्ड एक वस्तु है । इस वस्तुपिण्ड में हमने यज्ञमूर्ति ब्रह्म का साम्राज्य बतलाया है । अपिच में व्याप्त ब्रह्म का यह पद छन्दावद्ध ही है । इसी के आधार पर आगे जाकर यज्ञमात्रिक वेद का विकास होता है ।

४६४–हृदय–विष्कम्भ–परिणाहात्मक–केन्द्र–व्यास–मण्डलात्मक छन्दोवेद का स्वरूप समन्वय –एवं तत्स्वरूप भातिसिद्ध–भाव—

पिण्ड में हृदय (नाभि)–विष्कम्भ–परिणाह ये तीन भाव रहते हैं । केन्द्र–व्यास–वृत्त, तीनों कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं । अपितु तीनों ही विशुद्ध भातिसिद्ध पदार्थ हैं । जिसका हृदय है जिसका व्यास है एवं जिसका परिणाह है वही स्वतन्त्र पदार्थ है और वही मतेच्छ है । इन तीनों छन्दों से मूर्तिपिण्ड छन्दित है आवृत है गुप्ति है ।

४६५–पद्य–गद्य–गद्य–भावानुबन्धी ऋक्–यजुः–साम–तत्त्वों का स्वरूप–समन्वय, एवं 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते'–'ऋक्साम यजुरपीतः'–'त्रिधं साम' का रहस्यात्मक समन्वय—

इनमें हृदयच्छन्द अनिरुक्त बनता हुआ असीमकोटि में आता हुआ यजुर्वेद है । विष्कम्भ छन्द ऋग्वेद है । एवं परिणाहछन्द सामवेद है । शब्दात्मिका वाग्वेदी के परिभाषा विधान यह तो जानते ही हैं कि, यजुर्वेद गद्यात्मक बनता हुआ सीमाभाव से बहिर्भूत है । पद्यात्मक–ऋग्वेद गेयात्मक सामवेद दोनों सीमित हैं । वे यह भी जानते ही हैं कि पद्यरूप ऋङ्मन्त्र ही गानसीमा में आकर साममन्त्र कहलाते हैं । दूसरे शब्दों में–ऋक् को आधार बना कर ही ऋक् को वाहन बनाकर ही सामगान होता है– 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' । ये यह भी जानते ही हैं कि तीन ऋङ्मन्त्रों से एक साममन्त्र का

---

* सूर्य के [illegible] में त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–स्तोम पर्यन्त भाग को ही हमने "अदिति" पृथिवी कहा है । एवं इसी के गर्भ में एकविंश विराट् अथवा [illegible] त्रिवृत् प्रजापति की सत्ता बतलाई है । प्रकृत श्रुति [illegible] इसी अदिति पृथिवी का स्पष्टीकरण कर रही है ।

सम्पन्न होजाता है। अर्थात् जितने समय में व्यासात्मक एक ऋक्-मन्त्र का उच्चारण होता है उससे त्रिगुणित समय लगाकर यदि उसी ऋक्मन्त्र का प्रयोग किया जायगा (गीला जायगा) तो वह ऋक्मन्त्र ऋक्मन्त्र न कहला कर साममन्त्र कहलाने लगेगा— त्रिच साम । हाँ सम्भवतः वे यह नहीं × जानते होंगे कि ये ऋक्साम दोनों ही यजु में अपीत रहते हैं (डूबे रहते हैं)।

४६६-तत्त्वात्मक-अपौरुषेय-वेद, एवं तदनुबन्धिनी वेदत्रयी का स्वरूप-समन्वय—

विज्ञानी की इस शब्दसृष्टि का भाव हम अपियक-व्यक्त-सापेक्ष इस तत्त्वात्मक छन्दोवेद के साथ समन्वय करना चाहते हैं क्योंकि तत्त्वात्मक वेद अपौरुषेयवेद नाम से प्रसिद्ध है। परिणाह को साम कहा है। भूपिण्ड का बाह्य परिधि ही परिणाह है। यह परिणाह व्यास के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। व्यास की मूलप्रतिष्ठा बनाकर ही परिणाह वितत हुआ है— 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते'। विष्कम्भ ऋक् है। त्रिगुणित विष्कम्भ ही परिणाह है। अर्थात् व्यास का जितना परिमाण है परिणाह का परिमाण उससे त्रिगुणित होता है— 'त्रिचं साम'। परिणाह और विष्कम्भ दोनों की प्रतिष्ठा हृदय-रूप यजु है 'ऋक्सामे यजुरपीतः'।

४६७ इन्द्रात्मक परिणाह, विष्ण्वात्मक विष्कम्भ एवं ब्रह्मात्मक हृदय, तथा छन्दोवेद का त्रिदेवानुबन्धी समन्वय—

परिणाह अन्तिम सीमा है यहीं वाङ्मय इन्द्रदेवता प्रतिष्ठित है। अतएव परिणाहरूप साम को हम इन्द्र-सम्बन्धी कह सकते हैं। व्यास मध्यसीमा है यहीं आपोमय विष्णु प्रतिष्ठित है। अतएव विष्कम्भ-रूप ऋक् को विष्णु-सम्बन्धिनी कहा जासकता है। हृदय मूलसीमा है यहीं अग्निमय ब्रह्मा प्रतिष्ठित है। अतएव हृदयरूप यजु को ब्रह्मसम्बन्धी माना जासकता है। ऋक्-साम को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, एवं पहिले केवल यजु ही का विचार कीजिए।

४६८-यजुर्वेद के अनेजत्-एजत्-स्थिति-गति-लक्षण-यत्-जू रूप-'यजु' स्वरूप का तात्त्विक दिग्दर्शन—

यह वेद यजुर्वेद नहीं है अपितु 'यजुः' वेद है। यत् और जू की समष्टि ही यजु है। 'यजु' को ही परोक्षभाषा में 'यजु' कहा जाता है। यजु का 'यत्' भाग 'प्राण' है 'जू' भाग 'वाक्' है। वाक् 'आकाश' है प्राण 'वायु' है। आकाश स्थितितत्त्व है वायु गतितत्त्व है। स्थिति 'अनेजत्' है

× न जानने का कारण स्पष्ट है। 'ऋक्' के आधार पर सामगान होता है, तीन ऋचाओं का एक साम होता है ये सिद्धान्त तो दर्शनशास्त्र में उपपादित होचुके हैं। परन्तु "ऋक्साम यजु-रपीत" यह रहस्य भूमि है। अतएव दर्शनभक्त साधक विज्ञानसिद्ध उन वानी तात्त्विक भावों को तो जान लिया। परन्तु इन अतिरिक्त रहस्य को वे नहीं जानसके।

गति 'यजन' है। एतद्यत्–यजन की समष्टि ही यजू है यही ब्रह्मा है यही मूलप्रतिष्ठा है। आपोमय विष्णु और वाङ्मय इन्द्र ये दोनों भी एक दृष्टि से इसी के विवर्त्त हैं। अप्तत्त्व का विकास प्राणगर्भित वाङ्मूर्त्ति ब्रह्मा से ही हुआ है– 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' –"वागेव साऽसृज्यत"। वाक्तत्त्व का विकास भी इसी आपोमय मण्डल के गर्भ में (सोमरूप से) हुआ है।

४९९–यद्मूर्त्ति ब्रह्मा की आदि–मध्य–अन्त–रूप से ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–स्वरूप में परिणति–

दूसरी दृष्टि से देखिए। यत् और जू में 'जू' रूप स्थितिभाव तो साक्षात् ब्रह्मा है। 'यत्' गति है। आगति-गति दोनों 'गति' हैं। आगति विष्णुधर्म्म है, गति इन्द्रधर्म्म है। इसप्रकार यजुर्मूर्त्ति ब्रह्मा स्वरूप से मूल में प्रतिष्ठित रहता है, आगतिरूप यद्भाग से विष्णुरूप में परिणत होता हुआ मध्य में प्रतिष्ठित रहता है एवं गतिरूप 'यत्' भाग से इन्द्ररूप में परिणत होता हुआ अन्त में प्रतिष्ठित रहता है। और यही तो इस प्रतिपक्ष की रचना है।

५० –सत्यत्रयी का पारस्परिक–समन्वय एवं तन्निबन्धना–आध्यात्मिका वाङ्मूला वेदत्रयी शुक्रत्रयी, छन्दस्त्रयी, देवत्रयी, लोकत्रयी, और 'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने'' का पावन–संस्मरण–

एक चमत्कार और देखिए। इन्द्र को हमने साम बतलाया, यह कथन तो सुव्यवस्थित है। विष्णु का ऋक् से सम्बन्ध बतलाया था एवं ब्रह्मा का यजु से। अब स्थिति बदल गई है। यजुः का जू रूप आधारभूत भाग केवल ब्रह्मा रह गया है, यद्रूप वायु विष्णु बन गया है। इसी दृष्टि से उपरूप 'ऋ' (ब्रह्मा) ऋग्वेद बन गया है, अन्तरूप यत् (विष्णु) यजुर्वेद बन गया है—"तस्माद्वायुरेव यजुः" एवं इन्द्र साम रह गया है। इसप्रकार त्रयीवेद के इस उपाख्यानभाव से—स्वर्लोकस्थानीय अग्निशुक्रमय ब्रह्मा ऋङ्मूर्त्ति, भुवर्लोकस्थानीय आपः शुक्रमय विष्णु यजुर्मूर्त्ति एवं भूलोकस्थानीय वाक्शुक्रमय इन्द्र साममूर्त्ति बन गए हैं। तीनों वेद उस एक ही 'प्राण' रूपा 'वाक्' के तीन विवर्त्त हैं। आरम्भ में वाक् परिमाणरूप जो छन्द एकरूप था, वही देवभेद से ऋग्रूप उक्थ हृदयबिन्दु, यजुरूप मध्यविष्कम्भ एवं सामरूप वितान–परिणाह–रूप से तीन भागों में विभक्त होगया है। एक छन्द तीन छन्द बन गए, एक वेद तीन वेद बन गए, एक देवता तीन देवता बन गए, एक ही अग्निशुक्र तीन शुक्र बन गए, एवं एक ही भूलोक भू–भुव–स्व भेद से त्रिपर्वा बन गया–'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने'।

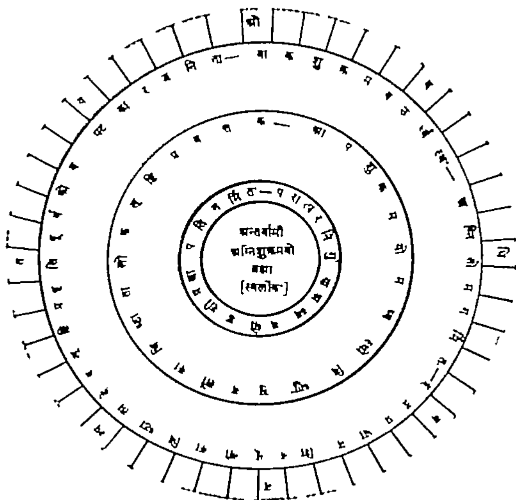
एक प्रकारः–

१–हृदयम्——ऋङ्–ऋङ्मूर्त्तिर्ब्रह्मा—अग्निमयो मूलस्थ—स्वर्लोकाधिष्ठाता
२–विष्कम्भ—यजु–यजुर्मूर्त्तिर्विष्णुः–आपोमयो मध्यस्थ—भुवर्लोकाधिष्ठाता
३ परिणाह—साम–साममूर्त्तिरिन्द्र—वाङ्मयो बहिःस्थ—भूलोकाधिष्ठाता
(१–३) —भूपिण्ड

आप-फेन-मृत् सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्यात्मकः–

भूपिण्डपरिलेख –

(स्वभु वमू रात्मकोऽयमग्निगर्भो भूपिण्ड)



प्रमाणानि—

१– 'एष प्रजापतिः (ब्रह्मा) यद्धृदयम्' (शत० १४।८।४।१।) ।

२– 'तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि' (शत० ४।६।७।१७)

३–''स प्रजापतिर्यजूंष्यव हिङ्कारमकरोत्' (जै० ब्रा० उ० १।२७।६।) ।

———★———

अन्य प्रकार सैद्धान्तिक —

ऋक्छन्द–ब्रह्मा अग्निमय–हृदयम्—स्वः	—भूपिण्ड
यजुश्छन्द विष्णु आपोमय–विष्कम्भः–भुवः	
सामछन्द–इन्द्र—वाङ्मय—परिणाह–भूः	

———★———

५०१ ऋक्–यजु साम–अनुगत–ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–मात्रान्वित अग्नि–आप–वाग–मात्र, एवं तन्निबन्धन वाक्–गौ–द्यौ–रूप–पार्थिवी–मनोतात्रयी का संस्मरण—

वाक्परिमाण को छन्द बतलाया गया उस छन्द के ऋक्–यजु–साम ये तीन पर्व बतलाए गए, तीनों का क्रमशः ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र के साथ सम्बन्ध बतलाया गया एवं तीनों देवताओं को क्रमशः अग्नि–आप–वाङ्मय बतलाया गया। और यही भूपिण्डात्मिका त्रिलोकी बनी। स्वर्लोकरूप विष्कम्भावच्छिन्न ऋङ्मय अग्निमय ब्रह्मप्रधान हृदय का पृथिवीलोक बना। भुवर्लोकरूप विष्कम्भावच्छिन्न यजुर्मय आपोमय विष्णुप्रधान इस का अन्तरिक्षलोक बना। एवं भूर्लोकरूप परिणाहावच्छिन्न साममय वाङ्मय इन्द्रप्रधान इस भूपिण्ड का द्युलोक बना। इसी आधार पर मनोताविज्ञान के अनुसार भूपिण्ड के वाक्–गौः–द्यौ इन तीन मनोताओं का उक्त तीनों देवताओं के साथ योग माना जाता है। वाक् अग्निमयी है इस का अग्निमय ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध है। गौतत्त्व आपोमय है इसका आपोमय विष्णु के साथ सम्बन्ध है एवं द्यौतत्त्व वाङ्मय है और इसका वाङ्मय इन्द्र के साथ सम्बन्ध है।

५०२–वाङ्मयी–गायत्री पृथिवी, आपोमयी त्रैष्टुभी–पृथिवी एवं जागती पृथिवी, एवं त्रिपृथिव्यात्मिका महापृथिवीरूपा विश्वम्भरा का तात्त्विकस्वरूप–समन्वय तथा तन्निबन्धना सार्वभौमी का संस्मरण—

वाङ्मय अग्निमूर्ति ब्रह्मप्रधानरूप पृथिवीलोक ऋक्छन्द है यही गायत्रीछन्द है। आपोमय आपोमूर्ति विष्णुप्रधानरूप अन्तरिक्षलोक यजुश्छन्द है यही त्रिष्टुप छन्द है। एवं वाङ्मय वाङ्मूर्ति इन्द्रप्रधान

रूप द्युलोक साम्नस्तुन्न है यही जगतीछन्द है। इस दृष्टि से तीनों भौम देवता क्रमशः गायत्रपृथिवी त्रैष्टुभ पृथिवी जागतपृथिवी इन तीन विवर्तों की विकासभूमि बनते हैं। गायत्र पृथिवी अग्निमयी कहलाती है त्रैष्टुभ-पृथिवी आपोमयी कहलाती है एवं जागत-पृथिवी वाङ्मयी कहलाती है। अग्निमयी पृथिवी से वेदसाहस्री का आपोमयी पृथिवी से लोकसाहस्री का एवं वाङ्मयी पृथिवी से वाक्साहस्री का विकास होता है।

५ ३—केवल-गायत्री-पृथिवी से अनुप्राणिता गायत्री त्रिष्टुप्-जगती-रूपा छन्दस्त्रयी तन्निबन्धना गायत्ररूपा वेदत्रयी, एवं राजर्षि मनु के द्वारा तत्स्वरूप-समन्वय—

इतना और ध्यान रखिए कि, भूपिण्ड में यद्यपि गायत्री त्रिष्टुप्-जगती—तीनों ही हैं परन्तु प्रधानता गायत्रभाग की ही है अतएव भू को गायत्री ही कहा जायगा। इस गायत्री के गर्भ में गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती ये तीनों छन्द प्रतिष्ठित हैं। इनमें गायत्री का विकास त्रिवृत्त्रिलोकीरूप महापृथिवीरूप से होता है। यज्ञाग्निमूर्ति गायत्री ही तेजोरूप से बाहिर निकल कर अपनी घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओं में परिणत होकर त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश इन तीन लोकों में प्रतिष्ठित होकर सम्वत्सररूप में परिणत होती है जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भूपिण्ड से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण पर्यन्त गायत्रप्रकृति पार्थिव गायत्राग्नि (यज्ञाग्नि) का ही वितान है। गायत्राग्नि के तीनों पर्वों से वेदसिद्धि के लिए क्रमशः अग्निपर्व से ऋग्वेद वायुपर्व से यजुर्वेद एवं आदित्यपर्व से सामवेद का विकास होता है जैसाकि निम्नलिखित मनु वचन से स्पष्ट है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसाम लक्षणम्॥
—मनु

५ ४—छन्दस्त्रयीमयी गायत्री पृथिवी से अनुप्राणिता वेदत्रयी के स्तोमत्रयानुबन्धी गायत्र-लोक, तन्निबन्धना वेदत्रयी के ऋक्-यजुः-साम-समुद्र एवं अमृतमूला इन्द्राविष्णु की रहस्यपूर्णा प्रतिस्पर्धा का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

यही पहिली वेदसाहस्री है। इस वेदसाहस्री के भूकेन्द्र त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न गायत्र यज्ञाग्निरूप पार्थिव अग्नि का छन्द गायत्री है। यजुर्मय, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न-गायत्र तरलाग्निरूप आन्तरिक्ष्य वायु का छन्द त्रिष्टुप् है। एवं साममय एकविंशस्तोमावच्छिन्न गायत्र विरलाग्निरूप दिव्य आदित्य का छन्द जगती है। इस दृष्टि से त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य-मूर्ति गायत्रयज्ञाग्नि के इन तीनों गायत्रपर्वों में भी गायत्री त्रिष्टुप्-जगती इन तीनों छन्दों का भोग सिद्ध होजाता है। इसके साथ ही यह और स्मरण रखना चाहिए कि इस वेदसाहस्री का विकास हुआ उसी इन्द्राविष्णु की स्पर्द्धा से है। आगतिधर्म्मा विष्णु, एवं गतिधर्म्मा इन्द्र के आदान-विसर्ग से ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ के द्वारा यह यज्ञाग्नि वितत होकर २१ पर पहुँच सका है यहाँ पहुँच कर ही यह त्रिपर्वा बन सका है

एवं त्रिपर्वा बन कर ही यह वेदत्रयीरूप वेदसाहस्री (ऋक्साहस्री यजुःसाहस्री-सामसाहस्री किंवा ऋचां समुद्र, यजुषां समुद्र-साम्नां समुद्र को विकसित करने में समर्थ होता है। और इन्द्राविष्णु की इस स्पर्धा का मूल धरातल बना है-यही अप्तत्त्व जिस के गर्भ में किसी के अंश से अवयवों के द्वारा भूपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है—'समुद्रमभित पिन्वमानम्। इन्द्रश्च विष्णो यदपः स्पृधेथाम्' का यही रहस्य है। भूपिण्ड के चारों ओर अर्णव समुद्र भरा हुआ है। इन्द्राविष्णु की योजना से पानी के धरातल पर ही मध्य की इस गायत्र पृथिवी किंवा संवत्सरपृथिवी का वितान होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर पूर्व श्रुति ने उत्पन्न सम्वत्सर को भी स पयोऽप्सु प्रतिष्ठित कहते हुए इस आपोमय अर्णव समुद्र में ही। प्रतिष्ठित बतलाया है।

१-अग्नि—त्रिवृत्स्तोम—पृथिवी—ऋग्वेद—गायत्रोऽग्निः-गायत्रीछन्दा	—गायत्री
२-वायु—पञ्चदशस्तो० अन्त०-यजुर्वेद—गायत्रो वायु-त्रिष्टुप्छन्दा	
३ आदित्यः—एकविंशस्तो—द्यौ—सामवेद-गायत्रआदित्य-जगतीछन्दा	(अग्निः)

१-गायत्री ६—अग्निर्गायत्रः—पृथिवी	—गायत्री पृथिवी (ब्रह्म)—वेदसाहस्री
२-त्रिष्टुप् १५—वायुर्गायत्र—अन्त०	
३-जगती २१—आदित्यः गायत्र-द्यौः	

५०५—भुवर्लोकात्मक-आपोमय-त्रैष्टुभ-वैष्णवलोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

इसके अनन्तर भूपिण्ड के भुवर्लोक में प्रतिष्ठित रहने वाले त्रिष्टुप्छन्दा यजुर्मूर्ति-आपोमय विष्णु का स्थान आया। इसी विष्णु से लोकसाहस्री का वितान हुआ। उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अह-र्गणपर्यन्त इस आपोमय विष्णु की व्याप्ति हुई। २१ पर्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना यही तेजो-मय (अग्निमय) 'तेल' पानी कहलाया, जिस के कि समावेश से तैल पवित्र माने जाते हैं। २१ से २७ पर्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना यही पवित्र पानी (पार्थिव आकर्षण से विमुक्त पानी) भास्वरसोम कहलाया। एवं २७ से ३३ पर्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना। यही पानी 'दिक्सोम कहलाया।

५०६—वैष्णव त्रैष्टुभ-तीनों लोकों से अनुप्राणित त्रयस्त्रिंश-सप्तविंश एकविंश-स्तोमानुगत गायत्र-त्रैष्टुभ जागत-भाव, एवं वैष्णवी त्रिलोकी का तात्त्विक स्वरूप समन्वय—

२१ किंवा स्तोमावच्छिन्न तेजोमय वैष्णव अतएव त्रैष्टुभ पानी उस तेजोमय, एकविंशस्तोम-पर्यन्त व्याप्त रहने वाले त्रिमूर्ति गायत्र अग्नि के सम्बन्ध से "गायत्री कहलाया। त्रिणव (२७) स्तोमावच्छिन्न

भास्वरसोममय वैष्णव त्रैष्टुभ पानी 'त्रिष्टुप्' कहलाया एवं त्रयस्त्रिंश स्तोमावच्छिन्न दिक्सोममय वैष्णव त्रैष्टुभ पानी 'जगती' कहलाया। इसप्रकार त्रिष्टुप्छन्दा आपोमय इस वैष्णव मण्डल की भी २१-२७-३३-भेद से तीन अवस्थाएँ बन गईं। एवं ये ही तीनों अवस्थाएँ आपोमय (मेनमय) पृथिवीलोक, आपोमय (भास्वरसोममय) अन्तरिक्षलोक, आपोमय (दिक्सोममय) द्युलोक, इसप्रकार तीन लोक कहलाए। तीनों क्रमशः गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती छन्दों से युक्त बन गए। इसी दृष्टि से आपोमय केवल त्रैष्टुभलोक में ही तीनों छन्दों का उपभोग सिद्ध हो गया। यही दूसरी लोकसाहस्री कहलाई।

१-मन ——पञ्चदशस्तोमः-पृथिवी-आपः (त्रिष्टुप्-विष्णु -गायत्री)
२-भास्वरसोम-त्रिणवस्तोम—अन्त -साम ( )त्रिष्टुप् } त्रिष्टुप्
३-दिक्सोम—त्रयस्त्रिंशस्तोम-द्यौ—दिक् (,,)-जगती } (आप)

१—गायत्री—२१-अनलत्रैष्टुभ——पृथिवी
२—त्रिष्टुप्—२७-भा सामत्रैष्टुभ अन्त } त्रिष्टुप् पृथिवी विष्णु)-लोकसाहस्री२
३—जगती—३३-दि सोमत्रैष्टुभ -द्यौ

५ ७-भूलोकात्मक-वाङ्मय-आगत-इन्द्र-लोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्विक-स्वरूप समन्वय तदनुप्राणित वाङ्मय वषट्कार-मण्डल एवं तत्र प्रतिष्ठिता स्वर-वर्ण-व्यञ्जन त्रयी—

विष्णु के अनन्तर भूपिण्ड के भूलोक में प्रतिष्ठित रहने वाले जगतीछन्दा साममूर्ति, अग्निसोम-गर्भित साममूर्ति वाङ्मय इन्द्र का स्थान आता है। इसी त्रिमूर्ति इन्द्र से वाक्साहस्री [वषट्कार] का जन्म होता है। अतएव इन्द्र के लिए 'इन्द्राय-वषट्' इत्यादि रूप से वषट्पूर्वक ही आहुति दी जाती है। उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त इस वाङ्मय इन्द्र की व्याप्ति हुई। २४ पर्य्यन्त वाङ्मय इन्द्र का जिस वाक् का एक स्वतन्त्र मण्डल बना यही आगतमण्डल कहलाया। आगत वाङ्मण्डल शब्द ब्रह्मविज्ञान के अनुसार "स्वरमण्डल" कहलाया, त्रैष्टुभ वाङ्मण्डल 'वर्णमण्डल' कहलाया एवं गायत्र-वाङ्मण्डल "व्यञ्जनमण्डल" कहलाया।

५ ८-इन्द्रानगत-विविधाकारकरणात्मक 'व्याकरण' का स्वरूप-निर्वचन एवं तदाधार भूत अद्धमात्रात्मक स्फोटब्रह्म का तात्त्विक स्वरूप-संस्मरण—

वाङ्लक्षण शब्दब्रह्म के व्यञ्जन वर्ण स्वर ये तीन विवर्त माने गए हैं जैसाकि अस्मदीय परीक्षान्तर्गत वर्णनिर्वचनप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन्द्र ही वाग्देवता बनकर शब्दब्रह्म

को (स्फोटतत्त्व को) व्याकरण (एकस्य स्फोटतत्त्वस्य विविधप्रकारकरणमेव व्याकरणम्) रूप में परिणत करते हैं। यह ऐन्द्र व्याकरण चतुर्विंश–चतुश्चत्वारिंश–अष्टाचत्वारिंश भेद से व्यञ्जन–वर्ण–स्वर भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है। तीनों की मलप्रतिष्ठा वही मध्यस्थानीय स्फोटतत्त्व है जो कि 'अर्द्ध मात्रा' नाम से प्रसिद्ध है।

१०६–ऐन्द्र–आगत तीनों लोकों से अनुप्राणित–अष्टाचत्वारिंश–चतुश्चत्वारिंश चतुर्विंश स्तोमानुगत गायत्र–त्रैष्टुभ–जागत–भाव, एवं ऐन्द्री त्रिलोकी का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय —

चत्वारिंशस्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र व्यञ्जनलक्षण आगत वाक्तत्त्व गायत्र अग्नि के सम्बन्ध से गायत्र कहलाया चतुश्चत्वारिंश–स्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र वर्णलक्षण आगत वाक्तत्त्व त्रैष्टुभ अप् के सम्बन्ध से त्रैष्टुभ कहलाया एवं अष्टाचत्वारिंश–स्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र स्वरलक्षण–आगत वाक्तत्त्व अपने विशुद्ध आगतरूप से आगत कहलाया। इसप्रकार आगतरूपा वाङ्मय इस ऐन्द्रमण्डल की भी २४–४४–४८ भेद से तीन संस्थाएँ बन गईं। एवं ये ही तीनों संस्थाएँ वाङ्मय (व्यञ्जन वाङ्मय) पृथिवीलोक, वाङ्मय (वर्ण वाङ्मय) अन्तरिक्षलोक वाङ्मय [स्वरवाङ्मय] द्युलोक, इसप्रकार तीन लोक कहलाए। तीनों पूर्व-परिभाषानुसार क्रमशः गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती इन तीन छन्दों से युक्त बन गए। इसी दृष्टि से वाङ्मय केवल आगत लोक में भी तीनों छन्दों का उपभोग सिद्ध होगया। यही तीनों वाक्साहस्री कहलाई। आगे की तालिकाओं, एवं परिलेखों से उक्त विषय भलीभाँति स्पष्ट होजाता है।

१–व्यञ्जनमण्डलम्–चतुर्विं०—पृथिवी–(व्यञ्जनानि–जगती–इन्द्र –गायत्री
२–वर्णमण्डलम्—चतुश्च —अन्त –(वर्णा)– „ –त्रिष्टुप्
३–स्वरमण्डलम्—अष्टाच —द्यौः (स्वराः)– „ –जगती
} — १ जगती २ [वाक्]

———

१–गायत्री—२४—व्यञ्जनं आगतम्—पृथिवी
२–त्रिष्टुभ्–४४—वर्णा आगत ——अन्त
३–जगती—४८—स्वरो आगत ——द्यौः
} जगती पृथिवी [इन्द्र] वाक्साहस्री

———

समष्टि —

१-ब्रह्मा—स्वः—अग्निः-ऋक्—— 'गायत्री''
२-विष्णुः-भुवः—आपः—यजुः——'त्रिष्टुप्'
३-इन्द्र—भूः—वाक्-साम—— 'जगती
} भूपिण्डः

१—ब्राह्ममण्डलम्—(स्वर्लोकात्मिका गायत्री-पृथिवी)—

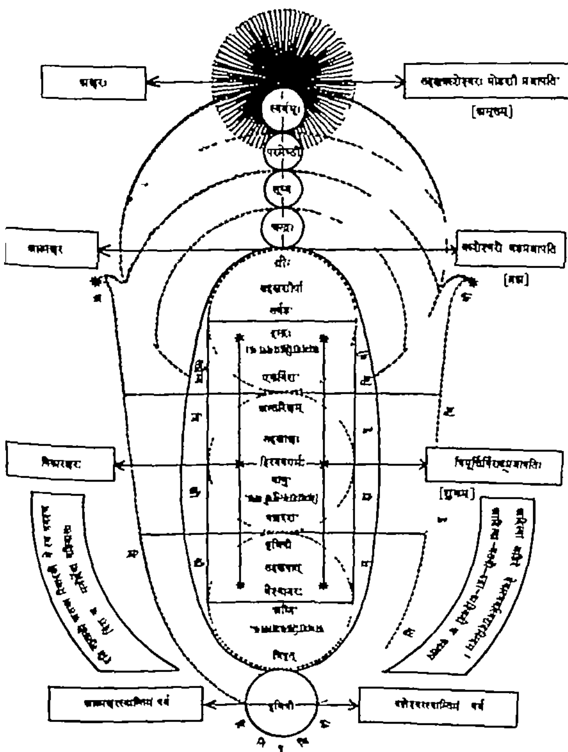
१-अग्निः—पृथिवी—ऋक्—गायत्री [६]
२-वायुः—अन्त०—यजुः—त्रिष्टुप् [१७]
३-आदित्य—द्यौः—साम—जगती [२१]
} अग्नि –"गायत्री" 'वेदसाहस्री'

२—विष्णुमण्डलम्—(भुवर्लोकात्मिका त्रिष्टुप्-पृथिवी)

१-वेन——पृथिवी—गायत्री [२१]
२-मा०सोम-अन्तरि०-त्रिष्टुप् [२७]
३ दिक्मास—द्यौ—— जगती [३३]
} आपः "त्रिष्टुप्" 'लोकसाहस्री'

३-इन्द्रमण्डलम्—(भूलोकात्मिका जगतीपृथिवी)—

१-भाभुवन पृथिवी—गायत्री (२८)
२-वर्णः——अन्तरिक्षम्-त्रिष्टुप् (४४)
३-स्वरः——द्यौ——जगती (४८)
} वाक् ''जगती' 'वाक्साहस्री'


स्वयंभू
परमेष्ठी
सूर्य
चन्द्रः
द्यौः
हिरण्यगर्भः
वैश्वानरः
पृथिवी
पृथिवी
[अमृतम्]
[शुक्रम्]

५१०–वेद लोक वाक्-साहस्री त्रयीमूर्त्ति पार्थिव विराट्प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय–

उक्त तालिका एवं परिलेखों से पाठकों को विदित हुआ होगा कि, भूपिण्ड के ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र भक्षरों किंवा त्र्यक्षरमूर्त्ति एकाक्षर अनिरुक्त प्रजापति से ही अग्निमयी वेदसाहस्री आपोमयी लोकसाहस्री वाङ्मयी वाक्साहस्री इन तीन साहस्रियों में परिणत होता हुआ अग्निमयी पृथिवी आपोमयी पृथिवी वाङ्मयी पृथिवी इन तीन पृथिवियों को अपने गर्भ में रखता हुआ सर्वाक्षर सर्वप्रजापति बन गया है और इसी सर्वप्रजापति का नाम 'विराट् प्रजापति' है।

५११–विराट्प्रजापति से अनुप्राणित अहर्गणात्मक स्तोमों के गायत्रीछन्दोनिबन्धन अष्टविध महिमाविवर्तों का स्वरूप-समन्वय—

समष्टिरूप से यदि विराट् के स्तोमों की गणना की जाती है तो त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश त्रिणव त्रयस्त्रिंश चतुर्विंश चतुश्चत्वारिंश अष्टाचत्वारिंश ये आठ स्तोम हो जाते हैं। यही अष्टाक्षरा गायत्री है। गायत्र अग्नि है अग्नि ब्रह्मा है गायत्र ब्रह्मा ही त्रैष्टुभ विष्णु जागत-इन्द्ररूप में परिणत होता हुआ आठ स्तोमों में विभक्त होरहा है दूसरे शब्दों में गायत्री ही त्रिष्टुप्-जगती रूप में परिणत होती हुई विराट्रूप में परिणत हाती है।

५१२–पार्थिवी-ब्रह्मगायत्री की 'सुपर्णा पक्षी' रूप में परिणति, तद्रूप के द्वारा तीसरे द्युलोक से सोम का अपहरण, एवं 'चतुरक्षर छन्दों' का तात्त्विक-स्वरूप दिग्दर्शन–

यह सुप्रसिद्ध है कि, आरम्भ में सभी छन्द चतुरक्षर ही थे- 'सर्वाणि ह छन्दांसि चतुरक्षराण्यासन' (ब्राह्मणश्रुति)। भूपिण्डस्थ आग्नेय देवताओं को अपने अभावभाव की रक्षा के लिए सोमाहुति की आवश्यकता हुई। सोम भूपिण्ड से बड़ी दूर तीसरे द्युलोक में था– 'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्'। उसके समीप जगतीछन्द पड़ता था। अतः सोमदेवताओंने परामर्श कर पहिले चतुरक्षरा जगती को ही सोम लाने के लिए भेजा। गन्धर्व सोम की रक्षा कर रहे थे। जब जगती वहाँ पहुँची तो रक्षक गन्धर्वोंने उसे मार भगाया। यही नहीं अपितु चतुष्पदा जगती के तीन पैर काट कर गन्धर्वोंने वहीं रख लिए, एक पैर से जगती वापस लौट आई। जगती के अनन्तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप् का स्थान आया। इसमें कुछ विशेष बल था अतएव सोम न मिलने पर भी यह अपना शरीर अधिक क्षत न करासकी। गन्धर्व इस का एक ही पैर काट सके, तीन पैरों से त्रिष्टुप् भी वापस लौट आई। अब पृथिवी में रहनेवाली 'दक्षि-प्र क्षि' नामका चतुष्पदा गायत्री का स्थान आया। देवताओंने इसे ही सोम लाने के लिए प्रेरित किया। गायत्री ब्रह्मबल से युक्त थी ब्रह्म की प्रतिष्ठा का इस में पूर्ण विकास था। इसी विशेष बल से बलवत्तमा बनती हुई गायत्री सुपर्णरूप धारण कर बड़े वेग से झपाटे के साथ सोमपर आक्रमण करने चलपड़ी — 'गायत्री वै सुपर्णो-भूत्वा सोममच्छापतत्'। परिणाम जो कुछ हुआ सर्वविदित है।

५१३–त्रिष्टुप के ३ पैर, जगती का एक पैर, गायत्री के चार पैर, आर समष्ट्यात्मिका गायत्री की अष्टाक्षररूपता का समन्वय—

गन्धर्वों की आँखों में धूल झोंक कर गायत्री ने सोमापहरण तो किया ही साथ ही वह जगती के उस एक पैर, एवं त्रिष्टुप् के उन तीन पैरों को भी अपने साथ लेती आई जो कि गन्धर्वों के द्वारा काट लिए गए

बन गायत्री स्वयं चतुरक्षरा पहिले से थी ही। जगती तथा त्रिष्टुप के १-१ पैरों से साथ सोमापहरण के साथ साथ गायत्री अष्टाक्षरा भी बन गई। तभी से गायत्री के सम्बन्ध में "अष्टाक्षरा वै गायत्री" यह निगम चल पड़ा।

५१४-अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप, एवं द्वादशाक्षरा जगती के अक्षरसंख्या निबन्धन तात्विक स्वरूप का समन्वय, एवं गायत्री की सर्वरूपता—

अब त्रिष्टुप् और जगती ने यह सुना कि गायत्री उड़कर होकर लौट आई है साथ ही वह हमारे पैर भी ले आई है तो वे दोनों अपने अपने पैर मांगने के लिए गायत्री के समीप आईं। गायत्री ने कह दिया कि पैर तुम्हें वापस नहीं मिल सकते। हाँ यदि तुम चाहो तो मुझ में मिल सकती हो। ऐसा ही हुआ। त्र्यक्षरा त्रिष्टुप चार्ध्यक्षरा गायत्री में मिल गई फलतः अष्टाक्षरा गायत्री एकादशाक्षरा बन गई। इसी एकादशाक्षरा गायत्री को "एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्" कहा जाने लगा। एवमेव एकाक्षरा जगती भी गायत्री में मिल गई। इस से एकादशाक्षरा गायत्री द्वादशाक्षरा बन गयी। इसी द्वादशाक्षरा गायत्री को "द्वादशाक्षरा जगती" कहा जाने लगा। इसप्रकार सोमाहुति के प्रभाव से ब्रह्मसम्बन्धिनी गायत्री ही ८-११-१२ मात्रों में परिणत होकर गायत्री-त्रिष्टुप् जगती रूप में परिणत होती हुई महाद्युस्वर्गरूप मार्ग पर विराट्रूप में परिणत होगी। यही वैज्ञानिक आख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में "सतद्व सौपर्णकमास्थानमाख्यानविद आचक्षते" इ त्यादि रूप से "सौपर्ण-आख्यान" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

५१५ छान्दोग्योपनिषत्सम्मता 'ब्रह्मगायत्री' की सर्वव्याप्ति का यशोगान—

इस आख्यान का मौलिक रहस्य क्या है?, यह बतलाने का यहाँ अवसर नहीं है। इस से प्रकृत में हमें बतलाना केवल यही है कि, चतुरक्षरा किंवा अष्टाक्षरा गायत्री ही, गायत्रच्छन्दा सूर्येन्द्ररूप ब्रह्मप्रजापति ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती मूर्ति बनता हुआ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र मूर्ति बनता हुआ अग्नि-आप-वायु सब बनता हुआ-उक्त तीन तत्त्वों में परिणत होकर सर्वसर्वा बना है। ब्रह्मगायत्री की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई छान्दोग्यश्रुति कहती है—

> 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री। वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च। या वै सा गायत्री इयं वाव सा ऽयेयं पृथिवी। अस्यां हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम्। एतामेव नातिशीयते'
>
> —छान्दोग्योपनिषत् ३।१२।१

५१६-गायत्र्यनुबन्धी पञ्चविध प्रमुखस्तोम, एवं त्रिविध-पुच्छस्तोमों का समन्वय तथा आयु स्वरूपरक्षक-इन्द्र-छन्दोमास्तोम-समन्वय—

गायत्रसम्बन्धी उक्त चार स्तोमों में त्रि पञ्च एक त्रि त्रय इन पाँच स्तोमों की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है एवं चतु चतुष्क अष्टा इन तीन स्तोमों का एक स्वतन्त्र विभाग है। उन पाँचों को

'अयुग्मस्तोम' कहा जाता है इन तीनों को युग्मस्तोम कहा जाता है एवं ये ही युग्मस्तोम छन्दोमास्तोम नाम से भी प्रसिद्ध हैं। चतुर्विंशत्यक्षर गायत्रछन्दोमा चतुश्चत्वारिंशदक्षर त्रैष्टुप् छन्दोमा अष्टचत्वारिंश दक्षर जागत छन्दोमा इन तीनों की (२४-४४-४८) अक्षरसंख्या का यदि संकलन किया जाता है तो ११६ अक्षर होजाते हैं। इसी छन्दोमास्तोमविज्ञान के आधार पर भारतीय वैज्ञानिकों ने एक छन्दोमय यज्ञ का आविष्कार किया था। इस के अनुष्ठान से एक स्वस्थायु द्विजाति भी ११६ वर्ष पर्यन्त जीवित रह सकता था।

५१७-वाङ्मय छन्दोमास्तोम की इन्द्ररूपता छन्दोमास्तोमों की अस्तोमरूपता, एवं स्तोमानुगत ३३ अहर्गणों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इन तीनों वाङ्मय छन्दोमा स्तोमों का इन्द्र से सम्बन्ध है एवं 'आयुर्वा इन्द्रः' के अनुसार इन्हीं वाक्तत्त्वात्मक इन्द्रप्राण ही आयु का अधिष्ठाता माना गया है। इसी आधार पर छन्दोमा को आयुष्यक बतलाया गया है। इन तीन का स्वरूप क्योंकि वाक् से सम्बद्ध हुआ है अतएव स्तोमरूप रहते पर भी इन्हें स्तोमसम्बन्ध से बाहिर मान लिया गया है 'अस्तोमा वा एते यच्छन्दोमा' (तां ब्रा १९।६।१)। जितने भी स्तोम हैं वे सब इसी वाक् के वितान हैं। वाङ्मयी इन्द्राग्नियाँ ही अयुग्मस्तोमों की प्रतिष्ठा बनती हैं। इन्द्रशक्तियाँ ही गौशक्तियाँ हैं। मनःप्राणगर्भित वाग्भाव ही गौ है। रश्मिरूप इन सहस्र गौ-भावों का १-१ गौ के अनुपात से पृथक् पृथक् संकलन होता है। ३ गौभावों की समष्टि को विज्ञानभाषा में 'अहर्गण' कहा जाता है। इस दृष्टि से ९९ गौभावों के ३३ अहर्गण होजाते हैं। १० अहर्गण शेष बच जाते हैं यही इक्कीसवीं कामगवी किंवा कामधेनु कहलाती है।

५१८-वाङ्मय-एन्द्रस्तोमानुबन्धी पञ्चभावों से अनप्राणित 'वाक्' के ६ महिमाविवर्त, तदनुबन्धी वाक्पट्कार, एवं तदनुप्राणित-वाक्पट्कार' रूप-'वौषट्कार'-के 'वषट्कार' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

इन ३३ अहर्गणों में से ३ अहर्गणों का भोग तो मूर्धस्थ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इन तीन देवताओं के साथ होजाता है। शेष ३ अहर्गण रहते हैं। केन्द्रस्थ तीन (मूलप्रतिष्ठारूप) अहर्गणों में ३ के समावेश से त्रिवृत्स्तोम का (९ का) त्रिवृत में ३ के समावेश से पञ्चदशस्तोम का (१५ का) पञ्चदश में ३ के समावेश से एकविंशस्तोम का (२१ का) एकविंश में ३ के समावेश से त्रिणवस्तोम का (२७ का) एवं त्रिणव में ३ के समावेश से त्रयस्त्रिंशस्तोम (३३) का स्वरूप निष्पन्न होता है। सम्भूय ५ स्तोम होजाते हैं। इन पाँचों स्तोमों का केन्द्र १७ वां अहर्गण पड़ता है। यही ६ ठा सत्रहवां अहर्गण उद्गीथप्रजापति-अथवा सप्तदशस्तोम कहलाता है। इसप्रकार ३३ अहर्गणों के ,-,-,-,-,-,- भेद से ६ स्तोम (वषट्कार) होजाते हैं। ये ६ भी उसी इन्द्ररूपी वाङ्मयी पर प्रतिष्ठित हैं। उस एक ही वाक् के ये ६ स्तोम हैं वाक् के षट्कार का ही नाम वाक्षट्कार है। वाक्षट्कार ही परोक्ष प्रिय देवताओं की परोक्षभाषा के अनुसार 'वषट्कार' किंवा 'वौषट्' है। षट्कार सम्बन्धी ये ६ स्तोम ९-१५-इत्यादि विषमभोग के कारण अयुग्मस्तोम कहलाए हैं। एवं विज्ञानभाषा में इन्हें ही- पृष्ठ्यस्तोम कहा जाता है। त्रिविध युग्मरूप छन्दोमास्तोम 'अभिप्लव' नाम से प्रसिद्ध है।

५१९-स्तोमानुगत-मण्डलात्मक पृष्ठ्यस्तोम तथा रश्म्यात्मक अभिप्लवस्तोम, एवं तत्स्वरूप-समन्वय—

भूपिण्ड को केन्द्र मान कर उस के चारों ओर वर्त्तुल एक सहस्र वृत्त बना दीजिए। एक एक वृत्त को एक एक गौ समझिए। ऐसे गोरूप वर्त्तुल वृत्तों से जो स्तोमों का स्वरूप निष्पन्न होगा, वही 'पृष्ठ्यस्तोम' किंवा 'युग्मस्तोम" कहलाएँगे। मूलबिन्दु का इसी पृष्ठ्यस्तोम से सम्बन्ध रहेगा। भूकेन्द्र के चारों ओर रश्मियों का प्रसार कीजिए। ऐसी सहस्र रश्मियों को वाक्सहस्री समझिए। यही अभिप्लवस्तोम कहलाएगा। इसे ही युग्मस्तोम किंवा ज्योतिष्टोमात्मस्तोम कहा जायगा एवं यही आयुर्बिन्दु की प्रतिष्ठा माना जायगा। इसी से यह भी सिद्ध होगया कि ब्रह्मा-विष्णु का पृष्ठ्यस्तोम से सम्बन्ध है एवं इन्द्र का अभिप्लवस्तोम से सम्बन्ध है। अतएव तीनों में केवल इन्द्र को ही आयुष्मन् का प्रवर्त्तक माना गया है।

५२०-लोकत्रयी, अक्षरत्रयी शुक्रत्रयी, छन्दस्त्रयी, मनोतात्रयी, एवं वेदत्रयी निबन्धन त्रिविधमायापन्न त्रिविवर्त्तभावों का स्वरूप-समन्वय—

उक्त निरूपण से अब यह भलीभाँति सिद्ध होचुका है कि, भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित ब्रह्मगायत्री ही अक्ष-सम्बन्धी यजुर्वेद के यत् भाग से उक्थरूप ऋक्भाव में परिणत होती हुई 'गायत्री' कहलाती है। यत् के आगतिभाव से यजुर्मूर्ति विष्णुरूप में परिणत होती हुई 'त्रिष्टुप्" कहलाने लगती है एवं जू के गतिभाव से साममूर्ति इन्द्ररूप में परिणत होती हुई 'जगती' कहलाने लगती है। त्रिलोकी का विभाग ही 'स्व-भुवः-भूः' ये तीन लोक हैं। ब्रह्मा का विभाग ही ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ये तीन हृदयाक्षर हैं। अग्नि का विभाग ही अग्नि-प्राण-वायु ये तीन शुक्र हैं। गायत्री का विभाग ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-ये तीन छन्द हैं। वाक् का विभाग ही वाक्-गौ-द्यौ-ये तीन मनोता हैं। यजु का विभाग ही ऋक्-यजु-साम-ये तीन वेद [छन्दोवेद] हैं। इन लोक-हृदयाक्षर-शुक्र-छन्द-मनोता-वेदत्रयी की समष्टि ही भूपिण्ड किंवा प्रतिष्ठालक्षण "भूमि" [विश्वभूपिण्ड] है।

	लोकाः	अक्षराणि	शुक्राणि	छन्दांसि	मनोताः	वेदाः
भू	स्वर्लोक	ब्रह्मा	अग्निः	गायत्री	वाक्	ऋक्
	भुवर्लोक	विष्णु	प्राणः	त्रिष्टुप्	गौ	यजु
	भूर्लोक	इन्द्र	वाक्	जगती	द्यौ	साम

५२१–अयुग्मस्तोममयी–आग्नेयी–ब्राह्मी–गायत्रीरूपा, वेदसाहस्री से समन्विता–स्वर्लोकात्मिका–'ब्राह्मीपृथिवी' का स्वरूप–संस्मरण—

भूपिण्ड के इसी प्रतीविकास में पूर्वकथनानुसार आगे जाकर स्वर्लोकमूर्ति छन्दोयुक्त अग्निमय वाङ्मय ऋङ्मय गायत्रीछन्दा ब्रह्मा के अमृतलक्षण अग्निरस [तेजोरस] के ऊर्ध्व वितान से अग्नि–वायु आदित्यमयी पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मिका, गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती छन्दोमयी ऋक्–यजु–साममयी गौ–द्यौ मनोगर्भिता वाङ्मनःप्राणमयी यज्ञमयी पुण्यपरलोकात्मक त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–आयतन–अयुग्मस्तोममयी आग्नेयी ब्राह्मी पृथिवी का [वेदसाहस्री का] विकास हुआ।

५२२–अयुग्मस्तोममयी आपोमयी वैष्णवी त्रिष्टुब्रूपा लोकसाहस्री से समन्विता भुवर्लोकात्मिका वैष्णवी पृथिवी का स्वरूप–संस्मरण—

भुवर्लोकमूर्ति विष्णुयुक्त आपोमय सोमय यजुर्मय त्रिष्टुप्छन्दा विष्णु के अमृतलक्षण आपो–रस के ऊर्ध्व वितान से जल–वायु–सोम–त्रिसोममयी पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मिका गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती छन्दोमयी वाक् गौ मनोगर्भिता सोममनोमयी [illegible] नामक अयुग्मस्तोममयी आपोमयी वैष्णवी पृथिवी का (लोकसाहस्री का) विकास हुआ।

५२३–युग्मस्तोममयी, वाङ्मयी, ऐन्द्री जगतीरूपा वाक्साहस्री से समन्विता भूर्लोकात्मिका ऐन्द्री पृथिवी का स्वरूप–संस्मरण—

भूर्लोकमूर्ति [illegible] वाङ्मय सोमय साममय जगतीछन्दा इन्द्र के अमृत–लक्षण [illegible] के ऊर्ध्व वितान से [illegible] पृथिव्यन्तरिक्ष–द्युलोकात्मिका गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती–छन्दो–मयी वाक्–गौ मनोगर्भिता द्यौ मनःप्राणमयी [illegible] युग्मस्तोममयी वाङ्मयी ऐन्द्री पृथिवी का (वाक्साहस्री का) विकास हुआ।

५२४–अयुग्म युग्मस्तोमानुगता त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी का सकलनात्मक–स्वरूप संस्मरण एवं पृथिवी से परिमित अन्तर्वेदि, तथा अपरिमित बहिर्वेदि स्वरूपों का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

[illegible] पृथिवी– पृथिवी– [illegible] बहिर्वेदि [illegible]

परिमितं रूपं अन्तवेदि अथैष भूमाऽपरिमितो यो महावेदिः (ऐ ब्रा ८।५।) । ● 'तिस्रो वा इमा पृथिव्य-इयमेव इ अमुष्य परे' (शत ५।१।५।२१।) ।

१–ब्राह्मी पृथिवी—(पृष्ठ्यस्तोमात्मिका) (वेदसाहस्री)

१ ⎧ १–अग्निः—पृथिवी—गायत्री–ऋक्–वाक्–त्रिवृत्
⎨ २–वायुः—अन्तरिक्षम्–त्रिष्टुप्–यजुः–गौः–पञ्चदश
⎩ ३–आदित्य–द्यौ——जगती—साम–द्यौ–एकविंश

स्वर्लोकमूर्तिः दक्षपुत्रोऽग्निमयो वाङ्मय-ऋङ्मयो गायत्रीछन्दा प्रजामृताग्निरश्मेनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां गायत्रीरूपां पृथिवीं विधत्ते 'सैषा गायत्री पृथिवी'

—●—

२–वैष्णवी पृथिवी—(पृष्ठ्यस्तोमात्मिका) (लोकसाहस्री)

२ ⎧ १–मन——पृथिवी–गायत्री–ऋक्–वाक् एकविंश
⎨ २–भास्वरस्थम–अन्त–त्रिष्टुप्–यजुः–गौः–त्रिणव
⎩ ३–विकृतेम–द्यौ—जगती—साम–द्यौ–त्रयस्त्रिंश

भुवर्लोकमूर्तिर्विष्णुमयः वायुमयो सोममयो गोमयो यजुर्मयस्त्रिष्टुप्छन्दा विष्णुरमृतपोरश्मिनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां त्रिष्टुब्रूपां पृथिवीं विधत्ते–सैषा–"त्रिष्टुप् पृथिवी'

—●—

३–ऐन्द्री पृथिवी—(अभिप्लवस्तोमात्मिका)–वाक्साहस्री—

३ ⎧ १–भूजनम्–पृथिवी–गायत्री–ऋक्–वसु
⎨ २–मर्त्य–अन्त—त्रिष्टुप्–यजुः–रुद्रच
⎩ ३–स्वरः–द्यौ——जगती–साम–आदित्य

भूलोकमूर्तिः परिणाहयुक्तो वाङ्मयो सोमदः साममयो जगतीछन्दा-इन्द्रो ऽमृतवाक्रश्मिनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां जगतीरूपां पृथिवीं विधत्ते—सैषा– 'जगती पृथिवी'

—●—

५२५–महिमापृथिव्यनुगता सुवर्ण–रजत–लौह–धातुमयी तीन पुरियों का संस्मरण, एवं अयवभुक्ति—

उपर्युक्त न ही तीनों पृथिवियाँ उपसद्विज्ञान के अनुसार हिरण्मयीपुरी राजतीपुरी अयस्मयीपुरी इन नामों से प्रसिद्ध हुई है। ऐन्द्री जागती सुवर्णपुरी है यहाँ पुराण का वैकुण्ठधाम है। वैष्णवी

●—इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ (अथर्व)
—अथर्वसंहिता ।६।२१।१।

गैष्टुभी पृथिवी राजतपुरी है यही पुराण का रसवद्वीप है। भाद्री गायत्री पृथिवी लोहपुरी है यही पुराण का भारतद्वीप है। ब्रह्मा विष्णु–इन्द्र ये तीन शिल्पी ही इस त्रिदेवपुरी के निर्माता हैं। अथर्वसंहितानें निम्नशब्दों में 'त्रिपुरी' रूपा इस देवपुरी का निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

१–दिवस्त्वा पातु हरितं, मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥
२–इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥
३–पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे देवो अग्ने ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यन्तां त्रिवृदाबधेमे ॥

—— • ——   —अथर्वसंहिता ५।२८।९, १०, ११।

५२६–देवपुरत्रयी की रहस्यपूर्णा 'त्रिसुपर्णरूपता' का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की सोमापहरणमूला ब्यास्मकृता से अनुप्राणित त्रिवृद्भावापन्न तीन पार्थिव लोकों के तीन सुपर्णों की समष्टि का स्वरूप–समन्वय—

ये ही तीनों देवपुर अथर्वसंहिता में 'त्रिसुपर्णा' नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है चतुरक्षरा गायत्री ही सुपर्ण बनकर तृतीय द्युलोक से सोमापहरण करती हुई गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती इन तीन रूपों में परिणत होती हुई क्रमशः तीनों पृथिवियों की स्वरूप-सम्पादिका बनती है। क्योंकि गायत्री सुपर्णा है एवं इस सुपर्णागायत्री के ही ये तीन वितान हैं अतएव इन तीनों पृथिवियों को हम 'त्रिसुपर्णा' कह सकते हैं। पृथिवीरूपा गायत्री मृत्युशुक्रप्रधाना (अग्नि आप-वाक् मयी–मृत्युशुक्रमयीरूपा पा० भि० जगतीमयी गायत्री) है एवं इन तीनों पृथिवियों की गायत्रीरूपा अग्निशुक्रमयी गायत्री त्रिष्टुप्रूपा अमृत आप शुक्रमयी गायत्री जगतीरूपा अमृतवाक् शुक्रमयी गायत्री अमृतशुक्रप्रधाना है। तीनों सुपर्णों का वितान ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रमूर्ति त्र्यक्षरगर्भित एकाक्षरमूर्ति इस अनिरुक्त प्रजापति के आधार पर ही हुआ है—तीनों सुपर्णों में प्रत्येक सुपर्ण त्रिवृत् है अतएव स्तोम भेद से प्रत्येक में तीन तीन लोक होजाते हैं। अथर्वमन्त्र ने निम्नोद्धरिमका इसी त्रिसुपर्णरूपता का भी स्पष्टीकरण किया है—

१–त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥
२–त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसम्भूय शक्राः ।
प्रत्योहन् मृत्यु–ममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥

—अथर्वसंहिता ४।२८।६।८।

३–त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठ अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥

—अथर्वसंहिता १८।४।४।

१	९–गायत्री–पृ ब्रह्मा १५–त्रिष्टुप्–अ विष्णु २१–जगती–द्यौ इन्द्र	—गायत्री ब्रह्मा—गायत्ररूपो गायत्रीमुपसंश्रितः	त्रिसुपर्णा गायत्री
२	२१–गायत्री–पृ ब्र० २७–त्रिष्टुप्–अ वि ३३–जगती द्यौ इन्द्र	—त्रिष्टुप विष्णु—त्रिष्टुब्रूपो गायत्रीमुपसंश्रितः	
३	२४–गायत्री–पृ ब्र ४४–त्रिष्टुप्–अ वि ४८–जगती–द्यौ इन्द्र।	—जगती इन्द्र—जगतीरूपो गायत्रीमुपसंश्रितः	

५२७–९ २१-२४-संख्याओं से मित तीन पृथिवीलोक, १५–२७ ४४–संख्यानुगत तीन अन्तरिक्षलोक, एवं २१-३३–४८ संख्यानुगत तीन द्युलोक—

उक्त तीनों ही सुपर्णों को त्रिवृत् बतलाया है। त्रिवृत् का अर्थ है-प्रत्येक सुपर्ण पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-इन तीन तीन लोकों से युक्त। इस दृष्टि से ९–२१–२४ ये तीन पृथिवीलोक होजाते हैं, १५–२७–४४ ये तीन अन्तरिक्षलोक होजाते हैं। एवं २१–३३ ४८ ये तीन द्युलोक हो जाते हैं।

५२८–समुद्र, एवं मातरिश्वा नामक पारिभाषिक अन्तरिक्ष; तथा नाक, ब्रध्नस्य विष्टप-सूर्य्य-नामक पारिभाषिक द्युलोक का स्वरूप-समन्वय

वैदिक परिभाषानुसार त्र्यावृत्ति अन्तरिक्ष को समुद्र एवं 'मातरिश्वा' कहा जाता है, त्र्यावृत्ति द्युलोकों को "नाक" "ब्रध्नस्य विष्टप" एवं "सूर्य्य" इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। इस नामान्य परिभाषा के अनुसार १५–२७–४४ ये तीन अन्तरिक्ष समुद्र मातरिश्वा इन नामों से २१ ३३ ४८ ये तीन द्युलोक नाक-ब्रध्नस्य विष्टप् सूर्य इन नामों से भी व्यवहृत किए जाते हैं। महापृथिवी की इसी त्रिवर्गविभूति का स्पष्ट शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा त्रिवृतां त्रिपद्भिः ॥
२—त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान् ।
त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन् सूर्य्यान् गोप्तॄन् कल्पयामि ते ॥

(अथर्व सं० १ ।२७।३।४।)

१–त्रिवृद्विभूति —

१ { १–त्रिवृत्स्तोम (९)—आग्नेय पृथिवीलोको गायत्र–पृथिवी
२–एकविंशस्तोम (२१)—वैष्णव पृथिवीलोको गायत्र–पृथिवी
३–चतुर्विंशस्तोम (२४)—ऐन्द्र पृथिवीलोको गायत्र पृथिवी



२ { १–पञ्चदशस्तोम (१५)—आग्नेयोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभ अन्तरिक्षम् (समुद्र–मातरिश्वा)
२–त्रिणवस्तोम (२७)—वैष्णवोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभ–अन्तरिक्षम् (समुद्र–मातरिश्वा)
३–चतुश्चत्वारिंश (४४)—ऐन्द्रोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभ–अन्तरिक्षम् (समुद्र मातरिश्वा)



३ { १–एकविंशस्तोम (२१)—आग्नेयो द्युलोको जागतः—द्यौ (नाक सूर्य–[illegible])
२–त्रयस्त्रिंशस्तोम (३३)—वैष्णवो द्युलोको जागत—द्यौ (नाक–सूर्य–[illegible])
३–अष्टाचत्वारिंश (४८)—ऐन्द्रो द्युलोको जागत—द्यौ (नाकः–सूर्य [illegible]



५२९–विराट्प्रजापति की पूर्वसंस्था से अनुप्राणित प्राजापत्य विवर्तों का संस्मरण—

[illegible] निर्गुण [illegible] है। [illegible] नहीं है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] निर्गुण [illegible] हैं।

५३०–विराट् प्रजापति के जन्मदाता यज्ञप्रजापति के प्रजापति त्रिलोकीरूप महिमामय स्वरूप का समन्वय—

[illegible]

तीसरे प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। महेश्वर, किंवा अव्ययेश्वर की तीसरी रोदसीत्रिलोकी में भूपिण्ड को पृथिवीलोक कहा है चन्द्र अन्तरिक्ष को आन्तरिक्षलोक कहा है एवं प्रजापति सूर्य को द्युलोक कहा है। इसप्रकार केवल मूल रोदसीमण्डल में पृ० अन्त० द्यौ इन तीन लोकों का भोग बतलाया गया है।

४२१—यज्ञप्रजापति के महिमात्मक स्वरूप का अन्तिम–स्वन्यतमपर्व–भूलोक, एवं तद्द्वारा विराट्पुत्र की प्रवृत्ति, तथा तदभिन्नन्धना विराट्प्रजापति की विकारेश्वरस्वरूपता का समन्वय—

अब सर्वान्त में भूरूपा रोदसी त्रिलोकी का भूपिण्डरूप पृथिवीलोक हमारे सामने आता है जोकि आत्म-स्वरूपमूर्ति अव्ययेश्वर का अन्तिम पर्व कहा जासकता है। इसी अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड से पूर्वोक्त तीन पृथिवियों का विकास बतलाया गया है। तीनों पृथिवियाँ भूविकार हैं अतएव इस पृथिवीत्रयी को हम 'विकारेश्वर-मण्डल' कह सकते हैं। यही विराट् प्रजापति है अतएव विराट्प्रजापति को हमने- विकारेश्वरमूर्ति कहा है।

४२२–पितामहप्रजापति के स्वर्ग्यांश से समुत्पन्न विराट्प्रजापति की महिमा का महतो महीयान् विस्तार, तद्द्वारा पुत्र विराट् की 'पितुष्पितामह' रूप में परिणति, तथा तदभिन्नन विराट् का ही त्रैलोक्य में यशोगान—

क्योंकि विराट्प्रजापति उस महेश्वरप्रजापति के अवयवरूप भूपर्व का विकास है अतएव उसे हम भू का पिता कह सकते हैं इसी उसका पुत्र कहलाते हैं। 'गुरु गुड़ रहगए-चेला शक्कर बनगए' किंवदन्ती लोक व्यवहार में प्रसिद्ध है। यहां भी ऐसा ही हुआ। पिता यज्ञप्रजापति तो पिता ही रहे परन्तु तत्पुत्र विराट् पिता के भी पिता बन गए। पुत्र की महिमा पिता से भी बढ़ गई। तभी तो इन्हें "विराट् (बहुत बड़े) कहा गया। क्यों महिमा बढ़ गई ?, इसका उत्तर तो पिता से ही पूछना चाहिए। कैसे बढ़ गई ?, इस का समाधान श्रुति कर देती है। पिता यज्ञप्रजापति यदि स्व० प० सू० चन्द्र पृथिवी पांचों को लेकर महान् विराट् कहलाएं तो इस में कोई आश्चर्य नहीं है। जिन के कोश में अतुल सम्पत्ति पहले से ही विद्यमान है उनकी महत्ता को विशेष महत्त्व नहीं दिया जासकता। महत्त्व तो उसकी महत्ता मानी जायगी जिसे पिता से मिला बहुत थोड़ा परन्तु अपने स्व श्रम से जिसने विशाल् सम्पत्ति उत्पन्न करली। विराट् आरम्भ में क्या था, पिता महेश्वर का एक छोटा सा भूपर्व। उसी ने आगे जाकर ४८ पर्य्यन्त विकसित होते हुए न केवल यज्ञप्रजापति की महत्ता प्राप्त की, किन्तु इन के साथ साथ इनकाबाद के विज्ञान से षोडशी अक्षरप्रजापति (यज्ञप्रजापति का पिता इस विराट् का पितामह) निगुण अव्यय (षोडशी का पिता यज्ञप्रजापति का पितामह विराट् का प्रपितामह) एवं सा च परात्पर (अव्यय का पिता षो० का पितामह यज्ञप्रजापति का प्रपितामह एवं विराट् का वृद्धप्रपितामह) इन की महिमाऐं युक्त हुआ अतएव विराट् नाम से प्रसिद्ध होता हुआ यह "पितुष्पितामह" (बाप का भी बाप) बन गया। आज परात्पर-अव्यय-षोडशी-यज्ञ को कोई नहीं जानता। सर्वत्र विराट् का ही यशोगान होरहा है। अन्य लोकों की प्रजा को जाने दीजिए। कम से कम त्रिलोकिमा पार्थिव प्रजा। (चतुर्दशविध भूतसर्ग) के तो सर्वस्व विराट् प्रजापति ही बने हुए हैं।

५२३-विराट्प्रजापति के स्वरूप में यज्ञप्रजापतिस्वरूप के त्रैलोक्यात्मक विस्तार का अन्तर्भाव—

इस त्रिवृत्पिण्डात्मिका पृथिवी से फलरूप विराट् के केन्द्र में शाश्वतधर्मलक्षण-परात्परगर्भित अव्यययुक्त वेदत्रौरूप अक्षरानुगृहीत आत्मक्षरमूर्ति इन्द्रविष्णुगर्भित अग्निमूर्ति सौम ब्रह्मा (यज्ञप्रजापति) तो प्रतिष्ठित है ही, इस के अतिरिक्त इस में संयती-क्रन्दसी-रोदसी तीनों त्रैलोक्यों का भी उपभोग हो रहा है ।

५२४-गीताप्रतिपादित विराट्प्रजापति के विशेष भावों का निर्विरोध समन्वय एवं श्रुति स्मृत्यु पदर्शित विराट्प्रजापति के रहस्यात्मक स्वरूप का समष्ट्यात्मक-संकलन—

संयती का प्रवर्ग्यभाग इस के ऐन्द्री पृथिवी में क्रन्दसी का प्रवर्ग्यभाग इस की वैष्णवी पृथिवी में एवं रोदसी का प्रवर्ग्यभाग इसकी ब्राह्मी पृथिवी में प्रतिष्ठित है। स्तोमविभागानुसार ४८वें स्तोम में स्वयम्भू का प्रवर्ग्य भाग प्रतिष्ठित है। ३३ वें स्तोम में परमेष्ठी का आप भाग प्रतिष्ठित है। २७ मे चन्द्रमा का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित है। २१ में सूर्य का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित है। विप्रतिपत्ति तो यही न उठाई गई थी कि-जब सूर्य-चन्द्र-परमेष्ठी-स्वयम्भू चारों महेश्वर के पर्व है एवं विराट् का जब केवल पार्थिव विवर्त्त से सम्बन्ध है तो गीता ने सूर्य-चन्द्रादि का विराट्स्वरूप में किस आधार पर अन्तर्भाव मान लिया साथ ही किस आधार पर गीता ने विराट् की अव्यय-अक्षर-एवं शाश्वतधर्म (परात्पर) का डाला। महेश्वर, किंवा महेश्वर के चारो पर्व मौपविराट् स्वरूप से सर्वथा पृथक हैं। अवश्य ही परात्परअव्ययाक्षर चारों की भी स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं। अतएव अवश्य ही विराट् को केवल पार्थिव ही माना जासकता है और मानना चाहिए।

५२५-विराट्प्रजापति के लोकविभक्त अष्टविध महिमामय स्तोमपृष्ठों के द्वारा यज्ञ प्रजापति के महिमामय आठों विवर्त्तों का प्रवर्ग्यरूपेण संग्रह, एवं तद्द्वारा विराट्की सर्वरूप में परिणति—

परन्तु अपने हृत्पृष्ठ त्रिवृत्पृष्ठ पञ्चदश पृष्ठ एकविंश पृष्ठ त्रिणवपृष्ठ त्रयस्त्रिंश पृष्ठ चतुश्चत्वारिंशत् पृष्ठ इन पृष्ठों में क्रमशः परात्परअव्ययगर्भित वेदत्रयी अक्षर के रोदसी के स्थानीय त्रिवृदग्नि के रोदसी के पञ्चदश स्थानीय अन्तरिक्ष के, रोदसी के एकविंश स्थानीय सूर्य के क्रन्दसी के त्रयस्त्रिंश (त्रिणव) स्थानीय चन्द्रमा के क्रन्दसी के त्रयस्त्रिंश स्थानीय आपोमय परमेष्ठी के एवं संयती के चतुश्चत्वारिंश स्थानीय द्युरस के प्रवर्ग्यभागों का होता हुआ यह अपने केवल इस पार्थिवरूप से ही परात्पर-अव्यय-अक्षर-अग्नि -अन्तरिक्ष -सूर्य -चन्द्रमा परमेष्ठी (आप)-द्यौ —इन सब का अधिष्ठाता बन रहा है। और इसी प्रवर्ग्यसम्पत्ति से युक्त रहने के कारण महेश्वररूप परात्परादि से पृथक रहने पर भी इसे गीता ने परात्परादिरूप कह दिया है जिस में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जा-सकती। विराट् का हृत्पृष्ठ परात्पराव्ययाक्षररूप है। त्रिवृत्पृष्ठ (९) अग्निरूप[१] है पञ्चदशपृष्ठ (१५) अन्तरिक्षरूप[२] है। एकविंश (२१) पृष्ठ सूर्यात्मक है। त्रिणव पृष्ठ (२७) चन्द्रमारूप है त्रयस्त्रिंश पृष्ठ (३३) परमेष्ठी[३] (आप) रूप है एवं चतुश्चत्वारिंशत्पृष्ठ स्वयम्भूरूप (द्यौरूप] है । अभी

कुछ तो इस में है। विराट्प्रजापति की इसी पद्—व्यवस्था सर्वविभूति का स्पष्टीकरण करती हुई अथर्व-श्रुति कहती है—

१—अग्नि सूर्य्यं, चन्द्रमा, भूमि रापो द्यौ, रन्तरिक्षं, प्रदिशो दिशश्च।
आर्तवा ऋतुभि संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥

—अथर्वसं० ५।२८।५

५३६—पुराणपरिभाषानुसार चन्द्रमा का सूर्य्य से ऊर्ध्व-स्थिति-समन्वय, एवं तन्निबन्धना पौराणिकी रहस्यात्मिका परिभाषा—

पुराण ने इसी विराट्—प्रजापति के लक्ष्य से चन्द्रमा को सूर्य से ऊपर बतलाया है। प्रत्यक्ष का सूर्य्य एवं विराट् के २१ स्तोम पर सूर्य का ही प्रवर्ग्यरूप आदित्य नामक सूर्य्य भिन्न है। प्रत्यक्षदृष्ट [रोदसी के] सूर्य्यचक्र से अवश्य चन्द्रमा नीचे है परन्तु सूर्य्यप्रवर्ग्यरूप पार्थिव एकविंशरूप आदित्यप्राणरूप सूर्य की अपेक्षा—पृथिवी के त्रिणव स्तोम में प्रतिष्ठित प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रमा का (जो कि चन्द्रमा भास्वरतानमूर्ति है) प्रवर्ग्यभाग, अतएव चन्द्रमा नाम से ही प्रसिद्ध चन्द्रमा अवश्य ही [एकविंशरूप आदित्यरूप पार्थिव-वैराज सूर्य्य की अपेक्षा] ऊपर [२७ में] प्रतिष्ठित है। पुराण के इस रहस्यार्थ को न जानने के कारण जिन पश्चिमी विद्वानों ने पुराण के वेदानुबन्धी—"चन्द्रमा सूर्य्य से ऊपर है" इस सिद्धान्त का उपहास किया है वे अवश्य ही अज्ञता के कारण भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में क्षम्य हैं।

६—द्यौः	[महानात्मा संयती स्व प्र]	[४८] स्वयम्भूः	—संयती विराट्
५—आपः	[अग्निष्टोमः—अ० परमेष्ठिनः प्र]	[३३] परमेष्ठी	
४—चन्द्रमा	[त्रिणवस्तोमः क्रन्दस्या चन्द्रमसः प्राणमात्रः]	[२७] चन्द्रमाः	—क्रन्दसी विराट्
३—सूर्य	[एकविंशस्तोमः—रोदस्या सूर्य्यस्य प्राणमात्रः	[२१]—सूर्य्यः	
२—अन्तरिक्षम्	[पञ्चदशस्तोमः—रोदस्या वायोः प्राणमात्रः	[१५]—अन्तरिक्षम्	—रोदसी विराट्
१—भूमिः	[त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः—रोदस्या अग्नेः प्राणमात्रः]	[९]—भूः	



५३७—विराट्प्रजापति का 'ऋषिपुत्रत्व', एवं तन्निबन्धन 'पितुष्पितृत्व' भाव—

विराट्प्रजापति का महत्त्व संयती-क्रन्दसी-रोदसी इन तीन त्रैलोक्य-त्रिलोकियों ही पर ही विश्रान्त था परन्तु पुनः विराट् प्रजापति का महत्त्व तो इस से भी आगे बढ़ा हुआ है। महाप्रजापति की संयती त्रिलोकी

*—भूमिः [त्रिवृत्—त्रिवृद्भूमिः]

इस विराट् की ऐन्द्री पृथिवी है। यज्ञ की क्रन्दसी त्रिलोकी इस विराट् की वैष्णवी पृथिवी है। यज्ञ की रोदसी [भूमि०—अन्तरिक्ष—सूर्यरूपा] विराट् की ब्राह्मी पृथिवी [त्रिवृत्—पञ्चदश—एकविंशरूपा] है। यहाँ तक तो पिता पुत्र समान रहे। परन्तु विराट् का अधिकार तीनों त्रिलोकियों से अतिरिक्त भूपिण्ड पर और रहा। यहाँ तीनों में ही भूपिण्ड का अन्तर्भाव था यहाँ भूपिण्ड तीनों से पृथक् है। कवि पुत्र के इसी महत्व का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति कहते हैं—

१—स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्"
—ऋक्सं० १।१६४।१६।

५३८—यज्ञेश्वरप्रजापति की भूः—भुवः—स्वः—रूपा तीनों महाव्याहृतियों का पुत्र विराट्—प्रजापति के महिमामय स्वरूप के साथ समन्वयात्मक—समतुलन—

अब यह और देख लीजिए कि विराट् त्रिलोकी में यज्ञेश्वर की रोदसी क्रन्दसी रोदसी का भाग किस रूप से हुआ। विराट् प्रतिष्ठारूप भूमि किंवा भूपिण्ड को एक ओर रखते हुए महिमारूप तीनों पृथिवियों का विचार कीजिए। परिमाणानुसार गायत्री पृथिवी का त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष का एवं जगती द्युलोक का छन्द माना जाता है। किंवा गायत्री पृथिवी, त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष एवं जगती द्युलोक माना जाता है जैसाकि गायत्रोऽ यं [भूः] लोकः [कौ० ८।९]—'गायत्री वा इयं पृथिवी' [शत० ४।३।४।९।]—त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः [कौ ८।९।]—'अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्' [जै ब्रा० उप० १।१८।४।१।]—'जागतोऽसौ द्युलोकः [कौ ८।९।]—'असौ जगती' [जै ब्रा० उप १।१८।५।१।] इत्यादि श्रौत निगमवचनों में स्पष्ट है।

५३९—यज्ञेश्वरप्रजापति की महाव्याहृतित्रयी की प्रतिकृतिभावापन्ना विराट्प्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का स्वरूप—समन्वय—

क्योंकि ब्राह्मी पृथिवी गायत्री छन्द प्रधाना है इसलिए इसे पृथिवी कहा जासकता है। वैष्णवी पृथिवी त्रिष्टुप् छन्द प्रधाना है। अतः इसे अन्तरिक्ष कहा जासकता है। एवं ऐन्द्री पृथिवी जगतीछन्द-प्रधाना है अतएव इसे द्युलोक माना जासकता है। यही तीनों पृथिवियों का क्रमशः भूरूप रोदसी भुवःरूप क्रन्दसी, एवं स्वः रूप संयती, इन तीन [यज्ञप्रजापति की] महाव्याहृतियों की प्रतिकृति [प्रत्यरूप प्रतिकृति] समझिए।

५४०—यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक—भूरूप रोदसी त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक—भूलोक के साथ समतुलन—समन्वय—

यहाँ भूलोकोपलक्षिता महाव्याहृतिलक्षणा रोदसी में गायत्रीछन्दोयुक्त गायत्र अग्निमय भूलोक [भूपिण्ड] पृथिवी है त्रिष्टुप्छन्दोयुक्त गायत्र वायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्ष है एवं जगती छन्दोयुक्त गायत्र सूर्यमय [प्रवर्ग्यदृष्ट] स्वर्लोक द्युलोक है। यहाँ की भूलोकोपलक्षिता ब्राह्मी पृथिवी में त्रिवृत् स्तोमा वच्छिन्न गायत्रीछन्दोयुक्त गायत्र अग्निमय भूर्लोक पृथिवीलोक है पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न त्रिष्टुप् छन्दोमय गायत्रवायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्षलोक है एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न जगतीछन्दोमय गायत्र सूर्य्यमय स्वर्लोक द्युलोक है। रोदसी की अवान्तर व्यवस्था है।

५४१—परमेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-भुवः-रूप क्रन्दसी-त्रैलोक्य का विराट्-प्रजापति के लोकत्रयात्मक-भुवर्लोक के साथ समतुलन-समन्वय—

परमेश्वर की महाव्याहृतियों का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रोदसी त्रिलोकी ही क्रन्दसी का भूलोक बन जाती है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए विचार करना है। यहाँ की भुवर्लोकात्मिका महाव्याहृतिरूपा क्रन्दसी में गायत्रीछन्दोयुक्त रथन्तर त्रैष्टुभ अग्निमय रोदसी त्रैलोक्य किंवा रोदसी का स्वः स्थानीय भू-भुव को गर्भ में रखने वाला स्वर्लोकात्मक सूर्य ही पृथिवी है। भास्वर-सोममय, त्रिष्टुप्छन्दोयुक्त त्रैष्टुभ त्रिणवायु महर्लोक अन्तरिक्ष है। दिक्सोममय जगतीछन्दोयुक्त जनर्लोक (परमेष्ठी) द्युलोक है। यहाँ भी भुवर्लोकीय त्रिवृत्त ... पृथिवी में त्रिवृत्-पञ्चदशगर्भित पञ्चविंशस्तोमावच्छिन्न गायत्रीछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ तेजोमय [स्वर्लोकस्थानीय] प्रदेश पृथिवीलोक है। त्रिणव स्तोमावच्छिन्न त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त, त्रैष्टुभ भास्वर सोममय [महर्लोक स्थानीय किंवा चन्द्रस्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न जगतीछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ दिक्सोम [आपो] मय [जनर्लोकस्थानीय, किंवा परमेष्ठि-स्थानीय] प्रदेश द्युलोक है। क्रन्दसी की समानता स्पष्ट है।

५४२—परमेश्वरप्रजापति त्रैलोक्यात्मक स्वः रूप संयती त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक स्वर्लोक के साथ समतुलन-समन्वय—

उसी महाव्याहृति-प्रकरण में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, क्रन्दसी त्रिलोकी ही, [किंवा क्रन्दसी त्रिलोकी का जनर्लोकात्मक परमेष्ठीरूप द्युलोक ही] संयती का भूलोक बनता है। इस भाव को लक्ष्य में रखते हुए इस तीसरे विवर्त की मीमांसा कीजिए। यहाँ का स्वर्लोकोपलक्षित महाव्याहृतिरूप संयती गायत्रीछन्दोयुक्त भी वामदेव आपोमय क्रन्दसीत्रैलोक्य [किंवा क्रन्दसी का स्वःस्थानीय भू-भुवः को गर्भ में रखने वाला परमेष्ठी किंवा जनर्लोक] पृथिवीलोक है। त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त वामदेव सुब्रह्मण्यमय तपोलोक अन्तरिक्ष है। वाङ्मय जगतीछन्दोयुक्त वामदेव प्राणमय सत्यलोक [स्वयम्भू] द्युलोक है। यहाँ भी स्वर्लोकोपलक्षिता ऐसी पृथिवी चतुर्विंशस्तोमावच्छिन्न गायत्रीछन्दोयुक्त वामदेव आपोमय (जनर्लोक स्थानीय) प्रदेश पृथिवीलोक है। चतुश्चत्वारिंश स्तोमावच्छिन्न त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त वामदेव कर्ममय [तपोलोक-स्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्न जगतीछन्दोयुक्त वामदेव सत्यमय (सत्य-स्वयम्भू स्थानीय] प्रदेश द्युलोक है। संयती की समानता स्पष्ट है।

५४३—भूपिण्डरूपस्य शिवा—पञ्चप्रजापत्यपर्यायापि विशेष मात्रापन्न विराट्प्रजापति के विराट्स्वरूप का समन्वय—

इसप्रकार शिवा परमेश्वरप्रजापति की तीनों त्रिलोकियों का पुत्र विराट् प्रजापति की तीनों पृथिवियों में भोग सिद्ध होजाता है। एवं भूपिण्डरूप से विशेष बनता हुआ यह पुत्र शिवा की अपेक्षा भी विराट् बनता हुआ गीता के विराट् स्वरूप का सर्वात्मना समर्थक बन रहा है साथ ही भौम पार्थिव विराट् स्वरूप का भी।

१—ब्रह्म गायत्र—स्वः—सर्वाग्नि विराट्
१ —विष्णु—त्रैष्टुभ—भुवः—सर्वाप—विराट् } भूमिर्विराट् [शिवा:]
१—इन्द्र—वामदेव—भूः—सर्वकाम्—विराट्

[illegible]

[illegible]

[illegible] (११) [illegible] (११) [illegible]

[illegible] (१०) [illegible] (५१) [illegible]

[illegible] (१) [illegible] (५१) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] (११) [illegible] (११) [illegible]

[illegible] (१) [illegible]

[illegible] (११) [illegible]

[illegible]

१-प्रातःसवन (४८) जगती-सर्वशाकल (आक) स्व
१-माध्यन्दिन (४४) त्रिष्टुप्-ब्रह्मशाकल (ब्र') भुव
१-सायंसवन (२४) गायत्री-यज्ञायज्ञा (अनत) भू

—ऐन्द्रीपृथिवी–संयतीरूपा

१-सप्तविंशः (११) जगती-ग सो त्रैष्टुभ (अनत)—स्व
२-त्रिणव (२७) त्रिष्टुप्-ग सो त्रैष्टुभ (मह)—भुव
१-एकविंशः (२१) गायत्री-येनत्रैष्टुभ (स्व)—भू

—वैष्णवीपृथिवी–चन्द्रसीरूपा

१-एकविंशः (२१) जगती–ग गायत्र (स्व)–स्वः
२-पञ्चदशः (१५) त्रिष्टुप्–ग गायत्रः (भुव)–भुवः
१-त्रिवृत (९) गायत्री–ग गायत्र (भूः)–भूः

आग्नेयीपृथिवी रोदसीरूपा

१-परिग्राह–जगती–स्व
२-विष्कम्भ–त्रिष्टुप–भुव
१-हृदयम्—गायत्री–भूः

——— भूपिण्ड

५४४—यज्ञेश्वरप्रजापति के अमृत-मर्त्य-शुक्रषट् से समुद्भूत पार्थिव-विराट्प्रजापति के महिमामात्रात्मक शुक्रों की विश्वकलनाभिमत सर्वव्याप्ति का तात्त्विक समन्वय—

सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, यज्ञेश्वरप्रजापति की स्वरूपसत्ता जहाँ हमने वाक्-आप-अग्नि' इन तीन अमृतशुक्रों से बतलाई थी वहाँ इस विश्वमूर्ति विराट् प्रजापति का स्वरूप-निर्माण अग्नि-आप—वाक् इन तीन मर्त्यशुक्रों से बतलाया गया था। सचमुच ऐसा ही है। परन्तु मृत्यु-अमृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिसप्रकार अमृतशुक्रप्रधाना यज्ञ-संस्था में स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य, इन तीनों में क्रमशः अमृत-वाक्-आप-अग्नि-शुक्रों का एवं मर्त्यसूर्य चन्द्रमा-भूमि इन तीनों में क्रमशः मर्त्य-अग्नि-आपः-वाक् तीन शुक्रों का इसप्रकार अमृत-मर्त्य दोनों शुक्रों का योग सिद्ध होजाता है एवमेव मर्त्यशुक्रप्रधान इस विराट् प्रजापति में भी—"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्—(शतपथब्रा॰) 'प्रत्यङ्ङ मर्त्येष्वमृतेन साकम्" (अथर्व ५।२८।८) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार भूपिण्ड एवं विश्वपिण्डगर्भिता महा पृथिवी भेद से मर्त्यशुक्रमयी अमृतशुक्रमयी दोनों का योग सिद्ध होजाता है। इस-प्रजापति (अर्धनारीश्वरमूर्ति) स्वयं—"अर्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्" इस सिद्धान्त के अनुसार उभयमूर्ति है। केन्द्र में अमृतप्रधान बने हुए इसी इन्द्रप्रजापति के आधार पर परिधि मर्त्य-अग्नि आपः-वाक् इन तीन मर्त्य शुक्रस्तरों की चिति होती है। इसी मर्त्यशुक्रचिति से पूर्व लक्षण भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। आगे चलकर उन इन्द्रदेवताओं के अमृतवितान के आधार पर अग्नि-आपः-वाक् इन तीन अमृतशुक्रों का वितान होता है। ये ही तीनों अमृतशुक्र क्रमशः ब्राह्मी—वैष्णवी—ऐन्द्री पृथिवी रूपों में परिणत हुए हैं। इसप्रकार विराट् भी यज्ञप्रजापतिवत् षट् शुक्र-मूर्ति बन जाता है। यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाता है तो पूर्व अथर्व श्रुति से प्रदर्शित तीनों पृथिवी अग्निशुक्रमयी हैं तीनों अन्तरिक्ष आप-शुक्रमय हैं तीनों द्युलोक वाक्शुक्रमय हैं। और भी अधिक गहराई में जाने पर तो यह शुक्रव्याप्ति अहः-अण्ड में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है जो कि यजन विश्वकलन-महिमा के द्वारा भी सुसमन्वित है।

१ [(४८)—जगती—स्वरः—इन्द्र—वाक्
(४४)—त्रिष्टुप्—वर्षाः—विष्णुः—आप
(२४)—गायत्री—[illegible]—ब्रह्मा—अग्निः] —द्यौ जगती—इन्द्र—वाक् (६)

२ [(११)—जगती—दिक्‌तो—इन्द्र—वाक्
(२७)—त्रिष्टुप् मा द्यौ—विष्णु—आप
(२१)—गायत्री—येन—ब्रह्म—अग्नि] —अन्तरिक्षम् त्रिष्टुप्—विष्णुः—आप (५)

३ [(२१)—जगती—आदित्यः—इन्द्र—वाक्
(१५)—त्रिष्टुप्—वायु—विष्णु—आप
(९)—गायत्री—अग्नि—ब्रह्मा—अग्नि] —पृथिवी—गायत्री—ब्रह्म—अग्नि (४)

४ [स्वर्लोकः—जगती—इन्द्रः—वाक् (३)
भुवर्लोकः त्रिष्टुप्—विष्णु—आपः (२)
भूर्लोकः—गायत्री—ब्रह्मा—अग्नि (१)] —भूमिः—उपयामवति

—— ——•• ————

५४५—विराट्स्वरूप—विश्लेषक, समर्थक आप्त—वचनों का संस्मरण—

अब यह सर्वात्मना सिद्ध होचुका है कि विराट् [illegible] है महिमा[illegible] ही इसका शरीर है [illegible] सभी प्रपञ्च भावों का इसमें अन्तर्भाव है । मनुष्य की [illegible] में [illegible]

समुद्र ही इसका गर्भाशय है। विराट् के इसी सर्वस्वरूप स्पष्टीकरण करते हुए कुछ एक वचन हमारे सम्मुख समुपस्थित हैं—

१—विराड्वाग् विराट्पृथिवी, विराडन्तरिक्षं, विराट् प्रजापतिः।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव, तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु॥
—अथर्वसं ९।१०।२४।

२—कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा॥

३—यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः॥

४—यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम्॥
—अथर्वसं० ८।९।१,२,३।

१—"वाग्वै विराट्" (शत० ३।५।१।३४) - ("भूमि")।
२—"विराड् वा इयम्" (शत० १२।६।२०) - (गायत्री पृथिवी)।
३ "विराड्वै गौः" (शत० ७।५।२।१९) - (विष्णुपृथिवी)।
४—"दशाक्षरा वै विराट्" (तां० ब्रा० ३।१३।३)।
५—"सहस्राक्षरा वै परमा विराट्" (तां० ब्रा० २५।६।४)।
६—"सर्वदेवत्यं वा एतच्छन्दो यद्विराट्" (शत० १३।४।१।)।
७—स पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामाधत्त (गो० ब्रा० पू० ५।८।)।

१४६-आरम्भ के एकविंशस्तोमात्मक विराट्प्रजापति का अन्तर्योगरूप अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमानुगता महती व्याप्ति का महिमामय-स्वरूप-समन्वय—

पूर्व में विराट्—तनूनपात्-वैश्वानर अग्नि, यद्वा तानूनप्त्र हिरण्यगर्भ वायु, एवं एकविंश वाग्रूप सर्वज्ञ आदित्य की समष्टि को एकरूप विराट् एकरूप विराट् बतलाते हुए त्रैलोक्यविवर्तरूप माकी पृथिवी में ही विराट् स्वरूप का अन्तर्भाव बतलाया गया था। परन्तु अब इसी विराट् का स्वरूप दूसरा होगया है। अब विराट् २१ पर्यन्त ही व्याप्त न रहकर ४८ पर्यन्त व्याप्त माना गया है। पहिले अग्नि ही विराट् थे परन्तु अब अग्निविष्णुगर्भित इन्द्र विराट् बनगए हैं। अग्नीन्द्रविष्णुमयी माकी पृथिवी सहस्रवान् सवन वैश्वानर विराट्

है किन्तु-आपोरूपा वैष्णवी पृथिवी सहस्राक्षरूप हिरण्यगर्भ विराट् है एवं इन्द्र-वाग्रूपा ऐन्द्री पृथिवी सहस्रशीर्षा सर्वज्ञविराट् है। वेदसाहस्री विराट् के सहस्रपात् हैं लोकसाहस्री इस के सहस्राक्ष हैं एवं वाक्साहस्री इस के सहस्रशीर्ष हैं। त्रिसाहस्री से कृतस्न विराट् उसी भूमिविराट् पर प्रतिष्ठित है। यही विराट पुरुष का यही सुविज्ञ वैज्ञानिक स्वरूप है जोकि विकारधर के आधार पर प्रतिष्ठित है एवं जिसका कि स्वरूप परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

पौराणिक विराट् पुरुष—

५४७-पुराणशास्त्र के प्रति भावुक वेदभक्तों की भ्रान्ता दृष्टि, तन्निराकरण प्रयास, एवं पौराणिक-विराट्स्वरूपोपक्रम—

वैदिक विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विराट् प्रजापति का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। उचित था कि विराट्स्वरूप प्रकरण को यहीं समाप्त कर वसुपासना की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता। परन्तु ऐसा कि वर्तमान मनोवृत्ति से स्पष्ट है आज कुछ एक मूर्ख पुराणों की निरा गपोड़ा बतलाने की धृष्टता कर रहे हैं। कहना न होगा कि वेदज्ञानकणिका से भी वञ्चित किन्तु वेदाभिमानी इन मूढ़ों की यह धृष्टता सर्वथा असह्य है। हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि पुराणशास्त्र वेद की ही प्रतिच्छाया है। वेद में जिन वैज्ञानिक तत्त्वों का सूत्ररूप से निरूपण हुआ है भगवान् व्यासदेव के महान् अनुग्रह से उन्हीं तत्त्वों का आख्यानाख्यायिकारूप से पुराण में बड़े विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिए दो शब्दों में पौराणिक विराट् प्रजापति का स्वरूप बतलाना भी आवश्यक समझा गया है।

५४८-दर्शनयुगानुगत चतुर्विंशतितत्त्ववाद का पुराणशास्त्र के द्वारा त्रयोविंशतितत्त्वों पर पर्य्यवसान एवं पुरुष-प्रकृति विकृति-मूल-षोडशीप्रजापति-यज्ञप्रजापति-विराट् प्रजापति का समतुलनात्मक समन्वय—

"दर्शनयुगानुगता-उपासना" प्रकरण चल रहा है। इस युग का तत्त्ववाद से सम्बन्ध है। महदादि तत्त्वों की समष्टि ही दार्शनिक तत्त्ववाद है। यद्यपि सांख्यानिक तन्त्र के अनुसार महदादि तत्त्व २४ हैं २५ वाँ तत्त्वातीत पुरुष है। परन्तु विराट् प्रजापति की दृष्टि से २३ तत्त्व ही शेष रहजाते हैं। २५ वाँ पुरुष है २४ वाँ तत्त्व प्रकृति है शेष २ तत्त्वों की समष्टि विकृति है। पुरुषतत्त्व षोडशी प्रजापति है प्रकृति य यज्ञ प्रजापति है विकृतिरूप विराट् प्रजापति है। इसी आधार पर हमने पूर्व के वैज्ञानिक प्रकरण में विराट् का विचार रूप बतलाया है। शुक्ररूप कहा है। दार्शनिक [सांख्यानिक] पुरुष प्रकृति-विकृति इन तीनों के लिए विज्ञानभाषा में अमृत-ब्रह्म-शुक्र शब्द प्रयुक्त हुए हैं। षोडशी पुरुष अमृत है अव्ययमूर्ति यज्ञप्रजापति ब्रह्म है प्रकृति है एवं विकारमूर्ति विराट् प्रजापति शुक्र है विकृति है। इसी आधार पर पुराणने २३ तत्त्वों के समष्टिरूप विकारमय को विराट् का स्वरूप-समर्पक माना है।

५४९ भूतग्रामप्रधान विराट्प्रजापति का श्रीमद्भागवत के द्वारा यशोगमन—

पूर्वकथनानुसार विराट्प्रजापति दशकसामक है एवं दशधा विभा दशधा विभक्त है। इसी विराट् को हिरण्मयी प्रपञ्च कहा जाता है। यह भूमी है भूतपरिग्रह भी इसी का नाम है। भूतग्रामप्रधान

विराट् ही उस यज्ञप्रजापति का प्रथमावतार है । विराट् प्रजापति के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करता हुआ पुराण कहता है—

ऋषिरुवाच १—इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥

२—कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥

३—सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् ।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म्म प्रबोधयन् ॥

४—प्रबुद्धकर्म्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम् ॥

५—परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृग्गणः ।
चुक्षोभान्योऽन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः ॥

६—हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥

७—स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्म्मात्मशक्तिमान् ।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा—दशधा—त्रिधा ॥

८—एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥

९—साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥

१०—स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥

११—अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतनानि ह ।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥

(श्रीमद्भागवतपुराण—३ स्कन्ध ६ अ० १ से ११ पर्य्यन्त)

५५०–आधिकारिक-अचेतन जीवोपासनात्मिका विराडुपासना का आधारभूत पार्थिव विराट्-प्रजापति—

पाठकों को स्मरण होगा कि हमनें विराट् उपासना को 'आधिकारिक अचेतन जीवोपासना' कहा है यही तत्त्वोपासना है। यही दर्शनभक्ति है। विराट् प्रजापति में विकार भाव की प्रधानता है तत्त्वप्राधान्य है। अतएव इसका चिद्भाव आवृत होरहा है हमारी दृष्टि से नहीं, अपितु चिदात्मलक्षण षोडशी एवं प्रत्यगात्मलक्षण यज्ञप्रजापति की दृष्टि से।

५५१–चिदात्मलक्षण षोडशीप्रजापति, प्रत्यगात्मलक्षण यज्ञप्रजापति, एवं शारीरकात्मलक्षण विराट्प्रजापति का समन्वय, तथा प्रत्यगात्मसम्मरण—

उस एक ही आत्मतत्त्व के आत्म–दैवत–भूत किंवा पुरुष–प्रकृति–विकृति, किंवा प्रज्ञा–प्राण–भूत किंवा अमृत-ब्रह्म शुक्र भेद से तीन विवर्त होजाते हैं। इन तीनों आधिदैविक आत्मपर्वों को [ईश्वरीय पर्वों को] हम क्रमशः चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरक आत्मा इन नामों से व्यवहृत करसकते हैं। विश्वव्यापक सहस्र-वल्शेश्वर षोडशीप्रजापति चिदात्मा कहा जासकता है। पञ्चपर्वेश्वर किंवा एकवल्शेश्वर यज्ञप्रजापति को प्रत्यगात्मा माना जासकता है। एवं पार्थिवेश्वर विराट् प्रजापति को शारीरक आत्मा कहा जासकता है। आध्यात्मिक आत्म-विवर्तों से परिचित पाठकों को यह विदित ही है कि, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण भूतात्मा ही आध्यात्मिक शारीरक आत्मा है इसे ही चिदाभास कहा जाता है। इस का अधिष्ठाता अध्यात्मकेन्द्र में प्रतिष्ठित यही विराडात्मा प्रत्यगात्मा बनता है एवं व्यापक तत्त्व चिदात्मा कहलाता है।

५५२–ईश्वरशरीरानुगत सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–मूर्त्ति विराडात्मा, एवं यज्ञप्रजापत्यपर्वया इत्थम्भूत विराडात्मा का जीवात्मना–समन्वय–

ईश्वरशरीर में वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्ति विराट् भूतप्रधान भूतात्मा है। यज्ञप्रजापतिरूप देवप्रधान आत्मा परमात्मा है। भूतप्रधान इसी परात्मा का एक अंश अवतार है पञ्चपुरुषोपेश्वर का अंश अरूप भूपर्व ही इस विराडवतार की प्रतिष्ठा है। अतएव यज्ञेश्वर को प्रत्यागात्मलक्षण परमात्मा माना जासकता है एवं विराट् को उसी संस्था का जीवात्मा।

५५३–समानशीलव्यसनिष्ठ आधिदैविक–जीवविराट्प्रजापति के साथ–आध्यात्मिक–जीवविराट्प्रजापति का रहस्यपूर्ण मैत्रीसम्बन्ध एवं पुरुष की प्रजापतिनिबन्धना नेदिष्ठता का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय —

यह एक रहस्य की बात है कि—"समानशीलव्यसनेषु मैत्री' के अनुसार मित्रता का सम्बन्ध समानता पर ही निर्भर है। परमात्मा और जीवात्मा (हमारे) में बड़ा अन्तर है। अतएव महेश्वरलक्षण परमात्मा के साथ जीवात्मा (हमारा) का सम्बन्ध नहीं होसकता। जीव की समानशील–व्यसन जीव के साथ ही मित्रता सम्भव है। वह जीव यही 'विराट् प्रजापति' है। यज्ञप्रजापतिलक्षण परमात्मा के भूत-

प्राणप्रधान का शासवार इस त्रिमूर्ति विराट् को अवश्य ही 'ममैवांशो जीवलोके' (गीता) इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ईश्वरीय विश्व का 'जीव' (शारीरक आत्मा] कहा जा सकता है । यही विराट्प्रजापति हमारे है । भोक्ता जीवपुरुषों की मित्रता इस साक्षी विराट्पुरुष के साथ ही सम्भव है । दोनों समानशील व्यसन हैं । अन्तर यही है कि, वह व्यापक है यह सख है । "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यादि मन्त्र श्रुति ने भी विराट्पुरुष की ही जीवपुरुष के साथ मित्रता बतलाई है । वह हिरण्यगर्भ जीव है या कार्मिक हिरण्यगर्भजीव है । उसके यदि [illegible] तीन पर्व हैं तो इसके भी वे [illegible] तीन ही पर्व हैं । वह हिरण्यगर्भात्मक सर्वस्व जीवों का तो आत्मा है परन्तु उस परमात्मा अव्यय महेश्वर का शरीर है जैसाकि- 'एष इ ते सर्वभूतानामात्मा, अंशः परमात्मन' 'आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यतः' इत्यादि पूर्वोक्त भागवतसिद्धान्त से स्पष्ट है । वह आपोमय अर्णव समुद्र के गर्भ में [अप्सुप्रविष्टः-स्वयामासु] प्रतिष्ठित है तो वह भी 'इति नु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि पञ्चाग्नि विद्या-सिद्धान्त के अनुसार आपोमय, किंवा अप्प्रधान [व्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात्] पाञ्चभौतिक शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित है । वह यदि पार्थिव त्रिलोकी के अशेष तत्त्वों का एक आत्मा है तो यह भी शरीरस्थ अशेष तत्त्वों [कोशाणुओं] का एक आत्मा है । उसमें यदि त्रैलोक्यसंस्था है तो इसमें भी मूलग्रन्थि से आरम्भ कर नाभि पर्यन्त पहला पृथिवीलोक, नाभि से हृदय पर्यन्त दूसरा-अन्तरिक्षलोक, हृदय से कण्ठ पर्यन्त तीसरा द्युलोक, कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त चौथा आपोलोक [अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः] इसप्रकार लोक-संस्था ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित है । वह जीवपुरुष और यह जीवपुरुष दोनों नाम-रूप-गुण-कर्म संस्थान आदि सभी दृष्टियों से अवश्य ही समानशीलव्यसन बने हुए हैं । इसीलिए इसे उनका वरिष्ठ [सगोत्रम्] माना गया है "पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" ।

हाँ तो वक्तव्य यही था कि जिसप्रकार अध्यात्मदृष्टि से आत्मा के चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरक आत्मा ये तीन विभाग होते हैं एवमेव आधिदैविकदृष्टि से भी आत्मा के ये तीन विभाग हो जाते हैं । षोडशीपुरुष चिदात्मा है ब्रह्मप्रजापति परमात्मनात्मा प्रत्यगात्मा है एवं विराट्प्रजापति जीवस्थानापन्न शारीरक आत्मा है ।

१-अधिदैवतम्

१-षोडशीप्रजापति पुरुष [अक्षर]-अमृतम्-चिदात्मा [ज्ञानात्मा]
२-ब्रह्मप्रजापति -प्रकृति [आत्मक्षर]-ब्रह्म-प्रत्यगात्मा [कर्मात्मा]
३-विराट्प्रजापति -विकृति [विश्वक्षर]-शुक्रम्-शारीरकात्मा [भूतात्मा]
} ईश्वर

२–अध्यात्मम्–

१–इन्द्रषोडशी—विज्ञानात्मा अभिप्स –समलिप्त
२–इन्द्रयज्ञ—प्रज्ञानात्मा–निर्लिप्त } –जीव
३–जीव—शारीरकात्मा–लेपी

५५४–विराट्प्रजापति की 'आधिकारिक–चेतन–जीव' रूपता का समन्वय—

उक्त दृष्टि के अनुसार हमें मानना पड़ेगा कि सूत्रप्रधान, किंवा विभूतिप्रधान किंवा शुक्रमय पार्थिव भौतिक विश्वप्रधान विराट् प्रजापति का चिद्भाग यज्ञ–षोडशी की अपेक्षा अचित् ही कहलाएगा एवं यहाँ हम हमारी दृष्टि से (आध्यात्मिक जीवदृष्टि से) विराट् को चित्, किंवा चेतन कहेंगे वहाँ आधिदैविक यज्ञ–षोडशी की दृष्टि से विराट् को अचित् किंवा अचेतन ही माना जायगा। इसी अभिप्राय से हमने विराट् को 'आधिकारिक अचेतन जीव' कहना शास्त्रसम्मत माना है।

५५५–'सर्वत्र विराजते' रूप विराट्प्रजापति की अपेक्षा से आवरणप्रवृत्ति, एवं आवरणमूलक–'अचेतन' भावानुबन्ध से विराट्प्रजापति का 'अचेतनजीवत्व'–समन्वय—

अचित् तत्वों की समष्टिरूप पार्थिव अचेतन प्रजापति से वितान के द्वारा ४८ स्तोम पर्यन्त उक्त व्याप्त होने वाला विराट्, एकाक्षर किंवा एकवल्श विराट् भी अवश्य ही अचेतन कहा जा सकता है। अचेतन परन्तु चेतन यज्ञप्रजापति की अपेक्षा है विरोध। जिस विशेषता से कि प्रजापति का गुप्त दोष हुआ भी [सुर्वे कर्म प्रयोपयन्] विराट् बना हुआ है एवं जिस विशेषता का कि पूर्व के वैज्ञानिक प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। विकृति–लक्षणा २१ तत्त्वों की समष्टिरूप यह विराट् लोकवितान करता हुआ यज्ञमूर्ति विष्णु की साक्षात् प्रतिमा बनता हुआ [आत्मा वै जायते पुत्रः]। बाहिर की ओर से प्रधान नाम से प्रसिद्ध पार्थिवी प्रकृति, एवं महद्रूप पारमेष्ठ्य आपः से आवृत होता हुआ 'सर्वत्र विराजन सर्वत्र विराजते'। विराट् के इसी तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए व्यासदेव कहते हैं—

१—परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्।
अतो * विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥
२—एतान् महदस्य पञ्च महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेता जगदादिरुपाविशत् ॥

---

* भूमिगत इस विशेषता से ही तो विराट् पुरुष विशेषसम्पन्न बना है।

३—समन्ततानु विद्भ्यो युक्त म्योऽण्डमचरमनम् ।
तस्मिंश्च पृथ्वी यस्मादुदतिष्ठदर्शो विराट् ॥

४—सनदण्ड विशेषास्य क्रमशुद्दर्शोनारे ।
तोयादिभि परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ॥
यत्र लोकवितानोऽस्य रूप भगवता हर (यज्ञविष्णो) ॥

५—हिरण्मयाद्यण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥
(श्री० भा पु ३ स्क० २६ अ० ५२ स ५३ पद्यन्त)

---

५५६ विराट् स्वरूपानुगत पार्थिव विभक्त नामों का सात्त्विक-स्वरूप-समन्वय प्रयास—

विराट्स्वरूप-निरूपण पार्थिव विवर्त के उपक्रम में यह बतलाया गया था कि—अमरकोश में पृथिवी के भू-भूमि-आदि जो पर्यायशब्द बतलाए हैं वे पार्थिव विवर्त की दृष्टि से समानार्थक बनते हुए भी अपनी प्राति-स्विकरूपी से भिन्न भिन्न अर्थों के ही वाचक हैं—(देखिए पृ सं १५२)। विराट् निरूपण के साथ साथ पार्थिव विवर्तों का स्वरूप भी यथार्थ है। उन विवर्तों को लक्ष्य में रखते हुए ही पार्थिव-नामों का समन्वय कीजिए, पाठकों स्पष्ट हो जायगा।

५५७—भू-भूमि अचला अनन्ता-नाम की शब्दचतुष्टयी का रहस्यात्मक-समन्वय—

त्रिलोकीरूपिणी के भू—भुवः—स्वः—ये तीन विवर्त बतलाए गए हैं। भू केन्द्र परिस्थर (परिग्रह) है भुवः वेष्टन मध्यस्थर (विष्कम्भ) है एवं स्वः मूलस्थर (हृदय) है। हृदयात्मक स्वमात्मना भूधाम अनन्त है विष्कम्भात्मक मूलनीत्मना विष्णुधाम 'मध्ये वामनमासीनम्' के अनुसार अचल है एवं परिग्रहात्मक स्वमात्मना इन्द्रधाम "यद्भूत" निर्वचन के अनुसार "भूः" है। भूरूप परिस्थर भुवः रूप मध्यस्थर, एवं स्वः रूप मूलस्थर ही क्रमशः भू—अचल—अनन्त है। भूकेन्द्र का अनन्ता पृथिवी कहा जायगा मध्यकेन्द्रस्था अचला पृथिवी एवं परिस्थिताग्ना 'भू' पृथिवी कहा जायगा। इन तीनों की समष्टि (अनन्त अचल—भू तीनों) 'भूमि' कहलायगी। इसप्रकार अमरकोश के आरम्भ के ये चारों शब्द भविष्य के चारों भावों के वाचक बनेंगे।

५५८—रसा विश्वम्भरा-स्थिरा-नाम-विवर्तों का रहस्यात्मक समन्वय—

भूमिपिण्ड के अनन्त क्रमशः अग्निगर्भी (अङ्गारमा निरवन्त अग्नि) वाली पृथिवी, आपोमयी देवत्वी पृथिवी, एवं वाङ्मयी ऐन्द्री पृथिवी प्रतिष्ठित है। वाङ्मयी पृथिवी विश्वम्भरा है अतएव इसे हम 'स्थिरा' कह सकते हैं। भौतदृष्टि का बिना विश्व का आर म सम्भव है। [लाका इत्यादि प्रतिष्ठितः]

अतएव आपोमयी वैष्णवी पृथिवी को 'विश्वम्भरा' कहा जासकता है। यही विश्वम्भरा पृथिवी विष्णु की पत्नी भी मानी गई है। एवं तेजोरसमयी पृथिवी को 'रसा' कहा जासकता है। २१ त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना ब्राह्मी अग्निमयी पहिली पृथिवी रसा है, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्ना वैष्णवी आपोमयी दूसरी पृथिवी विश्वम्भरा है, एवं अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्ना ऐन्द्री वाङ्मयी [वषट्काररूपा] तीसरी पृथिवी स्थिरा है। इसप्रकार अमरकार के पृथिवी नामनिरूपक दो श्लोकों में से प्रथम श्लोक का 'भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा' यह पूर्वार्द्ध वैज्ञानिक चारों पार्थिव विवर्तों का समाहक बना हुआ है।

- १-१-१-महेन्द्र [हृदयरूपा ब्राह्मी पृथिवी-स्वर्लोक]—अनन्तापृथिवी— 'अनन्ता'
- २-२-२-मध्यम [विष्टम्भरूपा वैष्णवी पृ० भुवर्लोक]—अचलापृथिवी— 'अचला'
- ३-३-३-मन्दर [परिणाहरूपा ऐन्द्री पृ० भूलोक]——भू-पृथिवी——'भू'
- ४-१-४-समष्टि [त्रयाणां समष्टि]————भूमि-पृथिवी— 'भूमि'

(बाईं ओर कोष्ठक-लेख: अध्यात्मभूमि)

———•———

- ५-१-ब्राह्मी त्रिलोकी [अग्निमयब्रह्म-२१]—भू——भू पृथिवी ब्राह्मी——'रसा'
- ६-२-वैष्णवी त्रिलोकी [अब्मयब्रह्म-३३] भुव——भुव पृथिवी वैष्णवी—— 'विश्वम्भरा'
- ७-३-ऐन्द्री त्रिलोकी [वाङ्मयब्रह्म-४८]—स्व——स्व पृथिवी ऐन्द्री—— 'स्थिरा'

(बाईं ओर कोष्ठक-लेख: अधिदैवत भूमि)

———•———

५५९–धरा-धरित्री-धरणी-नामविवर्तों का घन-तरल-विरलानुबन्धी तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय–

उक्त स्थिति के अनन्तर पुनः पहिला ब्राह्मतेजोमयरूप पृथिवीलोक हमारे सम्मुख आता है जिसके कि त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश नामक तीन स्तर बतलाए गए हैं एवं यही यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि त्रिवृत् में घन अग्नि, पञ्चदश में तरलवायु एवं एकविंश में विरल आदित्य प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्पार्थिव स्तर अग्निमयी पृथिवी है, पञ्चदश पार्थिवस्तर वायुमयी, एवं एकविंश पार्थिवस्तर आदित्यमयी पृथिवी है। घन-तरल-विरल इन तीनों अवस्थाओं के लिए संहिता में क्रमशः ध्रुव धत्र-धरुण शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अग्निमयी पृथिवी ध्रुवा है, वायुमयी धर्त्री है, आदित्यमयी धरुणा है। ब्राह्मी पृथिवी के इन्हीं तीनों स्तरों के लिए क्रमशः धरा-धरित्री-धरणी-ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

५६०–ब्राह्मी पृथिवी के विशेष-भावों से अनुप्राणित विभिन्न शब्द एवं तदनुबन्धी-'क्षोणी' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब इसी ब्राह्मी पृथिवी के विशेष भावों का विचार कीजिए। धरा-धरित्री-धरणी की समष्टिरूप अग्न्यात्मिका पृथिवी भूपिण्ड को अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित रखता हुआ सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। यही वैश्वानर-मण्डल की परिक्रमा है। विश्व में का एक 'भौम भौम शब्दायमान' सुना पड़ती है

यह इसी वैश्वानर अग्निसम्बन्धिनी पृथिवी के परिभ्रमण का अनाहत नाद है। इसी ध्वनि शब्दरूप नामरूप की अपेक्षा से इस मार्गी पृथिवी का हम 'गोर्मी' ('दुकयु' शब्द) कह सकते हैं।

५६१ अभादानात्मक-वयोहानिप्रवर्तक प्राजापत्यधर्म्म एवं तन्निबन्धन 'ज्या' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

सम्वत्सर-प्रजापति जहाँ हमारी आयु का स्वरूप-समर्पक बनता है वहाँ यही अन्त में हमारी आयु के नाश का कारण भी बनता है—'यो मा ददाति स इदेवमावत्'। सम्वत्सर के निकट आरोग्य पौष्टिक इसी सम्वत्सर से हमें आयु और आयु स्वरूप-रक्षक पार्थिव सोम्यधर्म उपलब्ध होते हैं एवं अन्त में यही हमारी वयोहान का कारण बनता है। तत्स्वरूपेण मार्गी पृथिवी को इस नाशभाव की अपेक्षा से "ज्या" ('ज्या' वयोहानौ) कहा जायगा।

५६२–पार्थिव अग्निरसात्मक-कूर्म्मप्रजापति–नामक कश्यपप्रजापति का संस्मरण एवं तन्निबन्धन 'काश्यपी' नाम का स्वरूप-समन्वय—

सौर सावित्र सम्वत्सर ही सौर सम्वत्सर है इसी सौर सम्वत्सर को कूर्म्म किंवा कश्यप कहा जाता है। उक्त गायत्राग्निमयब्रह्मरूप पार्थिव सम्वत्सर इस कश्यपात्मक सौर सम्वत्सर में प्रतिष्ठित रहता है। दोनों ज्ञानों का परस्पर मिथुनभाव ही आभिमान है। पार्थिव सम्वत्सर रथ 'रथैन' नाम से एवं और कश्यप सम्वत्सर रथ 'नोधस' नामसे प्रसिद्ध है। रथैत नोधस सहचर्चों से नोधस रथैत सम्वत्सर में प्रविष्ट रहता है। इसी संगमनरूप अभिमान से पार्थिव सम्वत्सर उस कश्यपरस से (रसो वै कूर्म्मः) युक्त होता हुआ अदितिरूप में परिणत होजाता है। कश्यप के सम्बन्ध से ही यह सम्वत्सररूपा मार्गी पृथिवी (वेद में) अदिति कहलाई है सौरकश्यपप्राणावच्छिन्न उसी पार्थिव सम्वत्सर-पृथिवी को 'काश्यपी' कहा जायगा।

५६३–'क्षिति' शब्द का तात्त्विक–स्वरूप-समन्वय—

मार्गी पृथिवी का त्रिवृत् अग्निमय भाग भूपृष्ठ से संलग्न रहता है। भूस्तर का भूपमय प्रदेश इसी से आक्रान्त रहता है। अन्तरिक्षनिमित्ति से युक्त (त्रिवृत्भाग से युक्त) यह भूपमय भूप्रदेश ही पार्थिव प्रजा के निवास एवं गमन का साधन बनता है। इस दृष्टि से भूस्तर (भूपमय भूस्तर) युक्ता मार्गी पृथिवी के अन्तरिक्षरूप त्रिवृत् भाग नव पार्थिव भाग को क्षिति (क्षि–निवासगत्योः) कहा जायगा।

५६४– सर्वसहा' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

गर–नदी–पर्वत–ओषधि–वनस्पति चातुर्वर्ण्य–मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि–कीट आदि आदि का भार अपने पाथा भूमय भूभागावच्छिन्न मार्गीपृथि त्रिवृत् पार्थिव पृथिवीरूप त्रिवृत्भाग यक्ष–राक्षस–गन्धर्व–पिशाच इन चारों देवयोनियों का भार सहन करता मार्गीपृथिवी का अन्तरिक्षरूप पञ्चदश भाग पितर-ऐन्द्र प्राणात्मक आग इन चार देवयोनियों का भार इतने वाला मार्गी पृथिवी का द्युरूप एकविंशभाग इन तीनों की समष्टि रूपा मृन्मयी सम्पातावच्छिन्ना मार्गी पृथिवी ही 'सर्वसहा' कहलाएगी।

५६५-पार्थिव विराट् प्रजापति की 'वसु' रूपता का वैज्ञानिक-स्वरूप दिग्दर्शन—

भूमिपिण्ड पाशुकाग्नि रूप है—(देखिए शत० ६।२।१।)। पाशुकाग्नि किंवा पशुरूप भूमिपिण्ड को ही याज्ञिक-भाषा में पुराणगार्हपत्य कहा जाता है। यही उस सम्वत्सरयज्ञरूप सोमयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। सम्वत्सरयज्ञ का त्रिवृदग्नि (६) मूलत गार्हपत्य है पञ्चदश वायुरूप अग्नि धिष्ण्याग्नि है एवं एकविंश आदित्य आहवनीय है। इन तीन प्राणाग्नियों से अग्निमूर्ति सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। भूपिण्ड रूप पाशुकाग्नि त्रिवृदग्नि पञ्चदश वायु एकविंश सूर्य तीनों की समष्टिरूप यह चारों ही भाग्नी त्रिलोकी में रहने वाले आग्नेय ११ प्रतिम देवताओं का अन्नसम्पत्तिरूप मौलिक धन है यही देववित्त किंवा देववसु है— पशवो वोऽन्नम् । इसी अन्नसम्पत्ति के आधार पर देवताओं का जीवन प्रतिष्ठित है। अतएव इन चारों को ही हम 'वसु' कह सकते हैं जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१— पशवो वै वसु' (श० ब्रा० ७।१०।१७।)।

२—'स एषो (अग्नि)ऽत्र वसु' (शत० ६।२।२।१।)।

३—'वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसत् (शत० ६।७।३।११।)।

४—'एष वै (सूर्यः) वसुरन्तरिक्षसत् (ए० ब्रा० ४।२०।)।

५—'यज्ञो (सम्वत्सर) वै वसु (शत० १।७।१।)।

५६६ वसुतत्त्वानुबन्धी वसुमती', एवं वसुधा शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

भूमिपिण्ड—त्रिवृत् पञ्चदश-एकविंश-स्तोममूर्तिरूप अग्निवसु भाग्नी पृथिवी ही वसुदान से 'वसुमती' कहलाएगी। भूमिपिण्ड ही त्रिवृत् पृथिवी में रहने वाले महोत्व वसुअग्नि की प्रतिष्ठा है। वसु अग्नि किंवा वस्वाग्निमण्डल को भूपिण्ड ही धारण कर रखता है अतएव 'वसु दधाति' इस निर्वचन से वस्वाग्निप्रतिष्ठा भी अपना भूमिपिण्ड को 'वसुधा' कहा जायगा।

५६७-एकत्व आधारभूत 'आधार', एवं सर्वत्र आधारभूत 'आयतन' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

भारतात्मक सम्बन्ध आधार-आयतन भिन्न भी भावों में विभक्त माना गया है। एकत्व आधार को आधार कहा जाता है एवं सर्वाधार को आयतन कहा जाता है मेज के ऊपरि धरातल पर रक्खी हुई पुस्तक का मेज आधार है मेज की दराज में रक्खी हुई पुस्तक का मेज आयतन है। इसी दृष्टि से देखिए। भूपृष्ठ हमारा आधार है। परन्तु हम धरातल पर खड़े मात्र हैं हमारे चारों ओर धरातल का स्थान नहीं है। अतएव यह एकत्व आधार आधार कहा जायगा। आकाश भी हमारा आधार बना हुआ है— (नोप वाम्यान के प्राग्वात् यदप आकाश आनन्दो न स्यात्)। परन्तु हम आकाश के गर्भ में हैं चारों ओर आकाश व्याप्त है। सर्वाधारात्मक इस आकाशाधार को 'आयतन' कहा जायगा।

५६८ 'दधाति' मूलक आधारतत्त्व', एवं 'धारयति' मूलक आधपनतत्त्व, एवं तन्निबन्धन 'वसुन्धरा' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

आधार के लिए 'दधाति' कहा जायगा आधपन के लिए 'धारयति' कहा जायगा। जिसप्रकार भूमिपिण्ड 'अस्मान् दधाति' है वैसे ही उसका हिरण्यगर्भित वस्वग्नि को धारण कर रक्खा है। हिरण्याग्नि का आधार (पृष्ठ) भूमिपिण्ड ही तो है। इस आधाररूपा प्रतिष्ठा की अपेक्षा से भूमिपिण्ड को 'वसुधा' कहा जायगा। उधर हिरण्मयस्वरूपा हिरण् पृथिवी के गर्भ में वर्तमान वस्वग्नि प्रतिष्ठित है। इस सर्वथा आधारूप हिरण्यपृथिवी को आधपन कहा जायगा एवं "वसु धारयति" इस निर्वचन से इस हिरण्या पृथिवी को "वसुन्धरा" कहा जायगा।

५६९—अर्णवसमुद्र में भूतरूप से व्याप्ता आप्यापृथिवी के वितानभाव से अनुप्राणित 'उर्वी' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

किसी समय पृथिवी सर्वथा अम्भसालीढ़ा थी। न उस समय पृथिवी का त्रिवृत्‌रूप पृथिवी विमान था न अन्तरूप अन्तरिक्ष विमान था एवं न पञ्चविंशरूप द्यु विमान था। आपोमय पारमेष्ठ्य-समुद्र में यह अर्णवभागरूप से लुप्त था, इसी का स्वरूप स्पष्टीकरण स्वयं ब्राह्मण में वर्णित थी (देखिए शत० २।२।७।१)। हुआ क्या? अग्नाश्रद्धापूरित जगत् की प्रतिष्ठा के लिए अपने स्वयंभूमिगर्भित लंबरूप कर्म से उस भूतपार्थिव रसों को एक स्थान पर मीलित कर इसे स्तब्ध बनाया एवं आगे पृथिवीरूप प्रथनभाव से आज आगे त्रिलोकीरूप में परिणत होरहा है। अग्रानुवन्धी यही सम्भूत पृथिवी "उर्वीमपश्यत्प्रथमाम् प्रतिष्ठाम्" इत्यादि मन्त्र वर्णन के अनुसार वेदशास्त्र में 'उर्वी' कहलाएगी। ('यदस्य पृथिव्युर्वी इयमुरून्नु भूमम'—शत० २।१।४।२८)।

५७०—पार्थिवस्वरूप-संरक्षक महीधरों' का स्वरूपविशेष-समन्वय, एवं तन्निबन्धन 'गोत्र' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

पर्वतमाला भूपिण्डका एक प्रधान अङ्ग माना गया है। यह पर्वतमाला अन्तर्वेदि बहिर्वेदि भेद से दो भागों में विभक्त है। भूकेन्द्र में अग्नि प्रज्वलित होरहा है—"अग्निगर्भा पृथिवी"। अग्नि स्वभावतः विशकलनधर्मा (तेजःस्वरूप) है। आपोमय सम्भूत विष्णुरेखा आपोमय अश्माश्म से अश्मास्थ्यादि (पाषाण) का निर्माण कर इस अग्नि का द्वार यदि अवरुद्ध न करदेते तो यह केन्द्रस्थ ब्रह्माग्नि भूपिण्ड को अपने इस सहजसिद्ध विशकलनधर्म से विशीर्ण ही करडालता। भूपृष्ठ से नीचे (गर्भ में) बड़े बड़े पाषाणस्तर फैले हुए हैं। इन अमेद्य चट्टानों से ही केन्द्राग्नि का वेग सीमित बना हुआ है। जहाँ पाषाणस्तर शिथिल हैं वहाँ अग्नि [illegible] उन का भेदन कर बाहिर निकलकर तत्सन्निहित भूप्रदेश को एवं तत्सन्निहित पाषाणस्तर को तरल—तरलरूपमें परिणत कर दी.सी. डालता है जैसाकि विज्ञानसम्मतसिद्ध ज्वालामुखीपर्वतों की, हुई बात से स्पष्ट है। इन भूगर्भस्थ पाषाणस्तरोंने ही भूपिण्ड को स्वस्वरूप से सुरक्षित रख रक्खा है अतएव इन्हें "महीधर" कहा जाता है। वस्तुतः मही नाम महापृथिवी का है जिस पृथिवी को "भू" किंवा भूमि ही कहलावेगी और इसी दृष्टि से पर्वतों को भूधर कहना ही अधिक समीचीन होगा। तथापि मही की प्रतिष्ठा भू है भू

की प्रतिष्ठा भूधर हैं इस पारस्परिक सम्बन्ध से पर्वतमाला मही की भी प्रतिष्ठा बनी हुई है। और इसी दृष्टि से इन्हें महीधर भी कहा जासकता है। भूगर्भ में रहने वाली पर्वतमाला ही 'अन्तर्वेदिपाषाणप्रस्तर' कहलाएँगे। ये ही पाषाण शिलारूप से यत्र-तत्र भूपृष्ठ से बाहिर भी निकल आए हैं यही बहिर्वेदि (प्रत्यक्षदृष्ट) पाषाणमय उच्चशिखर पर्वतमाला है। पृथिवी गोस्वरूपा है उसका अग्नि से त्राण इन्हीं पर्वतमालाओं से होता है अतएव पर्वतमालाको गोत्र कहा जाता है। गोत्रावच्छिन्ना पृथिवी ही गोत्र अपेक्षा से 'गोत्रा' कहलाएगी। उक्त -धरा- धरित्री-धरणी-क्षोणी-क्ष्मा-काश्यपी-क्षिति-सर्वसहा-वसुमती-वसुधा-उर्वी-वसुन्धरा-गोत्रा ये सभी शब्द भूमिपिण्ड और माही पृथिवी के समष्टि-व्यष्टि भावों के ही वाचक बन रहे हैं, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है—

भूपिण्ड-एवं रसा पृथिवी के अवान्तर विवर्त्त—

१—त्रिवृत्पृथिवी अग्निमयी—भूः धरापृथिवी (भ धा सा)— 'धरा (८)

२—पञ्चदशपृथिवी वायुमयी—भुव धरित्रीषु (धर्त्री सा)— 'धरित्री" (६)

३—एकविंशपृथि आदि —स्व धरणीषु (धरणाधा)— 'धरणी (१)

४—परिभ्रमणेन शब्द कुर्वती नादभावोपेता संवत्सरपृथिवी (भा त्रि रूपा)— 'क्षोणी (११)

५—महोपलवती संवत्सररूपिणी अवसानम पृथिवी (भा त्रि रूपा)— 'क्ष्मा' (१२)

६—सौरसस्यरसपाणिरसोपेता देवमाता अदिति (भा त्रि रूपा)— 'काश्यपी (१३)

७—भूपिण्डगर्भिता निवासगतिसाधिका त्रिवृत् पृथिवी (भा० पृ लो रूपा)— 'क्षितिः (१४)

८—त्रिवृत्-त्रिवृत्-पञ्च एकविं समष्टिरूपा सर्वप्रजाधिष्ठात्री पृथिवी—"सर्वसहा (१५)

९—भूपिण्ड-अग्नि-वायु-सूर्य-वसु-युक्ता देवगोत्री पृथिवी— 'वसुमती" (१६)

१०—अग्नेराधारभूता पिण्डपृथिवी—"वसुधा' (१७)

११—अग्नेराधपनभूता त्रिवृता पृथिवी वसुधरा' (१८)

१२—वायुवायुनिष्पन्ना भा त्रि० रूपा—त्रैलोक्यपृथिवी— 'उर्वी' (१६)

१३—अन्तर्वेदि-बहिर्वेदि-पर्वतमालाधिष्ठाता भूपिण्डः— गोत्रा' (२)

—— • ——

५७१-सोमतत्त्वस्य षड्विध अवान्तर पार्थिव विवर्तों का स्वरूप दिग्दर्शन—

अब पूर्व प्रदर्शित भूमि-रसा-हिरण्मया-शिवा इन चार विवर्तों में हिरण्मया-सौम्यमी आग्नेयमयी होती एवं स्थिरा ऐन्द्री वाङ्मयी पृथिवी इन दोनों पृथिवियों के २१-२०-११-२४-६४-४८ स्तोम-भावरूप ६ विवर्त शेष रहे। क्रमप्राप्त इनकी भी मीमांसा कर डालिए।

५७२–विश्वम्भरा वैष्णवी पृथिवी के त्रैलोक्य-विस्तार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

विश्वम्भरा वैष्णवी पृथिवी के २१–१७–११ ये तीन रूप बतलाए गए हैं। एकविंशस्तोमावच्छिन्न येन (ज्योतिर्मयी भाषा— 'ज्योतिष्मन्तमूरवसो विमाने प्रममर्पा मज्मने (मधु) प्रदेश ही इस पृथिवी का पृथिवीलोक है एवं त्रिवृत्सोममय (आपोमय) नवस्तिश-स्तोमावच्छिन्न प्रदेश ही इस पृथिवी का द्युलोक है।

५७३–मेघ-मेद और मेध्यभावों का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धन 'मेदिनी' शब्द का स्वरूप समन्वय—

वामनविष्णु के त्रिविक्रम से ही २१ विशपर्य्यन्त वैष्णवी पृथिवी का यथाधार पर प्रथन हुआ है। अतएव इस एक स्तोमखण्ड प्रदेश को 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत किया जायगा। त्रिणव भास्वरसोम ही अग्निमयी इस पृथिवी का भी जीवन है एवं पार्थिव प्रजा का भी। जीवनरक्षा सोमाहुति पर ही निर्भर है। पृथवी के अग्नि की रक्षा भास्वर चान्द्रसोम से हो रही है हमारे पार्थिव आग्नेय शरीर की रक्षा उसी चान्द्र सोम के प्रवर्ग्य भाग से आप्यायित होने वाले ओषधिसोम (अन्नसोम) से होरही है। इसी रक्षाभाव के कारण त्रिणवस्तोममयी अन्तरिक्षस्थानीया वैष्णवी पृथिवी के इस दूसरे रूप को 'अवनि' ('अव' रक्षणे) कहा जाता है। 'मेदो वै मेघः' (शत० १।८।४।९१) के अनुसार मेद ही मेघ है। छन्दनभाव का ही नाम मेद-किंवा मेध है। इसी मेधवृत्ति से पानी मेध्य कहलाता है— मेध्या वा आपः'। यथाऽवस्थित सोमों का संगमन इसी मेध्य सप्तदशस्तोमावच्छिन्न त्रिवृत्सोममय आप से होता है। अतएव सप्तदशविभा (वैष्णवी पृथिवी के इस तीसरे) रूप को अवश्य ही 'मेधिनी' किंवा "मेदिनी" कहा जासकता है। इसप्रकार वैष्णवी पृथिवी के २१ २७–११ इन तीन विवर्तों के क्रमशः पृथिवी-अवनि-मेदिनी ये तीन वाचक बन जाते हैं।

५७४–'कु' 'क्षमा' 'मही' शब्दत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब स्थिरा ऐन्द्री पृथिवी के २४–४४–४८, ये तीन विवर्त्त हमारे सामने आते हैं। चतुर्विंश स्तोमावच्छिन्न प्रदेश को हमने व्यवहारवाक् मय बतलाया है यही शब्दवाक् है। इसी आधार पर चतुर्विंश इस प्रदेश को "कु" (कुशब्दे) कहा जासकता है। इसका वर्णवाक् मय अनुरूप वारित प्रदेश अपने त्रिष्टुप भाव के कारण यथोऽवस्थित सम्पूर्ण वाक्प्रपञ्च का भारवाही बनता हुआ ('अनुष्टुभमनु चचूर्य्यमाणमिन्द्र निषिषिचु कवयो मनीषा') 'क्षमा' ('क्षमु'–सहने) बन रहा है। एवं तीसरा वितानलक्षण स्वरवाङ्मय अष्टाचत्वारिंश प्रदेश अपने वैतानिक-महिमाभाव से—"मही" नाम धारण किए हुए है। इसप्रकार ऐन्द्री पृथिवी के २४–४४–४८ इन तीन विवर्त्तों के क्रमशः कु–क्षमा–मही ये तीन शब्द वाचक बन रहे हैं जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

❀–विश्वम्भरा वैष्णवी, एवं स्थिरा ऐन्द्री पृथिवी के अवान्तर विवर्त्त—

---

* क्या ही उत्तम हो यदि कोई विद्वान् अमरकोश की एक इसीप्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या कर इन व्युत्पादित शब्दों की रक्षा करे। काम अवश्य महागम्य है किन्तु साथ ही आवश्यकतम भी।

१–विश्वम्भरा वैष्णवी–वेन, भास्वर दिक् सोममयी पृथिवी

१—एकविंशात्मा —वनमयी प्रमनशीला वैष्णवी पृथिवी— 'पृथिवी (२१)

२—त्रिणवत्वो ——भास्वरसप्ममयी–स्वामाधनभू म भन्त 'भयनि (२२)

३—त्रयस्त्रिंश —सोमामममयी—मध्यमाधापेता पृ — मद्रिनी (२३)

—•—

२–स्थिरा ऐन्द्री–व्यञ्जन–वर्ण–स्वर–मयी पृथिवी—

१—चतुर्विंश व्यञ्जनमयी शम्नायमा ऐन्द्री पृथिवी — 'कु- (२४)

२—चतुरष्ठ वर्णमयी—नम्नशीलमंत्र —चम्बरि — 'क्षमा (२५)

३—षष्ठ स्वरमयी—महिमशालिनी—चौ —— 'मही (२६)

—•—

४७५–प्रसङ्गोपात्त अन्य रहस्यपूर्ण श्रुतिसिद्ध पार्थिव-नामविशेषोंका तात्त्विक-स्वरूप सस्मरण—

प्रसङ्गोपात्त यह और जान लीजिए कि वैदिक–सिद्धान्तानुसार स्थिरपृथिवी (भिन्न भिन्न भावों की अपेक्षा से) भू–भूमि–पूषा–गोत्रा–क्षोणि–क्षामा–निर्ऋति–रमा क्ष्मा इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। भास्वी सम्वत्सरपृथिवी उरुपक्षिसाक्षी सम्वत्सर गायत्री पृथिवी पूषा पुष्करपर्ण सुपर्ण इरा उर्वी अदिति इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। वैष्णवी आपोमयी पृथिवी गौ सागराम्बरा सरस्वती अवनि इरा, त्रिष्टुप् इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं ऐन्द्री वाङ्मयी पृथिवी 'मही "जगती चपट्कार दयपात्र इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इनके नामों का मौलिक रहस्य बुद्धियोगी विद्वानों के बुद्धिवैभव पर छोड़ते हुए इस प्रकरण के मुख्य उपास्यरूप प्रक्रान्त पार्थिव विराट् प्रजापति-प्रकरण को उपरत किया जाता है।

उपासकविराट्—

४७६–उपास्यविराट् के अभिन्न सखा उपासकविराट् (मानव) के समतुलनात्मक-समान–धर्म्मों का स्वरूप-निदर्शन—

पूर्वोक्त उपास्य विराट् की उपासना करने वाला उपासक भी कोई विराट् ही होना चाहिए, और उसकी उपासना एवं उपासना का आयोजन भी कोई विराट् ही होना चाहिए। उपास्य उपासक, उपासना उपासना के साधन सभी विराट् हों तभी आनन्द है। अच्छा तो सबसे पहिले उपासक की विराट् विभूति का ही विचार कीजिए। उपास्य विराट् प्रजापति के गर्भ में प्रतिष्ठित अष्टविध देवयोनियाँ पञ्चविध तिर्यग्योनियाँ इन

तेरह सर्ग जीवों में से मनुष्य नाम का तिर्य्यक्सर्ग ही उपास्य है। इस मनुष्य में आत्मा शरीर, ये दो संस्थायें हैं। शरीर पाञ्चभौतिक है पञ्चपर्वा है आत्मा त्रिपर्वा है इन्हीं तीन-पाँच की समष्टि से युक्त ईश्वरप्रजापति का समष्टि बनता हुआ यह भी तीन पाँच करने लगता है।

५७७-उपासक-विराट् के आत्मानुबन्धी अत्यन्त रहस्यपूर्ण अष्टादशविध-आत्ममहिमाभाव-

पञ्चपर्वा शरीर का स्वरूप प्रत्यक्ष है। आत्मा के तीन पर्व परमात्मा-अन्तरात्मा-भूतात्मा भेद से इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें परमात्मा त्रिपर्वा है। अन्तरात्मा पञ्चपर्वा है भूतात्मा त्रिपर्वा है। सम्भूय ११ पर्व होजाते हैं। यही आध्यात्मिक विराट् प्रजापति है। यदि अन्तरात्मा के अवान्तर पर्वों का विचार किया जाता है तो यह संख्या १८ पर विश्राम करती है। निर्गुण-अव्यय-गर्भित पञ्चकल अव्ययात्मा पञ्चकल अक्षरात्मा पञ्चकल क्षरात्मा तीन की समष्टि परमात्मा है। यही आध्यात्मिक षोडशीप्रजापति है। शान्तात्मा महानात्मा विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा प्राणात्मा इन पाँच पर्वों की समष्टि अन्तरात्मा है यही आध्यात्मिक यज्ञप्रजापति है। इस आध्यात्मिक यज्ञप्रजापति का शान्तात्मा नामक प्रथम आत्मपर्व अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, तैजसात्मा, विराडात्मा भेद से चार भागों में विभक्त है। तीसरा विज्ञानात्मा विज्ञानात्मा, देवात्मा भेद से दो भागों में विभक्त है। चौथा महानात्मा महत्तिमहान्, प्रकृतिमहान्, आकृतिमहान् भेद से तीन भागों में विभक्त है। इसप्रकार पञ्चपर्वा अन्तरात्मा (यज्ञप्रजापति) इन अवान्तर पर्वों से ५ के के स्थान में दशपर्वा बन जाता है। तीसरे भूतात्मा के [illegible]—अन्तरात्मा ये दो प्रधानपर्व हैं। [illegible] एकविध है। अन्तरात्मा के हंसात्मा—कर्म्मात्मा ये दो विवर्त हैं। हंसात्मा एकविध है कर्म्मात्मा के वैश्वानर—तैजस—प्राज्ञ ये तीन विवर्त हैं। सम्भूय भूतात्मा के पाँच पर्व होजाते हैं। यही आध्यात्मिक विराट् प्रजापति है।

५७८-अक्षरा-गायत्री से आत्मपर्वनिष्पत्ति, एवं पञ्चपर्वा-गायत्री से शरीरपर्वों की स्वरूप-निष्पत्ति—

परमात्मा अन्तरात्मा भूतात्मा ये तीन आत्मपर्व पञ्चपर्वा पाञ्चभौतिक शरीर, यह पहिली दृष्टि है। इस दृष्टि में अक्षर गायत्रीछन्द की प्रधानता है। यही आध्यात्मिक गायत्री है। गायत्री ही पञ्चाक्षरों से शरीर बनी हुई है एवं गायत्री ही अक्षरों से आत्मा बनी हुई है।

त्रिधासो विराट् —
- १–परमात्मा
- २–अन्तरात्मा
- ३ भूतात्मा

—त्र्यक्षरा आत्मगायत्री (आत्मा)

भूमिः प्रतिष्ठा —
- १–आकाश
- २–वायु
- ३–तेज
- ४–जलम्
- ५–मृत्

—पञ्चाक्षरा शरीरगायत्री (शरीरम्)

(गायत्रीछन्दा विराट्)
—अष्टाक्षरा आध्यात्मिकी
'गायत्री
गायत्री वा इदं सर्वम्



५७६–दशधा त्रिधा-एकधा-विभक्त विराट् प्रजापति का विभिन्न–दृष्टि से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

त्रिपर्वा परमात्मा पञ्चपर्वा अन्तरात्मा द्विपर्वा भूतात्मा यह दूसरी आत्मदृष्टि है। इस दृष्टि में केवल आत्मसम्बन्ध से दशाक्षर विराट् छन्द का भोग होरहा है। दशपर्वस्थानीय दशाक्षर के सम्बन्ध से ही इस पर्वात्मा को "विराट्" कहा जासकता है। तीनों विवर्त उस एक ही भूतात्मा के विकास हैं इस दृष्टि से यह विराट् एकधा है। त्रिपर्वदृष्टि से यही विराट् त्रिधा भी कहा जासकता है एवं दशपर्वदृष्टि से उसे दशधा भी माना जासकता है— 'दशधा–एकधा–त्रिधा'। एकधा त्रिधा विधा दशधा आत्मपर्वों की समष्टिरूप इस विराट् प्रजापति की प्रतिष्ठाभूमि यही पञ्चपर्वा पाञ्चभौतिक शरीर है। 'पद्भ्यांभूमिः' प्रतिष्ठित के अनुसार यह आत्मलक्षण विराट् भूमिरूप इस शरीरपिण्ड में ही प्रतिष्ठित है। यही विराट्छन्दा विराट् प्रजापति की दूसरी दृष्टि है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१—अव्ययात्मा
२—अक्षरात्मा
३—आत्मक्षरात्मा
—त्रिकलः अव्ययमायेश्वरः षोडशीप्रजापतिः } त्रिपर्वा परमात्मा (३)

१—शान्तात्मा (स्वा)
२—महात्मा (पा)
३—विज्ञानात्मा (सो)
४—महानात्मा (चा)
५—प्राणात्मा (पा)
—पञ्चकलो कर्मेश्वरः—महाप्रजापतिः } पञ्चपर्वा अन्तरात्मा(५)

१ भूतात्मा
२—अन्तरात्मा
—द्विकला पार्थिवो विराट् प्रजापतिः } द्विपर्वा भूतात्मा (२)

दशकलो वैराजो विराट्-प्रजापतिः

* पाञ्चभौतिकं शरीरम् } ——————— } भूमिप्रतिष्ठा

५८०—त्रयोविंशतिपर्वात्मक विराट् प्रजापति का अन्य दृष्टि से स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अन्तरात्मा के अन्तिम पर्वरूप प्राणात्मपर्व का भूतात्मा के अन्तरात्मारूपभूत कर्मात्मपर्व में अन्तर्भाव हो जाता है। इस दृष्टि से पञ्चपर्वा के स्थान में अन्तरात्मा के चार ही पर्व शेष रह जाते हैं। इन चारों के अवान्तर पर्वों के संग्रह से यही चारों आकर दशपर्वा बन जाता है। इसप्रकार त्रिपर्वा परमात्मा दशपर्वा अन्तरात्मा पञ्चपर्वा भूतात्मा की समष्टि त्रयोदशपर्वात्मिका तीसरी आत्मदृष्टि हो जाती है—"अक्षरैरविंशतिमक्षरं वपु कर्म्म"। पाञ्चभौतिक शरीर की सम्पूर्ण-आत्मा—शरीर की २१ कलाएँ हो जाती हैं। यही कलात्मक छन्द गायत्री (२१ अक्षर की त्रिवृत्गायत्री *) है। यही प्रत्यक्ष विराट् है। यही त्रिवृत्गायत्रीछन्दा विराट्प्रजापति की तीसरी दृष्टि है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

---

* न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्।

१-१-अव्ययात्मा
२-२-अक्षरात्मा
३-३-आत्मक्षरात्मा
} त्रिपर्वा परमात्मा (१)

४-१-अन्तर्यामी
५-२-सूत्रात्मा
६-३-वेदात्मा
७-४-चिदात्मा
} चतुष्पर्वा शान्तात्मा (१)

८ ५-यज्ञात्मा] यज्ञात्मा (२)

९-१-विज्ञानात्मा
१ -७ देवात्मा
} द्विपर्वा विज्ञानात्मा (३)

११-८-आकृतिमहान्
१२-९-प्रकृतिमहान
१३ अहङ्कृतिमहान्
} त्रिपर्वा महानात्मा (४)

दशपर्वा — अन्तरात्मा (१)

१४-१-वाचात्मा } वाचात्मा
१५-२-हंसात्मा } प्रेतात्मा
१६-३-प्राज्ञ-आत्मा
१७-४-तैजसात्मा
१८ ५-वैश्वानरात्मा
त्रिपर्वा कर्मात्मा
अन्तरात्मा
पञ्चपर्वा भूतात्मा (५)

१९-१-आकाशः
२ -२-वायु
२१-३-तेज
२२-४-जलम्
२३-५-भूत्
— पञ्चपर्वात्मक पञ्चात्मक शरीरम

महातीपेक्षाया——आ महिमूर्ति——महाप्यात्मानी या

२१ कलापेता निचृद्गायत्री—न्यूनगायत्री। 'न्यूनाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यादि। स एव निचृद्गायत्रीछन्दाविराट्—

प्रजापतिः—२३ समष्टिरूप—— 'त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविरात्' (श्रीमद्भागवत)

५८१–विराडुपासना के द्वारा उपासक की उपास्यरूप में, एवं उपास्य की उपासक के रूप में परिणति का रहस्यात्मक दिग्दर्शन—

विराट् के उक्त आध्यात्मिक विस्तार-क्रम को थोड़ी देर के लिए छोड़कर आधारमूर्ति विश्वात्म-विवर्त की मीमांसा कीजिए। कहा जा चुका है कि आध्यात्मिक परमात्मा अन्तरात्मा ही क्रमशः षोडशीप्रजापति एवं विराट् प्रजापति है। यह आध्यात्मिक भूतात्मलक्षण विराट् प्रजापति ही उस आधिदैविक पार्थिव-लक्षण विराट् प्रजापति का उपासक बनता है। इस उपासना से उपासक उपास्य बन जाता है एवं उपास्य को उपासक बनना पड़ता है।

५८२–क्षुद्रविराट्-मूर्ति मानवीय कर्मात्मा की मोहनिद्रात्मिका आवरणमूला सुषुप्ति, एवं तन्निबन्धन मृत्युभाव का समन्वय—

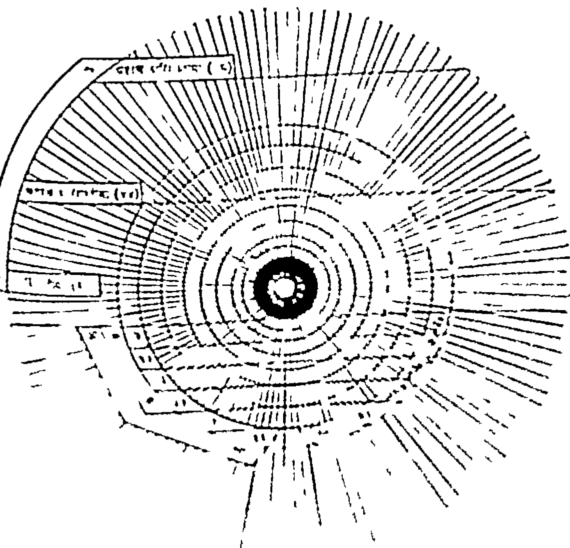
पूर्व में पार्थिव आधिदैविक विश्व विराट् प्रजापति का जीवात्मा के साथ तन्मयभाव बतलाया गया है यह जीवात्मा उक्त तीन आध्यात्मिक आत्माओं में से पञ्चपर्वा भूतात्मा का विवर्त कर्मात्मा ही है जिसके कि पूर्व के महदुक्थात्म–परिलेख में वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ ये तीन पर्व बतलाए हैं। आधिदैविक विराट् के सर्वज्ञ-पर्व का अंश प्राज्ञ है हिरण्यगर्भ का अंश तैजस है विराट् का अंश वैश्वानर है। भूपिण्ड का अंश पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड है। आधिदैविक भूपिण्डविराट् प्रजापति को यद्यपि ब्रह्म-षोडशी की अपेक्षा हमने अचेतन कहा है परन्तु इस अंशात्मक आध्यात्मिक विराट् प्रजापति की अपेक्षा उसे चेतन कहेंगे एवं इसे अचेतन कहेंगे। वही विराट् इस आग्नेय शरीरपिण्ड में आकर मनोयुक्त इन्द्रियवर्ग–द्वारा अचेतन भौतिक विषय संस्कारों से आवृत होकर अपने उस व्यापक स्वरूप को खो बैठता है यही उस जीव का यह मर्त्यभाव है। यह यहाँ आकर जीवरूप में परिणत होता हुआ अपने स्वाभाविक विकास से वञ्चित होता हुआ मर्त्य संस्कारों से परिच्छिन्न एवं आवृत बनता हुआ मृत्युभाव का जिंवा जन्म मृत्यु पुनः–पुनः पुण्य–पापादि कर्मों का अनुगामी बन जाता है। यही इस की सुषुप्ति है निद्रावस्था है।

५८३–हृदयस्थ महाविराट् के द्वारा कर्मात्मविराट् को समये समये उद्बोधनप्रदाना-नुग्रह, एवं कर्मात्मविराट् की तदप्रत्युपेक्षा—

आध्यात्मिक सभी प्राणदेवता हृदयस्थ योगक्षेमलक्षण अन्तरात्मा (महाप्रजापति) एवं प्रत्यगात्मलक्षण (षोडशीप्रजापति) इन दोनों के सहयोग से आग्नेय शरीरपिण्ड में विषयसंस्कारयुक्त में प्रसुप्त भूतात्मलक्षण ये जो प्राणमूर्ति इस विराट् को जगाने का यद्यपि यथाशक्ति प्रयास करते रहते हैं, समय समय पर अन्तरात्मा की यह प्रतिध्वनि निकला करती है कि–'देखो तुम अनुचित कर रहे हो, देखो तुम जिधर जाते हो जिन भौतिक विषयों में आसक्तिपूर्वक तुम (विराट्–जीव) प्रवृत्त होते हो वे तुम्हारे स्वाभाविक विकास के अवरोधक हैं इन से बचने में ही तुम्हारा अभ्युदय है'। परन्तु विषयलिप्त प्रसुप्त विराट् को प्रतीत नहीं होता। यह विषयासक्तिलक्षण आवरण के प्रभाव से समय समय पर मिलने वाली इस चेतावनी का कोई आदर न कर अधिकाधिक मृत्युपाश का ही अनुगमन करता रहता है। दूसरे शब्दों में इसे चेत नहीं होता नहीं होता।

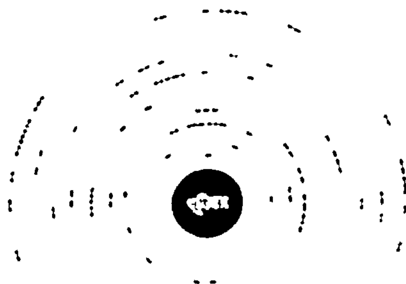
अभिप्लवपृष्ठ्य-समष्टि –

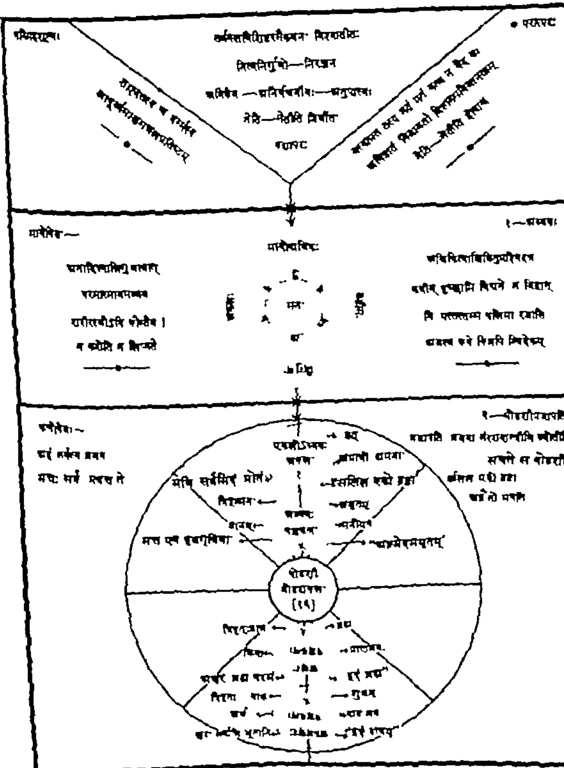
तदिदं सर्वम्



पृष्ठ्यस्तोमा --

भूत प्रतिष्ठारूपा
([illegible])





४८४-'क्षेत्रज्ञयोग' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, तदभिन्न गीताशास्त्र का रहस्यपूर्ण 'बुद्धियोग', एवं तद्रूप 'क्षेत्रज्ञविराट्' की उपासना से ही क्षुद्रविराट् का सम्भावित उद्बोधन—

यह अपनी निद्रा छोड़ता कब है अथवा उस मोहनिद्रा से इसका पीछा कब कैसे छूट सकता है ? इसका उत्तर वही गीताप्रतिपादित बुद्धियोग है जिसे कि पुराणने 'क्षेत्रज्ञोपासना' कहा है। कहा गया है कि मूलानलचयरूप विराट्प्रजापति का पिता पञ्चधा अन्तरात्मलक्षण हृत्स्थ महाप्रजापति है। महा-प्रजापति के शान्त-महत्-विज्ञानादि पाँचों पर्वों में विज्ञानात्मा मध्यस्थ बनता हुआ पाँचों का संग्राहक बना हुआ है। जैसे पञ्चपर्वा आधिदैविक यज्ञप्रजापतिमण्डल में मध्यस्थ सूर्य्य अपने केन्द्रभाव के कारण सर्व-संग्राहक बना हुआ है एवमेव सूर्य्यांशरूप मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही यहाँ भी सर्वेसर्वा बनरहा है। अतएव इसके ग्रहण से अन्तरात्मा का ग्रहण अनिवार्य्य होजाता है। यही विज्ञानात्मा (अक्षरमूर्ति) 'क्षेत्रज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। विराट् जबतक मन के चङ्गुल में फँसकर इन्द्रियों का दास बना रहता है तबतक इस का उत्थान (निद्रा परित्याग) सम्भव नहीं। जब यह अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर उसका क्षेत्रज्ञ (बुद्धि) लक्षण अन्तरात्मा के साथ योग करता है, तभी क्षेत्रज्ञयुक्त परमात्मज्योति का (अव्ययज्योति का) इस पर अनुग्रह होता है। इसी अनुग्रह से इस का उत्थान होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि महाविराट् का अंशरूप आग्नेय शरीरपिण्ड में प्रसुप्त जीव नामक यह क्षुद्रविराट् अपनी प्रसुप्ति को दूर करने के लिए यदि क्षेत्रज्ञ का आश्रय लेलेता है तो इसका उत्थान अवश्यम्भावी है। 'यत्रा पश्य पश्यन् कर्म कर्तेम' । एकमेवाद्वयं (सूर्य्यांशरूप) क्षेत्रज्ञयोग [बुद्धियोग] ही इसकी जागृति का अनन्य साधन है। यही बुद्धियोगलक्षणा वास्तविकी विराडुपासना है। उपासक विराट् के प्रमाद प्रबुद्ध नहीं होने भाव का स्पष्टी-करण करता हुआ पुराणशास्त्र कहता है—

१ हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
समाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥

२—एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥

३—वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

४—अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

५—त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

५८६-'अधिकार भाव निबन्धना उपासना के तारतम्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि विराडुपासना को हमने आधिकारिक अचेतन जीवोपासना कहा है एवं ब्रह्मभावरूपुपासना को आधिकारिक चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) कहा है । साथ ही पूर्व प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि द्विजबन्धु-लक्षण द्विजातिवर्ग एवं स्त्री-शूद्रवर्ग के अभ्युदय के लिए ही अवतारोपासना का विधान हुआ है । आगमशास्त्रोक्त उपासनामार्ग का अधिकार द्विजाति को है । एवं स्त्री-शूद्रवर्ग को उभयविध अवतारोपासना का अधिकार है ।

५८७-यज्ञोपासनात्मिका विराडुपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तद्प्रतिकृतिमूलक यज्ञविज्ञानरहस्य—

यदि सकामभाव है तो वही उपासना विराडुपासना बन जाती है । सकामभाव में अचेतन विराट् की ईश्वर-सर्वविभूतियाँ प्राप्त होती हैं । इस सकामभूता विराडुपासना को हम यज्ञोपासना विद्युपासना देवोपासना भेद से तीन भागों में विभक्त मान सकते हैं । तीनों क्रमशः पारस्परिक अपेक्षा से उत्तम-मध्यम-अधम मार्ग माने जायँगे । पहिले यज्ञोपासना को ही लीजिए । इसका अधिकारी-द्विजातिवर्ग रहेगा । जो ब्राह्मण जो क्षत्रिय किंवा जो वैश्य यथावत् शास्त्राध्ययन कर ब्राह्मणपद्धति का आश्रय लेता हुआ व्यक्ति-पुष्टि के लिए पार्थिव वैभव एवं स्वर्ग-सुख की कामना के लिए (कामात्मनः स्वर्गपराः) आम्नायधर्म में रत होगा उसकी यह कामनामयी यज्ञोपासना उत्तमश्रेणि की विराडुपासना कहलाएगी । उत्तम इसे इसलिए कहा जायगा कि इसमें विराट् का पूर्णरूप से समावेश रहेगा । इस श्रौतयज्ञमण्डल में गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-आहवनीय ये तीन अग्नि रहेंगे । ये तीनों अग्नि विराट् के वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-इन तीन पर्वों की ही प्रतिकृति हैं ।

५८८-गार्हपत्य धिष्ण्य-आहवनीय-रूप-त्रेताग्नि विज्ञान-स्वरूप दिग्दर्शन —

यज्ञस्वरूपवेत्ताओं को यह विदित है कि वैधयज्ञवेदि के हविर्वेदि सोमवेदि भेद से दो विभाग मान गए हैं । हविर्वेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है एवं सोमवेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है । हविर्वेदि के पश्चिम भाग में वर्तुल गार्हपत्यकुण्ड बनाया जाता है पूर्वभाग में चतुरस्र आहवनीय एवं दक्षिणभाग में अर्धचन्द्राकार दक्षिणकुण्ड बनाया जाता है । इसे याज्ञिकपरिभाषा में "नूतन गार्हपत्य" कहा जाता है एवं हविर्वेदि का पश्चिमभागस्थ गार्हपत्य 'पुराण गार्हपत्य' कहा जाता है ।

५८९-हविर्वेदि एवं सोमवेदि, स समन्विता यज्ञवेदि तथा तद्स्वरूपविज्ञान-समन्वय—

हविर्वेदि के आहवनीयकुण्ड किंवा सोमवेदि के नूतनगार्हपत्यकुण्ड के आगे (पूर्व भाग में) सदोमण्डप रहता है । इस सदोमण्डप के मध्य में १ अग्नि कुण्ड एवं उत्तर दिशा में मार्जालीय एवं आग्नीध्रीय ये दो अग्निकुण्ड कुल मिलाकर (८) अग्निकुण्ड रहते हैं । इन आठों को समष्टि ही "धिष्ण्य अग्नि" है । इसके आगे हविर्धानमण्डप है । इसमें शकटों पर सोमवल्ली रक्खी रहती है । इसके आगे उत्तरवेदि है । उत्तरवेदि के मध्य में चतुरस्र आहवनीय है । यही आहवनीय होती है । उत्तरवेदि के अन्त में यूप है । यौं हविर्वेदिसमन्वित सोमवेदि का यही संक्षिप्तस्वरूप है ।

६-गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥
७ विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥
८ क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥
९-बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥
१०-चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥
११-यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा॥
१२-तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत्॥

—श्रीमद्भागवत ३ स्कन्ध २६ अध्याये

५८४–क्षेत्रज्ञयोगात्मिका विराडुपासना एवं विश्वरूपोपासना का समतुलनात्मक-समन्वय—

यह भक्तयोग ही विराडुपासना है। क्षेत्रज्ञयोगरूपा यह उपासना भी विराट् है, उपासना के साधनभूत मन-अभिमानादिरूप इन्द्रियव्यापारात्मक कर्म भी विराट् है, उपास्य पार्थिव प्रजापति भी विराट् है एवं उपासक शारीरिक आत्मा भी विराट् है। यह उपासक, यह उपास्य, यह उपासना एवं यह उपासना-साधन इन चारों की समष्टि का प्रकृत प्रकरण की विराडुपासना से कोई सम्बन्ध नहीं है। योगात्मिका उपासना का तो कर्मयोग-[illegible] की उपासनाओं में ही अन्तर्भाव मानना पड़ेगा, जैसा कि पूर्व के पुराणपुरुषपुरुष-उपासनामार्ग–प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। अब प्रश्न हमारे सामने यह रह जाता है कि *"प्रकृत प्रकरण की विराडुपासना का क्या स्वरूप है एवं इस उपासना का क्या फल है?"*। प्रश्न का समाधान प्रकरण के आरम्भ में ही किया जा चुका है। वहाँ कहा गया कि– 'जो स्वरूप आत्मसमर्पणात्मक ईश्वर-प्रजापति की उपासना है, प्रायः वही स्वरूप इस विश्वरूपोपासना, किंवा विराडुपासना का है। केवल भावमात्र में अन्तर है'।

५८६-'अधिकार' भाव निबन्धना उपासना के तारतम्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि विराडुपासना को हमने आधिकारिक अचेतन प्रतीकोपासना कहा है एवं भगवदुपासना को आधिकारिक चेतनप्रतीकोपासना (अवतारोपासना) कहा है । साथ ही पूर्व प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि द्विजबन्धु-अक्षम द्विजातिवर्ग एवं स्त्री-शूद्रवर्ग के अभ्युदय के लिए ही अवतारोपासना का विधान हुआ है । आगमशास्त्रोक्त उपासनामार्ग का अधिकार द्विजाति को है । एवं स्त्री-शूद्रवर्ग को उभयविध अवतारोपासना का अधिकार है ।

५८७-यज्ञोपासनात्मिका विराडुपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तत्प्रतिकृतिमूलक यज्ञवितानरहस्य—

यदि सकामभाव है तो यही उपासना विराडुपासना बन जाती है । सकामभाव में अचेतन विराट् की उत्तम-पार्थिव भूतियाँ प्राप्त होती हैं । इस सकाममूला विराडुपासना का हम यज्ञोपासना विद्युदुपासना वैश्वानरोपासना भेद से तीन भागों में विभक्त मान सकते हैं । तीनों क्रमशः पारस्परिक अपेक्षा से उत्तम-मध्यम-अधम मार्ग माने जाएँगे । पहिले यज्ञोपासना को ही लीजिए । इसका अधिकारी-द्विजातिवर्ग रहेगा । जो ब्राह्मण, जो क्षत्रिय किंवा जो वैश्य यथावत् शास्त्राध्ययन कर यज्ञपद्धति का आश्रय लेता हुआ आत्म-पुष्टि के लिए पार्थिव वैभव एवं स्वर्ग-सुख की कामना के लिए (कामात्मनः स्वर्गपरा) काम्ययज्ञ पर्व में प्रवृत्त होगा उसकी यह कामनामयी यज्ञोपासना उत्तमकोटि की विराडुपासना कहलाएगी । उत्तम इसे इसलिए कहा जायगा कि इसमें विराट् का पूर्णरूप से समावेश रहेगा । इस श्रौतयज्ञमण्डल में गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-आहवनीय ये तीन अग्नि रहेंगे । ये तीनों अग्नि विराट् के वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-इन तीन पर्वों की ही प्रतिकृति हैं ।

५८८-गार्हपत्य धिष्ण्य आहवनीय-रूप-त्रेताग्नि वितान-स्वरूप दिग्दर्शन —

यज्ञरहस्यवेत्ताओं को यह विदित है कि वैधयज्ञवेदि के हविर्वेदि सोमवेदि भेद से दो विभाग माने गए हैं । हविर्वेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है एवं सोमवेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है । हविर्वेदि के पश्चिम भाग में वर्तुल गार्हपत्यकुण्ड बनाया जाता है पूर्वभाग में चतुरस्र आहवनीय एवं दक्षिणभाग में अर्द्धचन्द्राकार दक्षिणकुण्ड बनाया जाता है । इसे याज्ञिकपरिभाषा में "नूतन गार्हपत्य" कहा जाता है एवं हविर्वेदि का पश्चिमभागस्थ गार्हपत्य "पुराण गार्हपत्य" कहा जाता है ।

५८९ हविर्वेदि एवं सोमवेदि, से समन्विता यज्ञवेदि तथा तत्स्वरूपवितान-समन्वय—

हविर्वेदि के आहवनीयरूप किन्तु सोमवेदि के नूतनगार्हपत्यरूप अग्निकुण्ड के आगे (पूर्व भाग में) सदोमण्डप रहता है । इस सदोमण्डप के मध्य में १ अग्नि कुण्ड एवं उत्तरदक्षिण में मार्जालीय एवं आग्नीध्रीय ये दो अग्निकुण्ड सम्भूय आठ (८) अग्निकुण्ड रहते हैं । इन आठों की समष्टि ही "धिष्ण्य अग्नि" है । इसके आगे हविर्धानमण्डप है । इसमें शकटों पर सोमवल्ली रक्खी रहती है । इसके आगे उत्तर वेदि है । उत्तरवेदि के मध्य में चतुष्कोण आहवनीय है । यहीं सोमाहुति होती है । उत्तरवेदि के अन्त में यूप है । और हविर्वेदिगर्भित सोमवेदि का यही संक्षिप्त स्वरूप है ।

५९०–स्वर्गप्राप्त्युपायनिबन्धना यज्ञविराडुपासना का कामनात्मय फलसमन्वय—

इन्द्रियेण मुभिरूप की महद्विरूपि है सोमवेदि २१ स्तोमात्मकविरूपा विराट् आदी पृथिवी की प्रतिकृति है। सोमवेदि का गार्हपत्य (स्वपाग्नियुक्त) मण्डल त्रिवृत् स्थानीय पृथिवीलोक है यही वैश्वानर-मण्डल है। एवं आहवनीयमण्डल एकविंश स्थानीय द्युलोक है यही सवन मण्डल है। इसप्रकार यह वेद सोमयज्ञवितान उस विराट् प्रजापति की प्रतिकृति बना हुआ है। इसका यजन [सोमयज्ञ] ही विराट् का यजन है। यही यजन यज्ञात्मिका विराडुपासना है। स्वर्ग–कामना से की गई यह विराडुपासना स्वयं–प्रातिरूप यथाधारगत पुण्यफल की प्राप्ति का ही कारण बनती है।

५९१–आदित्यात्मक स्वर्गमण्डल, तन्निबन्धन काममात्र, तत्पूरक-यज्ञकाण्ड, एवं तदनुप्राणिता विराडुपासना, तथा विराडुपासना का प्रथम सोपान—

आदित्यमण्डल को ही स्वर्गलोक कहा जाता है एवं यह आदित्य–मण्डल 'एकविंशो वा इत आदित्यः' के अनुसार भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर है। इसे ही आदिम परिभाषा में नाचिकेत स्वर्ग कहा जाता है। कठ ने इसी को 'स्वर्ग्याग्नि' कहा है। यज्ञ के द्वारा मानुष भतात्मलक्षणा विराट् में उस दिव्य विराट् प्राण का आधान किया जाता है। इस आधान संस्कार से सम्पृक्त यह विराट् आयुर्भोगानन्तर आत्मगत वहां (स्वर्ग में) प्रतिष्ठित होजाता है। जबतक इस जीव विराट् में उस महाविराट् का पुण्यरूप संस्कार प्रतिष्ठित रहता है तबतक यह स्वर्ग सुख भोगता है। संस्कारनिवृत्ति पर पुनः इसे इसी मर्त्य भौम–धरातल पर जन्म लेना पड़ता है– 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। यही विराडुपासना का प्रथमनामक स्वरूप पहिला प्रकार है।

५९२–आगमिक-ज्ञानानुगता सिद्धिकामान्विता पर्वविराडुपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं विराडुपासना का द्वितीय-सोपान—

जो द्विजाति वेदाध्ययनविधि से यज्ञ करने में असमर्थ हैं केवल जिन्हें साधारण आगमिक-ज्ञान है वे द्विजबन्धु कहलाते हैं। आगमोक्ता देवोपासना का कामभाव से अनुष्ठान कर इसके बल पर तत्तत् सिद्धियाँ प्राप्त करना ही इनका परम पुरुषार्थ रह जाता है। यज्ञोपासना में विराट् का सर्वात्मना ग्रहण था परन्तु इस आगमिक–उपासना में सूर्य–गणपति–शिव–आदि विराट् के एक–एक अवयव की उपासना है। अतएव इसे हम उस की अपेक्षा नीची भूमि में मान सकते हैं। साथ ही यज्ञात्मिका विराडुपासना से विराट् मस्तकरूप २१ वां स्थान मिलता है परन्तु सिद्धिरूपा इस विराट् पर्वोपासना से विराट् गर्भ में प्रतिष्ठित तत्तद् पर्वलोक ही प्राप्त होते हैं। जबतक सिद्धिसंस्कार है तबतक तत्तल्लोक–स्थिति है। संस्कार नाश में पुनः वही जन्म–मृत्यु–प्रवाह।

५९३–प्रतीकोपासनात्मिका विराडुपासना से अनुप्राणिता अवतारोपासना, तदधिकारी-वर्ग, एवं विराडुपासना का तृतीय सोपान—

तीसरा स्त्री–शूद्रवर्ग है। यज्ञात्मिका उपासना का इन्हें अधिकार नहीं, आगमात्मिका उपासना की जटिल पद्धति का यथावत् अनुष्ठान करने की योग्यता नहीं। एकत: न अविधिपूर्वक सूर्य की अर्घ्यप्रदान

करते हैं। अवतारपुरुषों की लीला का उपासनाभाव से अनुगमन करना इत्यादि मार्ग ही इनके लिए शेष बच जाते हैं। एवं इस अवैध विराट् पर्वोपासना से भी आंशिक रूप से पर्वसंस्कार इन में प्रतिष्ठित होजाता है। क्योंकि इस में विधि का अभाव है, अतएव हमने इसे अन्तिम स्थान दिया है। अवश्य ही कामभाव के कारण तीनों ही मार्ग अवर हैं, परन्तु पुरुषबलक होने से इन्हें भी शास्त्र में संग्रहीत कर लिया गया है।

५६४–विराडुपासना-सोपानत्रयी के आपेक्षिक तारतम्य का स्वरूप समन्वय—

उक्त तीनों ही विराडुपासना मार्ग (समष्टिरूप नैगमिक विराडुपासनामार्ग, पर्वरूप आगमिक वैध विराडुपासनामार्ग एवं पर्वरूप अवैध विराडुपासनामार्ग) तीनों ही यदि निष्कामभावमूलक हैं, तब तो इस उपासनत्रयी को महाप्रभावस्तूपासना कहा जायगा, यदि काममूलक हैं, तो इसे विराट्प्रभावस्तूपासना कहा जायगा। दोनों उपासनाओं में यही अन्तर है। साथ ही यह भी विवेक कर लेना चाहिए कि-यहां की स्त्री–शार्ङ्गग–सम्बन्धिनी उपासना का विशेष झुकाव आधिकारिक चेतनजीवों (नरापसरी) की ओर है, एवं यहां की उपासना का विशेष झुकाव आधिकारिक अचेतनजीवों की ओर है। चन्द्रदर्शन करके भोजन करना, सूर्यदर्शन करना, कार्तिक स्नान करना इत्यादि अचेतनजीवोपासना में ही अन्तर्गत माने गए हैं। क्योंकि दोनों में पौराणिक भाव का समावेश है, अतएव महाप्रभावस्तूपासनावत् इस विराट् प्रभावस्तूपासना को भी प्रकारान्तर से पौराणिक [नैगमिक–आगमिक–पौराणिक] उपासना मार्ग ही कह सकते हैं, परन्तु इसी विराट् के आधार पर आगे जाकर स्वतन्त्र दार्शनिकों की तत्त्वभक्ति का विकास हुआ है, अतएव हमने इसे 'दर्शनयुगकालीन उपासना' मार्ग कहना अधिक समीचीन समझा है, जैसाकि प्रकरणारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है।

५६५–दार्शनिक-विद्वानों की स्वतन्त्रा दर्शनतत्त्वभक्ति, तदभिधक्ता तत्त्वोपासना, एवं तद्द्वारा ही निःश्रेयसाधिगम-सम्पादन प्रयास—

दार्शनिकों का तत्त्ववाद, किंवा तत्त्वभक्ति एक स्वतन्त्र ही मार्ग है। यद्यपि ये लोकाचारसिद्ध यज्ञादि कर्मों का भी अनुष्ठान करते थे, परन्तु इन की प्रधान उपासना तत्त्वान्वेषण ही थी। और फिर यह भी एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति तत्त्वान्वेषण की ओर अपना मस्तिष्क झुका देता है, वह शास्त्रीय विधि निषेधों के यथावत् अनुगमन करने में असमर्थ होजाता है। तत्त्वान्वेषण ही उसके जीवन की प्रधान उपासना बन जाती है। वह तत्त्वान्वेषण को ही, तत्त्वपरिज्ञान को ही उसके प्रचार द्वारा लोकानुग्रहरूप परमार्थ में ही निःश्रेयसभाव के दर्शन करने लगता है।

५६६–गोतम-कपिल-कणादादि दार्शनिकों की तत्त्वोपासना का संस्मरण—

गोतम, कपिल, कणाद, पतञ्जलि आदि का तत्त्वान्वेषण, उसके आधार पर सुप्रसिद्ध न्याय, सांख्य, वैशेषिक, व्याकरण आदि ग्रन्थ ही इस तत्त्वभक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। वैय्याकरण शब्दतत्त्व परिज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हैं "इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः"। यही क्यों, महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने तो एक शब्द के सम्यक् प्रयोग से ही स्वर्गकामप्राप्ति मानी है (देखिए महाभाष्य)।

५६०–स्वर्गप्राप्त्युपायनिबन्धना यज्ञविराडुपासना का कामनात्मक फलसमन्वय—

इविर्बेद्धि भूपिण्ड की प्रतिकृति है सोमवेदि ' सोमात्मकाग्नियुक्ता विराट् माता पृथिवी की प्रतिकृति है। सोमवेदि का गार्हपत्य (अग्न्याग्नियुक्त) मण्डल त्रिवृत् स्थानीय पृथिवीलोक है यही वैश्वानर-मण्डल है। एवं आहवनीयमण्डल पञ्चदश स्थानीय द्युलोक है यही महन्मण्डल है। इसप्रकार यह वैद सोमयज्ञवितान उस विराट् प्रजापति की प्रतिकृति बना हुआ है। इसका यजन [सोमयज्ञ] ही विराट् का यजन है। यही यजन यज्ञात्मिका विराडुपासना है। स्वर्ग–कामना से की गई यह विराडुपासना स्वर्ग–प्रतिष्ठ यथावत् पुरुषरूप की प्राप्ति का ही कारण बनती है।

५६१–आदित्यात्मक स्वर्गमण्डल, तन्निबन्धन कामभाव, तत्पूरक-यज्ञकाण्ड, एवं तदनुप्राणिता विराडुपासना, तथा विराडुपासना का प्रथम सोपान—

आदि मण्डल को ही स्वर्गलोक कहा जाता है एवं यह आदित्य–मण्डल 'एकविंशो वा एष आदित्यः' के अनुसार भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर है। इसे ही याज्ञिक परिभाषा में नाकपृष्ठ स्वर्ग कहा जाता है। कट ने इसी को 'स्वर्ग्याग्नि' कहा है। यज्ञ के द्वारा मानुष भूता महाप्राण विराट् में उस दिव्य विराट् प्राण का आधान किया जाता है। इस आधान संस्कार से संस्कृत यह विराट् आयुर्भोगानन्तर आत्मरूप बना यहाँ (स्वर्ग में) प्रतिष्ठित होजाता है। जबतक इस जीव विराट् में उस महाविराट् का पुण्यरूप संस्कार प्रतिष्ठित रहता है तबतक यह स्वर्ग सुख भोगता है। संस्कारनिवृत्ति पर पुनः इसे इसी मर्त्य भौम–वराताल पर जन्म लेना पड़ता है– 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'। यही विराडुपासना का कामनात्मक अवरूप पहिला प्रकार है।

५६२–आगमिक-ज्ञानानुगता, सिद्धिकामान्विता पर्वविराडुपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं विराडुपासना का द्वितीय-सोपान—

जो द्विजाति स्वाध्यायनिरत हो यज्ञ करने में असमर्थ हैं केवल जिन्हें साधारण आगमिक-ज्ञान है वे द्विजबन्धु कहलाते हैं। आगमोक्ता देवोपासना का कामभाव से अनुष्ठान कर इसके बल पर तत्तत् सिद्धियाँ प्राप्त करना ही इनका परम पुरुषार्थ रह जाता है। यज्ञोपासना में विराट् का सर्वात्मना ग्रहण था परन्तु इस आगमिक–उपासना में सूर्य–गणपति–शिव–आदि विराट् के एक–एक अवयव की उपासना है। अतएव इसे हम उस की अपेक्षा नीची भूमि में मान सकते हैं। साथ ही यज्ञात्मिका विराडुपासना से विराट् मस्तकरूप २१ वां स्थान मिलता है परन्तु सिद्धिरूपा इस विराट् पर्वोपासना से विराट् गर्भ में प्रतिष्ठित तत्तत् लोक ही प्राप्त होते हैं। जबतक सिद्धिसंस्कार है तबतक तत्तत्लोक–स्थिति है। संस्काराभाव में पुनः वही जन्म–मृत्यु–प्रवाह।

५६३–सर्वैकोपासनात्मिका विराडुपासना से अनुप्राणिता अवतारोपासना, तदधिकारी-वर्ग, एवं विराडुपासना का तृतीय सोपान—

तीसरा स्त्री–शूद्रवर्ग है। यज्ञात्मिका उपासना का इन्हें अधिकार नहीं, आगमात्मिका उपासना की जटिल पद्धति का यथावत् अनुष्ठान करने की योग्यता नहीं। जगत में भक्तिपूर्वक सूर्य को अर्घ्यप्रदान

७—अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥
८—अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत् परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥
९—ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः ॥
१०—भूतानां नभ आदीनां यद्यद्भव्यावरावरम् ।
तेषां परानुसंसर्गो यथासंख्यं गुणान्विदुः ॥
११—इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥
१२—कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥
१३—हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥
१४—एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥
१५—साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥
१६—स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥

—श्री भा० ३।५-६।

४८८ भारतवर्षीय तत्त्वोपासकवर्ग एवं उस की तत्त्वोपासना विषयक विराडुपासना का स्वरूप-समन्वय—

अवश्य ही भारतवर्ष में एक ऐसा भी उपासक वर्ग था जिसका एकमात्र कर्तव्य था तत्त्वावेशरूप साक्षात्कार एवं उसके द्वारा लोकाभ्युदय। क्योंकि पञ्चधातु विज्ञानरूपी का पार्थिवविराट् प्रजापति के शरीर में ही अन्तर्भाव है अतएव इन तत्त्वोपासक दार्शनिकों को, एवं तदनुयायिनी दर्शनसम्प्रदाय को भी हम अवश्य ही "विराडुपासक" कह सकते हैं। इसप्रकार पूर्व के तीन मार्गों के समन्वय से यह विराड् उपासनामार्ग के अवान्तर चार मार्ग होजाते हैं। इन मार्गों की व्यवस्था का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष

४६७ दार्शनिकों की तत्त्वोपासनाभिनिवेशवृत्ति से अनुप्राणित- 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'-सूत्र—

इसीप्रकार कणाद ने भी– 'धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् [वै० दर्शन १।१।४] इत्यादिरूप से अपने दर्शन में तत्त्वज्ञान को ही निःश्रेयसभाव प्राप्ति का कारण माना है। इसीप्रकार कपिल ने भी-"अथातस्तत्त्व समासः" [१।१।...] कहते हुए तत्त्व को ही मुख्य माना है। तत्त्वसमास–सांख्य के अतिरिक्त सांख्यप्रवचनदर्शन का चतुर्विंशतितत्त्वगणना भी प्रसिद्ध ही है। यहाँ भी प्रकृतितत्त्व, एवं पुरुषतत्त्व विवेक को ही आत्यन्तिक निःश्रेयस का परम साधक माना गया है। "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" कहते हुए महामुनि गौतम ने भी तत्त्वभक्ति ही प्रकट की है।

४६८ तत्त्वोपासनामूलक तात्त्विक विराट् के विभिन्न तत्त्वों का संस्मरण एवं भगवान् व्यास के द्वारा तत्समर्थन—

इन तत्त्ववादों के रूप-रस-गुण-धर्म-स्पर्श-गन्ध-पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-काल-दिक्-संख्या-गुरुत्व-द्रवत्व-परिमाण-पृथक्त्व आदि आदि जितने भी तत्त्व हैं, इन सब का अन्तर्भाव विराट् प्रजापति में होजाता है। विज्ञानदृष्टि से भी तत्त्ववाद आत्मा के विकारभावप्रपञ्च पर ही परिसमाप्त है, एवं यही विकारसर्ग विराट्प्रजापति का स्वरूप-समर्पक बना हुआ है। दूसरे शब्दों में–सर्वसम्मत २१ तत्त्वों की समष्टि ही विराट् प्रजापति है, जैसाकि पूर्व के पौराणिक विराट् प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। विराट् पुरुष की इसी विभूति का उल्लेख करते हुए व्यासदेव कहते हैं–

१—स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥

२—सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया॥

३—महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः॥

४—वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्॥
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः।

५—तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः॥

६—कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम्॥

पर पहुँचते हैं कि तत्त्वात्मिका विराडुपासना में यद्यपि सर्वविराट् ही उपास्य बनता है परन्तु इस उपासना में लोकसंग्रहात्मक लोकाभ्युदय प्रतिष्ठित है। अतः इसे हम चारों में सर्वश्रेष्ठ कहलाते हैं। दूसरी में वैयक्तिक अभ्युदय है अतएव सर्वविराट से सम्बन्ध रखती हुई भी यह यज्ञात्मिका काममयी विराडुपासना तत्त्वोपासना की अपेक्षा नीची भूमि में प्रतिष्ठित है। तीसरी सिद्धिमूला काममयी आगमसम्मता विराडुपासना में व्यक्तितुष्टि समान है विराट् का अंश गृहीत है। अतः यह तीसरा मार्ग दूसरे मार्ग से भी नीची भूमि में प्रतिष्ठित है। चौथी शान्तिमूला काममयी अवैध उपासना में, और आगमोपासना में सर्व-काम-व्यक्ति-तुष्टि की दृष्टि से तो समानता है परन्तु अवैधभाव के कारण यह तीसरे मार्ग से भी नीचे के धरातल में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी।

६००-विराडुपासनानुगत-चतुर्विध उपासनामार्ग एवं 'दार्शनिक युगानुगता-उपासना' का स्वरूप-विराम—

इन चारों मार्गों को तत्त्वोपासना-यज्ञोपासना, आगमोपासना-अवैधोपासना भेद से दो श्रेणियों में भी विभक्त किया जासकता है। प्रथमविभाग परकर्ममार्ग कहलायगा एवं दूसरा विभाग अवर कर्ममार्ग कहलाए। इसप्रकार इतर उपासना मार्गों की भाँति इस विराडुपासनामार्ग में भी कर्म ज्ञान का योग सुसंगत बन जाता है जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है—

-तत्त्वात्मिका—उपासना—तत्त्वद्रष्टार -अधिकारिणो दार्शनिकाः

२-यज्ञकर्मात्मिका-उपासना—पुण्यपापविवेकिनो द्विजातयः शास्त्रतः कामपरायणा—याज्ञिकाः।

३-सिद्धिरूपा—उपासना—आगमशास्त्रानुगता द्विजेतरवर्गो अधिकारिणः

४-अवैधा—उपासना—स्त्रीशूद्रवर्ग

१-तत्त्वोपासना—लोकसंग्रहमूला—दार्शनिकी
२-यज्ञोपासना—व्यक्तितुष्टिमूला नैगमिकी (वैदिकी)
} —कर्मयोग —पर

३-सिद्ध्युपासना— „ आगमिकी (आगममयी)
४-अवैधोपासना— „ स्वतन्त्रा (पुराणमयी)
} —ज्ञानयोग—अवर

} —विराडुपासना—चतुष्टयी

इति-'युगधर्मानुगता-विराडुपासना '-नामके चतुर्थ-प्रकरणे

"दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना"

नामक

चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

४

(५)-वर्त्तमानयुगानुगता-भूत-भौतिकी-उपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"आवरणोपासना"-(भूतोपासना--भूतभौतिकी)

भूतानुगत-सेवनात्मक-भौतिक-स्थूलकर्म्म-एव-उपासना

भूतात्मिका-आवरणशुक्रमयी

भौतिकी-भूतदेवोपासना-प्रतिमानोपासना-आत्मपचनात्मिका

—••—

१—भूतवाक्
२—भूताप
३—भूताग्निः

—'भूतक्षर'-तदिदं-भूतभौतिकविवर्त्तम्-मर्त्यभूतविवर्त्तमेव

(सैषा-आवरणोपासना-भूतोपासना वा-भूतात्मिका)

स एष उपास्यः-सेवनात्मकेन स्थूलकर्म्मणा-अनुकरणीयः

—••—

अनुकरणं नाम-सेवाभावेन तत्पथानुगमनम्

तदनुसरणं वा

सैषा-आत्मपचनात्मिका-उपासना-कर्म्मैव

पञ्चमी

५

—••—

(सोऽय-वर्त्तमानयुग -पञ्चम -कलियुगात्मक)

१-भूतशुक्रात्मिका वाक्
२-भूतक्षर
३-भूतार्थ

—तदेतत्सर्वं-वागेव-भूताक्षर-एव-
"क्षरः सर्वाणि भूतानि"

श्री:

इति-'युगधम्मानुगता-विविधोपासना" नामक चतुर्थ-प्रकरणे

"दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना"

नामक

चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

४



(५)–वर्त्तमानयुगानुगता–भूत–भौतिकी–उपासना से अनुप्राणित–पारिभाषिक–परिलेख—

"आवरणोपासना"-(भूतोपासना--भूतभौतिकी)

भूतानुगत–सेवनात्मक–भौतिक–स्थूलकर्म्म–एव–उपासना

भूतात्मिका -आवरणशुक्रमयी

भौतिकी–भूतदेवोपासना–प्रतिमानोपासना–आत्मपचनात्मिका

——•——

१—भूतवाक्
२—भूताप
३—भूताग्निः

}—'भूतक्षर'–तदिदं–भूतभौतिकविश्वम्–मर्त्यभूतविवर्त्तमेव

(सैषा–आवरणोपासना–भूतोपासना वा–भूतात्मिका)

स एष उपास्यः–सेवनात्मकेन स्थूलकर्म्मणा अनुकरणीय

——०•——

अनुकरणं–नाम–स्वभावेन तस्यैवानुगमनम्

तदनुसरणं वा

सैषा–आत्मपचनात्मिका–उपासना–कर्म्मैव

पञ्चमी

५

——०•——

(सोऽय–वर्त्तमानयुग –पञ्चम –कलियुगात्मक)

१–भूतशुक्रात्मिका वाक्
२–भूतक्षर
३–भूतार्थ
४–भूतवाक्

}—तदेतत्सर्वं–वागेव–भूताक्षर–एव–
"क्षर सर्वाणि भूतानि"

श्री

"वर्त्तमानयुगानुगत-मौलिकोपासनामार्ग"

चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-पञ्चम-अवान्तर-प्रकरण

५



६०१-वर्त्तमानयुगानुगता उपासना-प्रसङ्ग से अनुप्राणित पञ्चविधयुगानुगत पञ्चविध-उपासनापर्वों का समष्ट्यात्मक स्वरूप-संस्मरण—

ज्ञानी भक्त से सम्बन्ध रखने वाली निर्गुण ब्रह्मोपासना, जिज्ञासा-लक्षण जिज्ञासु भक्त से सम्बन्ध रखने वाली सगुण-षोडशी-प्रजापत्युपासना [अक्षरोपासना अक्षरपरमेश्वरलक्षणा सर्वोङ्कारोपासना] पिपासा-लक्षण जिज्ञासु भक्त से सम्बन्ध रखने वाली सविकार-क्षरप्रजापत्युपासना [आत्मक्षरोपासना एकप्रजेश्वरलक्षणा उद्गीथोङ्कारोपासना किंवा प्रणवोङ्कारोपासना किंवा पर्वोङ्कारोपासना] अर्थार्थीभक्त से सम्बन्ध रखने वाली साधन-विराट् प्रजापत्युपासना इन चारों उपासनाओं का क्रमशः देवयुगानुगत-उपासनामार्ग वेदयुगा उपा० पुराणयुगा उपा० दर्शनयुगा उपा० इन चार प्रकरणों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

६०२-दुःखार्त्त मानव से अनुप्राणिता वर्त्तमानयुगानुगता उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं आर्त्तमानवानुबन्धी कतिपय-प्रश्न, तथा तत्समाधानोपक्रम—

अब एक उपासकवर्ग बच रहता है, और वह है 'आर्त्त— दुःखी' सांसारिक झगड़ों से संत्रस्त। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' के अनुसार अज्ञानजनित मोह से इस का स्वाभाविक ज्ञान-प्रकाश अभिभूत रहता है। जब ज्ञान का उदय नहीं तो ज्ञानजिज्ञासा, ज्ञानपिपासा को कहाँ अवसर। अपरञ्च ऐसे मुग्धजन आर्थिकष्ट से अर्थार्थी बने रहते हैं। परन्तु मोहवश ये अभिलषित अर्थसिद्धि-साधक विराडुपासनामार्ग में भी प्रवृत्त नहीं होसकते। परमार्थ की गर्त में गिरता हुआ स्वार्थसाधक सत्त्वमहिमरूप कर्ममार्ग, स्वार्थसाधक किन्तु समष्टि-विराडुपासनात्मक कामनामय बहुकर्म, स्वार्थसाधक किन्तु पर्वविराडुपासनात्मक वैज-सिद्धिमार्ग, एवं सार्थसाधक पर्वविराडुपासनात्मक किंतु अद्वैत शान्तिमार्ग, विराडुपासना से सम्बन्ध रखने वाले ये चारों ही मार्ग इस आर्त-मूढ-अज्ञानी वस्तु नामधारी व्यक्ति के लिए एकप्रकार से असम्भव से ही बने हुए हैं। इस के अभ्युदय का क्या उपाय? आर्त मनुष्य में किन उपायों से भक्तिबीज का वपन होसकता है?, किन उपायों से उसे इस ओर आकर्षित किया जासकता है?, प्रस्तुत प्रकरण इन्हीं कुछ एक प्रश्नों के समाधान के लिए प्रवृत्त हुआ है।

§ ३ समष्टि-व्यष्ट्यात्मिका-विराडुपासना से अनुप्राणित उपासना के चार प्रमुख विवर्त—

विराडुपासना के उक्त चारों ही पर्वों में आधिकारिक अव्यक्त जीवात्मलक्षण विराट् की ही समष्टि किंवा व्यष्टिरूप से उपासना होती है। परन्तु आत्मिक से सम्बन्ध रखनेवाली यह सावयवा विराडुपासना आधिकारिक अव्यक्त वैश्वानरजीव, आधिदैविक अव्यक्त तैजसजीव, आध्यात्मिक अव्यक्त प्राज्ञजीव और आधिदैविक अव्यक्त जीव—इन चार विवर्तों से सम्बन्ध रखती है। गीताशास्त्र ने चारों का ही समन्वय किया है, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में स्पष्ट किया जा चुका है।

§ ४—विश्वविराडनुगता उपासना का 'क्षीमयग' से प्रमुख सम्बन्ध, एवं तदनुबन्धी आध्यात्मिक-आधिभौतिक-पर्व—

सम्पूर्णानुगत उपासनामार्ग का उपसंहार करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मायासम्बन्धी अव्यय, कलागुणसम्बन्धी पारमेष्ठी, विकारसम्बन्धी सौर, पञ्चजन-सम्बन्धी विराट्, आवरणसम्बन्धी विश्व इन पाँच महिमाओं में से आरम्भ के चार विवर्तों का तो आधिदैविक प्रपञ्च से सम्बन्ध है, एवं पाँचवें विश्व-विवर्त का आध्यात्मिक आधिभौतिक इन दो विवर्तों से सम्बन्ध है।

§ ५—उपासनानुगत 'विश्व' शब्द का 'मौहात्मक' पारिभाषिक-समन्वय—

पूर्व के विराट्-स्वरूप से पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि विराट् में त्रिवर्तीय प्रपञ्च के साथ सभी पर्वों का समावेश है। अव्यय आदि सच्चिदानन्द स्वयम्भू का भी अपनी व्याप्ति में अन्तर्भाव था। शेष रहा था भौमी पृथिवी, ओषधी, एकाकी, पत्नी, पृथिवीरूप पार्थिवमहिमा-विश्व। इस का विराट् में अन्तर्भाव हो चुका। अब 'विश्व' नामक कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं बचा, जिसकी उपासना शेष रही हो। इसी आधार पर हमने आत्मरक्षा के इस विश्वपर्व को 'अतिरिक्त' कहते हुए जीवात्मा की ही 'विश्वोपासना' कहा है।

§ ६—विराडनुगता देवोपासना एवं निगम अनुगम सद्-भिन्न उपास्य-तत्त्वों का नाम-संस्मरण—

विराडुपासना में भी देवोपासना का समावेश है। परन्तु वह देवोपासना नैगमिक आगमिक—आधिकारिक अव्यक्त जीवों से सम्बन्ध रखती है, क्योंकि ये स्वतन्त्र जीव न होते हुए विराट्-लक्षण महाजीव के अवयवरूप हैं। अग्निवायुआदित्य-इन्द्रवरुणादि सभी प्राणदेवता विराट् के अवयव हैं। यज्ञकर्मलक्षणा यज्ञोपासना से विराट् के द्वारा ये और पवित्र अव्यक्त प्राणदेवता ही उपास्य होते हैं, एवं ये ही नैगमिक [देविक] कहलाते हैं। गन्धर्व-अप्सरा-गणपति-नाग। असुर-पितृगण आदि प्राणदेवता आगमिक अव्यक्त कहलाते हैं। ये भी उसी विराट् के अवयव हैं। अन्यकर्मलक्षणा विशेषोपासना में विराट् के द्वारा ये पार्थिव अव्यक्त प्राणदेवता ही उपास्य होते हैं।

§ ७—निगम और आगम-शब्दों का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-समन्वय, सूर्यमूला निगमोपासना तथा पृथिवी-मूला आगमोपासना के अवान्तर महिमाविवर्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

निगम-आगम शब्दों की उपनिषद् क्रमशः सूर्य एवं पृथिवी ही है। सौरीविद्या निगमविद्या है, पार्थिवीविद्या आगमविद्या है। सौर देवता ही अवरोहणक्रम से पृथिवी में आकर पार्थिव देवता बनते हैं।

सौरतत्त्व स्वयं निगत होने से निगम है। पार्थिवतत्त्व निगमात्मक सूर्य्य से आगत होने के कारण आगम है। निगम ही आगम की मूलप्रतिष्ठा है। यह यज्ञविद्या है, यह तन्त्रविद्या है। इष्टि पशु सोम महायज्ञ अतियज्ञ शिरोयज्ञ यज्ञविद्या के ये ६ पर्व हैं। एवं पूर्वाम्नाय पश्चिमाम्नाय उत्तराम्नाय दक्षिणाम्नाय ऊर्ध्वाम्नाय अधराम्नाय ये ६ तन्त्रविद्या के पर्व हैं। याज्ञिकदेवता सौरयाज्ञिय देवता हैं, तान्त्रिकदेवता पार्थिव अयज्ञिय देवता हैं। यज्ञिय देवताओं को आत्मसात् करने का अधिकार केवल भारतवर्षीय यज्ञशास्त्रनिष्ठ जन्मसिद्ध द्विजाति-पुरुषवर्ग को ही है। परन्तु अयज्ञिय-तान्त्रिकदेवताओं की उपासना पृथिवी पर का कोई भी मनुष्य [दीक्षा-मन्त्र-अनन्तर] कर सकता है। प्रत्येक भाषा में शाबर मन्त्र हैं। वे सभी पार्थिव देवताओं के संग्राहक हैं। इस तान्त्रिकमार्ग के आगे जाकर मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, आग्नेय वारुण-मारण मोहन-उच्चाटन वशीकरण आदि अवान्तर अनेक भेद हो जाते हैं। जिन पार्थिव द्रव्यों में ऐसी शक्तियाँ हैं उन सब का इन में निःसंकोच परिग्रह कर लिया गया है। क्योंकि हमारा शरीर पार्थिव है, अतएव पार्थिव देवता से सम्बन्ध रखने वाली तान्त्रिक उपासना सिद्ध भी शीघ्र ही हो जाती है, एवं इसका फल भी हमें यहीं उपलब्ध हो जाता है। उधर सौर एवं सोम से सम्बन्ध रखने वाली याज्ञिक उपासना में श्रम भी अधिक है-[क्रियाविशेषबहुला] एवं फल भी इस का परोक्ष है। अतएव सामान्यजन इस में प्रवृत्त नहीं होते। जिन के शरीर में जन्म से सौर द्विजातित्वप्रतिष्ठित होगा, साथ ही शास्त्रीय वर्णधर्म्मानुसार जिनका वर्णोचित संस्कार हुआ होगा वे ही इस अतीन्द्रिय भूमिका यज्ञोपासना में प्रवृत्त होंगे, एवं वे ही इस मार्ग के अधिकारी माने जायँगे। साथ ही यह तो प्रत्येक दशा में सिद्ध ही है कि जो द्विजातिवर्ग इस याज्ञिक भी देवोपासना में एवं तान्त्रिक पार्थिव देवोपासना में प्रवृत्त होगा, वह सामभाव के कारण स्वर्गभोग एवं सिद्धिप्राप्ति का अभिलाषी बनता हुआ अमर्त्यभाव ही प्राप्त करेगा।

६०८-निगमागमीय प्राणदेवताओं के आयतन जीवत्व के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

इस सम्बन्ध में पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि जिन गङ्गा-यमुनादि सौर-प्राणदेवताओं का एवं गणपति-नदि ग्रह-दुर्गा आदि पार्थिव प्राणदेवताओं का आधिदैविक आयतनस्वरूप बतलाया गया है, स्वयं निगम एवं आगमशास्त्र उन का विस्तार के साथ उन्हें चेतन मानते हुए [illegible] सिद्ध किया है। और फिर आज का [illegible] सनातनधर्मी यह प्रश्न कर सकता है कि [illegible]

[illegible]

६०९-चेतन आयतन-शब्दों की शास्त्रीया परिभाषा के माध्यम से विप्रतिपत्ति निराकरण प्रयास—

[illegible]

§०३ समष्टि-व्यष्ट्यात्मिका-विराडुपासना से अनुप्राणित उपासना के चार प्रमुख विवर्त—

विराडुपासना के उक्त चारों ही पर्वों में आधिकारिक अव्यक्त जीवलक्षण विराट् की ही समष्टि किंवा व्यष्टिरूप से उपासना होती है। परन्तु आर्षमिक से सम्बन्ध रखनेवाली यह अवस्था विश्वोपासना आधिकारिक अव्यक्त चेतनजीव आत्मविकसित अचेतनजीव आत्मविकास अव्यक्त चेतन जीव आत्मविकसित अव्यक्त जीव— इन चार विवर्तों से सम्बन्ध रखती है। गीताशास्त्रने इन चारों का ही समर्थन किया है जैसा कि पूर्व प्रकरणों में स्पष्ट किया जा चुका है।

§ ४—विश्वविधानुगता उपासना का 'जीवयज्ञ' से प्रमुख सम्बन्ध, एवं तदनुबन्धी आध्यात्मिक-आधिभौतिक-पर्व—

अन्युगानुगत उपासनामार्गों का उपक्रम करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि माया-सम्बन्धी अव्यय, महागुणसम्बन्धी पारमेष्ठी, विकारसम्बन्धी सत्य अक्षर-सम्बन्धी विराट्, आकाशसम्बन्धी विश्व इन पाँच उपासनाओं में से आरम्भ के चार विवर्तों का तो आधिदैविक प्रपञ्च से सम्बन्ध है एवं पाँचवें विश्व-विवर्त का आध्यात्मिक आधिभौतिक इन दो विवर्तों से सम्बन्ध है।

§ ५—उपासनानुगत 'विश्व' शब्द का 'जीवात्मक' पारिभाषिक-समन्वय—

पूर्व के विराट् स्वरूप से पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि विराट् में त्रिलोकीय प्रपञ्च के शेष सभी पर्वों का समावेश है। स्वयम्भू आदि भविष्यत्सम्बन्धी ईश्वरवर्ग का तो सम्प्रसारण में अन्तर्भाव था। शेष रहा था मातृरूपी पृथिवी, जिसका पृथिवी पत्नी पुरुषीरूप पार्थिवमहिमा-विवर्त इस विराट् में अन्तर्भाव हो चुका। अब 'विश्व' नामक कोई स्वतन्त्र उपास्य नहीं बचा जिसकी उपासना शेष रही हो। इसी आधार पर हमनें आवश्यकता के इस विश्वपर्वकी 'जीवपद' कहते हुए जीवोपासना को ही 'विश्वोपासना' कहा है।

§ ६—विराडनुगता देवोपासना, एवं निगम अनुगम-सद्-भिन्न उपास्य-तत्त्वों का नाम-संस्मरण—

विराडुपासना में भी देवोपासना बतलाई है। परन्तु यह देवोपासना नैगमिक आगमिक–आधिकारिक अव्यक्त जीवों से सम्बन्ध रखती है जोकि जीव स्वतन्त्र जीव न होते हुए विराट्-लक्षण महाजीव के अवयवरूप हैं। वसुरुद्रादित्यमरुदग्नि इन्द्रवरुणादि सभी प्राणदेवता विराट् के अवयव हैं। यज्ञकर्म्मलक्षणा यज्ञोपासना से विराट् के द्वारा ये सौर पार्थिव अव्यक्त प्राणदेवता ही उपास्य होते हैं एवं ये ही नैगमिक [गौणिक] कहलाते हैं। गन्धर्व-उम्बिदुपरागपर्व-पुर। अग्नि पार्थिव आदि प्राणदेवता आगमिक अव्यक्त देवता हैं। ये भी उसी विराट् के अवयव हैं। कर्मकर्म्मलक्षणा विश्वोपासना में विराट् के द्वारा ये पार्थिव अव्यक्त प्राणदेवता ही उपास्य बन रहे हैं।

§०७—निगम और आगम शब्दों का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-समन्वय सूर्य्यमूला निगमोपासना, तथा पृथिवी-मूला आगमोपासना के अवान्तर महिमाविवर्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

निगम आगम शब्दों की उत्पत्ति क्रमशः सूर्य्य एवं पृथिवी ही है। सौरीविद्या निगमविद्या है पार्थिवी तथा आगमविद्या है। सौर देवता ही सूर्य्यरूप से पृथिवी में आकर पार्थिव देवता बनते हैं।

सौरतत्त्व स्वयं निगत होने से निगम है पार्थिवतत्त्व निगमात्मक सूर्य से आगत होने के कारण आगम है। निगम ही आगम की मूलप्रतिष्ठा है। यह यज्ञविद्या है यह तन्त्रविद्या है। इष्टि पशु सोम महायज्ञ अतिपञ्च गिरायज्ञ यज्ञविद्या के ६ पर्व हैं। एवं पूर्वाम्नाय पश्चिमाम्नाय उत्तराम्नाय दक्षिणाम्नाय ऊर्ध्वाम्नाय अधः-आम्नाय ये ६ तन्त्रविद्या के पर्व हैं। याज्ञिकदेवता सौरयज्ञिय देवता हैं तान्त्रिकदेवता पार्थिव अयज्ञियदेवता हैं। यज्ञिय देवताओं को आत्मसात् करने का अधिकार केवल भारतवर्षीय यज्ञाम्नायनिष्ठ जन्मसिद्ध द्विजाति-पुरुषवर्ग का ही है। परन्तु अयज्ञिय-तान्त्रिकदेवताओं की उपासना पृथिवी पर का कोई भी मनुष्य [दीक्षा-ग्रह-णानन्तर] कर सकता है। प्रत्येक भाषा में शाबर मन्त्र हैं। ये सभी पार्थिव देवताओं के समाहक हैं। इस तान्त्रिकमार्ग के आगे चलकर यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र नाटक वारण-मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण आदि अवान्तर अनेक भेद हो जाते हैं। जिन पार्थिव द्रव्यों में ऐसी शक्तियाँ हैं उन सब का इन में निःसङ्कोच परिग्रह कर लिया गया है। क्योंकि हमारा शरीर पार्थिव है अतएव पार्थिव देवता से सम्बन्ध रखने वाली तान्त्रिक उपा-सना सिद्ध भी शीघ्र ही होजाता है एवं इसका फल भी हमें यहीं उपलब्ध होजाता है। उधर सौर एकविंश सोम से सम्बन्ध रखने वाली याज्ञिक उपासना में क्लेश भी अधिक है—[क्रियाविशेषबहुला] एवं फल भी इस का परोक्ष है। अतएव सामान्यजन इस में प्रवृत्त नहीं होते। जिन के शरीर में जन्म से सौर द्विजातिवर्णप्रति-ष्ठित होगा साथ ही शास्त्रीय यज्ञधर्मानुसार जिनका यथोचित संस्कार हुआ होगा वे ही इस अदृष्टफल भूमिका यज्ञोपासना में प्रवृत्त होंगे एवं वे ही इस मार्ग के अधिकारी माने जायँगे। साथ ही यह भी प्रत्येक दशा में सिद्ध ही है कि जो द्विजातिवर्ग इस याज्ञिक सौर देवोपासना में एवं तान्त्रिक पार्थिव देवोपासना में प्रवृत्त होगा वह कामभाव के कारण स्वर्गभोग एवं सिद्धिप्राप्ति का अभिलाषी बनता हुआ अधःपतित ही कहलायगा।

६८—निगमागमीय प्राणदेवताओं के अयतन जीवन के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

इस सम्बन्ध में पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि जिन यज्ञ-सम्बन्धि सौर-प्राणदेवताओं का एवं गणपति-शक्ति-दुर्गा आदि पार्थिव प्राणदेवताओं का आधिकारिक अयतनजीवन बतलाया गया है स्वयं निगम एवं आगमशास्त्र बड़े विस्तार के साथ उन्हें चेतन मानते हुए भिन्न भिन्न किया है। और फिर आज का कोई भी सनातनधर्मी यह कब सहन कर सकता है कि उसके उपास्य गणपति आदि देवता जिनके कि माने जाते हैं जिनके शरीरों का ध्यान किया जाता है जो समय समय पर अपने अनन्य भक्तों को प्रत्यक्षरूप से दर्शन देते रहते हैं अयतन हैं ? फिर मालूम नहीं किस आधार पर इन्हें अयतन मान लिया गया।

६९—चेतन अयतन-शब्दों की शास्त्रीया-परिभाषा के माध्यम से विप्रतिपत्ति निराकरण प्रयास—

प्रश्न ठीक है। यह तो मानना ही होगा। पर अभी तक विप्रतिपत्ति का यथार्थ समाधान परन्तु निश्चित परिभाषा के बिना अपने मत का भी पुष्टि का यह उत्तर ही रहजाता। चेतन-अचेतन के यथार्थ स्वरूप इन दो

पार्थिव देवताओं की बातें हैं । इसमें तो पूर्व-प्रकरण में स्वयं विराट् को भी आधिकारिक अचेतन मान ही लिया है । चेतन-अचेतन की एक शास्त्रीय-निश्चित-परिभाषा है । एवं निश्चित-परिभाषा के आधार पर ही अचेतन-चेतन का वर्गीकरण होता है । अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है । आयु शास्त्र का 'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' वाक्य ही इस वर्गीकरण के लिए पर्य्याप्त है ।

६१०-'सर्वाणीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि' परिभाषामूलक चेतन-अचेतन व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान इन्द्रिययुक्त-भाव ही चेतन कहलाएगा । केवल एक एक पर्व 'सर्वाणीन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि' इस सिद्धान्त के अनुसार अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन ही माना जायगा । सर्वेश्वरप्रजापति में स्वयम्भू अव्यक्त है परमेष्ठी महान् है सूर्य्य विज्ञान (बुद्धि) है चन्द्रमा प्रज्ञान (मन) है निर्मूर्ति-विराट् प्राणचेतनात्मक इन्द्रियवर्ग है । अतएव इसे चेतन कहा जायगा । परन्तु स्वयं स्वयम्भू परमेष्ठी-सूर्य्य आदि पर्व पृथक्त्वेन अनिन्द्रिय बनते हुए अचेतन ही माने जायँगे । यथावच्छिन्न विराट् सेन्द्रिय बनता हुआ जहाँ चेतन कहलाएगा वहाँ केवल विराट् अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन कहलाएगा । फिर विराट् के अवयवरूप सौर-पार्थिव देवताओं की अचेतनता का तो कहना ही क्या है ।

६११-चेतनभावनिबन्धना भक्तिदृष्टि, एवं अचेतन भावनिबन्धना भक्तिदृष्टि एवं तदुभय-निबन्धन-चेतन अचेतन-व्यवस्था-समन्वय—

यह ठीक है कि, पर्व पर्वों से अभिन्न है । यह भी सिद्ध विषय है कि-अचेतन भक्ति की उपासना उसी प्रकार चेतन भक्ति की उपासना (परम्परया) बन जाती है जैसे कि आध्यात्मिक यजरूप गुरुचरणोपासना गुरूपासना बन जाती है । यह भी ठीक ही है कि अचेतन भक्ति तादात्म्यभावापन्न चेतन भक्ति की शक्तियों के द्वारा अचेतनरूप् स्वेप्सु विग्रह धारण कर उपासक को वर प्रदान करता है । यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी विशुद्ध भक्तदृष्टि को जब हम लक्ष्य बनावेंगे तो उसे हम अचेतन ही कहेंगे ।

६१२-भक्तोपासनाभिन्न वृक्षोपासना का भक्तरूपेण अचेतनत्व समन्वय—

अग्नि-वायु-आप सुन्-द्राप-पै आदि हमारे पर्व प्रातिस्विकरूप से सर्वथा अचेतन हैं । भक्ति आत्मा को लेकर ही ये चेतन माने जाते हैं । इन अचेतनों की उपासना से चेतन उपासित तो होगा परन्तु यह पर्वोपासना कहलाएगी अचेतनोपासना ही । जितनी भी देवोपासनाएँ हैं वे भक्तोपासनाएँ हैं । अतएव ये सब विज्ञानदृष्टि से अचेतनोपासना हैं ।

६१३ कर्म्म से असंस्पृष्टा ध्यानात्मिका भक्ति-उपासना का चेतनत्व-समन्वय—

यह एक और भी रहस्य का विषय है कि अचेतनोपासना में ही क्रियाकर्म्म का सम्बन्ध रहता है । दूसरे शब्दों में-कर्म्मात्मिका उपासना अचेतन की ही होसकती है । इस दृष्टि से यज्ञप्रजापति की यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना भी अचेतनोपासना ही मानी जायगी है । कारण स्पष्ट है । इस मायावच्छिन्न में ही तो यहाँ कर्म्म

का प्रयोग सम्भव बन जाता है । एवञ्च पाणिपाद उपास्य अचेतन उपास्य है यही कर्म का सम्बन्ध है । एवं सर्वतः पाणिपाद उपास्य (षोडशी) ही एकमात्र चेतन उपास्य है । यहाँ की उपासना में कर्म का समावेश नहीं है । यह उपासना ज्ञानप्रधानप्रवाहरूपा बनती हुई केवल ध्यानात्मिका है । अतएव इस में कर्मप्रवेश सम्भव ही नहीं है ।

६१४–लौकिक-उदाहरणविधया गुरूपासना के माध्यम से अचेतनगुरु, और चेतनगुरु-की उपासनाद्वयी का चेतन-अचेतनभाव समन्वय—

उदाहरण के लिए गुरु को ही लीजिए । गुरु की उपासना अचेतन–चेतन–भेद से दो मार्गों में विभक्त मानी जासकती है । व्यक्तिरूप गुरु का शरीर (आत्मयुक्त यही शरीर) चेतनगुरु है एवं गुरु के हाथ–पैर–मस्तक आदि अवयव अचेतनगुरु है । यदि कोई उपासक शिष्य चेतनगुरु की एकमात्र कर्मात्मिका उपासना करना चाहेगा तो यह सम्भव न होगा । चेतनोपासना का तो मौलिक बहिरंग कर्मशून्य आभ्यन्तर ध्यान–कर्म से ही सम्बन्ध रहेगा । एककालावच्छेदेन शिष्य चेतनगुरु का (सम्पूर्ण शरीर का) ध्यान अवश्य कर सकेगा परन्तु कर्मप्रयोग में वह असफल ही रहेगा । कर्मात्मिका उपासना के लिए इसे चेतनगुरु के (शरीर के) अवयवरूप हस्तपादादि अचेतन अवयवों का ही आश्रय लेना पड़ेगा । अस्तु इन सब विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्ड में विस्तार से होने वाला है । अभी केवल यही जान–लेना पर्य्याप्त होगाकि, ध्यानात्मिका उपासना ही चेतनोपासना कहलाएगी एवं कर्मात्मिका उपासना के सम्बन्ध विवर्त अचेतन उपास्यों से ही सम्बन्ध रक्खेंगे ।

६१५–ध्यानात्मिका उपासना की द्वैतभावनिबन्धनता, एवं अद्वैतोपास्य, द्वैतोपास्य, द्वैतभूयस्त्वोपास्य-भेदेन 'उपास्य' तत्त्व के तीन महिमामय विवर्तों का स्वरूप समन्वय—

एक बात और । ध्यानात्मिका उपासना में ध्याता–ध्येय ये दो पर्व हैं । अतएव इसे हम द्वैतोपासना कहेंगे । अभी एक उपासनामार्ग और बच जाता है । वह है ज्ञानात्मक मार्ग । यहाँ सेन्द्रिय चेतन–अनिन्द्रिय अचेतन दोनों ही भाव नहीं हैं दूसरे शब्दों में दोनों ही– 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' हैं । द्वैतभावशून्य यही मूलात्मा निर्गुण अव्यय है । इस की उपासना अद्वैतरूपा ज्ञानोपासना है । ध्यानरूपा द्वैतोपासना से भी इस का स्थान ऊँचा है । इस दृष्टि से इन उपासनामार्गों के ज्ञाना तथा अद्वैतलक्षणा निर्गुणाव्ययोपासना ध्यानात्मिका द्वैतलक्षणा षोडशीप्रजापत्युपासना कर्मात्मिका द्वैतरूपा परप्रजा उपासना । के भेद से तीन विवर्त होजाते हैं । इन तीनों उपास्यों के स्वरूप निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

पार्थिव देवताओं को कहते हैं। इसमें तो पूर्व-प्रकरण में स्वयं विराट् को भी आधिकारिक अचेतन सीम ही क्या है। चेतन-अचेतन की एक शास्त्रीय-निश्चित-परिभाषा है। एवं निश्चित-परिभाषा के आधार पर ही अचेतन-चेतन का वर्गीकरण होता है। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। आयु शास्त्र का 'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' वाक्य ही इस वर्गीकरण के लिए पर्याप्त है।

६१०-'यथार्थीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि' परिभाषामूलक चेतन-अचेतन-व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान इन्द्रियपुञ्ज-मात्र ही चेतन कहलाएगा। केवल एक एक पर्व यथार्थीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि इस सिद्धान्त के अनुसार अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन ही माना जायगा। सर्वप्रजापति में स्वयम्भू अव्यक्त है परमेष्ठी महान् है सूर्य्य विज्ञान (बुद्धि) है चन्द्रमा प्रज्ञान (मन) है त्रिमूर्ति-विराट् प्राणरेतआत्मक इन्द्रियवर्ग है। अतएव इसे चेतन कहा जायगा। परन्तु स्वयं स्वयम्भू परमेष्ठी-सूर्य्य आदि पर्व पृथक्त्वेन अनिन्द्रिय बनते हुए अचेतन ही माने जायँगे। पञ्चावयव विराट् सेन्द्रिय बनता हुआ जहाँ चेतन कहलाएगा वहाँ केवल विराट् अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन कहलाएगा। फिर विराट् के अवयवरूप भौम-पार्थिव देवताओं की अचेतनता का तो कहना ही क्या है।

६११-चेतनभावनिबन्धना ब्रह्मदृष्टि, एवं अचेतन भावनिबन्धना ब्रह्मदृष्टि एवं तदुभय-निबन्धन-चेतन अचेतन-व्यवस्था-समन्वय—

यह ठीक है कि, पर्व पर्वी से अभिन्न है। यह भी सिद्ध विषय है कि-अचेतन ब्रह्म की उपासना उसी प्रकार चेतन ब्रह्म की उपासना (परम्परया) बन जाती है जैसे कि आध्यात्मिक पर्वरूप गुरुचरणोपासना गुरूपासना बन जाती है। यह भी ठीक ही है कि, अचेतन ब्रह्म तादात्म्यभावापन्न चेतन ब्रह्म की शक्तियों के द्वारा अचेतनरूप अभीष्ट सिद्धि कारण बन उपासक को वर प्रदान करता है। यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी विशुद्ध ब्रह्मदृष्टि को जब हम लक्ष्य बनायेंगे तो उसे हम अचेतन ही कहेंगे।

६१२-ब्रह्मोपासनात्मिका देवोपासना का ब्रह्मत्वेन अचेतनत्व समन्वय—

अग्नि-वायु-नाक-सूर्य-सोम-ये आदि हमारे पर्व प्राणिभिरस्य से सर्वथा अचेतन हैं। ब्रह्म आत्मा को लेकर ही ये चेतन माने जाते हैं। इन अचेतनों की उपासना से चेतन उपासित तो होगा परन्तु यह पर्वोपासना कहलाएगी अचेतनोपासना ही। जितनी भी देवोपासनाएँ हैं वे ब्रह्मोपासनाएँ हैं। अतएव ये सब विशुद्ध-दृष्टि से अचेतनोपासना हैं।

६१३ कर्म्म से असंस्पृष्ट ध्यानात्मिका ब्रह्म-उपासना का चेतनत्व-समन्वय—

एक बार भी रहस्य का विषय है कि अचेतनोपासना में ही ऐन्द्रियकर्म्म का सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में-कर्म्मात्मिका उपासना अचेतन की ही उपासना है। इस दृष्टि से यज्ञप्रजापति की यज्ञकर्म्मात्मक उपासना भी अचेतनोपासना ही कहलाती है। कारण स्पष्ट है। इस कार्य्य-सम्बन्ध से ही तो यहाँ कर्म्म

६१७–सर्वसत्त्वप्रवर्त्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय अन्वेतन तृतीय-उपासना पथ का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में जो तीसरा वाङ्मय, अतएव कर्म्ममय कर्म्मात्मक उपासनामार्ग है परिग्रह के सम्बन्ध से आगे जाकर उसके तीन विवर्त्त होजाते हैं। विकारपरिग्रहयुक्त क्षरोऽक्षरप्रजापति को ही 'यज्ञ प्रजापति' कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड अज्ञानपरिग्रह से युक्त होकर विकारभाव में परिणत होता हुआ विकारमूर्ति किंवा सत्त्वमूर्ति विराट्प्रजापति-रूपेण प्रादुर्भूत होता है। कर्म्ममूर्ति उस यज्ञप्रजापति का यही मूलभागमय प्रथम अवतार है—(भायोऽपवारो यज्ञासौ)। विकारवरमूर्ति यही विराट्प्रजापति आवरण–परिग्रह से युक्त होकर वैश्वरिकभाव में परिणत होता हुआ वैश्वरिक विश्वप्रजापति (पञ्च राशिप-मतसर्गा)—रूप में परिणत होता है। यही अन्वेन यज्ञप्रजापति का तीसरा विवर्त्त है। 'सर्वसत्त्व-प्रवर्त्तक (विराट्)–।

६१८ वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अवान्तर तीन महिमा–विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति को वाङ्मय बतलाया गया है। वह वाक् तत्त्व ही अमृत वाङ्मय वाक्–आप-अग्निशुक्र, मर्त्यवाङ्मय वाक्–आप अग्निशुक्र भेद से दो किंवा दो भागों में विभक्त है। तीसरा रूप 'भूतवाक्' है। इस–प्रकार अमृतवाक्शुक्रमयी मर्त्यवाक्शुक्रमयी भूतवाकपञ्चकभेद से उस वाङ्मय एक ही यज्ञप्रजापति के विकारपरिग्रहोपेत अमृतवाक्शुक्रमूर्ति यज्ञप्रजापति अज्ञानपरिग्रहोपेत मर्त्यशुक्रमूर्ति विराट्प्रजापति एवं आवरणपरिग्रहोपेत भूतवाङ्मूर्ति विश्वप्रजापति–भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। वाक् का कर्म्म से सम्बन्ध है अर्थ से सम्बन्ध है। इसीलिए इन तीनों उपास्यों को हमने वाङ्मय कहा है एवं तीनों की उपासना को 'कर्म्मात्मिका' उपासना कहा है जैसाकि तीनों प्रकरणों के शीर्षक–सूची से स्पष्ट है।

न चित्-नाचित् उभयं वा	१—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः, अक्षरात् परतः परः सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्	—निर्गुण ब्रह्म (अव्ययः)
(सर्वं) चेतन	२—सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥	—पोडशीमहत्प्रजापतिः (हैरण्यगर्भः)
(सर्वाणि) अचेतनानि	३—अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ— दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा	सर्वप्रजापति अक्षरस्तोमः (वैराजः)

६१६–चेतनाचेतनातीता आत्मोपासना, चेतनोपासना, अचेतनोपासना–रूपा उपासना के तीन विभिन्न पर्वों का योगत्रय-माध्यम से समन्वय—

निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञानात्मिका मनोमयी उपासना 'उप-आसना' भाव के कारण उपासनालक्षणा 'उपासना' कही जाएगी (देखिए–उपासना और भक्ति का तारतम्य)। षोडशी चेतनप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली भावात्मिका प्राणमयी उपासना 'भाग' भाव के कारण भक्तिलक्षणा 'उपासना' मानी जाएगी। एवं अचेतन सर्वप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्मात्मिका वाङ्मयी उपासना 'कर्म' भाव के कारण कर्मलक्षणा उपासना कहलाएगी। एवं गीतापरिभाषा के अनुसार ये ही तीनों उपासना–मार्ग ज्ञानयोग (उपासना) भक्तियोग (भक्ति) कर्मयोग (कर्म) कहलाएँगे।

आत्मोपासना	१–अव्ययोपासना (मनोमयी)–ज्ञानात्मिका	उपासना	(ज्ञानयोगः)	—योगत्रयी
चेतनोपासना	२–षो० प्र० उपासना (प्राणमयी)–भावात्मिका	भक्तिः	(भक्तियोगः)	
अचेतनोपासना	३–सर्व उपासना (वाङ्मयी)–कर्मात्मिका	कर्म	(कर्मयोग)	

६१७-सर्वसत्त्वप्रवर्त्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय-अचेतन तृतीय-उपासना पथ का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में का तीसरा वाङ्मय अतएव कर्ममय कर्मात्मक उपासनामार्ग है परिग्रह के सम्बन्ध से आगे जाकर उसके तीन विवर्त्त होजाते हैं। विकारपरिग्रहयुक्त षष्ठोश्वरप्रजापति को ही 'यज्ञ प्रजापति' कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड अज्ञानपरिग्रह से युक्त होकर विकारभाव में परिणत होता हुआ विकारमूर्ति, किंवा १ तत्त्वमूर्ति विराट्प्रजापति-रूपेण प्रादुर्भूत होता है। कर्ममूर्ति उस यज्ञप्रजापति का यही मत्स्यात्मक प्रथम अवतार है—(आद्योऽवतारो यज्ञामी)। विकारतत्त्वमूर्ति यही विराट्प्रजापति आवरण–परिग्रह से युक्त होकर वैश्वानरिकभाव में परिणत होता हुआ वैश्वानरिक विराट्प्रजापति (चतुर शाखिन-मतकर्मा)–रूप में परिणत होता है। यही अचेतन यज्ञप्रजापति का तीसरा विवर्त्त है। "सर्वसत्त्व-प्रवर्त्तक (विराट)–।

६१८-वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अवान्तर तीन महिमा–विवर्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति को वाङ्मय बतलाया गया है। वह वाक् तत्त्व ही अमृत वाङ्मय वाक्–आप'–अग्निशुक्र, मर्त्यवाङ्मय वाक्–आप' अग्निशुक्र भेद से १ किंवा दो भागों में विभक्त है। तीसरा रूप 'भूतवाक्' है। इस–प्रकार अमृतवाक् शुक्रमयी मर्त्यवाक्शुक्रमयी भूतवाक्शुक्रभेद से उस वाङ्मय एक ही यज्ञप्रजापति के विकारपरिग्रहोपेत अमृतवाक्शुक्रमूर्ति यज्ञप्रजापति अज्ञानपरिग्रहोपेत मर्त्यशुक्रमूर्ति विराट्प्रजापति एवं आवरणपरिग्रहोपेत भूतवाङ्मूर्ति विश्वप्रजापति–भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। वाक् का कर्म से सम्बन्ध है अन्न से सम्बन्ध है। इसीलिए इन तीनों उपास्यों को हमने वाङ्मय कहा है एवं तीनों की उपासना को 'कर्मात्मिका उपासना कहा है जैसाकि तीनों प्रकरणों के शीर्षक–सूत्रों से स्पष्ट है।

न चिन्-नाचिन् उभयं वा	१—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः अक्षरात् परतः परः सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्	—निर्गुण ब्रह्म ([illegible])
(साक्षी) चेतन	२—सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥	—षोडशीसहस्रवल्शात्मा ([illegible])
(भूतानि) अचेतनानि	३—अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ— दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा	प्रजाप्रजापति पञ्चकलात्मा ([illegible])

६१६—चेतनाचेतनातीता-आत्मोपासना, चेतनोपासना, अचेतनोपासना—रूपेण उपासना के तीन विभिन्न पर्वों का योगत्रय-माध्यम से समन्वय—

निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञानात्मिका मनोमयी उपासना 'उप–आसना' भाव के कारण उपासनात्मकत्वेन 'उपासना' कही जायगी (देखिए—उपासना और भक्ति का तारतम्य)। षोडशी चेतनप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली ध्यानात्मिका प्राणमयी उपासना 'भाग' भाव के कारण भक्तिलक्षणा 'उपासना' मानी जायगी। एवं अचेतन प्रजाप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्मात्मिका वाङ्मयी उपासना 'कर्म' भाव के कारण कर्मलक्षणा उपासना कहलाएगी। एवं गीतापरिभाषा के अनुसार ये ही तीनों उपासना–मार्ग ज्ञानयोग (उपासना) भक्तियोग (भक्ति) कर्मयोग (कर्म) कहलाएँगे।

आत्मोपासना १—अध्यात्मोपासना (मनोमयी)—ज्ञानात्मिका उपासना (ज्ञानयोग)		
चेतनोपासना २—प्राण उपासना (प्राणमयी)—ध्यानात्मिका भक्ति (भक्तियोग)		—योगत्रयी
अचेतनोपासना ३—वाक् उपासना (वाङ्मयी)—कर्मात्मिका कर्म (कर्मयोग)		

———

६१७-सर्वसत्त्वप्रवर्त्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय अचेतन तृतीय-उपासना पथ का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में की तीसरा वाङ्मय अतएव कर्म्ममय कर्म्मात्मिक उपासनामार्ग है परिग्रह के सम्बन्ध से आगे जाकर उसके तीन विवर्त होजाते हैं। विकारपरिग्रहयुक्त क्षराक्षरप्रजापति को ही 'यज्ञ प्रजापति' कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड अज्ञानपरिग्रह से मुक्त होकर विकारभाव में परिणत होता हुआ विकारमूर्त्ति किंवा ? तत्त्वमूर्त्ति विराट्प्रजापति-रूपेण प्रादुर्भूत होता है। कर्म्ममूर्त्ति उक्त यज्ञप्रजापति का यही मत्स्यामन्य प्रथम अवतार है—(आद्योऽवतारो यज्ञामी)। विकारमूर्त्ति यही विराट्प्रजापति आवरण–परिग्रह से मुक्त होकर वैकारिकभाव में परिणत होता हुआ वैधानिक विश्वप्रजापति (चतुर्दशविध भूतसर्ग)–रूप में परिणत होता है। यही अचेतन यज्ञप्रजापति का तीसरा विवर्त है। 'सर्वसत्त्व-प्रवर्त्तक (विराट)– ।

६१८ वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अवान्तर तीन महिमा–विवर्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति को वाङ्मय कहलाया गया है। यह वाक् तत्त्व ही अमृत वाङ्मय वाक्–आप–अग्निशुक्र, मर्त्यवाङ्मय वाक्–आप अग्निशुक्र भेद से ? किंवा दो मार्गों में विभक्त है। तीसरा रूप 'भूतवाक्' है। इस–प्रकार अमृतवाक्शुक्रमयी मर्त्यवाक्शुक्रमयी भूतवाक्रूपभेद से उक्त वाङ्मय एक ही यज्ञप्रजापति के विकारपरिग्रहोपेत अमृतवाक्शुक्रमूर्त्ति यज्ञप्रजापति अज्ञानपरिग्रहोपेत मर्त्यशुक्रमूर्त्ति विराट्प्रजापति एवं आवरणपरिग्रहोपेत भूतवाङ्मूर्त्ति विश्वप्रजापति–भेद से तीन विवर्त होजाते हैं। वाक् का कर्म्म से सम्बन्ध है, मन से सम्बन्ध है। इसीलिए इन तीनों उपासनाओं को हमने वाङ्मय कहा है एवं तीनों की उपासना को 'कर्म्मात्मिका' उपासना कहा है जैसाकि तीनों प्रकरणों के शीर्षक–सूत्रों से स्पष्ट है।

वाङ्मय —कर्म्ममयप्रजापति
मूलात्मा

१—वाक् (स्वयम्भू) २—आपः (परमेष्ठी)	१—ऐन्द्रीपृथिवी (४८)—सर्वज्ञ	प्राज्ञः
३—अग्निः ३—अग्नि (सूर्य्यः)	२—वैष्णवीपृथिवी (३३)-हिरण्यगर्भः	तैजसः
२—आपः—(चन्द्रमा) १—वाक् (भूमि)	१—मात्रीपृथिवी (२१)—वैश्वानरः	वैश्वानरः

अमृतवाक् मण्डलम्	मर्त्यवाक् मण्डलम्	मत्वाक् मण्डलम्
अजप्रजापति	विराट्प्रजापतिः	हिरण्यप्रजापतिः
कर्म्मात्मा	कर्म्मात्मा	कर्म्मात्मा

६१६–यज्ञोपासना, देवोपासना, भूतोपासना-भेद से यज्ञप्रजापति निबन्धना विराडुपासना के तीन विभिन्न पथ, एवं तीनों के त्रिविध उपास्य-तत्त्व—

इसप्रकार वागुभेदोपहित-परिग्रह भेद से अचेतन यज्ञप्रजापति के तीन विवर्त होजाते हैं। सम्पूर्ण उपासनामार्ग भी तीन के स्थान में पाँच मार्गों में विभक्त होजाता है। ये ही वेद-वेद-पुराण-दर्शन-वर्तमान-युगानुगत पाँच उपासनमार्ग हैं। पाँच से अतिरिक्त और कोई छठा मार्ग नहीं होसकता। इन पाँचों मार्गों को हम क्रमशः १ आत्मोपासना २–ईश्वरोपासना ३–यज्ञोपासना ४–देवोपासना –भूतोपासना इन नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। आगे चाकर इनके भी अवान्तर अनेक भेद होजाते हैं उन का तत्तत् प्रकरणों में स्पष्टीकरण किया ही जाचुका है। विचार इस समय यज्ञोपासना-देवोपासना भूतोपासना–इन तीन विवर्तों के सम्बन्ध में है। निष्कामकर्म–कर्मोपासना के अतिरिक्त यज्ञप्रजापति के तीन विवर्तों से सम्बन्ध रखने वाली आधिकारिक चेतन–जीवोपासना (अवतारोपासना) आधिकारिक अचेतन जीवोपासना (प्राणदेवोपासना) आधिकारिक अर्द्धचेतनजीवोपासना आरवरिक चेतन जीवोपासना आरवरिक अर्द्धचेतन जीवोपासना आरवरिक अचेतन जीवोपासना इन विवर्तों में सौकर्य प्रतीत होता है जिसे अपनी स्वाभाविक बुद्धि से निश्चय लेना ही उचित है।

६२०–'आधिकारिक अचेतन जीव' नामक उपास्य तत्त्व का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय–

भगवत रघुवरी का एकमात्र यज्ञप्रजापतिगर्भित विष्णु से ही सम्बन्ध है। विष्णुगत के अवतार, किंवा धर्मावतार मानवानुयायी योगमायापरिग्रह पार्थिव जीव— आधिकारिक चेतनजीव कहलाते हैं। क्योंकि ये यज्ञस्वरूप हैं अतएव इनकी उपासना का हम यज्ञप्रजापत्युपासना में ही अन्तर्भाव मानेंगे। यद्यपि यज्ञप्रजापति स्वयं अचेतन है परन्तु इस के नराकार इन्द्रियभाव के कारण चेतन बन जाते हैं। अतएव इन अवतारों का- आधिकारिक चेतन जीव कहना युक्तियुक्त बन जाता है।

६२१–उपासनानुबन्धी सूक्ष्मतम-पारिभाषिक तथ्यों के माध्यम से साङ्कर्य्य का निराकरण प्रयास, एवं व्यवच्छेदमूला व्यवस्थिता-पारिभाषिकी दृष्टि—

विराट्प्रजापति, विराड्भावाग्नि के अवयवरूप क्षोदिष्ठ नैगमिक यज्ञग्रन्थादि प्राणदेवता जिन से हैं ही अवयवरूप पार्थिव आगमिक गणपति भविराज आदि प्राणदेवता ये तीनों वर्ग विराड्भावाग्नि से सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि विराट्प्रजापति स्वयं अचेतन है इस के इतर दोनों विवर्त भी अचेतन ही माने जाएंगे। अवतारवत् इन का नरशरीर नहीं है। अपितु यज्ञान्तरमें ये तीनों ही उन अचेतन यज्ञप्रजापति परमेश्वर प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन्हें हम आधिकारिक अचेतन जीव ही कहेंगे इन तीन वर्गों के आधार पर विराडुपासना के प्रधान तीन पर्व होजाते हैं। साम्प्रदायिकदृष्टया उपासनामार्गों की प्रतिष्ठा कर्मविरुद्ध इतर विराट्पुरुष है। इन विराडुपासनात्मक यज्ञोपासना में ही अन्तर्भाविता प्राणदेवोपासना भी गतार्थ बन जाती है। तादात्म्यनिबन्धन तारतम्यानुगत उपासनामार्ग की प्रतिष्ठा और पार्थिव प्राणदेवता हैं। एवं शिव–पार्वती–गणेश–दुर्गा–प्राणाग्निनिबन्धन विराट्पुरुषभूता प्राणदेवोपासना की प्रतिष्ठा अपेक्षित मानी गई है। इसीलिए हम इस आधिकारिक-अचेतन जीवोपासना का हम प्रकार विराडुपासना में अन्तर्भाव

मान लगता है। स्त्री-शूद्रों के सम्बन्ध में स्त्रीवाऽऽश्रमरणकपादि बिना भगवदुपासनाधिकार था पूर्व के दोनों उपासनामार्गों में सबतन्त्र साम्मुख्य हुआ है भवप्रवापति के विश्व से ही सम्बद्ध मान कर यह साम्मुख्य हृदय होना चाहिए।

६२२–क्रमप्राप्त-उपासनापथानुबन्धी चार विवर्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब हमारे सामने आधिकारिक जड़चेतनोपासना अनन्यरिक चेतन जीवोपासना आनन्यरिक जड़चेतनजीवोपासना अनन्यरिक अचेतनजीवोपासना ये चार उपासनामार्ग शेष रह जाते हैं। इन चारों का किस उपास्यदेवता में अन्तर्भाव ? इस का उत्तर प्रजापति के आत्मवात्मक सम्बन्ध भूतवाद मय विश्वप्रजापति-विश्व पर ही निर्भर है। इन्हीं के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रकरण का उपक्रम हुआ है।

६२३–लोकदृष्ट्या उपासना का स्वरूप लक्षण समन्वय, एवं तत्स्वरूप की सनातनता—

सबसे पहिले तो उपास्य के स्वरूप का ही विचार कीजिए। 'जिस वस्तु से हम कुछ भला प्राप्त कर सकें जिस पदार्थ के स्पर्श से हमारे आत्मा में कोई अतिशय उत्पन्न हो जाए, वह वस्तु चाहे हो, अथवा चेतन हमारा उपास्य है' यह है उपास्यदेवता का व्यापक लक्षण। सम्भव है एक अदूरदर्शी अवैज्ञानिक यथाजात व्यक्ति उपास्य के उक्त लक्षण का मर्म न समझ सके। परन्तु भारतीय महर्षियों की दृष्टि में तो उपास्य का उक्त लक्षण ही सर्वेसर्वा बन रहा है। सिद्धान्तरूप से ही नहीं, अपितु व्यवहाररूप से भी। देवयुग-सत्ययुगादि अन्य युगों में ही प्रचलित नहीं अपितु आज के इस महाभयावह युग में भी भारतवर्ष की उस प्राचीन सभ्यता में उपास्यदेवता का उक्त लक्षण ही व्यवहार में प्रचलित रहा है जो इस सदा देव की विशेष अनुकम्पा से आजतक पश्चिमी सभ्यता के संस्पर्श से बची हुई है।

६२४–उपयोगानुगत यच्चयावत भूत-भौतिक जड़ चेतन-पदार्थों की 'उपास्यरूपता' के सम्बन्ध में भारतीय महर्षियों की अर्थमूला अन्तर्दृष्टि और तत्प्रिकल्पन तथा मम प्रभाव-संरक्षण—

प्रतिदिन व्यवहार में आने वाला अन्न भी हम दकियानूसी भारतीयों की दृष्टि में "भगवान" माना जाता है। हम भोजन के अवसर पर उसे 'अन्नभगवान्' मानते हुए ही अपना अदृष्टजन सम्पन्न करते हैं [अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत]। मार्ग में चलते हुए यदि कहीं चतुष्पथ [चौराहा] आ जाता है तो उसे देवता मय मानते हुए आदरपूर्वक उस की सीमा से बाहिर होकर निकलना आवश्यक कर्म समझते हैं–["चतुष्पथं प्रदक्षिणं कुर्यात् ......"–ईश १।१।१०]। तात्पर्य–इस भौतिक विश्व में चर-अचर-चेतन अचेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जहाँ हम ब्रह्म की व्यापकसत्ता का अनुभव न करते हों। अपनी योग्यतानुसार सबतत्र सर्वत्र भगवद्भावना को व्यावहारिकरूप देते रहना ही हम प्राचीनों का शाश्वत सम्प्रदाय है। साथ ही यह भी निश्चित बात है कि संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिस से हमारा उपकार न होता हो। दूसरे शब्दों में एक विशेष प्रकार से हम उन को उपकारक न बना लेते हों। प्रकारवैशिष्ट्य से जीवन नाशक विष [संखिया] भी अमृत बनता देखा गया है अमृत बन जाता है। फिर यों तो बुद्धिदोष से ही जीवनीय अन्न भी विष बन जाता है। अब योग्यतानुरूपी प्रकारविशेषों से तत्तत्सम्बन्धविशेषों में सभी पदार्थ हमारे

उपकारक बन जाते हैं, सभी से हम अपने आत्मामें अतिशय उत्पन्न कर सकते हैं तो अवश्य ही पूजनकर्ता पुरुष पदार्थमात्र को हम "उपास्य" कह सकते हैं।

६२५–सुप्रसिद्ध–'कलम-दवात-पूजन' नामक लौकिक उदाहरण के माध्यम से भारतीय उपासना-तत्त्व का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है। सर्वव्यापक इस उपास्यदेव के दर्शन के लिए भारतीय कुछ एक त्यौहार ही पर्य्याप्त सिद्ध होंगे। वर्ष में एक बार 'दावातपूजनोत्सव' मनाया जाता है। जयपुरप्रान्त में तो यह उत्सव राजा-प्रजा सर्वत्र बड़े आवेश के साथ मनाया जाता था। राज्य में छुट्टी रहती थी। कलम-दावात एवं कलमदान आदि की भगवत्प्रतिमा की भाँति धूप-दीप-नैवेद्यादि से पूजन होता था जो आज के धर्मनिरपेक्षयुग में अब परिसमाप्तप्राय है। कारण स्पष्ट है। कलम दावात जड़ पदार्थ हैं यह सार्वजनीन-प्रत्यक्ष है। परन्तु इसके साथ ही यह भी सर्वसम्मत है कि, मनुष्य के राजनैतिक सामाजिक, एवं आध्यात्मिक विकास का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन जड़ साधनों की चिरकालिक उपासना [व्यवहार] से मनुष्य सभ्यता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित होता देखा गया है। प्रश्न यह शेष रह जाता है कि यदि हम एक दिन इन का पूजन न करेंगे तो क्या यह काम न देंगी ?। देंगी और अवश्य देंगी। क्या दावातपूजन के नाम से भी अपरिचित पश्चिमी देश अथवा सभ्यताभिमानी आजकल के शिक्षक भारतीय लेखनकला में पारङ्गत नहीं होते ?। हुए हैं होते रहेंगे। फिर इस जड़पूजन के आडम्बर का क्या महत्त्व ?।

६२६–दिग्भ्रान्तों के आपातरमणीय 'सुन्दर' प्रश्नों के सम्बन्ध में किञ्चिन्निव आवेदन निवेदन—

प्रश्न वास्तव में सुन्दर है। और ऐसे ऐसे असंख्य प्रश्नों की इसी आपातरमणीयताने हमारी मौलिकता का सर्वनाश भी किया है। पद पद पर देवभावना का अनुभव करने वाले दिव्यभावमय भारतीय इसी सुन्दरता के प्रलोभन में पड़ कर आज अपने उन शाश्वत दिव्यसंस्कारों की जलाञ्जलि समर्पित कर चुके हैं जिन संस्कारों की विद्यमानता में सुविधाजनक असमग्र भौतिक आविष्कारों के न रहने पर भी वे पूर्ण शान्त थे पूर्ण सुखी थे।

६२७–भारतीय मानवबन्धु का जन्मानुगत 'उपास्य' तत्त्वानुबन्धी दिव्यसंस्कारों का स्वरूप दिग्दर्शन—

जन्म से ही हमें यह शिक्षा मिलती थी कि–देखो ! भगवान सर्वत्र व्यापक हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ भगवान की विभूति है उसकी प्रतिमा है। तुम्हारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन इसी भावना को मूलमें रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए। यही मानस संकल्प तुम्हें बलप्रदान करेगा और इसी उपासनात्मक कर्म से तुम्हारा अभ्युदय होगा। कहना न होगा कि पद पद पर 'मनोविज्ञान' की घोषणा करने वाले किन्तु व्यवहारतः इसके सर्वथा पराङ्मुख उन प्रश्नकर्त्ताओं की अपेक्षा भारतीय धार्मिक जाति इस मनोविज्ञान को विशेष महत्त्व दिया। पाठशाला में जाकर देखिए। पाटीपट्ट पर लिखने वाला एक अबोध शिशु भी अक्षर लिखने के पीछे उन्हें मिटाकर अपने मस्तक पर लगा लेता है। उससे यदि आप यह पूछें कि तुमने ऐसा

क्या किया ! प्रत्युत-भारत माता के रहस्यात्मक स्वरूपों से सर्वथा वञ्चित रहता हुआ वह अर्वाचीन शिशु भी 'यह गणेश जी का प्रसाद है विद्यमाना है" यह उत्तर देता हुआ आपकी आस्तिकता के गर्व को पूर्णित करेगा।

६१८–परमात्मरूपा भगवत्सत्ता की सर्वव्यापकता एवं तदभिन्नरूपा प्रत्यगात्मानु-बन्धिनी-उपास्यरूपता का स्वरूप-समन्वय—

परमार्थ में तो इस व्यापक-भगवद्भावना का विरोध हो ही नहीं सकता। कौनसा ऐसा पदार्थ है चाहे फिर पाषाण हो, काष्ठ हो, पत्थर हो, कोई कुछ हो, जिसमें भगवान् सर्वात्मना सम्यग्रूपेण प्रतिष्ठित न हो। और इस परमात्मचैतन्यवाद की दृष्टि से तो उपाय वही वह है। परन्तु परम्परा से सामान्य अधिकारियों को भी क्रमशः इस व्यापक चैतन्यवाद का बोध होता जाय इसी लोकाधिकारभावना से प्रेरित होकर उक्त बहुभूतनात्मक तत्त्वपुरुषों का आविष्कार हुआ है। पूजन-न करने पर भी पाषाण से लाभ उठाया जायेगा परन्तु पूजन करने से जो दिव्यभाव आत्मा में प्रतिष्ठित होते हैं उस लाभ के सामने एक तो प्रश्न ना क्या तन्निमित्ता प्रश्नशालासी भी पुनरुक्त भी कोई महत्त्व नहीं रखती। अस्तु जाने दीजिए इस विरसप्रपञ्च को। प्रकृत विषय पर आइए। दुनिया-क्या समझती है क्या कर रही है किधर जाती है!, यदि आप इसी उधेड़बुन में लगे रहेंगे तो आप भी लक्ष्यच्युत होजायँगे। आपको, आप हमें ही क्यों, क्या कैसे के नारकीय पथ की उपेक्षा कर महर्षियों के द्वारा अनन्तकाल की कल्पनाओं से परीक्षित आदेशानुगमन को ही प्रधान लक्ष्य बनाए रखना चाहिए।

६१९–आधिकारिक-भगवत्-उपास्य-जीवों के तात्त्विक-स्वरूप का दिग्दर्शन, एवं तत्र व्याससूत्र का संस्मरण—

आधिकारिक जीव आवश्यिक जीव भेद से जीव-विवर्त दो मार्गों में विभक्त माना गया है। आधिकारिक जीव का सामान्य नाम "अवतारजीव" है एवं आवश्यिक जीव का सामान्य नाम 'कर्म-जीव' है। अवतारजीव कर्म्म करते हैं कर्मजीवों से कहीं अधिक कर्ममात्रा में प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु वे कर्म्म पर आरूढ़ रहते हैं। वे कर्म के नहीं हैं कर्म्म उनका है। कर्म्म उन पर कोई प्रभाव स्थापित नहीं करसकता। क्योंकि वे कर्म्मजनित संस्कारानुबन्धी बन्धनों के [बन्धनों में रहते हुए भी] पाशबन्धन से विमुक्त रहते हैं। अधिकृतकर्म्म पर आरूढ़ ये आधिकारिक जीव चिरकाल की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहते हैं। कल्पादि चिरकाल की इच्छा से अधिकार प्राप्त कर के आते हैं और अधिकृतकर्म्म की समाप्ति पर तत्रैव विलीन होजाते हैं— 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (व्याससूत्र)।

६२०–'नित्य', तथा-'सामयिक' भेद से 'आधिकारिक-भगवत्-जीवोपास्य' के दो विभिन्न विवर्त, एवं 'नित्य आधिकारिक-भगवदुपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

ये आधिकारिक जीव (जिन्हें कि आगे हम अवतार शब्द से सम्बोधित करेंगे) नित्य सामयिक भेद से दो प्रकार के हैं। सृष्टि के आरम्भ से अवसानक (प्रलयकाल) पर्यन्त रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले अवतारजीव नित्य कहलाएँगे एवं सृष्टिकाल में विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशेष समयों में

भाविभूत होने वाले अवतारजीव 'सामयिक अवतारोंसे'। आगे जाकर प्रत्येक के चेतन–अर्द्धचेतन–अचेतन–भेद से तीन तीन अवान्तर भेद होजाते हैं। पहिले क्रमप्राप्त नित्य त्रिविध अवतारजीवों की ही मीमांसा कीजिए। अध्यक्षिण देवताओं में एक "अभिमानी * देवता" नाम का स्वतन्त्र देवगण है। यही अभिमानी देवता उपासना का मूल आलम्बन बनता है। आप देवताओं के जितने भी नाम सुनते हैं उन सब के अभिमानी भौतिक, दो दो रूप हैं। भौतिकरूप अचेतन हैं अभिमानीरूप चेतन हैं। अपने इन्हीं अभिमानी रूपों से यह देवता उपासकों पर अनुग्रह किया करते हैं। सूर्य–चन्द्रमा–विराट्–यज्ञ–इन्द्र–ब्रह्मा–वरुण–अग्नि सब–इन सब भौतिक तत्त्वों के अपने अपने स्वतन्त्र अभिमानी देवता हैं। इन्हीं के लिए– "अभिमानिव्यप देशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" यह कहा जाता है। ये चेतनदेवता नित्य हैं सृष्ट्यारम्भ में अधिकृत कर्म को लेकर इनका आविर्भाव हुआ है एवं प्रलयोपक्रम में इन का तिरोभाव होगा। अतएव इन्हें– "नित्य आधिकारिक चेतन जीव" कहा जासकता है।

६३१–'आधिकारिक-नित्य अचेतन-उपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं चेतन अचेतन अवतारोपास्यों का स्वरूप-संस्मरण—

यज्ञप्रजापति विराट्प्रजापति, तत्पर्यन्त ३३ यज्ञियदेवता अग्नि आदि भौतिक प्राणदेवतागण अचेतन जीव माने जायगे। ये अचेतन जीव अपने अभिमानी-लक्षण चेतन जीवों से नित्य युक्त रहते हैं। परन्तु उपासना, कर्म भेद से इन की दो स्थिति होजाती है। उपासना में चेतन जीव साध्य रहते हैं अचेतन जीव साधन रहते हैं। सूर्यादि प्राणदेवताओं को लक्ष्य बना कर ही अभिमानी देवताओं से शक्तिलाभ किया जाता है। यज्ञकर्म में अचेतन जीव प्रधान बने रहते हैं। प्रत्यक्षदृष्ट्या अग्नि आदि द्रव्य ही प्रधान माने जाते हैं परन्तु गौणदृष्टि से चेतनजीवों पर भी लक्ष्य अवश्य है। इधर विशुद्ध भौतिक विज्ञानकाण्ड में चेतन अभिमानी जीवों की सर्वथा उपेक्षा है। केवल अचेतन अग्नि–वायु–इन्द्र (विद्युत) आदि पदार्थों का ही वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक कर्म में समावेश है। चिदंश से वञ्चित अतएव आत्मनिष्ठ जड़ भौतिक विज्ञान जहाँ विश्व को अधिकाधिक जड़ बनाता जारहा है वहाँ चिदंशानुगृहीत यज्ञविज्ञानात्मक यज्ञकर्म किसी समय शान्तिप्रदायक बना हुआ था यह तो सर्वविदित है ही। तात्पर्य कहने का यही हुआ कि चेतन अभिमानी प्रजापतिस्वरूप कूर्म–वामन–वराहादि विराट्–विराड्वयवरूप–तत्वात्मक रुद्रकादि पञ्चार्थमिक देववर्ग ही "आधिकारिक अचेतन नित्य जीव" कहलाएंगे। पूर्व के नित्य चेतन जीवों को (अभिमानी देवताओं को) यदि चेतन अवतार कहा जायगा तो इन तत्स्वरूप अचेतन जीवों को अचेतन अवतार माना जायगा।

---

* इन अगले देवताओं का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथ-भाष्य प्रथमखण्ड में किया गया है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वही प्रकरण देखना चाहिए। यहाँ विस्तारभय से इस प्रकरण को छोड़ दिया जाता है।

६३२–'आधिकारिक-अर्द्धचेतन-उपास्य-जीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

तीसरा विभाग आधिकारिक नित्य अर्द्धचेतन जीवों का है। कौषीतकि उपनिषत्–की पर्य्यङ्कविद्या में जिन वृक्षादि का निरूपण हुआ है वे नित्य अर्द्ध चेतन आधिकारिक जीव माने जायँगे। ब्रह्मलोक * में रहने वाली अप्सराओं की अधिदेवता हारपाश आदि का चेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा। स्वर्गीय मालाएँ विराजनशी आसन्दी पर्य्यङ्क इन सब उपकरणों का अचेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा एवं वैदिक विज्ञान पौराणिक मन्दार–पारिजात–आदि स्वर्गीय वृक्ष नित्य अर्द्धचेतन जीव माने जायँगे। ब्रह्मादि लोक शाश्वत हैं। उन की सृष्टि भी अथ से इति पर्य्यन्त तथा रहेगी। अतएव इन स्वर्गीय वृक्षात्मक अर्द्ध चेतन जीवों को हम अवश्य ही 'आधिकारिक अर्द्ध चेतन नित्य' जीव कहेंगे।

६३३–आधिदैविक-अर्द्धचेतन उपास्य जीवों के विभिन्न पारिभाषिक-वर्गों का स्वरूप-समन्वय—

ओषधि वनस्पति–वर्ग को ही अर्द्ध चेतन जीव माना गया है। मनुष्यकृत भैषज्य में सोमवल्ली उदुम्बरवृक्ष पलाश श्रीपर्णी अश्वगन्धा अश्वत्थ आदि जो ओषधि वनस्पतियाँ काम में ली जाती हैं इन सब का मूल आधिदैविक तत्त्व ईश्वरीय अङ्गों में मूलरूप से प्रतिष्ठित है। सोमवल्ली का मूलरूप तृतीय पुलवाच परमेष्ठी में है। (तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्)। पार्थिव मानवों के द्वारा ही वह 'पर्ण' भूपृष्ठ पर पार्थिव सोमवल्ली रूप में परिणत होता है। यही उदुम्बर का मूल है। यही अश्वत्थ है— 'अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। गोभाज इत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्" इत्यादि अथर्वमन्त्रने इसी स्वर्गीय नित्यवृक्ष की महिमा का व्याख्यान किया है। पलाशवृक्ष का मूल स्वायम्भुव ब्रह्मलोक माना गया है– 'पालाशो वै ब्रह्म'। इन सब मूलरूपों का जो कि ईश्वरीय–विभूतिमण्डल में सदा प्रतिष्ठित रहते हैं नित्य अर्द्धचेतन जीव माना जायगा। नित्य शब्द से प्रकृत में ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल ही अभिप्रेत है। एवं तामसिक शब्द उन पदार्थों का वाचक है जो समय समय पर भूपृष्ठ पर आते एवं जाते रहते हैं।

६३४ नित्य-चेतन-उपास्य-जीवों के विविध स्वरूपों का स्वरूप-संस्मरण—

अभिमानी महाप्रजापति, महाप्रजापति के अवयवरूप कूर्म–वामन वराहादि नित्यावतार, विराट्प्रजापति, विराट्प्रजापति के अवयवरूप दिव्य [सौर] अग्नीन्द्रवायवादि देवता पार्थिव (महिमायुक्त पार्थिव) शिव–शक्ति–गणपति–पशुपति आदि देवता इन सब का ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से सम्बन्ध है अतएव इन्हें हम अवश्य ही नित्य चेतन जीव कह सकते हैं।

६३५ चेतन-अर्द्धचेतन अचेतन-भेद-निबन्धन त्रिविध उपास्यों का पारिभाषिक-समन्वय–

भौतिक पिण्डात्मक पदार्थों (आंशिकरूप से प्रत्यक्षदृष्ट) महाप्रजापति महाप्रजापति के अवयवरूप (आंशिक रूप से प्रत्यक्षदृष्ट) वामन–वराह कूर्मादि आंशिक रूप से प्रत्यक्षदृष्ट द्रव्यजगत् का आलम्बन

* इस विषय का संक्षिप्त विवेचन आत्मविज्ञानान्तर्गत आत्मगत्युपनिषत् में एवं विशद विवेचन कौषीतकि–ब्राह्मणोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

का पार्थिव विराट्प्रजापति विराट्प्रजापति के अवयवरूप आधिरूप से प्रत्यक्षरूप भौतिक पदार्थ तदात्म इन्द्राग्नि-आदित्य दिव्यदेवता अग्नि-उषा-गायत्री आदि पार्थिव देवता (पदार्थ) इन सब का भी निरतीव आधिदैविक मण्डल से ही सम्बन्ध है। अतएव इन्हें भी हम अवश्य ही नित्य अचेतन जीव कह सकते हैं। एवमेव इसी दिव्यमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले उत्तरावत मूलात्मक तत्सोमाग्नियत भिन्न ओषधि-वनस्पतियों को भी नित्य आधिकारिक अर्द्धचेतन जीव ही माना जायगा।

६३६-नित्य-आधिकारिक-अवताररूप-चेतनजीववर्ग (नित्यावतारपरिलेखा)—

नित्यावतारा—

१-अभिमानीदेवता [यज्ञप्रजापतिः, विराट् प्र तदवयवाश्च]—नित्यचेतनजीववर्ग

२ तत्त्वदेवता [यज्ञ, विराट अवयवाश्च]——————नित्य अचेतन-जीववर्ग

३-मूलदेवता [दिव्यभौतिकयौगधिवनस्पतय]——————नित्य अर्द्ध चेतन जीववर्गः

६३७-[१]-यज्ञप्रजापति -(चेतनो नित्य)। (एकनल्शेश्वर)।

१-स्वायम्भुव —ब्रह्मा-ऋषिप्राणप्रवर्त्तक प्राणमय वाङ्मूर्त्ति] अभिमानी चेतनः

२-पारमेष्ठ्य —विष्णु-पितृप्राणप्रवर्त्तकः-आपोमय [अप्मूर्त्ति] अभिमानी चेतन

३-सौरः———इन्द्र—देवप्राणप्रवर्त्तक -वाङ्मय [अग्निमूर्त्ति] अभिमानी चेतनः

४-चान्द्र ——सोम — गन्धर्वप्राणप्रवर्त्तक-अन्नमय [अप्मूर्त्ति] अभिमानी चेतन

५-भौम — — अग्निः-असुरप्राणप्रवर्त्तकः अन्नादमयः वाङ्मूर्त्ति अभिमानी चेतनः

यज्ञप्रजापतिः—पञ्चपर्वा

विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्निगर्भित ब्रह्मणः पञ्चपर्वा, विष्णुः ब्रह्मसौ इन्द्रस्य इन्द्रस्य वा इन्द्राग्निसोमपर्वा यज्ञसौ ह यज्ञपर्वा भूर्भुवः स्वरात्मकानां महाव्याहृतिरूपाणां त्रयाणां लोकानां समष्ट्या मण्डलिमण्डिताधात्मकः समष्टियज्ञमूर्त्तिः, वाक्-आप-अग्नि अग्नि-आप-वाक् इत्यनयोः षट्-गुणात्मकात्मभूमि स्वयम्भोश्वरः सहस्रवल्शात्मकः पारमेष्ठ्यप्रजापतिस्वरूप नित्यगतः सर्वात्मकसमष्टिः समष्टिम स्वायम्भुवो ब्रह्मा यज्ञमूर्त्तिः-"यज्ञप्रजापति"। (पञ्चपर्वा-प्रधाना गुणत्रयानीता ब्रह्मा)।

६३८ (२)-विराट् प्रजापति (चेतना नित्य)—(पार्थिवेश्वर)।

१ | १-स्वरेन्द्रः (३८) द्या—जगती | २ वर्योमः (४४) अन्त -त्रिष्टुप् | १-व्यञ्जनेमः (२४) पृथि०-गायत्री | त्रिलोकी पृथिवी |
अक्षरब्रह्म-अग्नि चेतन

२ | १-ऋक्सामाविष्णु (३३) द्यौ-ज | २-मा सोमोविष्णु (२७) अन्त०-त्रि | १-वेन-विष्णु (२१) पृ —गा | त्रैलोक्यत्रिलोकी ब्रह्माण्डीयम् विष्णु विष्णु (ब्रह्म) |
हिरण्यगर्भवायु-अग्नि०चेतन

३ | १-आदित्य (१) द्युलोक ज | २-वायु (१५) अन्त लोक त्रि | १-अग्निः (९) पृथि लोक गा | मध्यत्रिलोकी पृथिवी गायत्री ब्रह्म। (पृथिवी) |
वैश्वानराग्नि -अग्नि चेतन

४ | १-परिव्याह-चन्द्र-भूलोक ज | २-विश्वकर्मा-विष्णु-भुवर्लोक त्रि | १-हृदयम्—ब्रह्मा—स्वर्लोकः गा | भू पि पि० पृथ्वी पृथ्वी (त्रिलोकी) |
पार्थिवाग्नि-अ चेतन

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपायां (रोदसीत्रिलोकीरूपायां वा) पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मिकायां महापृथिव्यां सहस्रशीर्षे सहस्राक्ष-सहस्रपाद्रूपेण प्रतिष्ठितः पञ्चम्यां च भूमौ प्रतिष्ठितः वाक्साक्षी-(वषट्कार) प्रवर्त्तक-सर्वेन्द्र-लोकसाक्षी-प्रवर्त्तक-हिरण्यगर्भविष्णु,-वेदसाक्षी-प्रवर्त्तक-वैश्वानरब्रह्ममूर्त्तिः, यागसोऽग्निमयः, इन्द्र-वायु-अग्नि-प्रधान पार्थिवेश्वर पञ्चप्रजापत्यस्वरूप भूपिण्डविवर्त्तभावात्मक पञ्चप्रजापते प्रथमावतारः, सर्वसत्त्वप्रवर्त्तक सर्वभूतान्तरात्मेति निगद्यते, पारमेष्ठ्यो विष्णु रात्मन् रे:– 'विराट्प्रजापतिः'' (मध्यसीमस्थान-अन्तरिक्ष-स्थानीयो विष्णु)।

६३६-(३)-कूर्म्मप्रजापति -(चेतनो नित्य)-(अवयवावतारी-दिव्य)॥

१-स्वरेन्द्रो मघवा-(८-स्तोमात्मकेद्यु लोके प्रतिष्ठित -वाङ्मय)-अभिमानी चेतन	
२-भुवरिन्द्रो मरुत्वान्-(४४ स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेप्रति -आपोमय) अभिमानी चेतनः	कूर्म्मप्रजापतिः
१-भूरग्नेन्द्रो वासव-(२४-स्तोमात्मके पृथि प्रतिष्ठित-अग्निमय)-अभिमानी चेतन	

कूर्म्मत्रिलोकीप्रवर्त्तक मते—"कश्यप-पश्यक कूर्म्म-आदित्य" ति प्रसिद्धः, पुराण-समये 'कश्यपप्रजापति -दक्षप्रजामाते"—ति प्रथित पार्थिवभूम्ना (घनरसेन)-आन्तरीक्ष-भूतेन [तरलरसेन]-दिव्यमधुना (विरलरसेन) अभ्यक्त (अभिषिक्त) द्वादश-त्रयोदश-चा-तुर्दशाभि कूर्म्ममिथुन प्रजाभा विभक्त कश्यपीसृष्टिप्रवर्त्तक रसत्रयमूर्त्तिः त्रिविध्येन्द्रत्रयरूपः विराट्प्रजापते शिरःस्थानीये ४८-४४-२४ स्तोमात्मके-द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवीरूप स्वर-भुव-भूरात्मये त्रैलोक्यात्मके-ऐन्द्रपार्थिवलोके वाङ्मये द्युस्थानीये प्रतिष्ठित यज्ञप्रजापतेरवयव मूलायां रोदसीत्रिलोक्या द्युलोके (सूर्य्ये) अन्तर्गर्भितायां-ऐन्द्री-त्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्वात्-यज्ञ प्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापतेरवयवमूले-ऐन्द्र-लोके प्रतिष्ठितत्वात् विराट्प्रजापतेरप्यवयवः-"कूर्म्मप्रजापतिः" (अवयवावतारो- दिव्य)।

६४०(४)वराहप्रजापति -(चेतनो नित्य)-(अवयवावतार -आन्तरीक्ष्य)।

१–त्रिवृत्सोमः—आदिवराह (१-स्तोमात्मकेषु लोके प्रतिष्ठित -वाङ्मयः) अभिमानीचेतन।		वराहप्रजापतिः
२–भास्वरसोम–प्रजावराह (२७-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेप्रति ——आपोमयः) अभिमानीचेतनः		
३–वेनः——यज्ञवराह (३१-स्तोमात्मके पृथि० प्रति ——अग्निमय) अभिमानीचेतन		

'एमूष ब्रह्म–श्वेत–यज्ञ–आदिवराह" इत्येते पञ्चपर्वा–भूमि –चन्द्रमाः–सूर्यः–परमेष्ठी–स्वयम्भूः" इत्येतया पिण्डमात्रानां (सम्वत्सर–भ्रमणादि–मात्राभ्यां) स्वरूपसम्पादको रक्षकः यः—'वराह–वायु–पशूनां मन्यु–मातरिश्वा' इत्येवं प्रथितः, पुराणसमये च–"वराहप्रजापति –पृथिवीपति –भूम्युद्धारक" इत्युपवर्णितः, अनेनाप्रकाशस्वरूपस्य हिरण्यादि (यज्ञपुरुष) तेज–स्नेहस्वरूपस्य भूम्यग्निरोमयस्य रसोरूपस्य पञ्चमस्य (अपां) आधाराः अन्तरिक्षविष्णुस्वरूपः विराट्प्रजापतेः वयस्थानीय ३३–२७–३१ स्तोमात्मक च–अन्तरिक्ष–पृथिवीरूप–त्रिवृत्सोम–भास्वरसोम–वेन (तत्रामन्य आप) मय त्रैलोक्यात्मक वैष्णवपार्थिव लोके आपोमये अन्तरिक्षस्थानीय प्रतिष्ठितः। पञ्चप्रजास्वरूपस्वभूतायां राजसीत्रिलोक्या अन्तरिक्षलोके अन्तर्गर्भितायां वैष्णवीत्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्वात्–यज्ञप्रजापतेरवयव विराट्प्रजापतेरवयवभूत–वैष्णवलोके प्रतिष्ठितत्वात्–विराट्प्रजापतेश्चावयव—'वराहप्रजापतिः' (अवयवावतार–आन्तरीक्ष्य)।

६४१ [५]-वामनप्रजापति [चेतनो नित्य] [अव्ययावतार -पार्थिव]

१-आदित्य -दिव्यवामन [२१-स्तोमात्मकेद्युलोके प्रतिष्ठित -वाङ्मय]-अभिमानी-चेतन.
२-वायु —आन्त वामनः [१५-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षे प्रतिष्ठितः—आपोमय] अभिमानी-चेतनः — वामनप्रजापतिः
३-अग्नि —पा० वामन [९—स्तोमात्मके पृथि वी०प्रति—अग्निमय] अभिमानी-चेतनः

गायत्री-छन्दसा त्रिवृत्स्थानीयं पृथिवीलोकमेकेनपदा त्रैष्टुभेन छन्दसा पञ्चदशस्थानीय मन्तरिक्षलोकं द्वितीयेन पदा पर्वं जागतेन छन्दसा एकविंशस्थानीयं द्युलोकं तृतीयेन पदा-आक्रम्य त्रिभिर्विक्रमैस्त्रैलोक्ये (इत्यत्रैलोक्ये)व्याप्त भूगर्भे च प्रादेशमिते स्थाने व्याप्त मम् वामनो विष्णुः वेदे-उरुक्रम -वामन -म्हानविष्णु - त्रिविक्रमः 'इत्येवंरूपण स्तुत पुराणसमये च "वामनावतार -यज्ञपतिः-बलिबन्धकः त्रिविक्रमावतारः" इत्येवंरूपणोपवर्णितः, गङ्गा-तुलसी-लक्ष्मी-सरस्वती-पृथिवी-इत्येताभिर्मिथुनीकृतरूप पञ्चपत्नीक नाभिकृतस्वर्गाधिपति यज्ञभागी यज्ञ-विरूपसम्बाधा वैकुण्ठनाथ त्रिभुजः, श्याममूर्ति मघवण उपासकसमये च 'शान्ताकार भुजग यन पद्मनाभं सुरेशम्" इत्येवंरूपण नुतः संवत्सर ८४ इति प्रमेया शयान प्रभुस्वरूप त्रिपृथि-व्यग्निरूपस्य विराट्प्रजापतेश्चरणस्थानीये-२१-१५-९ स्तोमात्मके द्यु-अन्त०-पृथिविरूपे आदित्य-वायु-अग्निमये त्रैलोक्यात्मके ब्राह्मपार्थिवलोकेऽग्निमये पृथिवी-स्थानीये प्रतिष्ठित यज्ञ-प्रजापत्यवयवभूतायां रोदसी त्रिलोक्यां पृथिविलोकेऽन्तर्गर्भितायां ब्राह्मी-त्रैलोक्यां प्रतिष्ठितस्यात् यज्ञ प्रजापतेरवयव विराट्प्रजापत्यवयवभूते ब्रह्मलोक प्रतिष्ठितत्वात् विराट्प्रजापतेरवयव— "वामनप्रजापतिः" (अव्ययावतार -पार्थिव)।

२—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो 'मातरिश्वा' दधाति ॥
—ईशोपनिषत् ४

३—तां-मादग्रमार्त्री पृथिवीं एमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः-पृथिव्याः-पतिः प्रजापतिः।
—शत० १४।१।२।११।

४—स-प्रजापतिः-वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत्।
—तै० ब्रा० १।१।३।५।

६४७—वामनप्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [५]—

१—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन् ॥
—ऋक्सं० १।२२।१७, १८।

२—ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥
—कठोपनिषत् ५।३।

३—वामनो ह विष्णुरास। तं प्राञ्चं विष्णुं निपात्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्।
—शत० १।२।५।५,६।

६४८—'अवतार' शब्द का विष्णुदेवतानुगतत्व एवं विष्णु के पारिभाषिक अवतारधर्म्म का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

सम्भवतः पाठकों को यह स्मरण होगा कि, इसमें अवतार का सम्बन्ध विष्णु से बतलाया था। ब्रह्मा, एवं इन्द्रात्मक शिव को तटस्थ माना था। वास्तव में ऐसी ही है जैसे कि पाठक मूलभाष्य के "यदा यदा हि धर्मस्य॰" इत्यादि प्रकरण में देखेंगे। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि-अवतार का मुख्य हेतु "धर्मसंस्थापन" का उपक्रम ही है। एवं धर्मतत्त्व के प्रधान अध्यक्ष विष्णुदेवता ही माने गए हैं। धर्म एक तत्त्व विशेष है (शत० १४।४।२।२६)। धर्मनिष्पत्ति की प्रथम विश्रामभूमि "अप्तत्त्व" है (शत० ७।४।१।६)। अप्तत्त्व ही सौम्यतत्त्व है यही विष्णु है। सौम्यसम्बन्ध से यहां आपोमय परमेष्ठीमण्डल वैष्णव कहलाया है यहां सोम ही को वनस्पत्यात्मक अप्तत्त्व के सम्बन्ध से इसे वारुण कहा जाता है। अपरिचित

पारमेष्ठ्य तत्त्व वरुण है अवत्सत्वमु में इसी की प्रधानता रहती है। परिपक्व वही पारमेष्ठ्य तत्त्व विष्णु है। तत्सत्त्वमु में इसी का साम्राज्य रहता है। अतएव आपोमय वरुण का तप्त–परिपक्व–सोम भाग ही मर्ग है यही मर्ग स्वरूप विष्णु है। यही वारुण मण्डल से प्रवृत्त होकर दशधर्म्मरूप में परिणत हुआ है। दूसरे शब्दों में आपोमय मर्गात्मक वारुण धर्म्म ही सोममय विष्णुरूप से प्रवृत्त–होकर रूपों में परिणत होता है। 'दशलक्षणकम्' इस दशविध स्मार्त धर्म्म का मौलिक रहस्य मर्ग के भेद ही रूप है। 'दशो च दशधर्म्माय' के पौराणिक आख्यान का भी यही मौलिक रहस्य है। क्योंकि धर्म्म की प्रतिष्ठा विष्णु है अत: तद्गुणानि के उपशम में इसी को पूर्णरूप से अथवा अंशरूप से अथवा आवेशरूप से आवश्यकतानुसार अवतार लेना पड़ता है। पर्वोक्त पाँचों अवतार इसी विष्णु के नित्यावतार हैं।

६४६–दशावतारों से विभिन्न भगवान् वासुदेव-कृष्ण के पूर्णावतारतत्त्व का रहस्यात्मक-समन्वय—

(१) स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा पृथिवी इन पाँचों पर्वों की समष्टि में पूर्णभाव का समावेश है। सृष्टकर्त्रेश्वर षोडशी–प्रजापति की पूर्णता का किंवा सर्वेश्वरता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं पाँचों पर्वों को है। क्योंकि सप्तप्रजापति में पाँचों का समह है अत: इसे अवश्य ही नित्य आधिकारिक–धन पूर्णावतार' कहा नाम ता है। पञ्चपर्वात्मक एक ब्रह्माण्ड ही इस का स्वास्थिस्थान है। वे ही पूर्णावतार गोलोकवासी गवाधिहारी गोलोकाधिष्ठाता अव्युनमित [इन्द्रमित्र] औपनिषद ज्ञानप्रवर्तक गोविन्द भगवान् हैं जैसाकि इस्वरसस्यनिरूपणप्रकरण में विस्तार से निरूपित है। इसी मन्त्र स्वर पूर्णावतार विष्णु की स्तुति करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

> विष्णो कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
> इन्द्रस्य युज्यः सखा॥
>
> —ऋक्सं १।२२।१६।

६५०–'पार्थिवेश्वर अवतार' का तात्विक-स्वरूप-समन्वय—

(२) इन महेश्वर प्रजापति के अन्तिम पर्वात्मक भूपर्व से विराट कूर्म्म–वराह–वामन इन चार अवतारों का विकास हुआ है। भूपिण्ड आग्नी पृथिवी सौम्यी पृथिवी–ऐन्द्री पृथिवी इन चारों की समष्टिरूप पार्थिव विवर्त ही विराट् की आत्मसमष्टि है। अतएव इसे हम "पार्थिवेश्वर कह सकते हैं। यही 'नित्य आधिकारिक वामन अंशावतार' कहा जाता है।

६५१–'महीश्वर अवतार' का तात्विक-स्वरूप समन्वय—

(३) विराट्प्रजापति का शिर स्थानीय ४८ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त 'मही' नाम से प्रसिद्ध है। विराडवयवभूत कूर्म्मप्रजापति का स्वास्थिस्थान यह मही नामक पार्थिव विवर्त ही है। अतएव इसे 'महीश्वर'

६४२—हरेः—पञ्चावताराः—

१—यज्ञप्रजापतिः—एकर्ष्येश्वरः—गुणावतारः			हरेः पञ्चावताराः
२—विराट्प्रजापतिः—साधिदैवेश्वर—अंशावतारः			
३—कूर्मप्रजापतिः—महेश्वरः—कलावतारो विभव			
४—वराहप्रजापतिः—सामराज्येश्वर—	,,	आन्तरीक्ष्य	
५—वामनप्रजापतिः—धर्मेश्वर—		पार्थिवः	

६४३—यज्ञप्रजापतिरूप-ब्रह्मावतार-समर्थकानि वचनानि [१]—

१—ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥
—ऋक्सं० ९।९६।६।

२—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

३—ब्रह्म वै स्वयम्भुः-तपोऽतप्यत । तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्त ! भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि-इति । तत्सर्वेषु भूतेषु-आत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि (हुत्वा)-सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्य-स्वाराज्य-आधिपत्य-पर्यैत् ।
—शतपथब्राह्मण १३।७।१।१।

६४४—विराट्प्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [२]—

१—तस्मात्-विराट्-अजायत, विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
—ऋक्सं १।९।५।

१—आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औ-हो-इकार: प्रजापतिर्हिङ्कार: प्राण:-स्वर -अन्नं,-या वाक्-(सा) 'विराट्' ।

—छान्दोग्योपनिषत् १।१३।२।

२-पुरुषो ह नारायणोऽकामयत-अतितिष्ठेय सर्वाणि भूतानि, अहमेवेदं सर्व स्याम्-इति । स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं-यज्ञक्रतुमपश्यत । तेन सर्व-ममवत् । चत्वारिंशदक्षरा विराट् । तद्विराजमभिसम्पद्यते । ततो विराड् जायत । विराजो अधिपूरुष: ।

—शतपथब्राह्मण १३।६।१।१ २।

६४५-कूर्म्मप्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [३]—

१—काल: प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भू -कश्यप: कालात् तप: कालादजायत ॥

—अथर्वसं १९।५३।१०।

२—स यत्-कूर्म्मो नाम-एतद्रूपं कृत्वा प्रजापति प्रजा असृजत । यद् सृजत-अकरोत्-तत् । यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्म । कश्यपो वै कूर्म्म: । तस्मादाहु -सर्वा प्रजा: काश्यप्य:-इति ।

—शत० ७।५।१।५।

३—तां-पृथिवीं-सम्क्लिश्याप्सु-प्राविध्यत तस्यै य: पराङ् रसोऽत्यक्षरत्-स कूर्म्मोऽभवत् ।

—शत ६।१।१।१२।

४—स य स कूर्म्म:, असौ स आदित्य ।

—शत ६।५।१।६।

---

६४६ वराहप्रजापति [अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [४]—

१—प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रत: शुचिबन्धु: पावक: पदा "वराहो" अभ्येति रेभन् ॥

—ऋक्सं० ९।९७।७।

२—अनन्नवेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो 'मातरिश्वा' दधाति ॥
—ईशोपनिषत् ४

३—सा-प्रादेशमात्रीं पृथिवी-एमूष इति वराह उज्जघान । सोऽस्याः-पृथिव्याः-पतिः प्रजापतिः ।
—शत० १४।१।२।११।

४—स-प्रजापतिः-वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत् ।
—तै० ब्रा० १।१।३।५।

६४७-वामनप्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [५]—

१—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । समूळ्हमस्य पांसुरे ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्म्माणि धारयन् ॥
—ऋक्सं० १।२२।१८।

२—ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥
—कठोपनिषत् ५।३।

३—वामनो ह विष्णुरास । तं प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन् ।
— शत १।२।५।४ ६।

६४८—'अवतार' शब्द का विष्णुदेवतानुगतत्व एवं विष्णु के पारिभाषिक-अवतारधर्म्म का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय —

सम्भवतः पाठकों को यह स्मरण होगा कि, हमने अवतार का सम्बन्ध विष्णु से बतलाया था । मत्स्य, एवं इन्द्रात्मक शिव को उत्कृष्ट माना था । बात वास्तव में ऐसी ही है जैसा कि पाठक मूलभाष्य के "यदा यदा हि धर्म्मस्य" इत्यादि प्रकरण में देखेंगे । अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि- अवतार का मुख्य हेतु 'धर्म्मसंस्थानि' का उपक्रम ही है । एवं धर्म्मतत्त्व के प्रधान अध्यक्ष विष्णुदेवता ही माने गए हैं । धर्म्म एव सत्य नियति है (शत० १४।४।२।२६) । सत्यनियति की प्रथम विश्वभूमि "अमृततत्त्व" है (शत० ७।३।२।३) । अमृततत्त्व ही सोमतत्त्व है, यही विष्णु है । सोमसम्बन्ध से यहाँ प्रातीय परमेष्ठीमण्डल वैष्णव कहलाता है यहाँ सोम ही को यज्ञाभ्यावाहक अमृतत्व के सम्बन्ध से इसे वारुण कहा जाता है । अग्निविक

परमेष्ठ्य तत्त्व वरुण है अतएवतनु में इसी की प्रधानता रहती है। परिपक्व यही पारमेष्ठ्य तत्त्व विष्णु है। तत्तनु में इसी का साम्राज्य रहता है। अतएव आपोमय वरुण का तप्त-परिपक्व-सोम भाग ही मर्ग है यही मर्ग मत्स्यरूप विष्णु है। यही वारुण मण्डल से प्रकट होकर त्यायम्मरूप में परिणत हुआ है। दूसरे शब्दों में- वारुणमय-मर्ग मत्स्य वारुण धर्म्म ही सोममय विष्णुरूप से प्रकट-होकर १ रूपों में परिणत होता है। 'दशावतार धर्म्मवर्णनम्'' इस दशविध रमात्त धर्म्म का मौलिक रहस्य मर्ग के ये ही १ रूप हैं। 'दशो च दश धर्म्मार्थ' के पौराणिक आख्यान का भी यही मौलिक रहस्य है। क्योंकि धर्म्म की प्रतिष्ठा विष्णु है अत: तद्ग्लानि के उपशम में इसी को पूर्णरूप से अथवा अंशरूप से अथवा कलारूप से आवश्यकतानुसार अवतार लेना पड़ता है। पूर्वोक्त पाँचों अवतार इसी विष्णु के निरवाचनार हैं।

६४६—दशावतारों से विभिन्न भगवान् वासुदेव-कृष्ण के पूर्णावतारतत्त्व का रहस्यात्मक-समन्वय—

(१) स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य चन्द्रमा-पृथिवी इन पाँचों पर्वों की समष्टि में पूर्णभाव का समावेश है। सर्वव्यापकरेश्वर षोडशी-प्रजापति की पूर्णता का किंवा सर्वेश्वरता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं पाँचों पर्वों को है। क्योंकि यज्ञप्रजापति में पाँचों का समन्वय है अत इसे अवश्य ही 'नित्य आधिकारिक-चेतन पूर्णावतार कहा जा सकता है। एकसूत्रात्मक एक अवाप्त ही इस का ज्योतिःस्थान है। ये ही पूर्णावतार गोलोकवासी वनविहारी गोरसयज्ञविज्ञाता वसुनमित्र [इन्द्रमित्र] औपनिषद ज्ञानप्रवर्तक गोविन्द भगवान् हैं जैसाकि उपनिषद्वर्णनिरूपणप्रकरण में विस्तार से निरूपित है। इसी सर्वेश्वर पूर्णावतार विष्णु की स्तुति करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

> विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
> इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥
>
> —ऋक्सं० १।२२।१९।

६५०—'पार्थिवेश्वर अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(२) इस सर्वेश्वर प्रजापति के अन्तिम पर्वात्मक भूपर्व से विराट् कूर्म्म-वराह-वामन इन चार अवतारों का विकास हुआ है। भूपिण्ड आग्नी पृथिवी, मैत्री पृथिवी—ऐन्द्री पृथिवी इन चारों की समष्टिरूप पार्थिव विवर्त ही विराट् की आधारभूमि है। अतएव इसे हम "पार्थिवेश्वर" कह सकते हैं। यही 'नित्य आधिकारिक चेतन अंशावतार' कहा जाता है।

६५१—'महीश्वर अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(३) विराट्प्रजापति का हिरण्मयानीय ३३ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त 'मही' नाम से प्रसिद्ध है। विराट्स्वरूप कूर्म्मप्रजापति का ज्योतिःस्थान यह मही नामक पार्थिव विवर्त ही है। अतएव इसे 'महीश्वर'

कहा जासकता है। क्योंकि मही नामक पार्थिव विवर्त [ऐन्द्री पृथिवी] भूलोक स्थानीय है । अतएव इसे 'नित्यमाधिकारिक चेतन दिव्य अवयवावतार' कहा जायगा ।

६५२–'सागराम्बरेश्वर अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[४] विराट्प्रजापति का हृदयस्थानीय २१ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त "सागराम्बरा" नाम से प्रसिद्ध है। विराडवयवभूत वराहप्रजापति का व्याप्ति स्थान-सागराम्बरा नामक यही पार्थिव विवर्त है। अतएव इसे सागराम्बरेश्वर कहा जायगा। क्योंकि सागराम्बरा नामक पार्थिव विवर्त (वैष्णवी पृथिवी) अन्तरिक्ष-स्थानीय है। अतएव तत्सम्बन्धी वराहावतार को– 'नित्य आधिकारिक चेतन आन्तरिक्ष्य अवयवावतार' कहा जायगा।

६५३–'उर्वीश्वर अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[५] विराट्प्रजापति का हृदय-स्थानीय २१ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त "उर्वी" नाम से प्रसिद्ध है। विराडवयवभूत वामनप्रजापति का व्याप्तिस्थान उर्वी नामक पार्थिव विवर्त ही है। अतएव इसे उर्वीश्वर कहा जायगा। क्योंकि उर्वी नामक पार्थिव विवर्त [आग्नेयी] पृथिवी–स्थानीय है। अतएव तद्व्याप्त वामनावतार "नित्य आधिकारिक चेतन पार्थिव अवयवावतार' कहा जायगा।

६५४–विराट्प्रजापति के अवयवावतारों का स्वरूप-संस्मरण—

अवयव और अंश में कुछ अन्तर है यह भी जान लेना चाहिए। अंश का प्रभवं से सम्बन्ध है एवं अवयव का प्रयोजन से सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए यों समझिए कि पुत्र पिता का अंश है एवं पिता के हस्त-शिरः-पादादि पिता के अवयव हैं। विराट्प्रजापति प्रजापतिरूप से एक स्वतन्त्र संस्था बन जाती है। अतएव इसे अंशप्रजापतिरूप कहा जाता है। अतएव इसे हम 'अंशावतार' कहते हैं। उधर कूर्म–वराह–वामन–प्रजापति विराट्संस्था के गर्भ में प्रयोजनरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव इन्हें अवयवावतार कहा जाता है। अंशावतार मन का अवतार है। तीनों अवयवावतार विराट् के अवतार हैं।

६५५–चेतन अचेतन भेदनिबन्धन-अवतारों का स्वरूप-समन्वय—

अभिमानी-दृष्टि से ये ही पाँचों चेतन अवतार हैं भूतदृष्टि से शरीररूप पाँचों की मौलिक संस्थाएँ अचेतनावतार हैं। एवं ओषधि–वनस्पति के मौलिक नित्यरूप ही जड़चेतनावतार हैं। इसप्रकार इन नित्य-आधिकारिक पाँचों के तीन विवर्त हो जाते हैं। इनके अनन्तर सामयिक आधिकारिक जीववर्ग हमारे सामने आता है। इनके भी ये ही तीन विवर्त हैं। दो शब्दों में इनके स्वरूप की भी मीमांसा कर लीजिए।

६५६–सामयिक-अवतारों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक आधिकारिक जीव वे जीव माने जायेंगे जो समय समय पर विशेष परिस्थितियों में विशेषरूप धारण कर अवतीर्ण हुआ करते हैं एवं अभिलषित कर्म की समाप्ति पर लीलासंवरण कर लिया करते हैं। इन साम-

चित् आधिकारिक जीवों के भी चेतन अचेतन अर्द्धचेतन भेद से तीन विवर्त हैं। तीनों में से क्रमप्राप्त पहिले चेतनवर्ग को ही लीजिए।

६४७–गोमयवयज्ञाधिष्ठाता पारमेष्ठ्य विष्णु के अवतारों का नाम-संस्मरण—

[१] जिन नित्यचेतन अवतारों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उन पाँचों ही नित्यावतारों के सामयिक अवतार भी हुए हैं। समुद्रमन्थन के अवसर पर कूर्म्मावतार [कूर्म्माकृतिरूप] हुआ है। जलप्रलयावसर पर भूपिण्ड की रक्षा के लिए शूकरावतार हुआ है। बलिगर्वहरण के लिए वामन अवतार हुआ है। आगे जाकर पूर्वोक्त नित्यावतारों के १ अवान्तर विवर्त होजाते हैं जोकि 'दशावतार' नाम से प्रसिद्ध हैं। ये १० सौं ही अवतार उस पूर्णावतार–लक्षण यज्ञप्रजापति–नामक गोमययज्ञाधिष्ठाता विष्णु [कृष्ण] के ही अवतार हैं।

६४८–सामयिक-दशविध अवतारों का नामस्मरण, एवं 'सामयिक-आधिकारिक-अचेतनोपास्य अवतार-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक अवतारों में मीन कूर्म्म वराह, वामन बलराम परशुराम राम बुद्ध कल्की नृसिंह ये १० अवतार प्रसिद्ध हैं। यह एक रहस्य का विषय है कि इन १० सौं अवतारों में सुप्रसिद्ध कृष्णावतार का नाम नहीं है। कारण इस का यही है कि दसों अवतार उस कृष्णमूर्ति यज्ञप्रजापति पूर्णावतार के ही अवान्तर हैं। एवं वासुदेव कृष्ण इस पूर्णावतार की ही प्रतिकृति हैं। नित्यावतारों में जो महत्त्व उस यज्ञप्रजापति का है सामयिक अवतारों में वासुदेव कृष्ण का वही स्थान है। दोनों अभिन्न हैं। पूर्णावतारलक्षण यज्ञप्रजापति के स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी ये पाँच पर्व हैं। इधर वासुदेव कृष्ण नामक सामयिक अवतार–पुरुष में भी ये पाँचों धर्म प्रतिष्ठित हैं जिन की कि विस्तृत मीमांसा मानुषोपासकृष्णरहस्य में की जाचुकी है। यही कारण है कि–अन्य अवतार जहाँ अंशावतार कहलाए हैं वहाँ कृष्णावतार 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' के अनुसार पूर्णावतार कहलाए हैं। अतएव परमभागवत भीष्मदेव ने दसों अवतारों को कृष्णाकृतिरूप ही रूप ही बतलाया है। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' कहते हुए स्वयं गीताचार्य्यने भी वासुदेवकृष्ण की स्वलक्षणया पूर्णावतारता ही सिद्ध की है। वक्तव्यांश यही है कि 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' के अनुसार समय समय पर विशेषरूप धारण कर धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए जन्म धारण करने वाले राम-कृष्णादि-मानुषावतार, मीन-कूर्म्मादि बलीव अवतार, नृसिंह पशुराज आदि अर्ध मानुषावतार हुआ करते हैं। ये ही 'सामयिक चेतन आधिकारिक जीव' कहलाए हैं।

६४९–भागीरथी शालग्रामशिला आदि के सामयिक-अवतारों का का स्वरूप-संस्मरण–

(२) दूसरा विभाग सामयिक अचेतन आधिकारिक जीवों का है। गङ्गा यमुना सरस्वती सरयू, आदि दिव्यनदियाँ शालग्रामशिला आदि अचेतन आधिकारिक जीव माने जायँगे। गङ्गावतार भगीरथ के प्रयास से सगरपुत्रों के उद्धार के लिए हुआ था। पुराण के मतानुसार कलि के ५ सहस्र वर्ष पर्य्यन्त गङ्गातत्त्व भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित रहा। सम्वत् १६५६ में यह तत्त्व लीलार्णवरूप कर गया। यही इस की सामयिकता है। शालग्रामशिला का माहात्म्य कलिके १० सहस्रवर्षों पर्य्यन्त रहेगा। अतएव यह अचेतनावतार भी सामयिक अवतार ही माना जायगा।

६६०–दिव्योषधि-दिव्यवनस्पति-आदि के सामयिक-अवतारों का स्वरूप-संस्मरण—

(३) तीसरा विभाग सामयिक अर्द्धचेतन आधिकारिक जीवों का है। तुलसी, सोमवल्ली, आदि अतिरिक्त दिव्य ओषधि–वनस्पतियाँ सामयिक अर्द्धचेतन अवतार माने जायँगे। "त्रेतायां बहुधा सम्बतानि के अनुसार त्रेतायुग में प्रचलित परीक्षित से परीक्षित पर्य्यन्त (शत का) संचरित यज्ञ की सिद्धि के लिए ही उस नित्य अर्द्धचेतनरूप सोम का अवतार हुआ था। यज्ञविधाविशुद्धि के साथ साथ इस सामयिक सोमवल्ली का भी लीलासंवरण होगया। इसी आधार पर इसे हमने सामयिक अर्द्धचेतन अवतार कहा है।

६६१–आधिकारिक उपास्य-तत्त्व के विभिन्न ६ वर्गों का तात्त्विक स्वरूप-निदर्शन—

इसप्रकार आधिकारिक आरवत्थिक इन दो जीववर्गों में से पहिले आधिकारिक जीववर्ग के नित्य–सामयिक भेद से दो भेद होते हैं प्रत्येक के आगे जाकर तीन तीन विभाग होजाते हैं। सम्भूय आधिकारिक वर्ग के ६ विभाग होजाते हैं जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

नित्यावतार—
१–१–नित्या आधिकारिकाः चेतनजीवाः [मत्स्., विराट् कूर्म्म वराह., वामन., अभिमानिनः]
२–२–नित्या आधिकारिका अचेतनजीवा [मत्स्य विराट् कूर्म्म वराह वामन मौलिका]
३–३–नित्याः आधिकारिका अर्द्धचेतनजीवाः [अश्वत्थः, सोम —"त्वासमी मौलिकाः] ।



सामयिकाः—
४–१–सामयिका आधि चेतनजीवा [मीन कूर्म्मः वराहः वामन रामः –"त्वादय]।
५–२–सामयिका, आधि० अचेतनजीवा [गङ्गा यमुना सरस्वती शालग्राम]।
६–३–सामयिका आधि अर्द्धचेतनजीवा [सोमवल्ली अन्ये च दिव्यलता]।



६६२–नित्य आरवत्थिक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

दूसरा विभाग आरवत्थिक जीववर्ग का है। कर्म्मसंस्कारयुक्त ही आरवत्थिक जीव कहलाता है। इस आरवत्थिक जीव के भी नित्य–सामयिक भेद से दो विवर्त हैं। प्रत्येक के पूर्ववत् तीन तीन विवर्त हैं। पहिले नित्यवर्ग को ही लीजिए। चान्द्रमण्डल में रहने वाले सौम्य शरीरधारी [ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से सम्बन्ध रखने वाले] यक्ष–गन्धर्व–रक्ष–पितर–गन्धर्व यक्ष–राक्षस–पिशाच ये आठ देवयोनियाँ जन्म–मृत्युचक्र में सदा के लिए प्रवाहित मनुष्य पशु, पक्षी कृमि कीट आदि पार्थिव जीव ये सब "नित्य आरवत्थिक चेतन जीव" कहलाऐंगे। प्रतिसंचरक्रम में ही ये मुक्त होंगे।

६६३-विभिन्न-सामयिक आश्वत्थिक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

यवोमय कर्मवत् जो-गेहूँ-निम्ब-नारिकेल-खजूर-तालादि रूपों में परिणत औषधि वनस्पतिवर्ग 'नित्य आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव' कहलावेंगे। एवं पार्थिव सामान्य लोष्ठ-लोहादि वर्ग "नित्य आश्वत्थिक अचेतन जीव" माने जायेंगे। इन तत्तत्-नित्य देवयोनियों की उपासना से तत्तद्योनिरूपों में परिणत मनुआदि देववर्ग योगभ्रष्ट होने से ज्ञानीकुल किंवा सम्भ्रान्तकुल में उत्पन्न दिव्य मनुष्य, एवं भगवान् आदि दिव्य पशु पक्षी दिव्यसर्पादि ये सब सामयिक आश्वत्थिक चेतनजीव कहलावेंगे। भेरुण्डपक्षी नामक दिव्य पक्षी आज कहाँ है। ऐरावत का आज नाम भी नहीं सुना जाता। उच्चैःश्रवा आज केवल लिपि की वस्तु रह गया है। मैनाक नामक दिव्य गज की कीर्ति ही शेष रह गई है। इन्हीं सब कारणों से इन आश्वत्थिक चेतनजीवों को हमने सामयिक कहा है। अथर्ववेद में उपवर्णित कतिपय 'दिव्य ओषधि-वनस्पतियाँ (जो आज विलुप्त होचुकी हैं) सामयिक आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव मानी जायेंगी। दिव्यधातु (सुवर्ण-रजत-स्फटिकादि माणिक्यवर्ग) सामयिक आश्वत्थिक अचेतन जीव माने जायेंगे।

६६४-नित्य, तथा सामयिक जीवों के सम्बन्ध में उपास्य-अनुपास्य की व्यवस्था—

इन ६ वर्गों में नित्य चेतन जीवों में से देवयोनिवर्ग ही उपास्य हैं नित्य मनुष्यादि चेतनवर्ग, एवं अचेतन अर्द्धचेतनवर्ग अनुपास्य हैं। सामयिकों में सामयिक के तीनों वर्ग उपास्य हैं। इसप्रकार आधिदैविक जीववर्ग की भाँति इस आश्वत्थिक जीववर्ग के भी ६ ही विभाग होजाते हैं जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१-१-नित्या-आश्वत्थिकाः चेतनाः (नित्यदेवयोनयः प्राणादिकर्मीयाम)।

२-२-नित्याः- " अचेतनाः (सामान्यलोष्ठलोहादिधातवः)

३-३-नित्याः- " अर्द्धचेतनाः (यव-गोधूमादिवर्गाः)

४-१-सामयिकाः- " चेतनाः (कर्मदेवयोनयः तत्कुलीना मनुष्याः, दिव्यजीवाश्च)।

५-२-सामयिकाः- अचेतनाः (स्फटिक-सुवर्ण-रजतादि-दिव्यधातवः)

६-३-सामयिकाः- अर्द्धचेतनाः (अथर्ववेदोक्ता-दिव्यौषधयः-वनस्पतयः)।

---

६६५ उपासनामार्गों का स्पष्टीकरण-प्रयास—

पाठकों को स्मरण होगा कि-उपासनामार्गों का उपास्यभेदों से पृथक्करण करते हुए हमने वर्गीकरण किया था। वहाँ का वर्गीकरण अस्पष्ट था। यहाँ उसका स्पष्टीकरण कर लीजिए।

६६६–उपासनानुगता अधिकारमर्य्यादा की व्यवस्था—

नित्यचेतन सार्वदेशिक अव्ययप्रजापति निष्कलचेतन ब्रह्म एवं विश्व, नित्य अर्द्धचेतन सोमादि के भौतिकरूप अर्द्धचेतन सोमादि कतिपय परिगणित ओषधि वनस्पतियाँ इन की उपासना का अव्ययप्रजापत्युपासना से समन्वय है। एवं इसका अधिकार एकमात्र शास्त्रज्ञ द्विजातिवर्ग का ही है।

६६७–उपासनानुबन्धी तथ्यों का वर्गीकरणात्मक समन्वय, एवं पञ्चम–अवान्तर–प्रकरण का उपराम—

नित्य चेतन आधिकारिक विराट् कूर्म वराह वामनप्रजापति नित्यचेतन विराट्–कूर्म–वराह–वामनरूप पार्थिव विश्व नित्यअर्द्धचेतन सोमादि के भौतिकरूप सामयिक अर्द्धचेतन सोमादि कतिपय परिगणित ओषधि वनस्पतियाँ इनकी उपासना का विराट्प्रजापत्युपासना से समन्वय है। इसका अधिकार भी शास्त्रज्ञ द्विजातिवर्ग को ही है। सामयिक चेतन दशविध अवतार, सामयिक मत्स्य–रामकृष्णादि चेतन अवतार, सामयिक तुलसी–अश्वत्थादि अर्द्धचेतनावतार, नित्यचेतन आदरणीय आहित्य देवयोनियाँ सामयिक चेतन आदरणीय मेघपानियाँ सामयिक चेतन विश्व मनुष्य पशु पक्षी–कृमि–कीट सामयिक अर्द्धचेतन दिव्य–ओषधि वनस्पतियाँ सामयिक अचेतन दिव्यधातुमय भगवान् की प्रतिमाएँ इन सब का विश्वप्रजापत्युपासना से समन्वय है। एवं यही प्रकृत प्रकरण की वर्त्तमानयुगसम्बन्धिनी उपासना है। इसमें देवयोनियों की उपासना का अधिकार तो द्विजन्मुखों को है। एवं शेष उपासनाएँ स्त्री–शूद्रवर्ग से सम्पन्न हो सकती हैं जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। नामस्मरण सङ्कीर्त्तन कथाश्रवणमाहात्म्य तीर्थगमन स्नानादि भक्तिमार्गों का भी इसी विश्वप्रजापत्युपासना में अन्तर्भाव है। यही कलियुग का सर्वोत्तम भक्तिमार्ग है। इससे भी हम अपना अभ्युदय कर सकते हैं। और यही वर्त्तमानयुगानुगत उपासनामार्ग का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

इति–"युगधर्म्मानुगता–विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगता–भूतोपासना"

नामक

पञ्चम–अवान्तर–प्रकरण–उपरत

५

श्रीः

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगता-भूतोपासना"

नामक

पञ्चम-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

५

श्रीः

प्रतिमा, पूजन, और उपासना

परिशिष्ट—प्रकरण

१—निर्गुण–सगुण विकार–अक्षर–आवरण–परिग्रह–निबन्धना पञ्चविध–उपासनाओं का सङ्कलनात्मक स्वरूप–समन्वय—

युगधर्मों की अपेक्षा से शास्त्रभेद की अपेक्षा से उपास्य–देवता के भेद की अपेक्षा से एवं उपासक की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सम्बन्ध में जितने भेद सम्भव हैं उनका पूर्व के पाँच अवान्तर प्रकरणों में क्रमशः निरूपण किया जा चुका है। पूर्वप्रतिपादित उन अवान्तर सभी उपासनामार्गों का निर्गुणोपासना सगुणोपासना विकारोपासना अक्षरोपासना आवरणोपासना इन पाँचों उपासनाओं में से किसी एक में ही अन्तर्भाव है।

२—ज्ञान ध्यान–कर्म्मफलत्याग अभ्यास, कर्म्मफलपरिग्रहण–मूला अव्यय–षोडशी–यज्ञ विराट्–विश्व–भावनिबन्धना उपासना के तात्त्विक पाँच विवर्तों का स्वरूप–समन्वय—

पाँचों ही मार्ग शास्त्रसम्मत हैं इस में तो कोई सन्देह नहीं, जैसाकि उक्त–प्रकरणों में प्रमाण बतला दिया गया है। साथ ही यही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक युग में सभी प्रकार के अधिकारी हुए हैं एवं सभी युगों में उपास्य के शाश्वत पाँचों रूप निरपेक्षित हैं। अतएव सभी युगों में पाँचों ही मार्ग प्रचलित थे। परन्तु प्रधानता एक एक मार्ग की ही मानी गई। देवयुगमें ज्ञानलक्षणा निर्गुणोपासना प्रधान रही सत्ययुग में ध्यानलक्षणा सगुणोपासना का प्राधान्य रहा त्रेतायुग में कर्म्मफलत्यागलक्षणा विकारोपासना का प्रभुत्व रहा द्वापरयुग में अभ्यासलक्षणा अक्षरोपासना मुख्य रही एवं कलियुगमें कर्म्म-फल–परिग्रहलक्षणा आवरणोपासना का साम्राज्य रहा। ज्ञान– ध्यान–[३] कर्म्मफलत्याग–[४] अभ्यास–[५] कर्म्मफलपरिग्रह ये पाँच भाव ही क्रमशः अव्यय षोडशीप्रजापति (अक्षर) यज्ञप्रजापति (आत्मक्षर) विराट्प्रजापति (विकारक्षर) विश्वप्रजापति वैकारिक प्रपञ्च) इन पाँच उपास्यों के मूलाधार बनें।

३—ज्ञानी जिज्ञासु अर्थार्थी, आर्त–मानवानुबन्धिनी उपासना के अधिकारी–भेद–भिन्न विवर्तों का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त पाँचों मार्गों में से विश्वप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलेप्सु उपासक "आर्त्तभक्त" कहलाया। विराट्प्रजापति की उपासना का अनुयायी अभ्यासमार्गारूढ उपासक "अर्थार्थीभक्त" कहलाया। यज्ञप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलत्यागानुगत उपासक एवं षोडशीप्रजापति की

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे

"युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ"-

नामक

षष्ठ-प्रकारान्तर-प्रकरणात्मक--

चतुर्थ-प्रकरण-उपरत

४



श्री

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्डे

"प्रतिमापूजन, और उपासना"

नामक

* "परिशिष्ट–प्रकरण"



श्रीः

प्रतिमा पूजन, और उपासना

परिशिष्ट—प्रकरण

—•—

१–निर्गुण–सगुण–विकार–अञ्जन–आवरण–परिग्रह–निबन्धना पञ्चविध–उपासनाओं का सङ्कलनात्मक स्वरूप–समन्वय—

युगधर्म्मों की अपेक्षा से शास्त्रभेद की अपेक्षा से उपास्य–देवता के भेद की अपेक्षा से एवं उपासक की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सम्बन्ध में जितने भेद सम्भव हैं, उनका पूर्व के पाँच अवान्तर प्रकरणों में क्रमशः निरूपण किया जा चुका है। पूर्वप्रतिपादित उन अवान्तर सभी उपासनामार्गों का निर्गुणोपासना सगुणोपासना विकारोपासना अञ्जनोपासना आवरणोपासना इन पाँचों उपासनाओं में से किसी एक में ही अन्तर्भाव है।

२–ज्ञान ध्यान–कर्म्मफलत्याग अभ्यास, कर्म्मफलपरिग्रहण–मूला अव्यय षोडशी–यज्ञ विराट्–विश्व–भावनिबन्धना उपासना के तात्त्विक पाँच विवर्तों का स्वरूप–समन्वय—

पाँचों ही मार्ग शास्त्रसम्मत हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं, जैसाकि तत्तत्–प्रकरणों में सप्रमाण बतला दिया गया है। साथ ही वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक युग में सभी प्रकार के अधिकारी हुए हैं एवं सभी युगों में उपास्य के शाश्वत पाँचों रूप नित्यसिद्ध हैं। अतएव सभी युगों में पाँचों ही मार्ग प्रचलित थे। परन्तु प्रधानता एक एक मार्ग की ही मानी गई। देवयुगमें ज्ञानलक्षणा निर्गुणोपासना प्रधान रही सत्ययुग में ध्यानलक्षणा सगुणोपासना का प्राधान्य रहा त्रेतायुग में कर्म्मफलत्यागलक्षणा विकारोपासना का प्रभुत्व रहा द्वापरयुग में अभ्यासलक्षणा अञ्जनोपासना मुख्य रही एवं कलियुगमें कर्म्म–फल–परिग्रहलक्षणा आवरणोपासना का साम्राज्य रहा। ज्ञान–ध्यान–[३] कर्म्मफलत्याग–[४] अभ्यास–कर्म्मफलपरिग्रह ये पाँच भाव ही क्रमशः अव्यय षोडशीप्रजापति (अक्षर) यज्ञप्रजापति (आत्मक्षर) विराटप्रजापति (विकारक्षर) विश्वप्रजापति वैकारिक प्रपञ्च) इन पाँच उपास्यों के मूलाधार बने।

३–ज्ञानी जिज्ञासु अर्थार्थी, आर्त्त–मानवानुबन्धिनी उपासना के अधिकारी भेद–भिन्न विवर्तों का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त पाँचों मार्गों में से विश्वप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलेप्सु उपासक "आर्त्तभक्त" कहलाया। विराट्प्रजापति की उपासना का अनुयायी अभ्यासमार्गीक उपासक 'अर्थार्थीभक्त' कहलाया। यज्ञप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलत्यागानुगत उपासक एवं षोडशीप्रजापति की

उपासना का अनुयायी ध्यानानुगत उपासक ये दोनों जिज्ञासुभक्त कहलाए, एवं निर्गुण अव्यक्तात्मा की उपासना के अनुयायी ज्ञानानुगत उपासक "ज्ञानीभक्त" नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसाकि पूर्वप्रकरणों में स्पष्ट किया जाचुका है।

४–आत्मकामभूता अव्ययोपासना, निष्कामभूता षोडशीप्रजापत्युपासना, इष्टकामभूता यज्ञ विराडुपासना, एवं कामभूता विश्वोपासना का पारिभाषिक-समन्वय—

ज्ञानीभक्त की अव्ययोपासना आत्मकामभूता है, जिज्ञासुभक्त की षोडशी एवं यज्ञोपासना निष्काम-भूता है, अर्थार्थीभक्त की विराडुपासना अभ्युदयमूलक इष्टकामभूता है, एवं आर्तभक्त की विश्वोपासना कामभूता है। आत्मकाम, निष्काम, इष्टकाम, काम ये चार भाव ही चारों भक्तिमार्गों की मूल उपनिषद् बनी हुई हैं। इन काम-निष्कामादि भावों के जो अवान्तर भेद होजाते हैं, उनका तत्तत् प्रकरणों में स्पष्टीकरण किया ही जाचुका है।

५–वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययोपासना, ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मिका षोडशीप्रजापत्युपासना, धर्मबुद्धियोगात्मिका विराट्प्रजापत्युपासना, एवं ज्ञानबुद्धियोगात्मिका अश्वत्थोपासना का पारिभाषिक-समन्वय, तथा गीता के माध्यम से उपासना चतुष्टयी में भक्तिविभाग-व्यवस्थापन—

गीता की दृष्टि से इन उपासनामार्गों का वर्गीकरण कीजिए। अव्ययानुगत ज्ञानी [illegible] उपासनामार्ग का [illegible] वैराग्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग (बुद्धियोग) कहा जायगा। षोडशी अनुगत उपासनामार्ग का ऐश्वर्यानुगत ऐश्वर्यबुद्धियोग (भक्तियोग) कहा जायगा। [illegible] अनुगत उपासनामार्ग का [illegible] कर्मयोग ([illegible] उपासना) का धर्मानुगत धर्मबुद्धियोग (कर्मयोग) माना जायगा, एवं [illegible] ज्ञानमार्ग ([illegible] उपासना) को [illegible] ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) कहा जायगा। इसी [illegible] से यह भी सिद्ध होजाता है कि गीताविज्ञानभाष्य [illegible] बुद्धियोग-भक्तियोग-कर्मयोग-ज्ञानयोग इन चार योगों का [illegible] में से १–२–३–इन तीन मार्गों [illegible] है। इसी आधार पर यह भी कहा जासकता है कि [illegible] तीन मार्ग ही [illegible] है। [illegible] मैं ही [illegible] है। [illegible]

[illegible]–[illegible] समन्वय से उपासना के [illegible] एवं उनका [illegible]-स्वरूप समन्वय—

[illegible]

संकीर्तन आदि लौकिक (पौराणिक) प्रथाओं का अनुगमन करना ४–५–वीं वर्ग के उपासनामार्ग हैं। इन दोनों मार्गों में कर्म्मफल पर विशेष दृष्टि है। इन दोनों मार्गों से उत्कृष्ट-कर्म्मनिष्ठा है कर्म्म से उत्कृष्ट भक्तिनिष्ठा है सर्वोत्कृष्ट बुद्धियोगनिष्ठा है। इसप्रकार बुद्धियोग कर्म्मयोग ज्ञानयोग भक्त्युपासना अवतार-प्रतिमा-तीर्थोपासना-भेद से उपासना के ६ विवर्त्त होजाते हैं। इन ६ ओं विवर्त्तों का पूर्वप्रतिपादित ५ मार्गों में ही अन्तर्भाव है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१–निर्गुण–अव्यय (१)–बुद्धियोग –वैराग्यबुद्धियोग
२-षोडशी (२)—– भक्तियोग –ऐश्वर्य्यबुद्धियोग
३-परमेश्वर (३)——कर्म्मयोग –धर्म्मबुद्धियोगः
४-यज्ञेश्वर (४)— —ज्ञानयोग –ज्ञानबुद्धियोगः
५-विराट् (५)——इष्टयोग –मनोयोगः
६-विश्वम् (६)——कामयोग –सेन्द्रियमनोयोग

—★—

७–गीताशास्त्र की वैराग्यबुद्धियोगात्मिका आत्मकामोपासना का सर्वाधिकारानुगतित्व-निबन्धन सार्वभौमत्व, एवं तदपेक्षया गीताशास्त्र के हृदयभूत 'आत्मभक्ति' तत्त्व की सर्वोपकारकता का रहस्यपूर्ण समन्वय—

( )— काम-निष्काम इत्काम-आदि भावभावों से एकान्ततः पृथक् रहते हुए, भद एवं इदं में कोई भेद न समझते हुए भारतवर्ष में रहने वाली वर्णाश्रम-धर्म्मानुयायिनी भारतीय प्रजा (आ स से य) अपने अपने अविकृत कर्म्मों में यावज्जीवन प्रतिष्ठित रह, भारतवर्ष में रहने वाले अन्त्यज अस्त्यावसायी दुराचारी दस्यु, उत्पथगामी म्लेच्छ ईसाई पारसी मुसलमान ब्रह्मसमाजी भारतवर्षेतर देशों में रहने वाले चीनी जापानी बर्म्मी युरोपियन जर्म्मन अमेरिकन फ्रान्सीसी इटालियन तुर्की रूसी आदि आदि समस्त भूमण्डल के मनुष्य अपने अपने सामाजिक दैशिक राष्ट्रीय व्यक्तिगत नियमोपनियमों पर दृढ़ रहते हुए आत्मसमभाव से यावज्जीवन स्व स्व कर्म्मों में प्रतिष्ठित रहें यही परिष्कृत वैराग्य-बुद्धियोग मार्ग है। इस प्रणाली से गीता का यह बुद्धियोगधर्म्म सार्वभौमधर्म्म बना हुआ है। इसी दृष्टि से गीता भारतीय-वर्णाश्रमानुगता प्रजा के साथ साथ समस्त मानवजगत् का भी अभ्युदय कर रही है। यही गीताज्ञान (बुद्धियोग) की सर्वोपादेयता एवं सर्वव्यापकता है। इस योग का सब को समानाधिकार है। आत्मसमभावना-पूर्वक स्वकर्त्तव्य में यावज्जीवन लगे रहना (फिर चाहे वह कर्त्तव्य दोषयुक्त ही क्यों न हो) ही बुद्धियोग का निष्कर्ष है। हाँ प्रत्येक दशा में यह तो लक्ष्य में रखना ही होगा कि, वर्णप्रजा का स्वकर्त्तव्य शास्त्रसिद्ध अविकृत कर्म्म ही होगा। उसे तो इस बुद्धियोगमार्ग में भी शास्त्रनिर्दिष्टमार्ग का ही अनुगमन करना पड़ेगा। इतर व्यक्ति शास्त्रीय मार्ग में अनधिकृत रहते हुए अपने अपने देशधर्म्म–कुलधर्म्म जातिधर्म्म का अनुगमन करते हुए सर्वभूता समभावनात्मिका समानात्मभावना से ही मुक्त होसकेंगे।

८–सार्वभौमसिद्धान्तव्यवस्थापक भी गीताशास्त्र के द्वारा भारतदेशनिबन्धना द्विजाति-प्रजानुबन्धिनी प्रातिस्विकी शास्त्रमूला– षोडशीप्रजापति' की भक्ति का रहस्यपूर्ण समन्वय—

यही कारण है कि जहाँ भगवान् ने अनन्ययोग के सम्बन्ध में–'येऽपि स्यु पापयोनयः —"अपि चेत् सुदुराचारः" कहते हुए उनके शास्त्रविरुद्ध कर्मों को भी अनन्यभक्तियोगलक्षण बुद्धियोग-के समावेश से उत्तम मान रहे हैं वहाँ वर्णप्रजा के सम्बन्ध में– तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" यही निष्कर्ष लगा रहे हैं। इसी रहस्य के आधार पर बुद्धियोग के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि, यह भाग शास्त्र निर्णय के द्वारा वर्णप्रजा का अभ्युदय करता हुआ आत्मानन्यता के उपदेश के द्वारा इतर मानव समाज के अभ्युदय का भी उपदेश दे रहा है।

—१—

९–ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मिका उपासना से अनुप्राणित सर्वोद्धारप्रजापति, एवं भगवत्-भक्त व–भेद–निबन्धना–स्त्री–शूद्रानुगता उपासना का द्वैविध्य—

(२)—ऐश्वर्यबुद्धियोगलक्षणा भक्ति का स्वरूप उत्तरखण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यहाँ उपक्रमवृत्ति के लिए यही जान लेना पर्याप्त होगा कि सर्वव्यापक (मायामय सदसद्व्यापक परात्पर) ईश्वर का सर्वोद्धाररूप से ध्यान करते हुए ही अपने अधिकृत कर्मों का एकमात्र प्रवर्तक मानते हुए अधिकारनिष्ठ वर्णानुसार स्व–स्व कर्मों में आजीवन प्रवृत्त रहना ही गीता का भक्तियोग' है। इस भक्ति का अधिकार एकमात्र वर्णाश्रमधर्मानुयायिनी भारतीय–प्रजा को ही है। कारण-शीघ्ररूप से यही ईश्वर का साक्षात् करने में समर्थ हुई है। इस सम्बन्ध में भी शूद्रवर्ग के लिए ओंकार का विधान जिन्हों ही की दृष्टि में अनुचित है जिन्हें ही साम्प्रदायिक "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" "ओं नमो नारायणाय" इत्यादि रूप से शूद्र को भी तत्तत् स्मार्त मन्त्र की दीक्षा का विधान करते हैं।

—२—

१ –निष्काम–सकाम–भावापन्ना यज्ञप्रजापतिमूला यज्ञ–विराडुपासना का अन्यतम अधिकारी सावित्री–संस्कार–युक्त भारतीय द्विजाति–मानव, एवं तत्र स्त्री शूद्र-वर्ग का अनधिकार—

(१)—आजीवन निष्कामभाव से वैदिक यज्ञकर्म में लोकाभ्युदयकामना की दृष्टि से) प्रवृत्त रहना ही गीता का कर्मयोग है। इसका अधिकार एकमात्र विद्यायुक्त द्विजातिवर्ग को ही है। स्त्री–शूद्र–द्विज-बन्धुओं को इस का सर्वथा अनधिकार है। क्योंकि इन के आत्मा में हिरण्मयसंस्कार के धारक धर्म का जन्म से ही अभाव है। इसीलिए 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' यह कहा गया है। इसीलिए इन का इस कर्मयोगात्मक यज्ञकर्म से यज्ञप्रजापति ही उपास्य होता है। इन्हीं उभयों से यज्ञरहस्यबोध

कर्मठ द्विजाति अतिवृष्टि अनावृष्टि महामारी दुर्भिक्ष अकाल राष्ट्रविप्लव आदि का शमन करने में समर्थ होता है ।

—३—

११-ज्ञानबुद्धियोगानुगता-सिद्धयुपासना के सम्बन्ध में अधिकारी-भेद-व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(४)—पुत्र वित्त-लोकैषणाओं का परित्याग कर, सन्यासमार्ग का ग्रहण कर आत्मचिन्तन-पूर्वक योगाभ्यास में प्रवृत्त रहते हुए नैष्कर्म्य-कर्मलक्षणा ज्ञान क्रिया में निमग्न रहना ही गीता का 'ज्ञानयोग' है । इस का अधिकार भी द्विजातिवर्ग को ही है । इस ज्ञानयोगात्मक योग से भी महत्प्रजापति ही उपास्य होता है । यही मार्ग केवल आत्मनिर्भयम् का कारण बनता हुआ क्षीणप्रकर्मभाव से सम्बन्ध रखता है ।

—४—

१२ पुण्ययोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना, तथा इष्टयोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना के सम्बन्ध में द्विविध-विभिन्न अधिकारियों की व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(५)—कामनापूर्वक (स्वर्गादि फलों की कामना से) यज्ञीकर्म को त्रिगुणभावमय बनाकर काम्य-यज्ञकर्मों में प्रवृत्त रहना एवं आगमोक्त देवाराधना का अनुगमन करते हुए सिद्धिकामना के पीछे अनुधावन करते रहना ही गीता का पुण्ययोग किंवा इष्टयोग है । इस योग से विराट् प्रजापति ही उपास्य होता है । इसमें काम्य यज्ञकर्म का अधिकार तो केवल द्विजातिवर्ग को ही है । दूसरे सिद्धिमार्ग का अधिकार विषमवर्णों को भी है ।

—५—

१३-कामनानुगता अवताराद्युपासना के सम्बन्ध में अधिकारीभेद-निबन्धना व्यवस्था का स्वरूप समन्वय—

(६) कामनापूर्वक काम्य अवतारोपासनात्मक प्रतिमापूजन व्रत तीर्थगमन आदि में प्रवृत्त रहना ही भक्तियोग है । स्त्री-शूद्रों को (वैयक्तिक प्रतिमापूजन के द्वारा) इस मार्ग का पूर्ण अधिकार है । सार्वजनिक पीठस्थानप्रतिष्ठापन प्रतिमोपासना में तो स्त्री-शूद्रवर्ग अनधिकृत माने जायँगे । एवं इस प्रतिमोपासना का विषयुपासना में ही अन्तर्भाव माना जायगा ।

—६—

१४ यथाकथित षड्विध उपासनाओं का गीताशास्त्र के द्वारा सङ्केतविधि से समन्वयात्मक समन्वय—

उक्त ६ ओं मार्गों का गीता ने सङ्केतरूप से बड़े ही मार्मिक शब्दों में स्पष्टीकरण कर दिया है । पाठकों को विदित है कि, गीता के ६ अध्याय से आरम्भ कर ११ अध्याय की समाप्ति पर्यन्त राजविद्यानुगत ऐश्वर्य

बुद्धियोगलक्षण भक्तियोग का निरूपण हुआ है। (देखिए भा० भू० म० ८ का विश्वविभागप्रकरण पृष्ठ-संख्या ६०)। इन चार अध्यायों में से ९-१०-११ तीन अध्यायों में तो भक्ति के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन हुआ है एवं १२ वें अध्याय में भक्तिमार्गानुबन्धी ६ मार्गों का तत्तद्विधि से विभूदर्शन कराया गया है।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥
—गीता १२।१।

१५-अर्जुन का महत्त्वपूर्ण प्रश्न, एवं भगवान् के द्वारा 'युक्ततमविधि' से समाधानोपक्रम-

अर्जुन का प्रश्न बुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग एवं सांख्ययोगलक्षण ज्ञानयोग से सम्बन्ध रखता है। बुद्धिलक्षण ज्ञानयोग का 'त्वां' से तथैव अव्यक्त से सम्बन्ध है। बुद्धियोगी भी योगी है, ज्ञानयोगी भी योगी है। दोनों ही एकप्रकार से ज्ञानयोगी हैं। ज्ञानी हैं। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है? दोनों में कौन योग का वास्तविक मर्म समझने वाला है?, यही प्रश्न है। श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—अर्जुन!

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
—गीता १२।२।

१६-ज्ञानी-तपस्वी-भक्त-नामक तीन वर्गों के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा भक्ति-विभाग संस्थापन—

जो व्यक्ति मुझ (अव्यय) में अपने मन को प्रविष्ट कर नित्ययुक्त (योगक्षेमरूप) बन कर मेरी उपासना में रत हैं साथ ही जो परमश्रद्धा (अव्ययश्रद्धा) श्रद्धा से युक्त हैं मेरी दृष्टि में (दोनों में वे ही) युक्ततम हैं। उन्होंने ही योग का वास्तविक स्वरूप समझा है। दोनों ज्ञानयोगियों में अव्ययमुक्त योगी ही योगवित्तम है। पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व में हमने ज्ञानी तपस्वी भक्त इन तीनों की अपेक्षा योगी (बुद्धियोगी) को श्रेष्ठ बतलाया था एवं योगी की अपेक्षा भी युक्ततम योगी को श्रेष्ठ कहा था।

१७ अत्यन्त रहस्यपूर्ण-भक्तिविभाग के सम्बन्ध में गीता की मननीया सोपक्रमी—

षडर्विद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग-प्रकरण के उपसंहार में भी भगवान् ने लोकप्रचलित ज्ञान-कर्म-भक्ति—तीनों योगों की अपेक्षा वैराग्यबुद्धियोग को ही श्रेष्ठ बतलाया है। एवं इस योग के उपासनाकालीन अव्यय अक्षरयुक्त अव्यय के भेद से दो विभाग मानते हुए दोनों में अक्षरयुक्त अव्यययोगानुगामी योगी को ही योगवित्तम कहा है। और यही निर्णय यहाँ भी दोहराया गया है। देखिए!

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ॥
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

—गीता ६।४६ ४७

— ●●●: —

१८—क्लेशसाध्या इन्द्रियसंयमादि-लक्षणा अव्यक्तोपासना के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा महत्वपूर्णा श्लोकत्रयी के रूप से हृदयोद्गार, एवं अव्यक्तोपासनात्मिका ज्ञाननिष्ठा का नीरक्षीर-विवेक—

इसप्रकार यद्यपि राजर्षिविद्यात्मक बुद्धियोग-प्रकरण के उपसंहार में ही भगवान् ने बुद्धियोग का युक्ततमत्व सिद्ध कर दिया था। परन्तु आगे बतलाई गई भी ज्ञानविद्या एवं भक्तिविद्या के सम्बन्ध में पुनः अर्जुन को सन्देह हुआ एवं उसके निराकरण के लिए पुनः भगवान् को वही निर्णय "ते मे युक्ततमा मताः" इत्यादिरूप से दोहराना पड़ा। इसप्रकार बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग की दूसरे शब्दों में निर्गुण अव्यय-मूला ज्ञानोपासना की सर्वश्रेष्ठता बतलाकर दूसरे अव्यक्तज्ञानमूलक ज्ञानयोग के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए भगवान् आगे जाकर कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

—गीता १२।३ ४ ५

१६—सांख्यनिष्ठात्मिका अव्ययोपासना के सम्बन्ध में भगवान् की सम्मति—

श्लोकार्थ स्पष्ट है। सर्वव्यापक अचिन्त्य कूटस्थ अचल अव्यक्त अक्षर अनिर्देश्य अक्षर से सम्बन्ध रखने वाला सांख्यसम्मत ज्ञानयोग सर्वभूतहितरति-लक्षण लोकसंग्रह को लक्ष्य बनाता हुआ सर्वोत्कृष्ट बनकर अवश्य ही उपादेय है। परम्परया यह ज्ञान भी (अक्षर के द्वारा) मां प्राप्ति (अव्ययप्राप्ति) का कारण तो बन ही जाता है। परन्तु क्लेशसाध्य इन्द्रियसंयमादि लक्षण ज्ञानयोग में सफलता मिलना थोड़ा कठिन ही है। यही इस पक्ष के सम्बन्ध में भगवान् की सम्मति है।

२०• राजविद्यानुगता भक्ति का राजमार्गत्व, एवं तत्सम्बन्ध में गीता की महत्वपूर्णा श्लोकत्रयी—

ज्ञानमार्गीय ढंग पर पहिले भगवान् ने बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग एवं [illegible] की तुलना की। भक्ति का गौरवपूर्ण में समर्थन बतलाया गया है। एवं इसी भक्ति

को ध्यानात्मिका भक्ति कहा गया है। अपने सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वरार्पण करते हुए ईश्वर का (मोक्षी का) ध्यान करते हुए तदभ्यास में प्रवृत्त रहना ही भक्तियोग है। यह भक्तियोग ज्ञानयोग की अपेक्षा तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही सकामकर्मात्मक कर्मयोग की अपेक्षा भी मृत्युसंसारसागरतारण के लिए यह राजमार्ग है। इसी राजमार्ग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशित-चेतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

—गीता १२।६-८

२१–अभ्यासमार्गरूप-विराडुपासनात्मक-चतुर्थ-कर्म्ममय भक्तिमार्ग का स्वरूप-संस्मरण एवं तत्सम्बन्ध में भागवसिद्धान्त-व्यवस्था—

अब चौथा अभ्यासमार्गरूप विराडुपासनात्मक कर्म्ममय भक्तिमार्ग हमारे सामने आता। जो व्यक्ति स्वप्रिन्द्रिय से व्यापक ईश्वर का ध्यान करने में असमर्थ हैं उन्हें चाहिए कि–वे ईश्वरविभूतिरूप शिव सूर्य, गणपति आदि ईश्वरावयवों में से किसी एक की निष्कामभाव से आराधना करते हुए क्रमशः व्यापक ईश्वर की ओर जाने का अभ्यास करें। इस चिरकालिक अभ्यास से वह उपासक जन्मान्तर में विराट् के द्वारा अवश्य ही उस व्यापक के ध्यान में समर्थ होता हुआ अमृत को प्राप्त कर लेगा। आगमसम्मत विराडुपासनात्मक कर्मप्रधान इसी मार्ग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ! ॥

—गीता १२।९।

२२–आयासरूपा आगमोपासना में भी असमर्थ मानवों के अभ्युदय के लिए गीताशास्त्र के द्वारा रहस्यपूर्ण सुगमतमपथों का संस्थापन, एवं तद्रूपा निरीक्षोपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मान लीजिए–जो द्विजबन्धु इस आयासरूपा आगमोपासना में भी अनिष्ठा का अनुभव करते हैं एवं स्त्री-शूद्रादि वर्ग अनधिकारवश इसमें प्रवृत्त नहीं होसकते। उन के अभ्युदय का क्या उपाय है। उत्तर यही निरीक्षोपासना। अभ्यास में असमर्थ द्विजबन्धु–शूद्र–स्त्रीवर्ग को भगवान् के निमित्त ही कर्म्म करना चाहिए। मनुष्यत्व के लिए भगवान्पूजन, तीर्थ उपवास कथाश्रवण, हरिनाम-संकीर्तन आदि ही मुख्य साधन हैं। इसी निरीक्षोपासना का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

—गीता १२।१० ।

२३—यज्ञेश्वरोपासनात्मक उपासनामार्ग का पारिभाषिक-समन्वय—

अब एक मार्ग बाकी बच गया । वह है यज्ञात्मक कर्ममार्ग । कर्मफल की वासना छोड़ते हुए लोकसंग्रहबुद्धि से शास्त्रीय यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहना ही यज्ञेश्वरोपासनारूप कर्ममार्ग है । कर्मफलत्यागात्मक कर्मयोग के भगवान् ने शास्त्रीय कर्ममार्ग [यज्ञमार्ग] एवं लौकिक कर्ममार्ग भेद से दो भेद कर दिए । शास्त्रीय कर्ममार्ग श्रौतसम्मत यज्ञमार्ग है । इसका अन्तर्भाव तो भगवान ने पोडशी ईश्वर में होने वाले सर्वकर्मसंन्यासलक्षण भक्तियोग में ही मान लिया । परन्तु इस लौकिक फलत्यागलक्षण कर्ममार्ग को स्वतन्त्र कर दिया ।

२४—ईश्वरसत्ताविमुख-यथाजात प्राकृत-मानवों के समुद्धार के लिए गीताशास्त्र के द्वारा अद्भुतम-कर्मफलत्यागात्मक-रहस्यपूर्ण-पथ का संस्थापन—

मान लीजिए—हम भगवान् को नहीं मानते । ईश्वरसत्ता में हमारा कोई विश्वास नहीं । अथवा जो ईश्वरसत्ता में तो विश्वास करते हैं परन्तु प्रतिमापूजन अवतारोपासना तीर्थगमन उपवास, नामस्मरण आदि माध्यमिकों को अपनाने के लिए न जिनके पास समय है न योग्यता है अपितु जो सामयिक प्रवाह में पड़ कर परवश सेवावृत्ति में ही निमग्न हैं। उन के उद्धार का क्या उपाय है, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर भगवान कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रित ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

—गीता १२।११

२५—सर्वास्था-मान्यता- शून्य भी मानवों के समुद्धार से अनुप्राणिता भगवद्भावना—

यदि तुम ईश्वरसत्ता पर विश्वास करते हुए भी तन्निमित्त कर्म नहीं कर सकते तुम कर्म को ही अपने काम का कारण समझते हो, दूसरे शब्दों में तुम स्वार्थसिद्धि के लिए ही सेवाकर्म व्यापार, वकालत डाक्टरी इञ्जिनीयरी एवं अन्यान्य लौकिक कर्मों में अहोरात्र व्यस्त रहते हो उपवास-तीर्थ-प्रतिमापूजन आदि माध्यमिकों में श्रद्धा विश्वास रखते हुए भी तुम इनके अनुष्ठान में अपने आप को असमर्थ पाते हो, तब भी कोई क्षति नहीं ।

२६—कर्मफलत्यागात्मक अपूर्व पथ का पारिभाषिक-समन्वय—

यदि तुम ईश्वर को नहीं मानते प्रतिमार्चन तीर्थादि पर तुम्हारा कोई विश्वास नहीं, शास्त्र गुरु आदि का उपदेश तुम्हारी दृष्टि में सर्वथा निरर्थक है तब भी कोई हानि नहीं । हम एक उपाय तुम्हें ऐसा बतलाते हैं जिसके अनुगमन से तुम शास्त्रसिद्ध आदेशों में से किसी एक पर भी न चलते हुए आत्मा—परमात्मा-

धर्म्म-कर्म्म-देवता-आश्रय-गुरु आदि किसी को न मानते हुए भी हम आत्माभ्युदय कर सकते हैं। आत्माभ्युदय भी कैसा ?, अभ्यास ज्ञान ध्यानादि सब मार्गों से कहीं उत्कृष्ट। वह उपाय है—*कर्म्मफलत्याग*।

२७-आस्तिक भारतीय मानव का दम्भपूर्ण आज का जीवनचित्रण, एवं नास्तिक मानवों का दम्भशून्य, अतएव लोकाभ्युदयसफलतानुबन्धी भौतिक जीवन, और उभय-समतुलन-माध्यम से एक विशुद्ध तथ्य का स्वरूप-समन्वय प्रयास—

"हम नास्तिक से आस्तिक बन जाएँ ईश्वर को मानने लगें वर्णाश्रमधर्म्म का अनुगमन करते हुए बड़े धर्म्मात्मा बन जाएँ नामसंकीर्तन करते करते हमारे नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगे भगवत् *प्रतिमार्चन में घण्टों व्यतीत करते हुए हम परम भागवत बन जाएँ* तीर्थाटन करते करते हम शरीर को स्वच्छ कर डालें उपवास करते करते शरीर को कांटा बना डालें सत्कर्म्म में अपना जीवन समाप्त करें इन में से कोई भी शास्त्र का मुख्य उद्देश्य नहीं है। शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है आत्ममुक्ति आत्माभ्युदय कर्म्मसंस्कारपाश में बद्ध आत्मा का कर्म्मपाश से निकल कर स्वस्वरूप में विश्राम। यदि हमने उक्त शास्त्रीय प्रकारों का अनुगमन करते हुए आत्ममुक्ति कर ली कर्म्मलेपबन्धन से छुटकारा पा लिया तो अवश्य उक्त सभी प्रकार सफल हैं। यदि आजीवन शास्त्रीय प्रकारों का अनुगमन करते हुए भी फलासक्तिवश हम कर्म्मलेपबन्धन से न छूट सके तो सब प्रकार व्यर्थ हैं। यही नहीं ऐसे शास्त्रभक्त ईश्वरभक्त आस्तिक, पूजक, अर्चक, उपासक नामस्मरणकर्त्ता परमभागवत, तीर्थसेवी व्यक्ती की अपेक्षा तो घोरपरिश्रम उन शास्त्रविरोधी अनीश्वरवादी नास्तिक पुरुषार्थिस्वरूप ईश्वर नाम से घृणा करने वाले भोगों के विरोधी उपवास के कट्टरशत्रु लौकिक मनुष्य का आसन कहीं ऊँचा है जो इन साधनों को तो बदनाम नहीं करता। वे इन साधनों के नाम पर शास्त्र-ईश्वर-आदि सब को कलङ्कित तो करते ही हैं साथ ही इस मिथ्याडम्बर में पड़ कर लोकवैभव से भी वञ्चित रहते हैं। इधर एक नास्तिक इन सब साधनों को धोखा देने के कलङ्क से तो बचा ही रहता है साथ ही भौतिक-समृद्धि का पात्र भी बन जाता है चाहे फिर परिणाम में वह भौतिक वैभव उस के समूल विनाश का ही कारण क्यों न बन जाय।

२८-वर्त्तमान आस्तिक-शास्त्रभक्त-भारतीय-मानवों के आत्यन्तिक-पतन का स्वरूपचित्रण—

वर्त्तमानयुग के साथ परिस्थिति की तुलना कीजिए। हम भारतवासी बड़े अभिमान के साथ ईश्वर-भक्त का दम भरते हैं। शास्त्रभक्ति से जमीन आसमान एक कर देते हैं। आए दिन उपवास करते हैं। भगवान का पूजन करते हैं। देवदर्शन में प्रीति रखते हैं। अहोरात्र शास्त्रचिन्तन करते रहते हैं। जप करते हैं दर्शन करते हैं। यज्ञ करते हैं। भक्तिभाव से गङ्गा-यमुना में गोता लगाते हैं। स्थान स्थान पर बजरङ्गी पर हरे राम हरे राम के तुमुलनाद से आकाश विदीर्ण करते हैं। हरिकथा श्रवण करते हैं। आचार्य-सन्त महन्तों के चरण पूजते हैं। लाखों दान करते हैं। इसप्रकार आयुका अधिक भाग *शास्त्रसेवा में ही व्यतीत करदेते हैं। परन्तु.... । व्यर्थ है। लेशमात्र भाव भी नहीं मिलता। अभ्युदय*-निःश्रेयस की कथा तो दूर रही दिन-दिन आत्मप्रकाश खोते जाते हैं। परतन्त्रता अधिकाधिक विकट बनती जाती है। आत्मा के अमरत्व की डींग हाँकने वाले हम मौत के भय से ही पर्दे में जा छुपते हैं। क्या शास्त्रानुगमन का यही लाभ है ?।

२९–शास्त्रशून्य प्रतीच्य मानवों की भूतोन्नतिमूला भूतजीवनपद्धति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

उधर उन पश्चिमी देशों को देखिए, जो शास्त्रादि के नाम से भी अपरिचित रहते हुए, केवल मानवीय विज्ञान के आधार पर किस प्रगति से लोकवैभव में आगे बढ़ते जारहे हैं। भारतीय धार्मिक समाज कहा करता है पश्चिमी देशों का बढ़ता हुआ वैभव एकदिन उन का संहार कर डालेगा। ठीक है। हम भी सहमत हैं। परन्तु आप की क्या दशा होरही है! पहिले यह तो सोचिए। आप कर्म धर्म चिल्लाते हुए कौनसा पुरुषार्थ कर रहे हैं!। आप तो न इधर के रहे न उधर के। फिर आपको समालोचना करने का क्या अधिकार है!।

३० शास्त्रीय मार्ग के 'मुख्य' उद्देश्य का पारिभाषिक-समन्वय प्रयास—

बिना किसी ननु नच के आप को यह मान ही लेना चाहिए कि शास्त्रीय-मार्ग का मुख्य उद्देश्य पूर्वोक्त आचारों में से एक भी नहीं है। शास्त्र चाहता केवल यही है कि आप यथोचित कर्म करते हुए भी कर्मलेप के बन्धन में न आवें। इस मुख्य लक्ष्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधनरूप से शास्त्र ने भक्ति–उपासना–पूजन तीर्थादि का विधान किया है। उस ओर मन लग जाने से आप का मन फलाशा से मुक्त रहेगा परिणामतः कर्मलेप न होगा कर्म करते हुए भी आप मुक्त होजावेंगे और यही शास्त्र का मुख्य उद्देश्य माना जायगा।

३१ कर्मफलासक्ति अनासक्ति के माध्यम से शास्त्रीय-उद्देश्य का नीरक्षीर विवेक-समन्वय—

यदि शास्त्रीय सभी आदेशों का अनुगमन करते हुए भी आपने फलाशा न छोड़ी तो शास्त्रादेशानुगमन न केवल व्यर्थ अपितु हानिकर। ठीक इस के विपरीत यदि शास्त्र के महाजाल में न पड़कर आपने केवल बो समय से (यथासम्भवात्) काम लेते हुए फलाशा का परित्याग कर दिया तो आप मुक्त होगए, शास्त्रोद्देश्य सिद्ध होगया।

३२–गीताशास्त्र के एक रहस्यपूर्ण श्लोक का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना कर्मफलानासक्ति से अनुप्राणिता पारिभाषिकी संज्ञप्ति, तथा 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' का फलितार्थ-समन्वय—

धर्म कर्म शास्त्र-ईश्वर-परलोक–आदि का न मानने से कोई हानि नहीं होती न किसी कर्म से ही कोई क्षति। कर्म स्वस्वरूप से कर्म है भगवान् की विभूति है फिर वह शास्त्रीय हो अथवा लौकिक। हानि का एकमात्र कारण है–कर्मलेप कर्मलेप की एकमात्र जननी है–फलाशा। इसे छोड़ना कोई कठिन नहीं है। एक घोर नास्तिक भी यह तो बिना किसी आपत्ति के मान ही लेगा कि फल को हम उत्पन्न नहीं करते अपितु हमारा कर्म ही फल को उत्पन्न करता है। एक इञ्जिनीयर का आत्मा–बुद्धि–मन–बिना शरीर किसी भाष्कर के एकरूप नक्शे का निर्माण नहीं करता। अपितु उसके इन अवयवों से संचालित क्रिया ही नक्शा तय्यार करती है। कर्म करना हमारा काम फलस्वरूप उत्पन्न करना कर्म का काम। कर्मफल कर्म है न कि कर्मफल हमारा फल है। हमारा फल कर्म है कर्मफल कर्म का फल है। हम कर्ममात्र के

अधिकारी हैं कर्ममात्र के हेतु हैं न कि कर्मफल के। – 'मा कर्मफलहेतुर्भूः'। हम मानते हैं कि बिना फल के कर्मप्रवृत्ति सम्भव नहीं। परन्तु यह कौन कहता है कि आप निरुद्देश्य कर्म कीजिए। अवश्य ही किसी उद्देश्यसिद्धि के लिए कर्म कीजिए। भगवान केवल यही कहना चाहते हैं कि कर्मकाल में कर्मफल की पर्यवेक्षा न कीजिए। मानवीय मन में शक्ति परिमित है। कर्मप्रवृत्तिकाल में फलपर्यवेक्षा करने से मानवशक्ति बँट जायगी। कर्मसिद्धि में जितना बल लगना चाहिए न लगेगा फलतः अपूर्ण रह जायगा यह हानि। जब आप यह जानते हैं कि फल पैदा करना कर्म का काम है तो फिर इस अनधिकृत फलपर्यवेक्षा से क्या लाभ है। आप को तो अनन्यभाव से केवल कर्म में ही जुट जाना चाहिए। फल तो बंधा ही है। साथ ही आप आसक्ति से भी बच जायेंगे पुरुषार्थ सिद्ध होजायगा। यही वह उपाय है जिस से हम जैसे संसारी मायावी जीव भी कालान्तर में आत्माभ्युदय कर सकते हैं और पूर्वश्लोकने इसी उपाय का स्पष्टीकरण किया भी है। कर्मफलत्याग ही ज्ञान–ध्यान अभ्यासादि इतर मार्गों का चरम उद्देश्य है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, दीखने में सबसे नीचे के अधिकारियों का कर्मफलत्यागलक्षण यह अन्तिम मार्ग परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है। यही सूचित करते हुए भक्तिप्रकारों का उपसंहार करते हुए भगवान् सर्वान्त में कहते हैं—

> श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
> ध्यानात् कर्मफलत्याग स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
> (१२।१२)।

—•—

२३–विश्वप्रजास्थिति का उपोद्बलक कर्ममार्ग, एवं उसीके द्वारा सम्पन्न प्रजापत्युपासना—

जैसाकि पूर्व में बतलाया गया है कर्मफलत्यागलक्षण शास्त्रीय मानसम्मानिक कर्मयोग एवं कर्मफलत्यागलक्षण लौकिक कर्ममार्ग दोनों को भगवान् ने समान आसन पर प्रतिष्ठित रक्खा है। पहिला जब प्रजापति से सम्बन्ध रखता है दूसरा विश्वप्रजापति से सम्बन्ध रखता है। फलांश में दोनों समान हैं अतएव प्रकारान्तर से इसे फलत्यागलक्षण लौकिक कर्म में ही अन्तर्भूत मान लिया है। और शास्त्रीय–दृष्टि से भी यह मान्यता सुसङ्गत बन जाती है। चाहे लौकिक कर्म हो, अथवा शास्त्रीय यदि फलवासना नहीं है तो त्यागबुद्धि का अपने आप उन्मेष होजाता है। फलतः ऐसा कर्ममार्ग विश्वप्रजास्थिति का उपोद्बलक बनता हुआ प्रजापति में अर्पित होजाता है।

२४–भक्तिमार्गापेक्षया भी तथाविध कर्ममार्ग की श्रेष्ठता का स्वरूप-समन्वय—

यद्यपि पूर्व में हमने कर्मयोग की अपेक्षा ध्यानात्मक भक्तिमार्ग को श्रेष्ठ बतलाया था परन्तु यह श्रेष्ठता उपास्य की श्रेष्ठता पर ही निर्भर है। यदि लोकसंग्रहदृष्टि से विचार किया जाता है तो कर्ममार्ग (भक्तिमार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक) लोकसंग्राहक बनता हुआ भक्तिमार्ग से भी श्रेष्ठ बन जाता है।

२५–शास्त्रसमन्वयमूलक-उपासनातत्त्व का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

निष्कर्ष यह निकला कि वैराग्यलक्षण ज्ञानयुक्त बुद्धियोग तो एक स्वतन्त्र एवं श्रेष्ठतम मार्ग है। इसे किसी अन्य योग की तुलना में नहीं रक्खा जा सकता। अवशेष बचते हैं-भक्तियोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग।

कामयोग भगवदर्पणभावना से अभ्युदय बन जाता है। इष्टयोग अभ्यासात्मक देवोपासना से फलप्रद बन जाता है। ज्ञानयोग अक्षर के द्वारा ... बन जाता है। कर्मयोग सर्वेश्वर के द्वारा सिद्धि का जनक बन— जाता है। एवं भक्तियोग सर्वकर्मसहित अव्ययज्ञान के द्वारा सिद्धि का प्रवर्तक बन जाता है। इन पाँचों में कामयोग कामभाव के समावेश से निम्न है। इष्टयोगात्मक अभ्यासयोग इससे श्रेष्ठ है। अभ्यासयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग श्रेष्ठ है। ज्ञानयोग की अपेक्षा ध्यानयोगात्मक भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है। एवं इस की अपेक्षा कर्मफलत्यागलक्षण शास्त्रीय लौकिक कर्मयोग श्रेष्ठ है। त्यागसे शान्ति मिलती है। आत्मा का शीघ्र उद्धार जाता है आत्मा स्वस्वरूप में आ जाता है।

* बुद्धियोग –अव्ययोपासना (उपासना) सर्वोपकारकमार्गः	
१–भक्तियोग –श्वो म उपासना (भक्ति) २–कर्मयोग—यज्ञम उपासना (कर्म) ३ ज्ञानयोग यज्ञम उपासना (ज्ञानम्)	द्विजातीनामेव
४ इष्टयोग—विराड्म उपासना (कर्म) ५–कामयोग—विराड्म उपासना (कर्म)	–द्विजबन्धूनां द्विजातीनाम –स्त्री–शूद्रद्विजबन्धूनाम्
*–फलत्यागयोग –योगयोपासना (कर्म)	सर्वोपकारकमार्गः
* बुद्धियोगः—सर्वथा स्वात्म–त्यागाच्छान्तिरनन्तरम (परमार्ग)	

१–कर्मयोग (२)–शास्त्रीयः }
२–फलत्यागयोग (*) लौकिकः } —कर्मफलत्यागयोग

३–भक्तियोग (१)शास्त्रीय—ध्यानयोग
४–ज्ञानयोग (३) शास्त्रीय —ज्ञानयोगः
५–इष्टयोग (४) शास्त्रीय—अभ्यासयोग

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्
ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात् कर्मफलत्यागः
(मध्यममार्गः)

* कामयोग –(शास्त्रीय)—साधारणमार्ग (अधममार्गः)

२६–भक्तियोगानुबन्धी–'साकारब्रह्म' का सस्मरण एवं साकारब्रह्म के माया-कला-गुण विकार-अञ्जन-आवरण–नामक षड्विध परिग्रहों का सस्मरण—

उक्त उपासना–भेदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तो अब कोई विरोध शेष नहीं रहा। अवश्य ही पूर्व के पाँच प्रकरणों में प्रतिपादित पाँचों ही उपासनामार्ग प्रामाणिक हैं। इस प्रामाणिकता के साथ साथ यह भी हमें निर्विवाद मान ही लेना चाहिए कि, अधिकारीभेद से सभी मार्ग उपासना के माध्यमिक बनते हुए अपने अपने स्थान में सर्वथा उपादेय हैं। और अन्त में यह भी सिद्ध हो ही जाता है कि, उपासना किंवा भक्तियोग का एकमात्र सम्बन्ध "साकारब्रह्म से ही है फिर चाहे वह साकार ब्रह्म माया–कला–गुण–विकार–अञ्जन–आवरण–इन ६ परिग्रहों में से किसी भी परिग्रह से सम्बन्ध रखता हो।

२७–उपासनापथ के महान् पारिभाषिक सूत्र–'असतस्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' का स्वरूप–समन्वय—

इन उपासना–विवर्तों को हमने गुणभेद से विभक्त माना है। एवं इसी गुणभेद के आधार पर इनमें श्रेणि–विभाग किया गया है। शास्त्र ने [वेद–पुराणादि ने] अधिकारी के भेद की मर्यादा को सुरक्षित रखते हुए जहाँ सभी उपासना–भेदों को पूर्ण आदर दिया है वहाँ गुणधर्म-भेद–सम्बन्धी श्रेणि–विभाग की दृष्टि से इन में उत्तम–मध्यमादि व्यवस्था भी की है। "असतस्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" सिद्धान्त की मुख्य मानने वाला शास्त्र यह कभी नहीं चाहता कि, आवरणपरिग्रह से युक्त आत्मा के विकास-लक्षण मूर्तभाव [प्रतिमा] को माध्यमिक बनाने वाला प्रतिमोपासक मानवजीवन उसी माध्यमिक पर प्रतिष्ठित रहे। अपितु वह चाहता है कि–इस माध्यमिक के द्वारा क्रमशः विराट्, एवं योगादि पर पहुँचता हुआ निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञान–वैराग्यलक्षणा बुद्धियोगरूपा आत्मभक्ति का अनुगामी बनता हुआ वह स्वस्वरूपलक्षण विदेहभाव को प्राप्त होजाय।

२८–अवतार–तीर्थ–व्रत–प्रतिमा–आदि–भेदभिन्ना विश्वोपासना के सम्बन्ध में क्रमिका भ्युदयमूलक–रहस्य–पूर्ण–पारिभाषिक–उद्बोधन—

यही कारण है कि, लोकसंग्रहदृष्टि से सिद्धि अवतार, प्रतिमा आदि की उपासनाओं का पूर्ण आदर करने के साथ साथ ही [उपासक यहीं न रह जाय इस दृष्टि से] इनकी अपेक्षा वैराग्यज्ञानलक्षणा बुद्धियोगात्मिका भक्ति का ही यशोगान किया है। वेदशास्त्र को तो छोड़िए। पुराणशास्त्र को ही लीजिए जिसके सम्बन्ध में अज्ञजनों की यह भ्रान्ति है कि, पुराण वैदिक नहीं हैं। अपितु वेदविरुद्ध अवतार–प्रतिमा–तीर्थ आदि की कल्पित उपासना बतलाने वाला एक कल्पित शास्त्र है। अवतारादि का निरूपण करने के कारण साम्प्रदायिक की सीमा से बहिर्भूत, ऐसे सम्प्रदायानियों की दृष्टियों में केवल कल्पनात्मक आख्यानोपाख्यानों के निरूपण के कारण ही यदि पुराणशास्त्र एक कल्पित शास्त्र है तब तो उन वेदमन्त्रों की वैदिकता भी सुरक्षित नहीं रह सकती। कारण–स्वयं वेद में भी अवतार–प्रतिमा–तीर्थादि की उपासना का एवं पौराणिक आख्यानोपाख्यानों का विस्तार से निरूपण हुआ है जिनके कि स्पष्टीकरण का प्रकृत में अवसर नहीं है।

३९–पुराणशास्त्र से अनुप्राणिता उपासना के सम्बन्ध में तत्त्वविमर्श, एवं भ्रान्तों की भ्रान्ति का निराकरण-प्रयास—

हाँ यदि पुराणशास्त्र केवल अवतार प्रतिमा-सिद्धि आदि–उपासनाओं के निरूपण पर ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देता वेद की भाँति परात्पर–पुरुषादि सम्बन्धिनी निर्गुण वैराग्य ज्ञानादि भक्तियों का निरूपण न करता इनकी श्रेष्ठता सिद्ध न करता तो अवश्य ही यह शास्त्र एक अपूर्ण शास्त्र रह जाता। परन्तु हम देखते हैं कि उपासनामार्ग के सम्बन्ध में वेदशास्त्रने विशेषतः वेदशास्त्र के अन्तिम पर्वरूप उपनिषत् ने एवं तदनुगामिनी स्मार्ती गीतोपनिषत् ने जिन भेदियों का स्पष्टीकरण किया है पुराण में उन सब का ज्यों का त्यों स्पष्टीकरण मिलता है। उदाहरण के लिए लोक में विशेषरूप से प्रचलित श्रीमद्भागवत पुराण को ही लीजिए।

४० भक्तिपथक्षेत्र में षट्त्रिंशद्विध (३६) पुराणोपपुराणों के समतुलन में श्रीमद्भागवत का ही प्राधान्य—

और किसी पुराण का नामोल्लेख न कर भागवत पुराण को ही इस प्रकरण में मुख्य स्थान क्यों दिया ?, इसमें भी कुछ रहस्य है। यों तो सभी पुराणों में इतर विषयों के साथ साथ भक्ति एवं उपास्य ईश्वरविषय का निरूपण हुआ है। परन्तु भक्तिवाद के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत सब पुराणों से आगे निकल गया है। यही कारण है कि १८ पुराण १८ उपपुराण इन ३६ पुराणों से भागवत पुराण स्वतन्त्र है। कहा जाता है कि–व्यासदेवने संहिता ब्रह्मसूत्र ३६ पुराणोपपुराणादि का संकलन करके भी आत्मतुष्टि का अनुभव नहीं किया। अन्त में जब उन्होंने श्रीमद्भागवत का उसकी भी रासपञ्चाध्यायी का निर्माण किया तब कहीं व्यास के भागवत हृदय को पूर्ण शान्ति मिली।

४१ श्रीभागवत के पारिभाषिक–'भागवत' नाम का पारिभाषिक–स्वरूप-समन्वय—

पुराणमर्यादा के अनुसार भागवत में पौराणिक १८ विषयों का तो निरूपण हुआ ही है परन्तु प्रधानतया ईश्वरस्वरूप भगवन्माया भगवद्भक्ति इन तीन विषयों का ही उपबृंहण हुआ है। ईश्वर भी भगवान् हैं ईश्वरमाया भी भगवान् की चित्शक्ति बनती हुई भगवद्रूपा है एवं भगवद्भक्ति (ज्ञानवैराग्ययुक्त) भी भगवद्रूपा ही है। इन भगवत्ता के सम्बन्ध से ही यह ही ग्रन्थ 'भागवत' कहलाया है। भक्ति मायामय भगवान् की ही सम्पत् है एवं भागवत इस विषय का स्पष्टीकरण करने वाला मुख्य ग्रन्थ है अतएव भक्तिप्रकरण के सम्बन्ध में और किसी पुराण को आगे न करते हुए हमने भागवत को ही मुख्य मान लिया है।

४२–भक्तिपुत्र वैराग्य एवं ज्ञान का कलौ युग वार्द्धक्य एवं भक्ति का करुणविलाप—

भागवत ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तिमार्ग का ही ग्रन्थ है इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रमाण-भागवतमाहात्म्य ही है। आरम्भ में ही नारद यह बतलाते हैं कि मैंने घूमते घूमते यमुनातट पर एक बड़ा आश्चर्य देखा। देखा कि एक–तरुणी स्त्री खिन्नमना बन कर रुदन कर रही है। और दो सम्पूर्ण जर्जरकाय तन हुए वृद्धावस्था में उसके समीप पड़े हुए हैं। वह उन दोनों की परिचर्या कर रही है साथ ही चारों ओर

बाल फाड़-फाड़ कर किसी ऐसे व्यक्ति की प्रतीक्षा कर रही है जो इनके शरीर को सुरक्षित रख सके। यह प्रश्न करने पर उस बाला स्त्री ने उत्तर दिया कि—मैं भक्ति हूँ, ये दोनों वृद्ध पुरुष ज्ञान वैराग्य नाम के मेरे पुत्र हैं। कालयोग से दोनों वृद्ध होगए हैं। भागवतसप्ताह के योग से एवं भागवतिकों के सम्पर्क से मेरा शरीर पुत्रों सहित नवजीवित होजाता है इत्यादि (भा. मा. १ अध्याय २७ से ५४ पर्यन्त)

४३-श्रीमद्भागवत की भक्ति-प्रधानता के सम्बन्ध में किञ्चिद्विध आवेदन—

सम्प्रथम भागवत का उपदेश महामुनि वीतराग श्रीमच्छुकदेव के द्वारा परीक्षित के प्रति हुआ था यह सर्वविदित है। परीक्षित का यह उपदेशश्रवणकाल कलिसीमा के गर्भ में प्रविष्ट था यह भी निर्विवाद है। इस युगधर्म के प्रभाव से ही शास्त्रीय भक्ति का स्वरूप लुप्तप्राय होचुका था।* बुद्धियोगलक्षण योग (योगात्मिका उपासना) ज्ञानयोग, कर्मयोग विशुद्धोपासनात्मक सिद्धिमार्ग इत्यादि का स्वरूप विकृत होचुका था। ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्ति का मौलिक स्वरूप लुप्तप्राय होचुका था। इसी भक्तिमार्ग के प्रचार के लिए भागवत ग्रन्थ अवतीर्ण हुआ। इस दृष्टि से भी भागवत को भक्तिप्रधान ग्रन्थ—मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

४४-श्री मद्भागवत के द्वारा भक्ति के ज्ञान-वैराग्य नामक वृद्धपुत्रों को जीवनप्रदान—

हमें तो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होरहा कि, उपनिषद् ने जिस निर्गुणभक्ति को जन्म दिया विवस्वान के प्रति गीतोपदेश के द्वारा जो भक्ति विकसित हुई व्याससूत्रों के द्वारा जिस भक्ति का प्रचार हुआ श्रीमद्भागवत् ने (लोकसंग्रह की दृष्टि से लीलाचरित नामस्मरण प्रतिमालम्बन आदि भागवतभक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हुए) मुख्यरूप से भक्ति के विशुद्धस्वरूप ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों को ही पुनर्जीवित किया। इसी दृष्टि से हम भागवत को भगवद्गीता—भाष्य मानने के लिए तय्यार हैं।

४५-श्रीमद्भागवत की समाधिभाषा, एवं तत्प्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित वल्लभसिद्ध शुद्धाद्वैतसम्प्रदायात्मक-पुष्टिमार्ग का समन्वय—

यही कारण है कि परम वैदिक शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्यश्री ने वेद-गीता-व्याससूत्रों के साथ साथ भागवत की समाधिभाषा को भी प्रमाण माना है। भागवत में-लौकिकभाषा परमतभाषा समाधिभाषा भेद से तीन दृष्टियाँ हैं। व्यास का (ज्ञानवैराग्ययुत निर्गुणात्मक—भक्तिरूप अपना) प्रातिस्विक मत ही समाधिभाषा है। समाधिभाषा के आधार पर ही पुष्टिमार्ग का विकास हुआ है जैसाकि निम्न लिखित पद्यों में स्पष्ट है—

* न योगी, नैव सिद्धो वा न ज्ञानी, मद्भक्तियो नरः।
कलिदावानलज्ञाय साधनं मत्स्मृतं गणम्॥

सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ॥
भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते ॥१॥
वेदा, श्रीकृष्णवाक्यानि, व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥२॥
लौकिकी, चान्यभाषा च समाधे पोषिकेतु तु ॥३।'

४६–पौराणिक–दृष्टिकोण के अभिव्यञ्जक कतिपय सन्दर्भ—

हाँ तो कहना यह था कि पुराणने युगधर्मानुसार भक्तिमार्गों का श्रेणि-विभाग करते हुए ज्ञानवैराग्य-युत भक्तिमार्ग की ही श्रेष्ठता सिद्ध की है। दूसरे शब्दों में–उसने बुद्धियोगपक्ष का ही समर्थन किया है। यही नहीं, एक स्थान पर तो स्पष्ट शब्दों में उसने प्रतिमापूजन को सामान्य अधिकारियों की ही वस्तु मान लिया है। विशेष विस्तार का अवसर नहीं है। केवल कुछ एक वचन ही उद्धृत कर दिए जाते हैं जिन के आधार पर पाठक स्वयं ही यह निर्णय करलेंगे कि पुराण का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है—

४७ [१]–निगु णाव्ययोपासनात्मक (वैराग्यमय अद्वैतलक्षण-सर्वश्रेष्ठ) भक्तिमार्ग (बुद्धियोग)—

१–तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ (३।२६।७२।)

२–प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ (३।२७।१।) — ।

३–यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ (३।२७।२७।) ।

४ मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ (३।२७।२८।)

५–प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः ।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ (३।२७।२६।) ।

६–यदा न योगोपचितासु चेतो–
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्यात्–
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ (३।२७।३०।) ।

—अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥ (गीता)

७—लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ (३।२९।१२) ।
८—स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ (३।२९।१४) ।

९

४८—निर्गुणान्ययोपासनात्मकस्य बुद्धियोगमार्गस्य सर्वोत्कर्षसूचनार्थं प्रतिमोपासनाया —अवरत्त्वनिरूपणम् —

१—अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
२—यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् * ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥
३—द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
४—अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥
५—अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
६—आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥
—३।२९।२१ से २६ पर्य्यन्त ।

---

* यह सुना गया है कि, अज्ञानवशात् शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने वाले सनातनियों, एवं आर्य्यसमाजियों में ऐसे श्लोकों के द्वारा ही स्वार्थसिद्धि की वृथा चेष्टा की जाती है । अवश्य ही यह देश का दुर्भाग्य है कि आज हमारा वैदिक-जगत् सर्वथा ही निर्बल बन चुका है । विचार किस पद्धति से करना चाहिए ?, पूर्वापर की संगति से शास्त्रीय वचनों का क्या मर्म्म निकलता है ?, यह दृष्टि आज सर्वथा उच्छिन्न होचुकी है । यदि कोई "[illegible]" से प्रतिमापूजन के खण्डन का अभिमान करता है तो कोई उक्त पुण्यवचन का मर्म्म न समझ कर प्रतिमापूजन का खण्डन करता है । विधि की यह कैसी विडम्बना है ? ।

४६-(२)—सगुण-षोडशीप्रजापत्युपासनात्मक-(भक्तिमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग—(भक्तियोग)

१-मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभय ॥ (११।१२।१५) ।

२-यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
स एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥ (११।१२।२१) ।

३-द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कप्रविष्टः ॥ (११।१२।२२) ।

४-अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ (११।१२।२३) ।

५-एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ (११।१२।२४) ।

६-मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ (११।१३।२४) ।

७ एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था—
म मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण—
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥ (११।१३।३३) ।

८-न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव ! ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जिता ॥ (११।१४।२०) ।

६-वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥(११।१४।२४)।

१०-विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ (११।१४।२७) ।

११ तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥ (११।१४।२८) ।

२

५०-[३]-सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(कर्म्ममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-(कर्म्मयोग)।

१-यावत्र जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ (२।२।१४)।

२-एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥ (२।३।११)।

३-अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ (२।३।१०)।

४-कर्म्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं वदे विभज्योभयलिङ्गमाश्रितम्।
विरोधि यद्यौगपदैककर्त्तरि द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म्म नच्छति ॥ (४।४।२०)

५-राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम् ॥ (२।३।९)।

३

५१-(४)-सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(ज्ञानमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (ज्ञानयोग)

१-अकर्त्तुः कर्म्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः क्रमम् ? (३।२७।१९)

२-ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ (३।२७।२२)।

३-प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥ (३।२७।२३)।

४-अतएव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ (३।२७।५)।

५–यदैवमध्यात्मरत कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनि ॥ (३।२७।२७)।
६–प्राणस्य शोधयन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ (३।२८।६)।
७–मनोऽचिरात् स्याद्विरज जितश्वासस्य योगिन ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ (३।२८।१०)।
८–यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकन ॥ (३।२८।१२)।

४

५२-(५)–साञ्जन-विराट्प्रजापत्युपासनात्मक-(काम्यकर्म्ममय–द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (इष्टयोग)—

१–ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकाम प्रजापतीन् ॥
२–देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्य्यकामोऽथ वीर्य्यवान् ॥
३ अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान् देवान् राज्यकाम साध्यान् संसाधको विशाम् ॥
४–आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ॥
५–रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् ।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥
६–यज्ञं यजेद्यशस्काम कोशकाम प्रचेतसम् ।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम् ॥
७–धर्मार्थमुत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत् ।
रक्षाकाम पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥

८–राज्यकामो मनून् देवानिर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् ।
कामकामो यजेत् सोमम् ॥

—श्रीमद्भागवत २।३।२ से ६ पर्य्यन्त

९ (१)–जिताशनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रिय ।
स्थूले भगवतो रूपे मन सधारयेद्धिया ॥

१० (२)–विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥

११ (३)–अण्डकोषे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रय ॥

—२।१। २४।२५।

१२ (४)–इयानसावीश्वरविग्रहस्य य संनिवेश कथितो मया ते ।
संधायतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मन स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥

१३ (५)–स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
त सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥

—।१।३८,३९,।

५

५.३–(६)–सावरण विश्वप्रजापत्युपासनात्मक–(काममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग–[कामयोग]—

क–१–देवयोनिनिबन्धना सिद्ध्युपासना–विश्वोपासना—

१–जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ (११।१५।१)

२–सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ (११।१५।३) ।

३–यथामामपि सिद्धीनां हेतु पतिरहं प्रभु ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥ (११।१५।३५) ।

—१—

ख-२-मनुष्य-पशु-पक्षी-कीटादि निबन्धना-उपासना [विश्वोपासना]

१-यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ (११।११।४१)
२-सूर्य्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ (११।११।४२)
३-सूर्य्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना (११।११।४३) ।
४-वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥ (११।११।४४)
५ स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ (११।११।४५) ।
६-धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत समाहितः ॥ (११।११।४६)
७-मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्य्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्म्मानुकीर्त्तनम् ॥(११।११।३४)
८-मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ (११।११।३५)
९-गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ।
मज्जन्मकर्म्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ॥ (११।११।३६) ।
१०-यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ (११।११।३७) ॥
११-ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्म्माणि ॥ (११।११।३८) ।
१२-सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मम दासवद्यदमायया ॥ (११।११।३९) ।

१३—अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ (११।११।४०) ।
१४—नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ (१२।१३।२३) ।



५४-युगधर्म्मभेद-निबन्धन-भक्तिमार्ग-स्वरूप—

कृतयुगे—

१—आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥ (११।१७।१०)
२—वेदः प्रणव एवाग्रे धर्म्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ (११।१७।११)



त्रेतायुगे च—

द्वापरयुगे—

३—त्रेतायुगे महाभाग ! प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥ (११।१७।१२)
४—विप्रक्षत्रियविट् शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ।



कलियुगे—

५—एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत् सारनीरसम् ।
विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च ॥
६ कुकर्म्माचरणात् सारं सर्वतो निर्गतोऽधुना ।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा ॥
७—विप्रैर्भागवती वार्त्ता गेहे गेहे जने जने ।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ॥

८–कामक्रोधमदालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तपसि तपः सारस्ततो गतः ॥
९–मनसश्चाजयाल्लोभदम्भात्पाखण्डभयात् ।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम् ॥
१०–असुप्रभृतिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥
११–परिडतास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव ।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ॥
१२–न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा ।
एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले ॥
१३–अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम् ।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः ॥

५५–पौराणिक-उद्धरणों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग का स्वरूपसमन्वय, एवं वर्तमानयुगे तदुपासना की भी स्वरूप-विच्युति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

उक्त पौराणिक उद्धरणों से यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि कलहमूलक कलियुग में प्रचलित भक्तिमार्ग अपनी ज्ञान वैराग्य–तप–प्रणिधान आदि मौलिक सम्पत्तियों से वञ्चित हो ही गया है साथ ही प्रतिमा-पूजन नामस्मरण गुरूपासन आदि भक्ति के जो रूप [विरक्तप्राप्स्युपासनारूप] विशेषरूप से कलियुग के लिए ही विहित हुए हैं उन का स्वरूप भी एकप्रकार से लुप्तप्राय ही बन चुका है। प्रतिमापूजन ने स्वार्थ-सिद्धि का, नामस्मरण ने लोकख्याति का, गुरूपासना ने साम्प्रदायिक रूढिवादमूलक व्यक्तिपूजन का आसन ग्रहण कर लिया है। साधन ने साध्य का बाना पहिन लिया है। यदि इन्हीं कदाचारों से देश में प्रतिमापूजन के विरोधी उत्पन्न होजायँ तो इसमें इन विरोधियों का कोई दोष नहीं माना जासकता। और यह भी निर्विवाद है कि, यदि प्रतिमापूजन का यही अर्थ है तो ऐसे प्रतिमापूजन का शास्त्र में तो विधान भी नहीं है।

५६–उपासनामार्ग के सम्बन्ध में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित माध्यस्थ्य का स्वरूप-समन्वय–

शास्त्र किस लक्ष्य से प्रतिमापूजन का विधान करता है ?, इस प्रश्न की आलोचना तो पाठक आगे के उपासनाभेदों में देखेंगे। यहां इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि निर्गुण–निष्प्रपञ्च–निराकार अतएव व्यापक आत्मतत्त्व के साथ तन्मयभाव प्राप्त करने के लिए किसी सगुण सर्वदृश्योपलम्भ साकार, अतएव परिच्छिन्न विग्रहमूर्ति का माध्यमिकरूपेण (मन लगाने के लिए) आश्रय लेना ही प्रतिमापूजन है। बिना इस माध्यमिक के उपासना में कभी सफलता नहीं मिल सकती।

५७–ज्ञान-कर्म्म-उपासना-नामक तीनों हीं पर्वों में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मध्यस्थ 'भूतभावों' का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में सर्वथा अपेक्षित शब्दप्रमाण का संस्मरण—

न केवल उपासना ही, अपितु ज्ञानकाण्ड एवं कर्म्मकाण्ड में भी हमें लक्ष्यसिद्धि के लिए आरम्भ में भौतिक द्रव्यों को ही माध्यम बनाना पड़ता है। ज्ञान का उदय भूत द्रव्यों के समाश्रय पर ही निर्भर है। एवमेव कर्म्मसिद्धि भी भौतिक पदार्थों के आश्रय की ही अपेक्षा रखती है। निर्विकल्पक ज्ञान भूतविरहित कर्म्म प्रतिमानिरपेक्ष उपासना तीनों ही साधनाकोटि में सर्वथा निरर्थक हैं। इसप्रकार बिना प्रतिमा-माध्यम के भारतीय महर्षियों की शास्त्रीया सौम्यसी एवं लौकिकी सौम्यसी कर्म्म समन्वित नहीं होसकती। प्रश्न है— प्रमाणवाद का। और प्रश्न आवश्यक भी है जबकि निम्न लिखित आदेश हमें अपने शास्त्र-सम्मत मार्गों के निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्रप्रमाण की आवश्यकता की ओर ही आकर्षित कर रहे हैं। देखिए!

१–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्तुमिहार्हसि" ॥
२–"शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्"।
३– चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्म इत्याह जैमिनिः।
न भवेच्चोदना यत्र सोऽधर्म्म इति निश्चितः ॥
४ 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्'।

५८–आर्य्यसमाज की मान्यता से अनुप्राणित चतुःसंहितात्मक वेदशास्त्र, और तत्सम्बन्ध में किञ्चिद् आवेदन—

प्रमाण अपेक्षित है प्रतिमापूजन के विधान के सम्बन्ध में। और वह प्रमाण होना चाहिए शास्त्रीय। शास्त्र एक नहीं अनेक हैं। किन शास्त्रों के प्रमाण से प्रमाणभक्त तुष्ट होसकेंगे ?, यह भी एक आवश्यक प्रश्न है। यदि प्रश्नकर्त्ता का यह आग्रह हो कि हमें इस सम्बन्ध में केवल उस वेदशास्त्र का ही प्रमाण चाहिए, जिसकी ऋक् यजुः, साम अथर्व नाम की चार संहिताएँ प्रसिद्ध एवं आर्य्यजगत् में प्रचलित हैं। ऐसे प्रमाण की अपेक्षा रखने वाले का अभिप्राय यही है कि अपौरुषेयवेद की केवल चार ही संहिताएँ हैं जिन्हें कि आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक आचार्य एवं तदनुगामी सामाजिक विद्वान् वेद नाम से व्यवहृत करते हैं। एवं जिनकी कि दृष्टि में इतर ११२७ वेदशाखाएँ ११३१ ब्राह्मणग्रन्थ ११३१ आरण्यकग्रन्थ ११३१ उपनिषद्ग्रन्थ साक्षात् वेद न होकर वेद के व्याख्यानग्रन्थमात्र ही हैं।

५९–प्रतिमापूजन की अवैदिकता से अनुप्राणिता अविचारितरमणीया विधा

इसप्रकार अपौरुषेय वेद के चतुर्वेद भी ही चार मानने का अभिमान करने वाले महाशय ही हमारे सामने यह प्रश्न रखते हैं कि अवश्य इन चार संहिताओं के मन्त्रों के द्वारा पाषाणादि की प्रतिमाओं का

पर्यन्त पूजन सिद्ध नहीं कर लिया जाता किंवा जबतक इन संहिताओं में मूर्ति शब्द नहीं मिलता दिया जाता तबतक प्रतिमापूजन कभी वेदशास्त्रसम्मत नहीं माना जासकता। और ऐसी दशा में यह प्रतिमापूजन-सिद्धान्त विशुद्ध पौराणिक बनता हुआ अतएव वेदशास्त्रविरुद्ध बनता हुआ सर्वथा त्याज्यकोटि में ही आ-जाता है।

६०-वर्त्तमान प्रतिमापूजन प्रकारों की तथाकथित वेदशास्त्र में अनुपलब्धि, एवं तन्नि-बन्धना महती जिज्ञासा—

यद्यपि हमें स्मरण होता है इन चार संहिताओं में सचमुच प्रतिमापूजन का विधान नहीं है। एवं न कहीं मूर्ति शब्द ही उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में तो पक्षपरन का अनुगमन करते हुए हमें भी थोड़ी देर के लिए तो यही मान लेना पड़ता है कि प्रतिमापूजन का वर्त्तमानरूप सर्वथा वेदविरुद्ध बनता हुआ अप्रामाणिक अतएव सर्वथा त्याज्य ही है। 'परन्तु'।

६१-आस्तिकता की मान्यताओं के सम्बन्ध में समुपस्थिता महती विप्रतिपत्ति—

इस 'परन्तु' ने आजतक कितने भावुकों की आशाएँ निर्मूल कर दीं! इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। आज वही पुरातन 'परन्तु' उक्त सिद्धान्त का भी निराश करने के लिए सन्नद्ध प्रतीत होरहा है। 'संहिता में प्रतिमापूजन का विधान नहीं, संहिता में मूर्ति शब्द नहीं, इसलिए मूर्त्तिपूजन अवैदिक, एवं त्याज्य है' यदि इस हेतु को प्रामाणिक मान लिया जायगा तो आस्तिक वर्ग का कर्त्तव्य-मर्यादारूप कोई भी विधान सुरक्षित न रह सकेगा।

६२-'संस्कारविधि' से अनुप्राणित संस्कारों की इतिकर्त्तव्यताओं से एकान्ततः असंस्पृष्ट वेदशास्त्र और महाशयवर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

उदाहरण के लिए संस्कारविधि में प्रमुख गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, विवाह आदि जितने भी संस्कार हैं जिन संस्कारों का आप्यायन् वैदिक मानने का अभिमान कर रहा है, उक्त हेतुवाद के आगे इन में से किसी की भी प्रामाणिकता सुरक्षित न रह सकेगी। कारण स्पष्ट है। जिसप्रकार संहिता में प्रतिमापूजन की पद्धति नहीं है, एवमेव उक्त संस्कारों की पद्धति (इतिकर्त्तव्यता) का भी वहाँ आत्यन्तिक अभाव है। आश्चर्य्य तो यह है कि अभिनिवेशवश साभिमान आद्योपान्त जिन यज्ञसूत्र को स्त्री-शूद्रादि के गले में डालना एक वैदिक कर्म समझते हैं, चारों संहिताओं का आद्योपान्त पारायण करने पर भी 'यज्ञोपवीत' शब्द न मिलेगा। यदि मूर्त्तिशब्द का ही स्थानान्तर प्रतिमाशब्द एवं पूजनशब्द का ही स्थानान्तर अर्चा, किंवा यजन शब्द सैकड़ों स्थानों में स्वयं सूत्र-संहिताओं में ही प्रचुर मिलेगा।

६३-ग्रन्थमात्र-निबन्धन वेदशास्त्र का 'विद्याशास्त्रत्व' समन्वय—

इसी आधार पर क्या हम उन आर्यदर्शनों से यह निवेदन नहीं कर सकते कि पद्धति के न मिलने से, मूर्त्ति शब्द के न मिलने से ही यदि प्रतिमापूजन आप की दृष्टि में अवैदिक है, तो आप को भी आज से संस्कार सभी तत्पूर्ण विधानमात्र छोड़ देने चाहिएँ। क्योंकि आपकी मान्य किसी भी धर्म्म की पद्धति संहिता में निर्दिष्ट नहीं है। और निर्दिष्ट होना भी नहीं चाहिए, क्योंकि यह तो सर्वथा स्पष्ट है कि वेद केवल ज्ञानविज्ञान में परिपूर्ण होता हुआ केवल विद्याग्रन्थ है, सिद्धान्त है।

६४–सर्वथा विभक्त 'विद्याशास्त्र' एवं 'धर्म्मशास्त्र,' तथा तन्निबन्धन 'ज्ञातव्य,' और 'कर्त्तव्य' वेद का संस्मरण—

भारतीयशास्त्र को विद्याशास्त्र एवं धर्म्मशास्त्र भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। धर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र है एवं मौलिक रहस्यों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्त्तव्याकर्त्तव्यता–निरूपक शास्त्र धर्म्मशास्त्र है। हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए इस कर्त्तव्याकर्त्तव्य–धर्म्मबन्ध की (आदेशनावाक्यों के द्वारा) व्यवस्था करने वाला शास्त्र धर्म्मशास्त्र है एवं 'क्यों करना चाहिए क्यों नहीं करना चाहिए?' इस क्यों का (रहस्यविज्ञान के द्वारा) समाधान करने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र कहलाता है।

६५–विद्या-उपनिषत् एवं श्रद्धा से समन्वित कर्म्म की वीर्य्यवत्ता का स्वरूप-समन्वय, तथा 'विद्या धर्म्मेण शोभते' का संस्मरण—

विद्या का केवल सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्ज्ञान से सम्बन्ध है एवं धर्म्म का सम्यक् आचरण से सम्बन्ध है। जानना विद्या है करना धर्म्म है। सिद्धान्त विद्या है सिद्धान्तानुगमन धर्म्म है। यदि धर्म्म विद्याशून्य है तो 'अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे' के अनुसार वह पतन का कारण बन जाता है। 'यदेव विद्ययोपनिषदा श्रद्धया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' इत्यादि श्रुति विद्यायुक्त धर्म्माचरण (कर्त्तव्यानुष्ठान) को ही वीर्य्यवत्तर बतला रही है। एवमेव यदि विद्या धर्म्मशून्य है तो वह निरर्थक है। 'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः' इत्यादि श्रुति केवल विद्या को भी तुच्छ बतला रही है। विद्या (ज्ञान) की शोभा धर्म्म (आचरण) है– विद्या धर्म्मेण शोभते।

६६–विज्ञान-स्तुति-इतिहासात्मक ज्ञातव्य-वेदशास्त्र एवं कर्म्म-उपासना-ज्ञानात्मक कर्त्तव्य-वेदशास्त्र का तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण—

इस कर्त्तव्यात्मक धर्म्मशास्त्र के आगे चलकर श्रुति स्मृति ये दो भेद हो जाते हैं। वैदिक ज्ञातव्य, एवं वैदिक कर्त्तव्य भेद से एक ही वेदशास्त्र दो भागों में विभक्त हो जाता है। विज्ञान स्तुति इतिहास ये तीन ज्ञातव्य विषय हैं। एक संहितात्मक मन्त्रवेद में इन्हीं तीनों ज्ञातव्य विषयों का निरूपण हुआ है। 'कर्म्म उपासना' ज्ञान (भौतिककर्म्म आध्यात्मिककर्म्म आध्यात्मिकब्रह्म) ये तीन कर्त्तव्य विषय हैं। ब्राह्मणात्मक वेद के विधि आरण्यक, उपनिषत् तीन भागों में क्रमशः इन तीन कर्त्तव्यमार्गों का निरूपण हुआ है। वैदिक कर्त्तव्य, एवं स्मार्त कर्त्तव्य में कर्त्तव्य दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। कर्त्तव्यात्मक वेदभाग में जिन कर्त्तव्यों का निरूपण हुआ है मन्वादि स्मृतियों में उन्हीं का स्पष्टीकरण किया है। विशेषता है निरूपणीया पद्धति–मात्र में।

६७–धर्म्मरहस्य–प्रतिपादक श्रुतिशास्त्र, एवं धर्म्माचरण–प्रतिपादक-स्मृतिशास्त्र, तथा तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

स्मृतिशास्त्र केवल कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में विधि–निषेध कर के तटस्थ बैठ जाता है। वह इन कर्त्तव्यों का मौलिक रहस्य (विद्या) नहीं बतलाता। यही नहीं, यदि उसकी कोई उसकी आज्ञा के

सम्बन्ध में ऐसा ही क्यों करें ?' यह हेतु सामने रखने की धृष्टता कर बैठता है, तो पहिले तो सीधे शब्दों में यह—"धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" (यदि तुम धर्म्म का मौलिक रहस्य जानना है तो वेद का आश्रय लो) यह उत्तर देता है। यदि हेतुवादी दुराग्रह करने लगता है तो उसके मुख से निम्न लिखित उत्तर मिलता है कि —

> योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
> स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥
>
> —मनु

६८ 'विद्याशास्त्र' तथा 'धर्म्मशास्त्र' अभिधाओं का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

उधर कर्त्तव्यात्मक (ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्रूप) वेदशास्त्र कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में विधि-निषेध करता हुआ साथ साथ इनका मौलिक रहस्य (विद्या) भी बतलाता जाता है। प्रत्येक कर्म्म-उपासना-ज्ञानरूप कर्त्तव्य के साथ ही उसकी उपपत्ति प्रतिपादित है। अपनी इस विद्यासिद्ध विशेषता से ही आगे जाकर कर्त्तव्यात्मक सोपपत्तिक वेदरूप यह 'धर्म्मशास्त्र' विद्याशास्त्र नाम से प्रसिद्ध होगया है एवं केवल स्मृतिशास्त्र ही 'धर्म्मशास्त्र' नाम का अधिकारी बन रहा है।

६९–विशुद्ध विद्याशास्त्र, विद्यागर्भित धर्म्मशास्त्र, एवं विशुद्ध धर्म्मशास्त्र-भेदनिबन्धना शास्त्रत्रयी का पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय—

निष्कर्ष यह निकला कि विद्याशास्त्र वेदशास्त्र है। इसके ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-भेद से दो विभाग हैं। ज्ञातव्या विद्यात्रयी (विज्ञान-स्तुति-इतिहासत्रयी) का निरूपक संहितारूप मन्त्रभाग है। इसमें किसी भी कर्त्तव्यकर्म्म का निरूपण नहीं है। एवं कर्त्तव्यविद्यात्रयी (कर्म्म-उपासना-ज्ञानत्रयी) का निरूपक विधि-आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणभाग है। इसप्रकार "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आर्षोक्ति से प्रमाणीकृत मन्त्रात्मक वेद विद्यात्मक बना हुआ है, ब्राह्मणात्मक वेद विद्यागर्भित धर्म्मात्मक बना हुआ है। धर्म्मात्मक वेदभाग के आधार पर प्रतिष्ठित दूसरे शब्दों में श्रौतधर्म्मों का प्रतिपद अनुसरण करने वाला विशुद्ध विधि निषेधात्मक स्मृतिशास्त्र विशुद्ध धर्म्मशास्त्र बना हुआ है। इस दृष्टि से प्रमाणभूत शास्त्र के –१– विशुद्ध विद्याशास्त्र –२–विद्यागर्भित-धर्म्मशास्त्र –३–विशुद्ध धर्म्मशास्त्र ये तीन भेद होजाते हैं। इन तीनों में से विशुद्ध धर्म्मशास्त्र (स्मृतिग्रन्थ) वह प्रामाणिक माना जाता है जिस का मूल विद्यागर्भित धर्म्मशास्त्र के किसी पर्व में (विधि आरण्यक एवं उपनिषत् में) एवं विशुद्ध विद्याशास्त्र में [संहिता में] प्रतिष्ठित रहता है। वेदशास्त्र से विरुद्ध धर्म्मशास्त्र सर्वथा उपेक्षणीय है जैसाकि निम्न लिखित आदेश से ही स्पष्ट है—

> या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
> सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

१–विज्ञानम्—अव्ययाक्षरमयाक्षरविज्ञानगर्भितम्

१ { २–स्तुतिः—प्रत्यवेक्षमाणस्वरूपपरिचायकता } ब्रह्मकाण्डी [विद्यात्मिका]

३–इतिहास—सर्वविद्यायुक्तो वेदगुणानुगत

१–कर्म—आधिभौतिक विशुद्ध कर्म

२ { २–उपासना—आधिभूताधिदैवयुक्त कर्म } कर्मकाण्डी [विद्यागर्भिता]

३–ज्ञानम्—आध्यात्मिक विशुद्ध-कर्म

१–सत्यधर्माः—आधिभौतिकाः

३ { २–शान्तप्रम्भधर्माः—आधिभौ आधिदैविकाः } धर्मकाण्डी [धर्मात्मिका]

३–मिन्नामधर्माः—आधिदैविकाः

विद्याशास्त्रम् वेदशास्त्रम् { १–ब्रह्मकाण्डी-विशुद्धविद्यात्मिका—विद्याशास्त्रम्-वेद (संहिता मन्त्र)

२–कर्मकाण्डी-विद्यागर्भितधर्मात्मिका—विद्यायुक्तधर्मशास्त्रम् श्रुतिः (ब्रा आ उ -ब्राह्मण)

धर्मशास्त्रम् स्मृतिशास्त्रम् { ३–धर्मकाण्डी-विशुद्धधर्मात्मिका—धर्मशास्त्रम्-स्मृति (स्मृतयः)

---

७० शास्त्रसारवृद्धि से अनुप्राणिता एक प्रासङ्गिकी जिज्ञासा एवं तत्समन्वय-प्रयास —

इस सम्बन्ध में पाठकों के हृदय में एक नवीना जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। ब्रह्म-कर्म के अतिरिक्त जब पुरुषार्थ के सम्बन्ध में और कुछ नहीं बच रहता एवं ब्रह्मकाण्डी का जब मन्त्रभागने कर्मकाण्डी का विधि ब्राह्मण-उपनिषद्रूप ब्राह्मणभागने निरूपण कर दिया तो फिर तीसरे धर्मशास्त्र किंवा स्मृतिशास्त्र की आवश्यकता ही क्या रह गई ? । क्यों स्मृतिशास्त्र का निर्माण कर शास्त्रभार बढ़ाया गया ? ।

७१ भारतीय-शास्त्रवादियों की गुरुपरम्परानुगता परम्परा के सम्बन्ध में जिज्ञासु की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन—

प्रश्नपरम्परा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। मन्वादि स्मृतियों के अतिरिक्त १८ पुराण १८ उपपुराण-भेदभिन्न षड्विंशतिविध पुराणशास्त्र षड्विध (६) कल्पसूत्र चतुर्दशविध (१४) [उपाङ्गशास्त्र

शाखि-लक्षण] सिद्धान्तग्रन्थ अष्टविध (८) डामरग्रन्थ दशविध ( ) यामलग्रन्थ चतुर्दशविध (१४) कल्पग्रन्थ सम्भूय विंशोत्तरशत् (१२) अवान्तर मार्गों में विभक्त षड्विध आगमशास्त्र श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र धर्मसूत्र सामयाचारिकसूत्र भेदभिन्न त्रिविध कल्पग्रन्थ अवान्तर अनेकों विभागों को अपने गर्भ में रखने वाले शिक्षा कल्प छन्द व्याकरण निरुक्त ज्योतिष नामक षडङ्गग्रन्थ महाभारत १८ अवान्तर मार्गों में विभक्त षड्दर्शनग्रन्थ, शुक्रादिनीतिग्रन्थ आदि आदि उन असंख्य ग्रन्थों के निर्माण की ही क्या आवश्यकता थी, जबकि, सब काम शाखा-विभक्त वेदशास्त्र से ही सिद्ध था ? ।

७२-वेदशाखाग्रन्थों के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति का समुत्थान—

और फिर उन ११२७ संहिताओं की ११३१ ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषदों की ही क्या आवश्यकता थी जबकि ४ संहिताग्रन्थों से एवं एक एक ब्राह्मण आरण्यक-उपनिषत् से ही सब कुछ गतार्थ था ? ।

७३-प्रतिमापूजन की अवैदिकता के उद्घोषक-वर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

प्रतिमापूजन को वेदविरुद्ध बतलाने वाले उन बुद्धिमानोंने क्या कभी उक्त प्रश्नों की मीमांसा करने का कष्ट उठाया है ? । और फिर हम उन्हीं से यह प्रश्न क्यों न करें कि भगवन् ! कर्मसम्बन्ध के लिए जब अनादिकाल से कल्पसूत्रविधियाँ प्रचलित हैं तो फिर आपने इन स्वतन्त्र संस्कारविधि आदि महाग्रन्थों ! को जन्म देने का कष्ट क्यों उठाया ? । जब आगम-पुराणादि सब कल्पित हैं वेदविरुद्ध हैं केवल वेद ही अभ्युदय-कर है तो उन मन्त्रसंहिताओं से ही आपने क्यों नहीं अपने मतवाद को सुरक्षित रखने का कष्ट उठाया ? ।

७४ वास्तविक शास्त्र, तथा शास्त्राभासों का समतुलन, एवं शास्त्राभासों की उपेक्षणीयता—

अल्पपरिकर की दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली भीति मर्यादा लगा रही है । नहीं तो उक्त शास्त्रों के सभी अवान्तर विभागों का मौलिक रहस्य सेवा में उपस्थित किया जाता और उसके आधार पर श्रीमानों को यह विश्वास कराया जाता कि सभी शास्त्र किसी आवश्यकतम प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही अवतीर्ण हुए हैं । हाँ उन शास्त्राभासों की बात तो जाने दीजिए, जो वेदपद्धतियों से सर्वथा विरुद्ध बनते हुए एकान्ततः उपेक्षणीय ही हैं ।

७५-मृत्तात्मक-यज्ञपुरुष, सूत्रात्मक कालपुरुष, एवं तन्निबन्धन पुरुष, तथा प्रकृति विवर्तों का तात्त्विक-पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय और पुरुष की समष्टि-व्यष्टि-रूपा एकता का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकरण-सङ्गति के लिए अभी उक्त शास्त्रभेद के सम्बन्ध में केवल यही जान लेना आवश्यक होगा कि पुरुषव्याप्ति ही शास्त्रतत्त्व की प्रतिष्ठा है । गीता के शब्दों में-परस्त्रिपुरुष अव्ययपुरुष, एवं मन्त्रसंहिता के शब्दों में यज्ञमय (अव्ययमय) सर्वत्र-व्याप्त होता है । इस पुरुषतत्त्व के यज्ञात्मकता महामाया एवं योगमाया योगमाया के सम्बन्ध-तारतम्य से यज्ञ काल भेद से दो रूप हो जाते हैं । यज्ञपुरुष मृत्तप्रधान है कालपुरुष सूत्रप्रधान है । यज्ञपुरुष पुरुषप्रधान है कालपुरुष प्रकृतिप्रधान है । काल व्यय है । यज्ञपुरुष

महामायाधिष्ठित अश्वत्थपुरुष (नामरूपात्मक) सर्वविध गीता गुप्ततीमा महम्माया के सम्बन्ध से भिन्न रहता हुआ स्वस्वरूप से विकसित रहता हुआ प्रधान बना रहता है। उधर उपयुक्त योगमायाविशिष्ट का पुरुष (विश्वरूपात्मक) परिमाणीय त्रिगुणमायामयी योगमाया के सम्बन्ध से अनुगत-नियत अक्षर-आत्मा बनता हुआ स्व-स्वरूप से आवृत होकर प्रकृति में निर्दिष्ट बना रहता है– 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'। इसप्रकार अक्षर-क्षर-प्रकृति के भेद से उस एक ही पुरुष के पुरुषप्रधान अश्वत्थपुरुष, प्रकृतिप्रधान कालपुरुष ये दो विवर्त होजाते हैं। दोनों ही विश्वव्यापक हैं परन्तु एक (अश्वत्थ) व्याप्ति रूप से—"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"। एवं एक (कालपुरुष) व्यक्तिरूप से– पुरुषपक्ष द्वारा "पूर्णमपरं सर्वम्"।

७६ विश्वहृदयमूर्ति यज्ञपुरुष की त्रयीविद्यात्मकता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

"यज्ञो विश्वस्य हृदयम्" के अनुसार अपने महस्रांशों से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त यज्ञपुरुष तत्त्वतः मे विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है। पाठक यह जानते ही हैं कि विश्वकेन्द्र में यज्ञ प्रतिष्ठित है— "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"। केन्द्रप्रतिष्ठित इसी सूर्य में जिस सौरसत्त्व के यज्ञ गाविक देवत्व के आधार पर यज्ञ-पुरुष की यज्ञविभूति का विकास होता है जैसा कि— "सैषा त्रयीविद्या तपति"— "गीता त्रयीविद्या सवाप्रा" इत्यादि निगमवचनों में स्पष्ट है।

७७–पुरुषानुगत-यज्ञात्मक-सारपुरुष से अनुप्राणिता नित्या अपौरुषेया निगमविद्या, तथा प्रकृत्यनुगता-कालात्मिका-पार्थिवा प्रकृति से अनुप्राणिता नित्या आगमविद्या का रहस्यपूर्ण समन्वय, एवं तदभिव्यक्तना निगमागमशास्त्रत्रयी का संस्मरण—

दूसरे प्रकृतिप्रधान कालपुरुष से कालात्मक पार्थिवसम्वत्सरचक्र का आविर्भाव होता है। यही पार्थिव कालचक्र कालनाभिमय पार्थिवी सृष्टि का मानवविधाता बनता है। यही उस वेदात्मक यज्ञपुरुष का पार्थिव रूप है। जिस पूर्व प्रकरणों में हमने त्रैलोक्य-त्रिलोकात्मक पार्थिव विराट कहा है। वह यज्ञात्मक सर्वनिर्मल होने से निगम है यह कालतत्त्व निगम से आगत होने से आगम है। वह नित्य शास्त्रों के देही है। सूर्यविद्या यज्ञविद्या है पुरुषविद्या है। पार्थिवविद्या कालविद्या है प्रकृतिविद्या है। पुरुषविद्या ही निगमविद्या है पार्थिवविद्या नित्यनिगमोपभूता शाश्वत-आगमविद्या है। निगमविद्या नित्य निगमशास्त्र है आगमविद्या नित्य आगमशास्त्र है।

७८–निगमागममूलक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र एवं तन्मूलक पुराण स्मृति-इतिहासात्मक शास्त्र का स्वरूप-संस्मरण—

इन्हीं दोनों नित्यविद्याओं के आधार पर प्राकृत शास्त्रों के आधार पर महामहर्षियों के द्वारा शब्दात्मक निगम–आगम-शास्त्रों का निर्माण हुआ है। निगमशास्त्र के उन्होंने (प्रकृतिभेद के अनुसार ही) मन्त्र ब्राह्मण दो भाग कर डाले हैं [illegible] पुराण-इतिहास-स्मृति आदि विभाग कर डाले हैं। आगम के अवान्तर अनेक भेद [illegible] है। [illegible] इतिहासपरम्परान्तर्गत (महाभारतान्तर्गत) [illegible]

—

प्राप्ति के लिए भी भगवत्पाद शंकराचार्य आदि ने— 'यथाह स्मृतिः' इत्यादि रूप से स्मृति शब्द का ही व्यवहार किया है। जब निगम के मन्त्र–ब्राह्मण भागों से ही ज्ञातव्य–कर्तव्य की सिद्धि गतार्थ थी तो तीसरे स्मृतिशास्त्र का जन्म क्यों हुआ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

७९–ज्ञातव्यत्रयी का निरूपक वेदशास्त्र एवं सदाचारस्थ आर्य्यभगत के सम्मुख महती विप्रतिपत्ति का संस्थापन—

संहितात्मक वेदभाग जब केवल ज्ञातव्यत्रयी का निरूपण करता है तो उसमें कर्तव्य-विधि का अन्वेषण करना दूसरे शब्दों में आचार व्यवहार वर्णाश्रम संस्कार अश्वत्थपूजन मूर्तिपूजन श्राद्ध आदि धर्म-कर्मों की पद्धति ढूँढना पागलपन नहीं, तो और क्या है? । यदि इसी उन्मत्तता का नाम ही वेदभक्ति है तो छोड़िए श्राद्ध से ही सन्ध्या तर्पण श्रीशिवरात्रि श्राद्ध यज्ञोपवीतादि संस्कार, हवन भजन। क्योंकि इनमें से किसी एक की भी इतिकर्तव्यता संहिता में विहित नहीं है। एवं जिस इतर शास्त्रीय आदेश की पद्धति मूलसंहिता में न हो वह आदेश आपकी दृष्टि में अवैदिक किंवा वेद–विरुद्ध बनता हुआ सर्वथा त्याज्य है।

८०–प्रिय महाशयवर्ग से प्रश्नात्मभावेन किञ्चिदिव मार्मिक-आवेदन—

प्रिय महाशय! आपको स्मरण रखना चाहिए कि आर्य्यजाति के जितने भी धर्मादेश हैं जिनमें भी कर्मानुष्ठान हैं उन सब का संहिताओं में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूप से आपको मूलमात्र मिल सकता है पद्धति नहीं। हाँ यदि किसी कर्मानुष्ठान का मूल संहिता में न मिला तो वह स्मार्त्तादेश अवश्य ही अप्रामाणिक माना जायगा एवं सर्वथा उन्हीं स्मृतियों को हमें निष्प्राण माना जायगा।

८१–प्रतिमापूजनोपलब्धि के सम्बन्ध में किञ्चिदिव मार्मिक-नम्र निवेदन—

पूर्व में कहा जा चुका है कि वेदशास्त्र के विशुद्ध विद्यात्मक एवं विद्यागर्भित कर्मात्मक दो विभाग हैं। संहिताभागरूप मन्त्रभाग तो विशुद्ध विद्यात्मक है। इसमें मात्र कारण कर्मानुष्ठानों के केवल मूल ही उपलब्ध होंगे। दूसरा विधि आरण्यक–उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग विद्यागर्भित कर्मात्मक है इसमें अवश्य ही प्रतिमापूजन की इतिकर्तव्यता भी विहित हुई है। और बड़े विस्तार से विहित हुई है। चूँकि हमारा सिद्धान्त है ब्राह्मणभाग को साक्षात् वेद न मानता हुआ भी इसकी प्रामाणिकता अवश्य ही स्वीकार करता है। ऐसी दशा में तो स्वयं उनके मतानुसार भी प्रतिमापूजन सर्वथा प्रामाणिक बन जाता है। हाँ तो पहिले उन संहितारूप मूलभाग का ही आपके मतानुसार आर संहिताओं का ही अन्वेषण कीजिए। देखें उनमें प्रतिमा पूजन का मूल उपलब्ध होता है अथवा नहीं?।

८२–यज्ञात्मक विष्णु के पूर्ण तथा अंशावतारों का पावन संस्मरण–

मूलसंहिता में पहिले इस सम्बन्ध में एक रहस्यभाव को लक्ष्य बनाना आवश्यक होगा। लक्ष्य यह है आगे होगे कि पूर्व के उपाख्यानों में यज्ञ एवं यज्ञ स्पष्टीकरण किया गया है कि यज्ञात्मक–मण्डल का विधान मुख्य रूप से विष्णुदेवता के ही साथ सम्बन्ध है। यज्ञ वै विष्णुः ही विष्णु है एवं सम्पूर्ण यज्ञ इसी के पर्यालक्षण किंवा अवतार हैं।

८३–स्वयम्भूमूर्ति-प्रजापति का स्वरूप-संस्मरण, एवं तमिव-घना संयती क्रन्दसी रोदसी त्रिलोकी और सर्वव्यापक-अश्वत्थवृक्ष का स्वरूप-समन्वय—

निरुक्त प्रजापति के प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा आगतिलक्षण विष्णु गतिलक्षण-इन्द्र ये तीन पर्व हैं। ब्रह्मा स्वयम्भू हैं एकाकी हैं एवं ये क्रन्दसी-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। विष्णुदेवता इन्द्र के युग्म-सखा हैं— "इन्द्रस्य युज्यः सखा"। पारमेष्ठ्य-सोम (अक्षरगणना के अनुसार चौथा अक्षर) इनकी प्रतिष्ठा है। अत-एव विष्णु को सोममयी किंवा सोममूर्ति माना गया है— 'यो वै विष्णुः सोमः सः' (शतपथ)। इस-प्रकार विष्णु सोम इन्द्र इन तीनों की समष्टि ही विष्णुतत्त्व है एवं यही विष्णुदेवता क्रन्दसी-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। तीसरे इन्द्रदेवता अग्निप्रधान सोमगर्भित बनते हुए त्रिमूर्ति हैं। इन्द्र का सूर्यसंस्था में सोम का चन्द्रसंस्था में एवं अग्नि का पृथिवीसंस्था में विकास है। सूर्य-चन्द्र-पृथिवी की समष्टि ही इन्द्र-सोम-अग्निमूर्ति इन्द्र देवता हैं यही त्रिनेत्रशिव किंवा महादेव हैं। "महो देवो मर्त्यां आविवेश" वाले यही वृषभवाहन देवाधिदेव महादेव हैं। सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी की समष्टि ही रोदसी त्रिलोकी है। इसके अधिष्ठाता ये ही इन्द्र प्रधान महादेव हैं।

८४–अश्वत्थवृक्ष के अधोभाग में अवस्थित भगवान् भूतनाथ के आगमिक ध्यान का पावन संस्मरण—

अश्वत्थवृक्ष के मूल में ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं मध्य में विष्णु प्रतिष्ठित हैं एवं अन्तिम पर्वरूप रोदसी में ये त्रिनेत्र महादेव प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिवाग्नि ही शिवमय कमल है। यही 'पद्भ्यां भूमिः प्रतिष्ठिता' के अनुसार इनका आसन (प्रतिष्ठाभूमि) है। पुरुष (अश्वत्थवृक्ष) के अधस्तनोदरस्थित-रोदसी-त्रिलोकी में प्रतिष्ठित इसी गुह्यतत्त्व का स्वरूप बतलाता हुआ आगमशास्त्र कहता है—

> व्याख्या मुद्रामक्षमालाकलशसुलसिते बाहुभिर्वाममाद ।
> बिभ्राणो वा त्रिभुक्त्या पदवसनिहिताम्भृविष्टुर्दुमायः ॥
> सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्र ।
> क्षीरामश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विपुलां शुद्धबुद्धिं शिवो न ॥१॥

८५–अमृत-मृत्यु-संस्थान-विवेक, एवं मृत्युविजेता भगवान् मृत्युञ्जय महादेव का माङ्गलिक संस्मरण, तथा तदनुगता लिङ्गोपासना का दिग्दर्शन—

सूर्य से ऊपर का भाग अमृत-प्रधान बनता हुआ अव्यक्त है। एवं नीचे का भाग मृत्यु-प्रधान बनता हुआ व्यक्त है। सूर्य ही व्यक्ताव्यक्त का उपक्रम-स्थान है। प्रत्यक्ष में इसी रोदसीत्रिलोकी की अभि-व्याप्ति दीखती है। मृत्युपाश से त्राण पाने के लिए इसी मृत्युञ्जय का भजन आवश्यक है। यही तत्त्व अव्यक्त विष्णु-ब्रह्मा का लिङ्ग (परिचायक) है व्यक्त ही अव्यक्त का लिङ्ग बनता है अतएव इस व्यक्त महेश्वर (महादेव) की 'लिङ्ग' रूप से ही उपासना की जाती है जैसाकि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट होने वाला है।

८६–पञ्चरुद्रात्मक सौर महादेव, एवं विद्रुद्रात्मिका रुद्रप्रजा का स्वरूप–समन्वय, तथा व्यक्त मूर्त्त मूर्त्ति भावानुबन्धी इन्द्रात्मक–शिव के औपासनिक स्वरूप का दिग्दर्शन–

भारत में इस देवत्रयी के स्वरूप–दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि, तीनों में ब्रह्मा एक तटस्थदेवता हैं विष्णु और इन्द्रात्मक शिव देवता ही आगति–गति धर्म्म से सहस्रत्रयीरूप विश्व के सर्वेश्वर बन रहे हैं। जैसाकि 'इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इन में यज्ञमूर्ति विष्णु अव्यक्त बनते हुए अनिरुक्त हैं, एवं मूलमूर्त्ति शिव व्यक्त बनते हुए निरुक्त हैं। अनिरुक्त विष्णु अमूर्त जगत् के संचालक हैं एवं व्यक्त शिव मूर्त्त जगत के संचालक हैं। मूर्त्ति (भौतिक दृश्य पदार्थ) मात्र दृश्य जगत् है एवं यह मृत्युप्रधान है। सूर्य्य से आरम्भ कर नीचे नीचे इसी मूर्त्तिलक्षण दृश्यमर्त्य विश्व का प्राधान्य है जैसाकि—'तपत् कियमार्भोचीनमादित्यात्–सर्व तन्मृत्युनाप्तम्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। इस का जय करने वाले वही मृत्युञ्जय महादेव हैं। मृत्युञ्जयरुद्र के पञ्च–विंश–भेद से दो रूप मान गए हैं। प्रत्यक्षदृष्ट ताम्र सूर्य्य पञ्चरुद्र है एवं सूर्य्य की अनन्तरश्मियाँ विंशरुद्र (रुद्रप्रजा) हैं जैसाकि–निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

> असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः ।
> ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे ॥
> असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।
> उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य्यः –स दृष्टो मृडयाति नः ॥

—यजुःसंहितायाम्

८७ ताम्र सुमङ्गल–नीलग्रीवादि–लक्षण त्र्यम्बक शिवतत्त्व, एवं उन के शिवशरीर, तथा घोरशरीर का पावन–संस्मरण—

'असौ ताम्र सुमङ्गल नीलग्रीव विलोहित रुद्र' इत्यादि शब्द रुद्र के व्यक्तीभाव का ही समर्थन कर रहे हैं। इस व्यक्त रुद्रतत्त्व का मौलिक स्वरूप है 'सावित्राग्नि'। इस अग्नितत्त्व के ही शिवशरीर घोरशरीर भेद से दो स्वरूप बन जाते हैं। जबतक अग्नि के साथ सोमाहुति का सम्बन्ध है तबतक तो इन्द्र देवता यज्ञरक्षक बनते हुए शिव बने रहते हैं। सोमाहुति के अवरुद्ध होजाने पर ये ही रुद्ररूप धारण करत हुए विध्वंसक बन जाते हैं। जैसाकि पौराणिक दक्ष–यज्ञविध्वंसाख्यान से स्पष्ट है।

८८ यज्ञियरुद्राग्निदेवता की शान्ततनु, एवं आहुतिनिरोधानुगता घोरतनु का संस्मरण–

शारीराग्नि को रुद्र समझिए। जबतक सायं प्रातः इस में सोमरूप अन्न की आहुति होती रहती है तबतक तो यज्ञिय रुद्राग्नि शान्त बना हुआ शारीरसंस्था की पूर्ण रूपों में शारीरयज्ञ की रक्षा करते रहता है। अन्नाहुति बन्द होजाने पर यही विशुद्ध घोररूप धारण करता हुआ विनाश का कारण बन जाता है। रुद्र के इन्हीं दोनों स्वरूपों को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
> तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

—यजुःसंहितायाम्

८६–श्रावणमास उपास्य शान्तशरीरी साम्बसदाशिव, एवं फाल्गुनमासे उपास्य घोर शरीरी रुद्रदेव का संस्मरण—

अग्निर्वा रुद्रः यदैते द्वे तन्वौ घोराऽन्या च शिवाऽन्या च'। घोरशरीर विशुद्ध अग्निमय बनकर संसार को संहारक बना रुद्र है। शिव-शरीर आपोमय बनता हुआ संसार का रक्षक बनता हुआ "साम्ब सदाशिव" है। पारमेष्ठ्य आप (सोम) के सम्बन्ध से यही साम्बसदाशिव है शिवस्वरूप में यही रुद्र है। श्रावणमास साम्बसदाशिव की उपासना का समय है एवं फाल्गुनमास रुद्रोपासनाकाल है। अस्तु, इस विस्तार क्रम को छोड़ कर प्रकृत का अनुसरण कीजिए।

९ –अवतारभावनिबन्धन अव्यक्त विष्णु एवं उपास्यभावानुबन्धी व्यक्त शिव का स्वरूप संस्मरण, तथा शिवोपासना की शाश्वतता का स्वरूप-समन्वय, और साम्प्रदायिक जगत् की अर्वाचीना वैष्णवी-उपासना का दिग्दर्शन—

अवतार का सम्बन्ध जहाँ अव्यक्त अनिरुक्त अमूर्त विष्णु से है वहाँ मूर्ति का सम्बन्ध व्यक्त निरुक्त मूर्त इन्द्रप्रधान शिवतत्त्व से है। इसी आधार पर भारतवर्ष में अवतार के सम्बन्ध में जहाँ विष्णु का यशोगान किया जाता है वहाँ प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में शिवतत्त्व की ही प्रधानता की जाती है। यद्यपि यह ठीक है कि आज शिवप्रतिमा के स्थान में विष्णुप्रतिमा प्रधान बन गई है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें कहना पड़ेगा कि, वैष्णवसम्प्रदायों के प्रचार बाहुल्य ने ही शिवप्रतिमोपासनाभाव को शिथिल बनाया है। विगत शताब्दियों में प्रादुर्भूत श्रीरामानुज वल्लभ निम्बार्क, माध्व आदि साम्प्रदायिक आचार्यों के प्रचार-विशेष से ही विष्णुपूजन का भाव सर्वमान्य मान लिया गया है। वस्तुतः देखा जाय तो आदिकाल से (सत्ययुग से) आरम्भ कर सम्प्रदाययुग से पहिले पहिले पर्यन्त शिवपूजन ही प्रधान रहा है। और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। क्योंकि मूलसंहिता में प्रतिमा अर्चन यजन पूजन आदि के सम्बन्ध में इन्द्रात्मक शिवतत्त्व का ही निरूपण उपलब्ध होता है। यही कारण है कि, सम्प्रदायाचार्यों को छोड़कर भारतवर्ष में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सबने प्रतिमोपासना के सम्बन्ध में शिवप्रतिमा को ही विशेष महत्त्व दिया है। स्वयं अवतारपुरुषों ने भी (भगवान् राम परशुरामादि ने भी) शिवपूजन का ही अनुगमन किया है। स्वयं ऋग्वेद काल भी इस पक्ष का समर्थक बन रहा है जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होगा।

निष्कर्ष यह हुआ कि, अवतार का प्रधान सम्बन्ध जहाँ विष्णु से है वहाँ प्रतिमापूजन का प्रधान सम्बन्ध (अग्निसोमगर्भित, अतएव शिव नाम से प्रसिद्ध) इन्द्र तत्त्व के साथ ही है। इस का सब से प्रबल प्रमाण यही है कि संहिताग्रन्थों में जहाँ जहाँ प्रतिमा शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ वहाँ सर्वत्र वह एकमात्र इन्द्रतत्त्व से ही सम्बन्ध रखता है जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रों से सर्वथा स्पष्ट है—

६२-(१)-संहिताभाग में प्रतिमापूजन के मौलिक-सूत्रात्मक-संस्मरण—

१-ऋक्संहिता—

१ कासीत् प्रमा, प्रतिमा, किं निदानमाज्यं, किमासीत् परिधि क आसीत् ।
छन्द किमासीत् प्रउग किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वम् ॥
— ऋक्सं० १०।१३०।३। ।

(१)-जिस समय देवताओंने उस विराट्प्रजापति का यज्ञ के द्वारा यजन किया था उससमय यजन साधनभूत यज्ञ की प्रमा (इयत्ता) क्या थी यह प्रतिमा कौनसी थी जिसे निमित्त बनाकर हविःप्रदान किया गया ? । उसका निदान (मूलकारण) कौनथा ? परिधियाँ क्या थीं ? आज्य क्या था ? छन्द क्या था ?, प्रउग शस्त्र क्या थे । यज्ञपति इन्द्र की प्रतिमा ही यहाँ प्रतिमा शब्द से अभिप्रेत है । उस त्रैलोक्य-व्यापक इन्द्र प्रतिमा को लक्ष्य बना कर ही सौमदेवताओंने यज्ञकर्म के द्वारा विराट्प्रजापति की उपासना की थी । मन्त्रोक्त 'प्रतिमा' शब्द इन्द्र का वाचक है यह आगे के १०-१३०-४ । -११ ८, दोनो मन्त्रों से स्पष्ट है ।

२—अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमान बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्त ॥
—ऋक्० १।३२।७।

(२)-जिसप्रकार छिन्न अण्डकोषवाला एक हीनवीर्य्यपुरुष रेतःसेक में समर्थ (अण्डयुक्त) अन्य पुरुष के सादृश्य का वृथा अभिमान किया करता है एवमेव इन्द्र के वज्र से क्षतविक्षताङ्ग बने हुए, हस्तपादशून्य उस वृत्र नाम के असुरने एक ऐसे पुरुष के सादृश्य का वृथा अभिमान करते हुए, जो कि पुरुष हाथ पैर से प्रहार करने में समर्थ है इन्द्र से पुनः युद्ध करने की इच्छा प्रकट की ।

मन्त्र का यही अभिप्राय है कि मूढ वृत्र ने उस इन्द्र के साथ स्पर्द्धा करने की धृष्टता की जिस इन्द्र का कि प्रतिमान (समकक्ष) दूसरा नहीं है । जिस इन्द्र ने कि अपने वज्रप्रहारसे जिसे सर्वथा निर्वीर्य्य बना डाला है । यहाँ के "प्रतिमान" शब्द से हमें प्रतिमापूजन सिद्ध नहीं करना है अपितु यही बतलाना है कि 'प्रतिमान' शब्द यहाँ तुलनार्थ में प्रयुक्त हुआ है । जो अर्थ "न तस्य प्रतिमास्ति" के प्रतिमा शब्द का है वही अर्थ उक्त मन्त्र के प्रतिमान शब्द का है । साथ ही मन्त्र से यह भी ध्वनि निकल रही है कि इन्द्र का प्रतिमान अन्य नहीं है ।

३-अस्यमस्य पारे रजसो व्योमन स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः ।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽप स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ (१।५२।१२)।

• इन सब मन्त्रों के उद्धरण से प्रकृत में केवल यही कहना है कि संहिताभाग में प्रतिमा प्रतिमान प्रतिमानानि शब्द इन्द्र के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त हुए हैं । कारण-संहिताकाल में शिल्पात्मिका इन्द्रप्रतिमाएँ ही उपासनासिद्धि का कारण बनती थीं । आरम्भ में ये प्रतिमा सिद्धेन्द्राकार मायुर-इन्द्राकार की बनती थीं, आगे चल कर वैष्णवयुग में इन्होंने विष्णुरूप धारण कर लिया ।

४—गोजिता बाहू अमितक्रतु सिमः कर्मन् कर्मन्छतमूतिः खजङ्करः ।
अकल्प इन्द्रः प्रतिमानमोजसाथा जना वि ह्वयन्ते सिषासवः ॥ (१।१०२।६।) ।

५—त्रिविष्टि धातु प्रतिमानमोजसस्तिस्रो भूमीर्नृपते त्रीणि रोचना ।
अतीदं विश्वं भुवनं ववक्षिथा शत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि ॥ (१।१०२।८)

६—यस्माद्‌ ऋते विजयन्ते जनासो य युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्सजनास इन्द्र ॥ (२।१२।९) ।

७ स्वा सतः प्रतिमानं पुरोऽसमूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम् ।
प्रणो दिवः पदवीर्गव्यु-"रर्चन्" सखा सखीनमुञ्चदिरवद्यात् ॥ (३।३१।८) ।

८—किं स ऋधक्कृणवद्यं सहस्र मासो जभार शरदश्च पूर्वीः ।
नही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वा ॥ (४।१८।४) ।

९—प्र तु त्विषुम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः ।
नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः ॥ (६।१८।१२) ।

१०—इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम् ।
महीं चिद्द्यामातनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भनेन ॥ (१० ११ ।५) ।

११—वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः ।
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना ॥ (१०।१३८।३)

१२—स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥ (१ ।१२ ।६) ।



२-यजु संहिता—

१—मा हिंसीस्त्वं पवसा समङ्क्षि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिवृङ्धि हरसा माभि मँस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ (यजुः १३।४१) ।

२—सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि ।
साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा (१५।६५) ।



३-अथर्वसंहिता—

१—वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ (८।४।६।) ।

२—अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी ।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ (१।४।२१) ।

३—यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥ (२०।४।३५।१०)।



६३-मूलसंहितानुगत प्रतिमा-प्रतिमान-अर्च्चन-भजन-सेवा-आदि औपासनिक शब्दों का समन्वय, एवं प्रतिमोपासना की प्रामाणिकता का स्वरूप-समन्वय—

निदर्शनमात्र के लिए ही संहिता में प्रतिमा-प्रतिमान-शब्द प्रयुक्त हुए हैं एवं उन प्रतिमा और प्रतिमान भावों का एकमात्र इन्द्र किंवा शिव के साथ ही सम्बन्ध है यह तो निर्विवाद है। यही बात प्रतिमापूजन की। अर्च्चन-भजन-सेवा-ये-सभी शब्द पूजन के ही समर्थक हैं। एवं इन सभी शब्दों का स्वयं मूलसंहिता में ही प्रयोग हुआ है जैसाकि ऋक्संहिता के— १८।१ ३।२१।६। ६६७।४ इत्यादि स्थलों से यजुः-संहिता के—१४।१६ ४।२५। ११।२१ २०।८४ इत्यादि स्थलों से सामसंहिता के पू १।२।७। ८।१६।१ इत्यादि स्थलों से स्पष्ट है। इन सब स्थलों के आधार पर इस सिद्धान्त को स्वीकार करलेने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि, 'मूर्त्त स्थूल भौतिक प्रपञ्च का अर्च्चन पूजन सेवन भजन अवश्य ही विधात्मक वेदशास्त्र से सर्वात्मना सम्मत अतएव सर्वथा प्रामाणिक अतएव च सर्वथा ही उपादेय है।

६४-स्थूल साकार-मूर्त्त-मध्यस्थ-भावों से अनुप्राणिता उपासना का स्वरूप-समन्वय—

विज्ञानदृष्टि से भी प्रत्येक विचारशील को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि द्वैतमूलक उपासना क्षेत्र में उपास्यदेव की प्राप्ति के लिए प्रत्येक दशा में स्थूल-साकार-मूर्त्त द्रव्य को ही उपासना का साधक बनाना पड़ेगा। फिर वह साधन शब्दब्रह्मरूप हो, अथ अर्थब्रह्मरूप वैज्ञानिक धातु, मृत्-पाषाणादि की प्रतिमाएं हों, अथवा तत्तद् वस्तुओं के तत्तद्भावनामय चित्र हों।

६५-भौतिकी आकारमर्य्यादा से अतीत भी उपास्य-ब्रह्म की उपासनासिद्धि के अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित भौतिक-माध्यमों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इस में कोई सन्देह नहीं कि उपास्यतत्त्व आत्मदेवता है, ब्रह्मतत्त्व है। यह भी निर्विवाद है कि विशुद्ध ब्रह्म का भौतिक आकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इसके साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि वहां पहुँचने के लिए उसी के आधारभूत विश्वरूप भूतरूप को माध्यम बनाना भी आवश्यकतम है। माध्यमिक

प्राकारों के अधिकारी-भेद से अनेकरूप होसकते हैं। एवं अधिकारी के भेद से वे सभी रूप उपादेय हैं यह भी निर्विवाद विषय है।

६६–प्रतिमात्मिका 'मूर्त्ति' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कतिपय ब्राह्मणग्रन्थ-वचनों का स्वरूप-संस्मरण—

यह तो हुआ मूलवाद का विचार। अब वचनात्मक शास्त्रप्रमाण की मीमांसा कीजिए। इस सम्बन्ध में तो विवाद वक्तव्य है ही नहीं। कारण–वेद के वचनात्मक विधि–आरण्यक–उपनिषदों में बड़े ही विस्तार के साथ प्रतिमा–निर्माण–प्रतिमापूजन–मूलाभव आदि का उपवृंहण हुआ है। ब्राह्मणभाग में वल्मीकवपा से महावीर की प्रतिमा बनाई जाती है, उस में प्राणप्रतिष्ठा कराई जाती है। जिज्ञासु पाठकों के परितोष के लिए तो निम्न लिखित कुछ एक श्रौतवचन ही पर्य्याप्त होंगे। रही बात अभिनिविष्टों की। उन के लिए तो "न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्" इससे अधिक और दूसरा कोई उत्तर हो नहीं सकता—

१—"मूर्त्तिर्निम्मासाय त्वां वल्मीकवपां परिगृह्णामि। मूर्त्तिर्निम्मासाय वराहविहितां मृद परिगृह्णामि" (शतपथ ब्रा० १४।१।२।१०।११)।

२—यदा वाऽएतद्कुर्वत यथा यथनवहस्य शिरोऽच्छिद्यत। तस्माद्विम्मासाय त्वां वल्मीकवपां परिगृह्णामि। ताभिरेवैनमेतद् रसेन समर्द्धयति, कृत्स्नं करोति" (माध्यं० शत० १४।१।२।१०)।

३—* स पर त्रिमार्गमावर्त्तते। अथ यदास्यायुधानि यानानि भवन्ति दैवतायतनानि (मन्दिराणि) कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, उन्मीलन्ति निमीलन्ति, प्रतियान्ति नद्य कबन्धमादित्ये दृश्यते विकृतो च परिविम्पते, केतुपताका अप्रवत-विपाकानि प्रभवन्ति खरवाना च बालमीचाहारा सुरन्ति, अहतानि मम्माणि कनिकदन्त इत्येवमादीनि तान्यद्भुतानि सर्वाणि विष्णुदेवत्यानि। प्रायश्चित्तानि भवन्ति—"इदं विष्णुर्विचक्रमे" इति। स्थालीपाकं हुत्वा पञ्चभिराहुतिभिरभिजुहोति, विष्णवे स्वाहा सर्वाधिपतये स्वाहा चक्रपाणये स्वाहा सर्वपापशमनाय स्वाहा सर्वभूताधिपतये स्वाहा इति व्याहृतिभिर्हुत्वा अथ साम गायेत्" इति शान्तिः, शान्त्यर्थं, सामस्य षड्विंशब्राह्मण ५।११)।

---

* इन्द्र यम वरुण वैश्रवण अग्नि वायु सोम विष्णु इन प्राकृतिक देवताओं के स्वरूप में (मानव-समाज के कदाचार से) जब क्षोभ उत्पन्न होता है, तो बड़े बड़े (प्रकृतिविपर्य्ययमूलक) अनिष्ट होने लगते हैं। ये ही अनिष्ट 'अद्भुतकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन की शान्ति के लिए ही तत्तद्देवता तत्तदाहुतिविशेषों से शमन किया जाता है।

४—"अग्निर्वायुरादित्य काल प्राणोऽन्नं ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरिति । एकेऽन्यमभिध्यायन्ति, एके ऽन्यम् । श्रेय कतमो, यः सोऽस्माकं ब्रूहीति । तान् होवाच-ब्रह्मणो वाग्रिया अग्रयास्तनव परस्य, अमृतस्य, अशरीरस्य । तस्यैव लोके प्रतिमा उदेति, इह यो यस्यानुषक्त इति । एष आह । ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् । यः अस्या अग्रयास्तनवस्ता अभिध्यायेत्, अर्चयेत्" (अग्न्यपतिमाजन्सिस्म आद, मैत्रायणीयोपनिषत् ४ प्रपाठक ४ कण्डिका) ।

६७—सम्प्रदायविशेष के द्वारा भारतीय सनातन आचारधर्म पर कुठाराघात, तद्दुष्परिणाम, एवं सनातनी, तथा आर्य्यसमाजियों का निरर्थकतम वाक्कलह—

अवमुच भारतवर्ष का यह आत्यन्तिक अधःपतन ही माना जायगा कि आज हमी के देश में एक ऐसा सम्प्रदाय खड़ा होगया है जिस ने वेद का अणुमात्र भी स्पर्श न कर क्रियात्मक धर्मानुष्ठान के प्रति साधारण मनुष्यों में बुद्धिभेद उत्पन्न कर दिया है । भवान् समझते होंगें कि, विवाद केवल मूर्तिपूजन आदि अवतार आदि परिगणित विषयों में ही है । परन्तु मीमांसा करने पर उन्हें विदित होगा कि वहाँ का सम्पूर्ण कार्य्यकलाप अथ से इति पर्य्यन्त एकान्तत: वेदविरुद्ध विषयों की सिद्धि के लिए ही बड़े अभिमान से शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करता रहता है । और दुर्भाग्य से वेदतत्त्वानभिज्ञ ऐसे सनातनी विद्वानों की भी कमी नहीं है जो आवेश में पड़ कर तत्काल कमर कस के सन्नद्ध होजाते हैं । परिणाम में दोनों ओर से हमारा विवादग्रस्त विषय के उद्घोष पत्र निकलते हैं । शास्त्रार्थ में होता क्या है ? यह भी नमूना देख लीजिए । आर्य्यसमाजी यदि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" केवल इस वाक्य को आगे कर प्रतिमापूजन को अवैदिक बतलाने का वाग्जाल रचता है तो सनातनी 'एहि अश्मानमातिष्ठ' इस मन्त्र को आगे कर पाषाणप्रतिमा की सिद्धि में अपना पसीना बहाता है । वस्तुत देखा जाय तो दोनों ही महानुभाव भ्रान्त हैं । पहिले प्रतिमामण्डनाभिनिविष्ट की ही लीजिए । पूरे मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

> एहि—अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनु: ।
>
> कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरद: शतम् ॥
>
> —अथर्व० २।१३।४।

६८—प्रतिमापूजक सनातनी की वेदार्थ के सम्बन्ध में महती भ्रान्ति—

प्रतिमापूजन-समर्थक सनातनी इसका अर्थ यह समझता है कि "पाषाण की भगवत्प्रतिमा बनाई जाती है एवं इस में ईश्वरतत्त्व का आवाहन किया जाता है जो कि आवाहनकर्म प्राणप्रतिष्ठा नाम से प्रसिद्ध है" ।

६९—ऋग्वेदीय अश्माभावानुगत मन्त्र के वास्तविक मन्त्रार्थ का समन्वय-प्रयास, एवं तद्द्वारा सम्भावित उद्बोधन—

आयुष्पति कुछ और ही है । जिस का पिता शान्त होजाता है वह मानव अमङ्गल-भावना से (कुछ काल के लिए) युक्त होजाता है । जब वह मनुष्य श्मशानयात्रा से घर लौटता है तो कुलपुरोहित

द्वार के बाहिर एक पाषाण पर उसे खड़ा करता है एवं उस पर उक्त मन्त्र बोलता हुआ जल डालता है। "हे मासकस्य आओ! इस पाषाण पर खड़े हो जाओ। तुम्हारा शरीर पाषाणरूप बन जाय विश्वेदेव तुम्हें सौ वर्ष की आयु प्रदान करें" यही वास्तविक मन्त्रार्थ है। स्वयं सायणाचार्य्य ने भी यही अर्थ किया है। अन्य श्मशानयात्री भी घर आने से पहिले स्नानादि से निवृत्त होकर (उसी अमङ्गलभावना को दूर करने के लिए) मृत्युञ्जय महादेव के दर्शन किया करते हैं।

१००–'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के सम्बन्ध में छीलापरों की लीला का नग्नचित्रण एवं तदनुगता भ्रान्ति का स्वरूप-विश्लेषण–

अब उन छीलापरों की लीला का दर्शन कीजिए जो स्वार्थसिद्धि के बिगड़ने के भय से पूरा मन्त्र न लिखकर प्रतिमापूजन के खण्डन के सम्बन्ध में केवल– 'न तस्य प्रतिमास्ति' यह एक चरण उद्धृत करते हुए भोली जनता को कहा करते हैं कि देखो वेदों में साफ साफ लिखा है कि उस की मूर्ति नहीं होती नहीं होसकती। परन्तु जब सम्पूर्ण मन्त्र पर दृष्टि डाली जाती है तो सम्पूर्ण रहस्य प्रकट होजाता है। मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मामा हिंसीदित्येषा, यस्मान्नजात इत्येषः॥

१ १–'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के वास्तविक तात्पर्य का समन्वय प्रयास, एवं छीलापरों का सम्भावित उद्बोधन—

मन्त्र के पूर्वार्द्ध पर दृष्टि डालिए। सीधा सा अर्थ यही है कि– 'जिस ईश्वर का यश महान् है व्यापक है उस ईश्वर के समकक्ष अपर दूसरा नहीं है। प्रतिमाशब्द प्रतिकृति (मूर्ति) का भी वाचक माना गया है एवं उपमान (सादृश्य) का भी। विषयभेद से दूसरे शब्दों में प्रसङ्ग उपोद्घात हेतुता अवसर निर्वाहैकत्व, कार्य्यैक्यमीमांसा-सम्मत षोढासङ्गति के अनुसार विषयभेद से प्रकरणानुसार दोनों अर्थ नियत हैं। यदि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' का प्रतिमा शब्द प्रतिकृति का वाचक होता तब तो अवश्य ही इस मन्त्र को मूर्तिखण्डन परक माना जासकता था। परन्तु देखते हैं कि यहां के प्रतिमा शब्द को मूर्तिपरक मान लेने से मन्त्र का कोई अर्थ ही नहीं होता। लोक में किंवा वेद में (लौकिक वाक्यव्यवहारों में एवं शास्त्रीय वाक्यव्यवहारों में) शब्दों का वही अर्थ युक्तिसंगत बनता हुआ प्रामाणिक माना जाता है जो कि शब्द स्वस्वता साधन अवयवशः वाक्यार्थ के साथ सर्वात्मना अन्वित रहते हैं। जैसा प्रसङ्ग होता है तदनुसार ही प्रकरणोक्त शब्दों का अर्थ मानना पड़ता है। यदि प्रसङ्ग की किंवा वाक्यार्थसङ्गति की उपेक्षा कर उन शब्दों का (वाक्यार्थ प्रकरणसङ्गति से सर्वथा विरुद्ध असामञ्जस्य वाक्यार्थ में अनन्वित) अर्थ किया जाता है तो वह शब्दार्थ अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही कारण बन-जाता है।

१ २–मीमांसा-सम्मत प्रकरणसङ्गति से अनुप्राणित-समन्वय का स्वरूप-दिग्दर्शन—

पाठशाला में बैठा हुआ देवदत्त भोजन कर रहा है। सेवक को "सैन्धवमानय" आदेश देता है। मूर्ख सेवक यदि भोजनप्रसङ्ग की उपेक्षा कर उस समय घोड़ा ला खड़ा करदेता है तो क्या वहां का सैन्धव-

शब्द अपसिद्धि का प्रयोजक माना जायगा ।। एकमेव प्रमखार्थ सम्मीभूत देव"स का सैन्धवमानय' वाक्य सुनकर नमक की डली लाने वाला सेवक क्या अर्थ के स्थान में अनर्थ नहीं कर रहा ।। तात्पर्य्य यही हुआ कि, प्रसङ्गवश ही शब्दार्थ–सङ्गति लगाने का प्रयास करना चाहिए।

१०३ 'प्रतिमान' शब्द का प्रकरणसङ्गति–निबन्धन–वास्तविक–स्वरूप समन्वय प्रयास–

प्रकृत स्थल का विचार कीजिए। 'जिसका यश महान् है उसकी कोई मूर्ति नहीं' क्या यह अर्थ ठीक होगा। क्या मूर्त्ति का न होना महद्यश के चार चाँद लगाने वाला है ?। हम तो देखते हैं कि लोक में जो यशस्वी महापुरुष होते हैं उनके स्मारक खड़े किए जाते हैं चित्र छापे जाते हैं। जो यशोजात हैं उन की न मूर्ति बनती न स्मारक खड़े किए जाते। इसप्रकार महायश तो मूर्त्ति का कारण हीं, बन रहा है। ऐसी दशा में यहाँ के प्रतिमा शब्द का अर्थ 'मूर्त्ति लगाना सर्वथा अनर्थक बन जाता है। क्या विश्व के चराचर प्राणी उसकी मूर्त्तियाँ नहीं है ?। क्या गीता का "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" यह सिद्धान्त मिथ्या है ?। फलतः आप को बाध्य होकर प्रकृत प्रतिमान शब्द का उपमान (सादृश्य) अर्थ ही करना पड़ेगा। उपमान अर्थ मान लेने पर 'जिस का यश महान् है जो यशोरूप से सर्वव्यापक बन रहा है उस के सदृश विश्व में दूसरा नहीं है" यह अर्थसङ्गति ठीक बैठ जाती है। अन्यत्र भी ऐसे स्थानों में प्रतिमान का अर्थ सादृश्य ही हुआ है। देखिए !

स तन्नियोगात् खलु सत्यवादी सत्यां प्रतिज्ञां नृपपालयँस्ते।
इतो महात्मा वनमेव रामो गतः सुखाऽप्रतिमानि हित्वा ॥
—वा रामायणे

"रूपेणाप्रतिमो भुवि" (नलचरित्र–महाभारत)

१०४– तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' के माध्यम से वास्तविक–स्थिति का स्वरूप–समन्वय-प्रयास—

उक्त समाधान से ही 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते इत्यादि आक्षेपों का भी समाधान होजाता है। जिसकी तुम उपासना कर रहे हो, वह ब्रह्म नहीं अपितु ब्रह्म की प्रतिकृति है लोकाधिक मूर्त्तरूप है मूर्त्ति है इस अर्थ से सब कुछ सुसङ्गत बन जाता है।

१०५–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में पुद्धानुगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभिनिवेश—

यह तो हुई प्रामाणिक-शास्त्रीयदृष्टि। अब संक्षेप से प्रामाणिक-ऐतिहासिक-दृष्टि से भी विचार कर लीजिए। कुछ समय से इतिहासपुरुषों की सम्प्रदाय की ओर से यह भी कलकल-चीत्कार सुनाई पड़ने लगा है कि "प्रतिमापूजन बौद्धधर्म के संसर्ग का ही फल है। इन तत्पनिष्ठों का कहना है कि जब बुद्ध निर्वाण कर गए, तो कुछ समय तक तो उनकी प्रतिमाओं का द्वार अवरुद्ध रहा। बौद्धों का विश्वास था कि बुद्ध का यथार्थ में निर्वाण होगया है। * जब देह का निर्वाण होगया तो उसकी प्रतिकृति (मूर्त्ति) बनाना अनुचित है।

---

* बुद्ध के मतानुसार देह ही आत्मा है। देहातिरिक्त नित्यात्मसत्ता वहाँ अस्वीकृत है।

१०६–बुद्धनिर्वाणानन्तर बुद्ध की प्रतिमाओं का उपासना–प्रचार–दिग्दर्शन—

कुछ समय पीछे ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने बुद्ध की प्रतिमाओं का पूजन आरम्भ कर दिया। बुद्ध देवताओं के समान पूजे जाने लगे। तात्कालिक समर्थ राजाओं की ओर से स्थान स्थान पर स्तूप तथा तोरण शिलालेख बुद्धमूर्तियां उनके लीलाचरित भिक्षुसंघ आदि की प्रतिकृतियां बनने लगीं। आगे चलकर तो इस कला का ऐसा विकास हुआ कि, आज भी पुरातत्त्वान्वेषण में ऐसे स्मारक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

१०७–हीनयान तथा महायान–भेदनिबन्धन बुद्धमत के दो विभिन्न पथ एवं तद् सम्बन्धिनी प्रतिमोपासना—

यही दूसरा (प्रतिमापूजक) सम्प्रदाय 'महायान' नाम से प्रसिद्ध हुआ एवं वास्तविक निर्वाण के अनुगामी प्रतिमाविरोधी बौद्धगण 'हीनयान' कहलाए। बुद्धकालीन प्रतिमा-प्रचार केवल भारतवर्ष में ही नहीं पनपा। प्रसिद्ध सम्राट् अशोक एवं सम्राट् कनिष्क के द्वारा चीन जापान तिब्बत आदि देशों में भी बुद्धप्रतिमाएँ व्याप्त होगईं। स्तूपनिर्माण मूर्त्तिनिर्माण एवं शिलालेखादि के लिए बौद्धकाल अर्वाचीन इतिहास में बहुत प्रसिद्ध माना जाता है।

१०८–बुद्धमत के प्रभाव से आक्रान्त ब्राह्मणधर्म्म का भी प्रतिमापथानुगतत्व एवं ऐतिहासिकों का भ्रान्त दृष्टिकोण—

मतभेद से बढ़ते हुए इस बौद्धकाल के आक्रमण से ब्राह्मणधर्म भी अपने मौलिक स्वरूप को सुरक्षित न रख सका। बौद्धों के संसर्ग से इस में भी मूर्त्तिपूजन-प्रवृत्ति का नवीनरूप से समावेश होने लगा। चतुर्भुज विष्णु शिव गणपति सरस्वती दुर्गा काली भैरव नटराज आदि की प्रतिमाएँ बनने लगीं। इसप्रकार बौद्धमत के संसर्ग से ब्राह्मणधर्म्म भी मौलिक उपासनाक्रम छोड़कर प्रतिमापूजन का अनुगामी बनगया।

१०९–प्रतीच्य–भक्ति के अन्धानुकरण से अनुप्राणिता, तथा साम्प्रदायिक आचार्यों के अभिनिवेश से समन्विता भारतीयों की परप्रत्ययनेयता के भीषण परिणामों का किञ्चिद्दिग्–निदर्शन—

कहना न होगा कि, केवल पश्चिमी विद्वानों के तर्कवाद के आधार पर ही जीवित रहने वाले इन ऐतिहासिकों की उक्त कल्पना में कोई भी सार नहीं है। पश्चिमी विद्वानों के नीतिपूर्ण ऐतिह्यग्रन्थों ने भारतीय प्राचीन संस्कृति की ओर से लोगों का मुख मोड़ दिया। इधर भारतीय इतिहास के संकलनभारा में विभिन्न होने से साधारण जनसमाज इस अपने घर की मौलिक निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित होगया। परिणाम इस का यह हुआ कि विदेशियों ने हमें जो कुछ सिखाया पढ़ाया अन्धश्रद्धा से उसी को हम वेद-वाक्य मानने लग पड़े। दुर्भाग्यवश भारतवासियों में एवं इन्हीं उपदेशक आचार्यवर्ग में भी अपनी वैम-

किन्तु स्वार्थसिद्धि के लिए वेद-शास्त्रों की ओट में मिथ्योपदेश के द्वारा हमारे पतन का मार्ग और भी अधिक सुगम बना दिया। फलतः हमें अपनी सभ्यता संस्कृति धर्मादेश आदि के सम्बन्ध में परमुखापेक्षी बन कर अकुण्ठ अपमान सहना पड़ा और सहते जारहे हैं। इन्हीं उच्छिष्ट प्रसादों से हमारा आत्म निर्बल बन गया आत्मनिर्भरता स्वावलम्बित्व सत्यनिष्ठा आदि हम से किनारा कर गए। जिनने हमें जैसे बहका दिया 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' की चरितार्थ करते हुए हम उसी प्रवाह में बहने लगे। वैष्णवाचार्यों की शिवसम्बन्धिनी निन्दा से हम कभी शिवनिन्दक बनने लगे कभी शैवों के आडम्बर से विष्णु की निन्दा करने लग पड़े। कभी बुद्ध का यशोगान करने लगे तो कभी स्वामी दयानन्द को ही एकमात्र वेदज्ञ मानने का दम भरने लगे। और धारावाहिकरूप से प्रवाहित होने वाली उसी अविद्या के कारण आज तो हम विशुद्ध पशुवादी बनने में ही अपना अभ्युदय समझ रहे हैं।

११०-युक्ति-तर्क-प्रमाणादि के आवेशों से आविष्ट भी वर्त्तमान गतानुगतिक भारतीय मानवों का आश्चर्य्यप्रद प्रतीच्य-अन्धानुकरण—

एक सबसे बड़ा आश्चर्य्य आश्चर्य्य ही नहीं महान् आश्चर्य। भारतीय कर्त्तव्यानुष्ठानों के प्रति उदासीनता दिखलाने वाले ये भले मानुष कहा करते हैं कि जबतक किसी कर्त्तव्यादेश किंवा धर्मादेश को तर्क युक्ति अनुभव आदि की कसौटी पर न कस लिया जाय तबतक अन्धभक्त बन कर, केवल शास्त्रादेश पर ही विश्वास कर कभी उसे प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए। अपने इसी महातर्क को एक अमोघ शुग समझने का अभिमान करते हुए ये सत्याभिमानी भारतीय धर्मादेशों का उपहास करने में अणुमात्र भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करते। उधर जिन उपदेशकों को इन्होंने महाप्रभु मान रक्खा है उनके आदेशों के सम्बन्ध में उक्त तर्कवाद की एकान्ततः उपेक्षा कर जाते! हम क्या जाने उनके रहस्य को। हमें तो (न समझते हुए भी) उन के आदेश पर चलना ही चाहिए इस वाक्य का प्रयोग करते हुए पूरे पर म अन्धभक्त बने हुए हैं। विधि का कैसा विचित्र विधान है तर्कवाद का कैसा दुरुपयोग होरहा है। इसी दुरुपयोग के आधार पर यदि हम भारतीय शास्त्रसिद्ध शास्त्रसिद्ध प्रतिमापूजन को भी बुद्धसंसर्ग का प्रतिफल बतलाने की भूल कर बैठें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

१११-ब्राह्मणधर्म्म, तथा बुद्धमत के समतुलन-माध्यम से प्रतिमापूजन की अनादिता सादिता का नीरक्षीरविवेक-प्रयास—

उन ऐतिहासिकों की यह न सूझा कि, जब बुद्ध ने ब्राह्मणधर्म्म के स्थान में अपने नवीन धर्म्म को प्रतिष्ठित किया था तो ब्राह्मणधर्म्म की प्रतिच्छाया से वह अधिक समय पर्य्यन्त कैसे बच सकता था?। अवश्य ही बुद्ध ने प्रतिमापूजन अनुपेश्वरवाद पशुहिंसायुक्त यज्ञकर्म्म आदि ब्राह्मणधर्म्मों का किसी कारणविशेष से

---

* वस्तुतस्तु हमारे विचार से बुद्ध ने आर्यन्तवज्ञावरमक जिस मज्झिमनिकाय (मध्यमपथ) का आविष्कार किया है वह कोई अपूर्व नहीं है। बुद्ध के सभी सिद्धान्तों का मूल ब्राह्मणधर्म्म में ज्यों का त्यों उपलब्ध होता है। विशेषतः भारतवर्षीय उपवेदशास्त्र (आयुर्वेदशास्त्र) एवं पातञ्जलयोगशास्त्र के सिद्धान्त तो ज्यों के त्यों अनुगत हैं।

विरोध करते हुए अहिंसाधर्म को रूपान्तर प्रदान किया । प्रतिमापूजन का विरोध निर्वाणकाल के समय में प्रधानशिष्यों के प्रति होने वाला "मेरे निर्वाण के अनन्तर मेरी प्रतिमाएँ न बनाना" यह उपदेशवाक्य ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि बुद्धकाल से पहिले ही भारतवर्ष में प्रतिमापूजन प्रचलित था ।

११२–पुरातत्त्वान्वेषणानुगत पी कारणाभास की भ्रान्तिसिद्धता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही कारण था कि बुद्धनिर्वाण के अनन्तर कुछ ही समय पर्य्यन्त बिम्बोपासिकों का निर्वाणवाद सुरक्षित रहा । ब्राह्मणधर्म के शाश्वत प्रतिमापूजन से बौद्धधर्म्म अधिक समय पर्य्यन्त अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सका । फलतः महायान–सम्प्रदायने जन्म ले ही तो लिया । क्या इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों को देखते हुए भी ऐतिहासिक यह भ्रान्ति करेंगे कि "बुद्धधर्म्म के सहयोग से ब्राह्मणधर्म्म में प्रतिमापूजन का समावेश हुआ" । एक और उपहासास्पद तर्क सुनिए । प्रमाणवादी कहते हैं कि, 'पुरातत्त्वान्वेषणोंमें अबतक जिन प्रतिमाओं की खोज की है वे सब बुद्धावतार से अर्वाचीन ही हैं । बुद्धकाल से पहिले की प्रतिमाएँ अबतक उपलब्ध नहीं हुई हैं जिन के आधार पर यह प्रमाणित किया जासके कि, प्रतिमापूजन बुद्ध से पहिले भी विद्यमान था ।

११३–बौद्धमत से पूर्वयुग के प्रतिमा–चिह्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव सामयिक–आवेदन—

पाठक स्वयं विचार करें इस युक्ति में कहाँतक तथ्य है ? । बौद्धधर्म्म का प्रसार भारतवर्ष में कई शताब्दियों पर्य्यन्त रहा । स्वयं ऐतिहासिक इस तत्त्व को स्वीकार करते हैं कि बौद्धधर्म्म के अनुयायी सम्राट् राजाओं की ओर से ब्राह्मणधर्म्मानुयायियों पर घोर अत्याचार हुआ । उस समय की भीषण परिस्थिति को देखते हुए एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अब भविष्य में ब्राह्मणधर्म्म कभी जीवित न होसकेगा । इस भीषणता के आवेश में आकर यदि ब्राह्मणधर्म्म के पुरातन चिह्नों को नष्ट करने का कोई दुरायोजन हुआ हो, तो यह अविरोध में सम्भव है । और सम्भव है इसीलिए बुद्धजन्म से पहिले के प्रतिमाचिह्न अभीतक पुरातत्त्वविदों को उपलब्ध न हुए हों ।

११४–सप्तद्वीपा वसुमती–पृथिवी से अनुप्राणित अन्वेषणकर्म्म की अनन्तकालानुगता–व्याप्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् पतञ्जलि के उद्गार—

परन्तु कौन कहता है कि अन्वेषण का कर्म्म चरम सीमा पर पहुँच चुका ? । जो कुछ मिलना था मिल चुका ? । वसुन्धरा बहुत बड़ी है अन्वेषण भी अनन्त है । अवश्य ही हम प्रतिमापूजकों के सौभाग्य से एवं अन्वेषकों के सतत अध्यवसाय परिश्रम से इसी धरित्री के किसी सौभाग्यशाली गह्वर में हमारे पूर्वस्मृति–चिह्न उपलब्ध होंगे और अवश्य उपलब्ध होंगे । इस सम्बन्ध में हमें भगवान् पतञ्जलि एवं कात्यायन का वह विप्रतिवाद याद आजाता है जिस में वररुचि के कात्यायन के–'न वैवोपलभ्यन्ते' कहने पर भाष्यकार ने— उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् । सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधाभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणो वेदो वाकोवाक्यम् इतिहासः पुराणं वैद्यकमिति । एतावान्छब्दस्य प्रयोगविषय । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य–'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव' (पा म १।१।१) । यह उत्तर दिया था ।

११५–सर्वशास्त्रसमर्थित प्रतिमोपासना के अनादित्व के सम्बन्ध में धृष्टतापूर्ण आपात रमणीय–आक्षेप–प्रत्याक्षेप–विडम्बना—

हम भी आपत्पद्धति का अनुसरण करते हुए आज उन ऐतिहासिकों से यह कहने का साहस करते हैं कि जिस प्रतिमापूजन का मूल स्वरूप नित्य वेदमन्त्रों में उपलब्ध होता है त्रेतायुगावच्छिन्नात्मक वाल्मीकि–ग्रन्थ जिस का पूर्ण समर्थन कर रहा है दर्शन पुराण स्मृति आगम आदि सब शास्त्र जिस की एकस्वर से प्रामाणिकता घोषित कर रहे हैं उस सत्य तत्त्व को केवल कल्पना के आधार पर उन पुरातत्त्व की अधूरी खोजों के आधार पर अप्रामाणिक बतलाना केवल साहस है अपराध है अपराध ही नहीं अक्षम्य अपराध है।

११६–अलक्षेन्द्र (सिकन्दर)–युगानुगत उदाहरण और मेगस्थनीज—

एक दूसरे प्रसङ्ग से विचार। भगवान् पाणिनि के समय में तो प्रतिमापूजन का प्रचार था ही जैसा कि अनुपद में ही बतलाया जानेवाला है। परन्तु पाणिनि से पहिले भी प्रतिमापूजन का प्रचार तो वर्त्तमान इतिहास लेखक यूनानी भी स्वीकार करते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कर्टिस लिखता है कि जब अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) का सामना करने के लिए महाराज पोरस युद्ध के मैदान में उपस्थित हुए, तो इन के साथ वह सूर्य की प्रतिमा होगी जिस के कि साक्षी सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक मेगस्थनीज हैं। पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सिकन्दरने भारतवर्ष पर कब आक्रमण किया था एवं मेगस्थनीज कब यहां आए थे।

११७–बुद्धसर्ग से असंस्पृष्ट भारतीय–प्रतिमापूजन प्रवाह का पावन–संस्मरण—

अनुमानतः यह सिद्ध होचुका है कि, ईसा से १२५ २६ अथवा १ वर्ष पूर्व एवं देवानांप्रियदर्शी भारत के अन्तिम सम्राट् अशोक से १ वर्ष पहिले भी भारतवर्ष में प्रतिमापूजन का प्रचार था। इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, उक्त समय भी बुद्ध एवं जिन से तो अर्वाचीन ही है। तथापि हमें यह मान लेने में कोई सङ्कोच नहीं करना चाहिए कि उस समय न तो बुद्धधर्म्म का विशेष प्रचार ही था एवं न महायान सम्प्रदाय का ही प्राबल्य था। यदि प्रचार होगा भी तो हीनयान का ही प्राबल्य होगा क्योंकि प्रतिमा पूजन का विरोधी था। इस युग के १ वर्ष पीछे उत्पन्न होने वाले स्वयं सम्राट् अशोक भी आरम्भ में ब्राह्मणधर्म्म के ही कट्टर पक्षपाती थे यह भी सुविदित है ही। कलिङ्गविजय में होने वाली हिंसा से क्लान्त होकर तदनन्तर ही अशोक ने बुद्ध का अनुगमन किया था। फलतः यह स्पष्ट सत्य है कि भारतीय प्रतिमा–पूजन बुद्धसर्ग से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ हजारों वर्षों से प्रचलित था।

११८–सम्भावित–चिह्नों की प्रतीक्षा एवं भारतीय–प्रतिमापूजन का अनादित्व—

जब कि आजतक की खुदाई में एक भी चिह्न बुद्धयुग से पहिले का नहीं मिला, तो किस आधार पर प्रतिमापूजन को बुद्ध से पहिले का माना जाय इस प्रत्यक्ष तर्क का यद्यपि शब्द प्रमाणमूलक आर्य्यपुत्र की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। तथापि प्रत्यक्ष को ही सर्वेसर्वा मानने वालों के लिए अवश्य ही उक्त तर्क का कुछ मूल्य है। सम्भव है भविष्य में ऐसे भी चिह्न मिलें जिन से इस सम्बन्ध में सन्तोष किया जासके।

विरोध करते हुए अहिंसाधर्म्म को रूपान्तर प्रदान किया । प्रतिमापूजन का विरोध निर्वाणकाल के समय में प्रधानशिष्यों के प्रति होने वाला "मेरे निर्वाण के अनन्तर मेरी प्रतिमाएँ मत बनाना" यह उपदेशवाक्य ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि बुद्धकाल से पहिले ही भारतवर्ष में प्रतिमापूजन प्रचलित था ।

११२–पुरातत्वान्वेषणानुबन्धी कारणाभास की भ्रान्तिसिद्धता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही कारण था कि बुद्धनिर्वाण के अनन्तर कुछ ही समय पर्य्यन्त निर्वाणवादियों का निर्वाणवाद सुरक्षित रहा । ब्राह्मणधर्म्म के शाश्वत प्रतिमापूजन से बौद्धधर्म्म अधिक समय पर्य्यन्त अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सका । फलतः महायान-सम्प्रदाय रूप से ही तो लिया । क्या इन सब विभिन्न परिस्थितियों को देखते हुए भी ऐतिहासिक यह भ्रान्ति करेंगे कि बुद्धधर्म्म के सहयोग से ब्राह्मणधर्म्म में प्रतिमापूजन का समावेश हुआ । एक और उपहासास्पद तर्क सुनिए । प्रमाणवादी कहते हैं कि, 'पुरातत्वान्वेषणों में अबतक जिन प्रतिमाओं की खोज की है वे सब बुद्धावतार से अर्वाचीन ही हैं । बुद्धकाल से पहिले की प्रतिमाएँ अबतक उपलब्ध नहीं हुईं हैं जिन के आधार पर यह प्रमाणित किया जासके कि प्रतिमापूजन बुद्ध से पहिले भी विद्यमान था ।

११३–प्रोक्तमत से पूर्वयुग के प्रतिमा-चिह्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन—

पाठक स्वयं विचार करें इस युक्ति में कहांतक तथ्य है ? । बौद्धधर्म्म का प्रसार भारतवर्ष में कई शताब्दियों पर्य्यन्त रहा । स्वयं ऐतिहासिक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि बौद्धधर्म्म के अनुयायी समर्थ राजाओं की ओर से ब्राह्मणधर्म्मानुयायियों पर घोर अत्याचार हुआ । उस समय की भीषण परिस्थिति का देखते हुए एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अब भविष्य में ब्राह्मणधर्म्म कभी जीवित न होसकेगा । इस भीषणता के आवेश में आकर यदि ब्राह्मणधर्म्म के पुरातन चिह्नों को नष्ट करने का घोर दुस्साहस हुआ हो, तो यह अधिकांश में सम्भव है । और सम्भव है इसीलिए बुद्धजन्म से पहिले के प्रतिमाचिह्न अर्थात् पुरातत्वचिह्नों की उपलब्धि न हुए हों ।

११४–सप्तद्वीपा वसुमती–पृथिवी से अनुप्राणित अन्वेषणकर्म्म की अनन्तकालानुगता-व्याप्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् पतञ्जलि के उद्गार—

परन्तु कौन कहता है कि अन्वेषण का कार्य्य चरम सीमा पर पहुँच चुका है । जो कुछ मिलना था मिल चुका है । वसुन्धरा बहुत बड़ी है अन्वेषण भी अनन्त है । अवश्य ही हम प्रतिमापूजकों के सौभाग्य से एवं अन्वेषकों के अथक अदम्य परिश्रम से इसी धरित्री के किसी सौभाग्यशाली गह्वर में हमारे पूर्वसमृद्धि-चिह्न उपलब्ध होंगे और अवश्य उपलब्ध होंगे । इस सम्बन्ध में हमें भगवान् पतञ्जलि एवं कात्यायन का वह विवाद याद आजाता है जिस में वररुचि के आक्षेपन के–'न वैवापत्तरूयन्त' कहने पर भाष्यकार ने– उपलभ्यो यत्नः क्रियताम् । सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधाभिन्न एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः वाकोवाक्य इतिहासः पुराणं वैद्यकमिति । एतावान्शब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य–'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव' (पा म १।१।१) । यह उत्तर दिया था ।

११५–सर्वशास्त्रसमर्थिता प्रतिमोपासना के अनादित्व के सम्बन्ध में धृष्टतापूर्ण आपात रमणीय–आक्षेप–प्रत्याक्षेप–विडम्बना—

हम भी मार्गपद्धति का अनुसरण करते हुए आज उन ऐतिहासिकों से यह कहने का साहस करते हैं कि, जिस प्रतिमापूजन का मूल स्वयं नित्य वेदग्रन्थों में उपलब्ध होता है त्रेतायुगविर्भावात्मक वाल्मीकि-कृत जिस का पूर्ण समर्थन कर रहा है दर्शन पुराण स्मृति आगम आदि सब शास्त्र जिस की एकस्वर से प्रामाणिकता घोषित कर रहे हैं उस सत्य तत्त्व को केवल कल्पना के आधार पर, इन पुरातत्त्व की अधूरी खोजों के आधार पर अप्रामाणिक बतलाना केवल साहस है अपराध है अपराध ही नहीं अक्षम्य अपराध है।

११६ अलक्षेन्द्र (सिकन्दर)–युगानुगत उदाहरण, और मेगस्थनीज—

एक दूसरे प्रकार से विचार। भगवान् पाणिनि के समय में तो प्रतिमापूजन का प्रचार था ही जैसाकि अनुपद में ही बतलाया जानेवाला है। परन्तु पाणिनि से पहिले भी प्रतिमापूजन का प्रचार थी वर्तमान इतिहास लेखक यूनानी भी स्वीकार करते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कर्टिस लिखता है कि जब अलक्षेन्द्र सिकन्दर) का सामना करने के लिए महाराज पोरस युद्ध के मैदान में उपस्थित हुए, तो इन के साथ वह सूर्य की प्रतिमा होगी जिस के कि साक्षी सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक मेगस्थनीज् हैं। पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सिकन्दरने भारतवर्ष पर कब आक्रमण किया था एवं मेगस्थनीज कब भारत आए थे!।

११७ बुद्धसर्ग से असंस्पृष्ट भारतीय–प्रतिमापूजन प्रवाह का पावन–संस्मरण—

अनुमानतः यह सिद्ध होचुका है कि, ईसा से १७८२८ अथवा १ वर्ष पूर्व एवं देवानांप्रियदर्शी भारत के अन्तिम सम्राट् अशोक से १ वर्ष पहिले भी भारतवर्ष में प्रतिमापूजन का प्रचार था। इस में तो कोई सन्देह नहीं कि उक्त समय भी बुद्ध एवं जिन से तो अर्वाचीन ही है। तथापि हमें यह मान लेने में कोई सङ्कोच नहीं करना चाहिए कि उस समय न तो बुद्धधर्म का विशेष प्रचार ही था एवं न महायान सम्प्रदाय का ही प्राबल्य था। यदि प्रचार होगा भी तो हीनयान का ही प्राबल्य होगा जोकि प्रतिमा-पूजन का विरोधी था। इस युग के १ वर्ष पीछे उत्पन्न होने वाले स्वयं सम्राट् अशोक भी आरम्भ में सनातनधर्म के ही कट्टर पक्षपाती थे यह भी सुविदित है ही। कलिङ्गविजय में होने वाली हिंसा से क्रुद्ध होकर तदनन्तर ही अशोक ने बुद्ध का अनुगमन किया था। फलतः यह स्पष्ट तत्त्व है कि भारतीय प्रतिमा-पूजन बुद्धधर्म से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ हजारों वर्षों से प्रचलित था।

११८–सम्भावित–चिह्नों की प्रतीक्षा, एवं भारतीय–प्रतिमापूजन का अनादित्व—

'जब कि खुदाई की खुदाई में एक भी चिह्न बुद्धयुग से पहिले का नहीं मिला तो किस आधार पर प्रतिमापूजन को बुद्ध से पहिले का माना जाय' इस प्रत्यक्ष तर्क का यद्यपि शब्द प्रमाणात्मक आर्षपुत्र की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। तथापि प्रत्यक्ष को ही सर्वस्व मानने वालों के लिए अवश्य ही उक्त तर्क का कुछ मूल्य है। सम्भव है भविष्य में ऐसे भी चिह्न मिलें जिन से इस सम्बन्ध में सन्तोष किया जा सके।

११९–पुरातनयुगानुगता मृण्मयी प्रतिमाएँ, एवं तदनुपलब्धि के कालिक–सहज–कारण का स्वरूप–दिग्दर्शन—

चिह्न न मिलने का कारण यह भी हो सकता है कि आरम्भ में मिट्टी की ही प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। श्रमणगणनायक महावीर की प्रतिमा चन्दनकाष्ठ से बनती थी। सुरथ नामक राजा एवं समाधि नामक वैश्य ने मृण्मयी प्रतिमा में ही जगन्माता को प्रसन्न किया था। सुप्रसिद्ध एकलव्य ने मिट्टी की प्रतिमा को उपास्य–देवता मान कर ही धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त की थी। ये कुछ एक निदर्शन ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि, आरम्भ में प्रतिमाएँ मिट्टी की ही बनती थीं। मृण्मयी प्रतिमाएँ चिरकाल पर्यन्त नहीं ठहर सकतीं। अतः बहुत सम्भव है इसीलिए पुरातन–प्रतिमाओं के चिह्न पुरातत्त्ववेत्ताओं को उपलब्ध नहीं होरहे हों।

१२०–मृण्मयी प्रतिमाओं के अनन्तर काष्ठमयी प्रतिमाओं का स्वरूपाविर्भाव, एवं तत्सम्बन्ध में वेदव्याख्याता सर्वश्री यास्काचार्य—

आगे चलकर मिट्टी के स्थान में काष्ठ की प्रतिमाएँ बनने लगी होंगी, यह भी अनुमान सत्य प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में सर्वथा प्रामाणिक यास्कनिरुक्त की पंक्तियाँ देखिए!

"कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते। (ऋक्संहिता ४।३२।२३)। कनीनके-कन्यके। कन्या कमनीया भवति। क्वेयं नेतव्येति वा। कमनेनानीयत इति वा। कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि, सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः। विद्रधे-दारुमये। दारु दृणातेर्वा, द्रुणातेर्वा, तस्मादेव द्रु। नवे नवजाते अर्भके अवृधे ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते, एवं च यामेषु शोभेते। बभ्र्वोरश्वयोः संस्तवः"

(या० निरुक्त अ० ४। ख० १५।)।

१२१–इन्द्रप्रतिमा का स्वरूप–समर्थक ऋग्वेदीय मन्त्र—

इस यास्क की सम्मति न मान कर स्वयं ऋग्वेद की सम्मति मानना ही उचित होगा। स्वयं यास्काचार्य ने 'विद्रधे' का 'दारुमयप्रतिमा' अर्थ करते हुए यह संकेत किया है कि पहिले दारुमयी प्रतिमाएँ भी बनती थीं। आरम्भ में ही प्रतिमा–सम्बन्धी कुछ एक मूल उद्धृत किए जा चुके हैं। अब इस सम्बन्ध में प्राचीनतमा (वर्तमान मतानुसार) ऋक्संहिता का एक ऐसा मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है जिसके आधार पर इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि, प्रतिमा–निर्माण–पद्धति ने आर्य्यसभ्यता के जन्मकाल में ही अपना स्वरूप उपलब्ध कर लिया था। देखिए!

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत् ॥

—ऋक् ४।२४।१०॥

१२२–महर्षि वामदेव के द्वारा भौमेन्द्र की प्रतिमा के माध्यम से देवेन्द्रोपासना, और प्रतिमाभाव का संस्मरण—

महर्षि वामदेव के उपास्य इन्द्र थे। तत्कालीन भौम–मानवेन्द्र उसी इन्द्रतत्त्व के अवतार थे। अतएव इन पर भी वामदेव की वैसी ही भक्तिनिष्ठा थी। इस निष्ठावश ये वामदेव नराकार इन्द्र की प्रतिमा को मध्यस्थ बना कर इन्द्रतत्त्व की उपासना किया करते थे। एक समय इन्द्र (मानवेन्द्र) का वृत्रासुर के साथ युद्ध छिड़ गया। वामदेव भी वहाँ जाने के लिए सन्नद्ध हुए। अन्यथा–ऐसे अवसरों पर स्वयं इन्द्र की ओर से वामदेव निमन्त्रित किए जाते थे जैसाकि ऋग्वेद के मन्त्र स्थलों से स्पष्ट है।

१२३–ऋग्वेदीय–मन्त्रार्थ–समन्वय—

जाने से पहिले वामदेव ने इन्द्रप्रतिमा के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की थी उक्त मन्त्र उसी का स्मरण करा रहा है। उपस्थित मण्डली से सम्बोधन करते हुए वामदेव कहते हैं कि—

'आप लोगों में से कौन १० धेनुओं * में इस मेरे (उपास्य) इन्द्र का (इन्द्रप्रतिमा का) क्रय–करेगा?। परन्तु इसके साथ यह शर्त (शर्त) है कि युद्ध में जब इन्द्र वृत्रासुरगण को मार डालें अनन्तर जब मैं वापस लौटूँ तो पुनः मेरा इन्द्र वापस लौटा दिया जाय'। इसप्रकार स्पष्ट ही प्रतिमाक्रय–व्यवहार प्रतिमाव्यवहार का अनादित्व किंवा प्राचीनत्व सिद्ध कर रहा है।

१२४–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में श्रीमद्वाल्मीकि रामायण—

वाल्मीकिरामायण एक प्रामाणिक साहित्य है। उसने भी स्पष्टरूप से त्रेतायुग में प्रतिमापूजन का समर्थन किया है। महाभारत और वाल्मीकिरामायण दोनों ही हम भारतीयों के प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ हैं। अन्तर दोनों में केवल यही है कि महाभारत जहाँ चन्द्रवंश का प्रधानरूप से निरूपण करता हुआ द्वापरयुगकालीन इतिहास का विशेषरूप से विश्लेषण करता है वहाँ वाल्मीकिरामायण सूर्यवंश को प्रधानता देता हुआ त्रेतायुगकालीन इतिहास को विशेषता देता है। दोनों में से पहिले वाल्मीकि को ही लिजिए।

१२५–राक्षसेश्वर रावण के द्वारा जाम्बुनद सुवर्णात्मक शिवलिङ्ग की उपासना, और प्रतिमापूजन—

महाभारतकाल में सूर्यवंशियों के सुमित्र राजा अयोध्या में राज्य करते थे। ये विवस्वान् की १२८ वीं पीढ़ी में थे एवं भगवान् राम ६१ वीं पीढ़ी में थे। रामयुग में भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी जैसाकि निम्न लिखित–वचनों से स्पष्ट है—

यत्र यत्र याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बूनदमयं लिंगं तत्र तत्र स्म नीयते ॥१॥
बालुका–वेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्चयामास गन्धार्घ्यैः पुष्पैश्चागुरुधूपिभिः ॥२॥
(वा० रा० उ० का० ३१।४२।४३।११)

---

*—वैदिककाल में गौ के आधार के ही सुवर्ण के भी सिक्के बनाए जाते थे।

'राक्षसेश्वर रावण की शङ्करभक्ति प्रसिद्ध है। वे जहाँ जहाँ जाते थे बाणलिङ्गस्वरूप अपने उपास्य शिवलिङ्ग को साथ रखते थे। बालुका की वेदि बनाकर उस पर लिङ्ग प्रतिष्ठित कर पुष्प–दीप-गन्धादि से रावण ने (अपने इष्टदेव शिवका) पूजन किया।

१२६–सेतुबन्ध रामेश्वर के माध्यम से प्रतिमापूजन की आर्षता का पावन संस्मरण—

स्वयं भगवान् राम ने युद्ध से पहिले अपने इष्टदेव शङ्कर की प्रतिमा बनाकर उसका पूजन किया था जो कि पावन तीर्थ आज भी 'सेतुबन्धरामेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। विभीषण को राज्य-तिलक प्रदान कर भगवान् राम सीता सहित जब लङ्का से वापस लौटते हैं तो मार्ग में आने वाले दर्शनीय स्थानों की ओर संकेत कर जनकसुता को उनका परिचय कराते जाते हैं। समुद्रोल्लङ्घन के अनन्तर जब रामेश्वर का स्थान आता है तो भगवान् कहते हैं—

> एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ॥
> सेतुबन्ध' इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥१॥
> एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
> अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥२॥
>
> —वा रा यु १२१।२०—२१।

"हे सीते! महात्मा सागर का यह सेतुबन्ध तीर्थ दिखलाई पड़ता है। (आज) यह त्रैलोक्य में पूजित होगया है। इसी तीर्थ पर (रावण पर चढ़ाई करने से) पहिले विभु महादेव ने मुझ पर कृपा की थी। यह तीर्थ परम पवित्र है एवं बड़े बड़े पापों का नाश करने वाला है।"

१२७ शास्त्रीय वचनों के सम्बन्ध में दोषदृष्टि, एवं तन्निबन्धना महती भ्रान्ति—

क्या मूर्तिपूजन को अवैदिक मानने वाले तथा ही वाल्मीकिरामायण को भी एक प्रामाणिक आर्षग्रन्थ मानने वालों की दृष्टि उक्त वचनों पर नहीं गई थी? गई भी और अवश्य गई थी। परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में भी उसी दोषदृष्टि का अनुगमन किया है जिस के कि आधार पर स्वार्थसिद्धि के लिए पूरे वचन उलट पलट कर अन्यथा ही व्याख्यात किए हैं जैसा कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" में बतलाया जा चुका है।

१२८–नियोगविध्यात्मक प्रामाणिक–उदाहरण के माध्यम से वास्तविक–स्थिति का स्वरूप–विस्फोटन—

एक दूसरा उदाहरण नियोगविधि का लीजिए। नियोगविधि शास्त्रीय है मानवधर्मशास्त्र से सम्मत है इस में तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु कौन किस अवस्था में किससे नियोग कर सकता है, यह निर्णीत विषय है। प्रकरण यह है—

> यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
> तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥
>
> —मनु ९।६९।

'जिस कन्या का वाग्दत्त पति मर जाय उसे निम्न लिखित विधान से उस वाग्दत्त पति के अनुज के साथ नियोग करलेना चाहिए'। तात्पर्य यदि केवल वाग्दान हुआ हो विवाह न हुआ हो और उसी अवस्था में भावी पति मर जाय तो अभी उस का कन्यात्व सुरक्षित है। इस दशा में उस मृतक के छोटे भ्राता के साथ इस का नियोग (विवाह नहीं) किया जासकता है।

१२६-'अत्र पूर्वं महादेवः'-इत्यादि श्रीरामायणीय-आर्षवचन के साथ परमतानुगामियों का कल्पनापूर्ण-समन्वय-प्रकार—

उधर उक्त पूरे वचन का उल्लेख न कर केवल निजो विभ्देश देवरः इस वाक्यांश को उद्धृत कर स्वाभिमानियोंने मुग्धजनता को यह उलटा पाठ पढाने का जघन्य कर्म किया है कि 'जिस स्त्री का पति मर जाय उसे देवर के साथ पुनर्विवाह कर लेना चाहिए'। यही लीला प्रकृत स्थल में घटित हुई है। पूर्वोक्त रामायणोक्ति-वचनों का पूरा उल्लेख न कर केवल निम्नलिखित अंश ही उन के सत्यग्रन्थ में उद्धृत हुआ है—अर्थ क्या किया गया है ? वह भी नमूना देख लीजिए—

"अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः।

सेतुबन्ध इति ख्यातम्"॥

'हे सीते ! तेरे वियोग से हम व्याकुल होकर घूमते थे, और इसी स्थान में चातुर्मास्य किया था और परमेश्वर की उपासना-ध्यान भी करते थे। यही जो सर्वत्र विभु देवों का देव महादेव परमात्मा है। उस की कृपासे हम को सब सामग्री प्राप्त हुई। और देख ! यह सेतु हमने बाँधकर लङ्का में आके रावण को मार के तुम को ले आये'

—सत्यार्थप्रकाश

१३०-श्रीरामायणमान्यतानुबन्ध के प्रति कुतर्कतार्पण एवं तद्विवेचना वस्तुस्थिति का वास्तविक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

बड़ा अनुग्रह हुआ जो यह ऐतिहासिक घटना को तो प्रामाणिक मान लिया गया। हम तो डर रहे थे कि, कहीं वेदों में उक्त चरित्र के न होने से इसे भी गप्प ही न मान लिया जाय। प्रतीत होता है "त्रैलोक्येन च पूजितम्" यह अंश उस युग की पुस्तकों में नहीं होगा पीछे से जोड़ दिया गया होगा। नहीं तो "जगदीश्वर को केवल इसी स्थान पर आके त्रैलोक्य के मनुष्य पूजते" यह कैसे संभव है। अस्तु, स्वयं निर्णय कीजिए कि वस्तुस्थिति क्या है ? ।) दूसरा निदर्शन महाभारतोक्त एकलव्य की उपासना का है। गुरुद्रोण कौरव-पाण्डवों को धनुर्विद्या का शिक्षण करते थे।

१३१-वर्णाश्रमव्यवस्थानिष्ठ आचार्य्य द्रोण, एवं एकलव्य—

एक दिन प्रसन्न होकर द्रोणने अर्जुन को यह वर प्रदान किया कि, 'अर्जुन ! धनुर्विद्या में तुम दुनियाँ भर का सर्वश्रेष्ठ योद्धा बना दूँगा'। इन्हीं दिनों भीलजाति में उत्पन्न एकलव्य द्रोणाचार्य्य की ख्याति सुनकर हस्तिनापुर आया। परन्तु-वर्णाश्रमव्यवस्था को लक्ष्य में रखते हुए गुरुद्रोणने- श्रेष्ठराजवंश के साथ एक शूद्र शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता' -यह कहते हुए एकलव्य को निराश लौटा दिया।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

—कठोपनिषत् १।३।१२

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदी महती विनष्टि ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—केनोपनिषत् २।५

१४०–श्रद्धाविश्वासात्मक–उपास्यदेव, और महात्मा तुलसी—

श्रद्धा–विश्वास है तो सब में भगवान् है, सब भगवान है । यदि श्रद्धा (विश्वास) नहीं तो सबकुछ रहते हुए भी कुछ नहीं ।—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

१४१–परमत की दृष्टि में प्रतिमापूजन—

जो मुसलमानबन्धु बुतपरस्ती (मूर्तिपूजन) को कुफ्र (नास्तिक्य) बतलाते हैं उन में भी कुछ एक मनीषी उदारचेता महानुभावोंने निम्न लिखित शब्दों में प्रतिमापूजन की उपयोगिता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है—

१–कूचए वहम के हैं तारीक, भटकने का है डर ।
चाहिए रोशनी राह मुझको थोड़ी सी ॥'

—अमीरमीनाई लखनऊ

"संसार में पद पद पर भ्रांतियों का घना जंगल खड़ा हुआ है । अवश्य ही राहगीर के गुम होजाने का डर है । इस भटकानी से बचने के लिए यकीन (विश्वासरूप) रोशनी (प्रकाश) अवश्य चाहिए ।

२–मुसलमाँ गर्चलानिस्ते कि बुत चीस्त ।
बिदानिस्ते कि दीवर बुत परस्तीस्त ॥

—मौलाना महमूद शाबस्तरी किताब गुलशनेराज

— 'माने तो देव, नहीं माटा का लेव" राजस्थान प्रान्त की सुप्रसिद्ध लोकोक्ति, जिस का अर्थ यही है कि, 'श्रद्धा–विश्वासानुगत शास्त्रागमसिद्ध मान्यता से ही पाषाणमयी भी प्रतिमा देवभावस्थानीया बन जाती है । श्रद्धा–विश्वास नहीं है, तो फिर प्रतिमा पाषाणमात्र ही है" ।

✿ "संशयात्मा विनश्यति" (गीता) ।

मुसलमान यदि यह जान लेता कि प्रतिमा क्या वस्तु है तो उसे मालूम होजाता कि-उसका ईमान बुतपरस्ती में ही भरा पड़ा है।

२—दस्ते हर बुतं आनेस्त पिन्हा।
धजेरे कुफ्र ईमानेस्त पिनहा॥

"प्रत्येक प्रतिमा में गुप्तरूप से प्राण प्रतिष्ठित रहता है। और कुफ्रमें ईमान छुपा हुआ है। अविद्या कुफ्र है। भौतिक पदार्थ अविद्या (तम) प्रधान बनते हुए कुफ्र हैं। फलतः प्रतिमा भी कुफ्र है। ईमान विद्यातत्व है। विद्या की प्राप्ति का साधन अविद्या है* असम्भूति से ही सम्भूति मिलती है मृत्यु ही अमृत प्राप्ति का कारण है—'असत्ये परमनि स्थित्वा तत सत्यं समीहते'।

१४२—प्रतिमापूजन का समर्थन, तथा "* परिशिष्ट-प्रकरणोपराम"—

इसप्रकार युक्ति तर्क अनुभव विज्ञान इतिहास पुराण वेद स्मृति दर्शन पञ्च परमव इत्यादि सभी प्रमाणों के द्वारा मूर्तिपूजन का प्राचीनत्व, प्रमाणत्व एवं उपादेयत्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। जो महानुभाव मूर्तिपूजन के विरोधी हैं वे सर्वशास्त्र-विरोधी बनते हुए दूर से ही प्रणम्य हैं—'कालो कारुणिक! त्वयैव कृपया ते मावनीया नराः'।

इति—भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"प्रतिमापूजन, और उपासना"

नामक

"*—परिशिष्ट—प्रकरणम्"

उपरत

समाप्तश्चाय-भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वखण्ड



---

* अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।
—ईशोपनिषत्